इकाई 1 18वीं शताब्दी के मध्य की भारतीय राजनीति

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य
1.1 प्रस्तावना
1.2 अठारहवीं सदी: एक अंधकारमय युग ?
1.3 मुगल साम्राज्य का पतन
  1.3.1 आंतरिक कमजोरियाँ —सत्ता के लिये संघर्ष
  1.3.2 बाह्य चुनौतियाँ
  1.3.3 पतन: कुछ व्याख्यायें
  1.3.4 मुगल परम्पराओं की निरन्तरता
1.4 क्षेत्रीय राजनैतिक व्यवस्थाओं का उदय
  1.4.1 उत्तराधिकारी राज्य
  1.4.2 नवीन राज्य
  1.4.3 स्वतंत्र राज्य
  1.4.4 क्षेत्रीय राजनीति की कमजोरियाँ
1.5 ब्रिटिश शक्ति का उदय
  1.5.1 व्यापारिक कम्पनी से राजनैतिक शक्ति तक
  1.5.2 दक्षिण भारत में आंग्ल-फ्रांसीसी संघर्ष
  1.5.3 बंगाल की विजय: प्लासी से बक्सर तक
  1.5.4 राजनैतिक व्यवस्था का पुनर्गठन
1.6 सारांश
1.7 शब्दावली
1.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

1.0 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य है कि 18वीं सदी के मध्य के मुख्य राजनैतिक घटनाक्रम से आपका परिचय कराना। यहाँ पर हम एक राजनीतिक नक्शे की रूपरेखा प्रस्तुत करेंगे जिसको आगामी इकाइयों में भरा जायेगा। इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप निम्नलिखित शीर्षकों के विषय में जानकारी प्राप्त करेंगे:

- मुगल साम्राज्य का पतन,
- मुगल प्रांतों की क्षेत्रीय शक्तियों का हैदराबाद, बंगाल और अवध के रूप में उदय,
- मराठों, जाटों, सिक्खों और अफगानों के नये राज्यों का उदय,
- स्वतन्त्र राज्यों के रूप में मैसूर, राजपूत राज्यों तथा केरल का इतिहास, और
- औपनिवेशिक साम्राज्य का प्रारंभ।

1.1 प्रस्तावना

इस इकाई में हमारे अध्ययन का काल 1740 से 1773 तक है। प्रथम कर्नाटक युद्ध तथा नादिर शाह का भारत पर आक्रमण इस काल की प्रारंभिक ऐतिहासिक घटनायें थीं तथा वारेन हैस्टिंग के शासन काल के दौरान राजनैतिक पुनर्गठन इसका अन्तिम पड़ाव था।

मुगल साम्राज्य का पतन इस इकाई का प्रथम भाग है। यह एक लम्बी चलने वाली प्रक्रिया थी, जिसमें बहुत से कारकों ने योगदान किया। 1739 में नादिरशाह के आक्रमण तथा दिल्ली में नर संहार ने पहले से जर्जर होते मुगल साम्राज्य को और कमज़ोर बना दिया। आर्थिक संकट सहित अन्य कारणों ने मुगल साम्राज्य के पतन में योगदान किया। यद्यपि मुगल साम्राज्य जीवित न रह सका परन्तु इसकी संस्थायें तथा परम्परायें क्षेत्रीय राज्यों और ब्रिटिश प्रांतों में निरंतर जारी रहीं। मुगल प्रशासन की परम्पराओं को विशेषकर भू-राजस्व में अपना लिया गया था। दूसरा भाग, क्षेत्रीय शक्तियों का उदय संभवत: सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। इनका वर्गीकरण तीन प्रकार के राज्य समूहों में किया जा सकता है। प्रथम श्रेणी में हैदराबाद, बंगाल तथा अवध 3 उत्तराधिकारी राज्य थे जो कभी मुगल साम्राज्य 3 प्रांत थे तथा साम्राज्य से अलग होकर स्वतंत्र राज्य बन गये। जाटों, मराठों, सिक्खों तथा अफगानों के द्वारा नये राज्यों का निर्माण किया गया, इनमें से कुछ राज्यों के निर्माण की इस प्रक्रिया में शाही माँगों के विरुद्ध लोकप्रिय किसान आंदोलनों ने महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। तीसरे वर्ग में मैसूर, राजपूतों तथा केरल के वे स्वतंत्र राज्य आते थे जिन्हें गलत रूप से "हिन्दू राजनैतिक व्यवस्था" वाले राज्य कहा गया है। ये क्षेत्रीय शक्तियाँ अंग्रेजों को देश से बाहर रखने में असफल क्यों हुई ? इस इकाई में इनकी कुछ निर्णायक कमजोरियों की ओर इंगित किया गया a।

अंतिम भाग के रूप में ईस्ट इंडिया कम्पनी का एक व्यापारिक कम्पनी से राजनैतिक सत्ता के रूप में संक्रमण था। हम इस संक्रमण का और परिणामस्वरूप दक्षिण भारत तथा बंगाल में होने वाले संघर्षों का क्रमबद्ध तरीके से विवेचन करेंगे।

MAADHYAM IAS

1.2 अठारहवीं सदी : एक अन्धकारमय युग ?

अभी हाल तक 18वीं सदी को एक अन्धकारमय युग के रूप चित्रित किया गया क्योंकि उस समय अव्यवस्था तथा अराजकता का शासन था। मुगल साम्राज्य धराशायी हो गया, क्षेत्रीय शक्तियाँ साम्राज्य को स्थापित करने में असफल रहीं तथा 18वीं सदी के अन्त में ब्रिटिश सर्वोच्चता स्थापित हो जाने के साथ ही स्थायित्व कायम हो पाया।

भारतीय इतिहास पर काम करने वाले केम्ब्रिज स्कूल के इतिहासकारों और उनके समर्थक भारतीय इतिहासकारों ने 18वीं शताब्दी को अन्धकारमय युग कहा तथा इसकी तुलना में भारत में ब्रिटिश शासन को एक वरदान बताया। इस संदर्भ में जादुनाथ सरकार द्वारा अपनी पुस्तक हिस्ट्री ऑफ बंगाल भाग-II में लिखी गयी निम्नलिखित पंक्तियों को उद्धृत करना उपयोगी होगा :

"23 जून 1757 को भारत के मध्य युग का अन्त हुआ तथा आधुनिक युग का प्रारंभ . . . . . . प्लासी से वारेन हैस्टिंग तक के 20 वर्षों में . . . . . . पश्चिम की नयी गतिशीलता के सम्पर्क में आने से सभी पुनर्जीवित हो उठे।"

इस प्रकार के विचारों को स्वीकार करने में कई समस्यायें हैं। मुगल साम्राज्य का प्रभाव न तो इतना गहरा था और न इतना व्यापक जितना कि इसको माना जाता है। भारत का एक काफी बड़ा भाग विशेषकर उत्तर पूर्वी तथा दक्षिणी भाग इसके बाहर था और इसी भाँति बहुत से सामाजिक समूह भी इसके प्रभाव से बाहर रहे। इसलिये अखिल भारतीय स्तर पर होने वाले परिवर्तनों का विश्लेषण करने के लिये मुगल साम्राज्य के पतन को उचित आधार नहीं माना जा सकता। हाल ही में कुछ विद्वानों का मत है कि अखिल भारतीय साम्राज्यों के उत्थान तथा

पतन की तुलना में क्षेत्रीय राजनैतिक शक्तियों की स्थापना 18वीं सदी की ज्यादा महत्वपूर्ण विशेषता थी। मध्यकालीन भारत के अग्रणीय इतिहासकार प्रो. सतीश चन्द्र के अनुसार, 18वीं सदी के इतिहास को पूर्व-ब्रिटिश व ब्रिटिश दो भागों में देखने के स्थान पर उसे उसकी निरंतरता तथा समग्रता में देखा जाना चाहिए।

1.3 मुगल साम्राज्य का पतन

18वीं सदी के पूर्वार्द्ध में ही मुगल साम्राज्य का पतन प्रकट होने लगा और 1740 में, जिस तिथि से हमारा अध्ययन शुरू होता है, नादिरशाह ने मुगलों की राजधानी दिल्ली नगर को तहस-नहस किया। 1761 में अहमदशाह अब्दाली के विरुद्ध मुगलों ने नहीं बल्कि मराठों ने युद्ध किया। 1883 से मुगल सम्राट ब्रिटिश शासकों का पेंशन प्राप्तकर्ता बन गया।

1.3.1 आंतरिक कमजोरियाँ: सत्ता के लिये संघर्ष

औरंगजेब की गलत नीतियों ने मुगलों की स्थायी राजनैतिक व्यवस्था को कमज़ोर किया। परन्तु मुगल साम्राज्य के दो मुख्य स्तम्भ सेना तथा प्रशासन 1707 ई. तक पूर्णत: सक्रिय थे। उत्तराधिकार के युद्धों तथा कमजोर शासकों के कारण 1707 से 1719 तक दिल्ली में अव्यवस्था फैल गई। मोहम्मद शाह का 1719 से 1748 तक का लम्बा शासन काल साम्राज्य के भाग्य को पुन: स्थापित करने के लिये पर्याप्त था परन्तु सम्राट की पूर्ण अयोग्यता ने इस संभावना को भी समाप्त कर दिया।

निज़ामुल-मुल्क ने इस सम्राट के शासन के दौरान वजीर के पद से त्यागपत्र देकर 1724 में हैदराबाद के स्वतंत्र राज्य की स्थापना की। बंगाल, अवध और पंजाब ने भी इस पथ का अनुसरण किया और साम्राज्य का उत्तराधिकारी राज्यों में विभाजन हो गया। छोटे सरदारों ने इसे विद्रोह का सूचक समझा और मराठों ने अपने साम्राज्य की स्थापना की कल्पना को साकार करने के लिये पुरजोर प्रयासों को प्रारंभ कर दिया।

1.3.2 बाह्य चुनौतियाँ

MAADHYAM IAS

ईरान के सम्राट नादिरशाह ने 1738–39 में भारत पर आक्रमण किया। उसने शीघ्र ही लाहौर पर विजय प्राप्त कर ली तथा 13 फरवरी 1939 को करनाल में मुगल सेना को पराजित कर दिया। इस अपमानजनक पराजय को और पूरा करने के लिये मुगल सम्राट मोहम्मद शाह को पकड़ लिया गया तथा दिल्ली को लूटा गया। उस समय के कवियों मीर तथा शौदा ने दिल्ली के नष्ट होने संबंधी विलाप गीत का वर्णन अपनी रचनाओं में किया है। परन्तु नादिरशाह के आक्रमण का दिल्ली पर इतना व्यापक प्रभाव नहीं हुआ जितना कि सामान्यत: माना जाता है। अब्दाली के आक्रमण का दिल्ली पर अधिक भयंकर प्रभाव हुआ। परन्तु 1772 तक स्थिति पुन: सुधर चुकी थी।

शाही खजाने से 70 करोड़ रुपये तथा धनी कुलीनों की जमा राशियों को लूट लिया गया। उसकी लूट में सबसे बहुमूल्य वस्तुएँ मयूर सिंहासन तथा कोहिनूर हीरा थे। नादिरशाह ने मुगल साम्राज्य के सामरिक महत्व के काबुल सहित सिंधु नदी के पश्चिमी क्षेत्रों पर अधिकार कर लिया। एक बार फिर भारत उत्तर-पश्चिम से होने वाले आक्रमणों का शिकार हो गया। नादिरशाह के सेनापति के रूप में अहमद शाह अब्दाली अति महत्वपूर्ण हो गया तथा नादिरशाह की मृत्यु के पश्चात उसने अफगानिस्तान पर अपना शासन कायम कर लिया। 1748 से 1767 तक उसने कई बार भारत पर आक्रमण किये। उसने सबसे महत्वपूर्ण विजय मराठों के विरुद्ध 1761 में दर्ज की जिसको पानीपत के तीसरे युद्ध के नाम से जाना जाता है।

1.3.3 पतन: कुछ व्याख्यायें

मुगल साम्राज्य के पतन के संदर्भ में कई दशकों से हमारे परम्परागत दृष्टिकोण में सुधार आया है। परम्परागत विचार के प्रस्तुतकर्ता इर्विंग तथा जादुनाथ सरकार आदि इतिहासकारों के अनुसार सम्राटों तथा कुलीनों की व्यक्तिगत असफलतायें, उनके दुराचार एवं विलासिता में लिप्त रहना मुगल साम्राज्य के पतन के कारण थे।

सरकार एवं अन्य इतिहासकारों ने मुगल शासन का चित्रण एक मुस्लिम शासन के रूप में किया है तथा मराठों, सिक्खों व बुन्देला के विद्रोहों को इस्लामी दमन के विरुद्ध हिन्दू प्रतिक्रिया बताया है।

परन्तु इस विचार का उचित विरोध करते हुए, सतीश चन्द्र तथा इरफान हबीब ने मुगल साम्राज्य के पतन को आर्थिक व्यवस्था के संकट के रूप में चित्रित किया है। सतीश चन्द्र का तर्क है कि जागीरदारी व्यवस्था में संकट हो जाने के कारण मुगल साम्राज्य का पतन हुआ तथा ऐसा इसलिये हुआ कि जागीरदारों की बहुतायत थी परन्तु जागीरों की संख्या कम थी।

इरफान हबीब के अनुसार मुगलों के अन्तर्गत कृषि व्यवस्था और अधिक शोषणकारी हो गयी थी क्योंकि इन सीमित साधनों पर दबाव अधिक बढ़ने लगा था। इसी कारणवश किसान विद्रोह फूट पड़े जिसके कारण साम्राज्य का स्थायित्व नष्ट हो गया।

परन्तु भारत के नवीन कैम्ब्रिज इतिहास के लेखकों का मत इरफान हबीब से विपरीत है। उनका कहना है कि मुगल साम्राज्य के पतन का कारण मुगल व्यवस्था की सफलता में निहित था न कि इसकी असफलता में। उनका मत है कि जिन जमींदारों ने मुगलों के विरुद्ध विद्रोह किये जो मुगल साम्राज्य के पतन का कारण बने वे जमींदार धनी थे न कि गरीब किसान और इनका समर्थन धनी व्यापारियों द्वारा भी किया गया। परन्तु इस मत को तब तक स्वीकार नहीं किया जा सकता जब तक कि अन्य प्रमाण इस संदर्भ में नहीं मिल जाते। फिलहाल हमारे लिये आर्थिक व्यवस्था का संकट ही, मुगल साम्राज्य के पतन का स्वीकृत कारण प्रतीत होता है।

1.3.4 मुगल परम्पराओं की निरंतरता

मुगल साम्राज्य के तेजी से होते क्षेत्रीय विखण्डन के बिल्कुल विपरीत सरकार की मुगल परम्परा जीवित रही। 1761 के आते-आते मुगल साम्राज्य नाम मात्र को रह गया था। यह कहना उचित होगा कि यह केवल दिल्ली मात्र का राज्य था। परन्तु सम्राट की स्थिति का सम्मान इतना अधिक था कि चाहे कोई क्षेत्र प्राप्त करना हो या फिर सिंहासन या साम्राज्य, इन सबके लिये सम्राट की स्वीकृति लेनी पड़ती थी। यहाँ तक कि मराठों तथा सिक्खों के विद्रोही सरदारों ने कभी-कभी सम्राट को प्रभुत्व का उद्गम या स्रोत माना। 1783 में सिक्खों ने मुगल बादशाह के दरबार में नजराना भेंट किया (इसके बावजूद कि उनके गुरुओं को मुगलों ने मरवाया था) तथा 1714 में मराठा नेता साहू औरंगजेब की समाधि के दर्शन के लिये आया।

MAADHYAM IAS

अंग्रेजों और मराठों ने बादशाह को अधिकार में लेने के लिये इस आशा से संघर्ष किया कि वे साम्राज्य पर उत्तराधिकार के अपने दावों को वैधता प्रदान कर सकें। बक्सर के युद्ध के बाद बादशाह शाह आलम द्वितीय को कम्पनी ने अपना पेंशन-भोगी बना लिया परन्तु दिल्ली पर उसने मराठों के संरक्षण को प्राथमिकता दी। परन्तु 1803 में अंग्रेज़ों के द्वारा दिल्ली पर अधिकार कर लिये जाने के कारण मुगल बादशाह पुन: अंग्रेज़ों के संरक्षण में आ गया।

मुगल प्रशासन के तौर-तरीकों को क्षेत्रीय राजनैतिक शक्तियों ने भी अपना लिया। मुगल साम्राज्य के उत्तराधिकारी राज्यों के लिये यह स्वाभाविक भी था कि उन्होंने मुगलों की पुरानी परम्पराओं को जारी रखा। यहाँ तक कि मराठा जैसे राज्यों ने भी, जहाँ पर साम्राज्यवादी शासन के विरुद्ध लोकप्रिय आंदोलनों का प्रारंभ हुआ था, प्रशासन के मुगल तरीकों का अनुसरण किया। जिन बहुत से अधिकारियों की शिक्षा मुगल परम्पराओं के अनुरूप हुई थी, उनको इन बहुत सी रियासतों में रोजगार मिल गया।

संस्थाओं की निरंतरता बनाम व्यवस्था संबंधी परिवर्तन

परन्तु संस्थाओं की निरंतरता से हमें इस निष्कर्ष पर नहीं पहुँचना चाहिये कि मुगल राजनैतिक व्यवस्था जीवित बनी रही। नवीन राजनैतिक व्यवस्थाओं का चरित्र क्षेत्रीय था और उनमें से कोई भी अखिल भारतीय स्तर का चरित्र ग्रहण न कर सकी। कुछ पुरानी संस्थाओं के साथ नवीन राजनैतिक व्यवस्थाओं को क्षेत्रीय शासकों और बाद में अंग्रेज़ शासकों के द्वारा पुन: एकबद्ध कर दिया गया। औपनिवेशिक व्यवस्था के अंतर्गत पुरानी मुगलीय संस्थाओं ने भिन्न प्रकार के कार्यों को सम्पन्न किया। भू-राजस्व व्यवस्था लगभग पहले ही के समान थी, परन्तु उपनिवेशवाद के अन्तर्गत एकत्रित की गई सम्पदा का निष्कासन भारत में हुआ। स्वरूप तथा

कार्य का यह अंतर साम्राज्यवादी इतिहास लेखन से पूर्णत: गायब है और संस्थाओं की निरंतरता पर उनके द्वारा बल देने का उद्देश्य मात्र यह साबित करना है कि ब्रिटिश शासक भी अपने परवर्तियों से भिन्न नहीं थे।

बोध प्रश्न 1

1) नादिरशाह के द्वारा प्राप्त की गई वित्तीय तथा क्षेत्रीय उपलब्धियाँ क्या थीं ? पाँच पंक्तियों में लिखिये।

....

....

....

....

....

2) निम्नलिखित वाक्यों को पढ़कर उन पर सही (✓) तथा गलत (×) चिह्न लगाइये।

i) कुलीनों के बीच सत्ता के लिये संघर्ष मुगलों के लिये मुख्य आंतरिक कमजोरी थी। (   )

ii) मुगल सम्राट की व्यक्तिगत असफलता मुगल साम्राज्य के पतन के लिये मुख्य रूप से उत्तरदायी थी। (   )

iii) भारत का नवीन कैम्ब्रिज इतिहास लेखन आर्थिक संकट के तर्क को प्रस्तुत करता दl (   )

iv) मुगलों से ब्रिटिश व्यवस्था तक संस्थाओं की निरंतरता से सिद्ध होता है कि अंग्रेज़ शासक भारतीय शासकों से भिन्न नहीं थे। (   )

3) मुगल साम्राज्य के पतन के साथ ही क्या मुगल परम्परायें समाप्त हो गई थी ? 50 शब्दों में विवरण दीजिये।

....

....

....

....

....

MAADHYAM IAS

1.4 क्षेत्रीय राजनैतिक व्यवस्थाओं का उदय

मुगल साम्राज्य के पतन के साथ-साथ क्षेत्रीय राजनैतिक व्यवस्थाओं का उदय 18वीं सदी की दूसरी महत्वपूर्ण विशेषता थी। इस समय साधारणत: तीन प्रकार के राज्यों का उदय हुआ:

- उत्तराधिकारी राज्य जो मुगल साम्राज्य से टूट कर अलग हो गये,
- नये राज्य जिनकी स्थापना मुगलों के विरुद्ध विद्रोहियों द्वारा की गयी, और
- स्वतन्त्र राज्य।

अब हम इनमें से प्रत्येक का विश्लेषण करेंगे।

1.4.1 उत्तराधिकारी राज्य

हैदराबाद, बंगाल तथा अवध ऐसे तीन राज्य थे जहाँ मुगलों के अधीन प्रांतीय गवर्नर थे तथा जिन्होंने स्वतंत्र राज्यों की स्थापना की थी। ये राज्य दिल्ली से कई चरणों में अलग हुए —कुछ व्यक्तियों का विद्रोह क्रमश: सामाजिक समूहों, समुदायों तथा अन्तत: क्षेत्रीय विद्रोहों में परिवर्तित हो गया। शाही करों की अधिक मांग के विरुद्ध जमींदारों के विद्रोहों ने

टूटने की इस प्रक्रिया को पूर्ण कर दिया। प्रांतीय गवर्नरों को केन्द्र से कोई सहायता प्राप्त नहीं हुई जिसके फलस्वरूप उन्होने स्थानीय प्रभावशाली गुटों का समर्थन प्राप्त करने के लिये प्रयास किये। फिर भी केन्द्र के साथ सम्पर्कों को बनाये रखा गया तथा मुगल परम्परायें भी जारी रहीं। जिस समय नादिर शाह ने दिल्ली पर आक्रमण किया तो अवध तथा हैदराबाद ने मुगल शासकों की सहायता की। कुलीनों के विभिन्न गुटों के साथ अपने सम्पर्कों के कारण प्रांतीय गवर्नर केन्द्र को नियंत्रित करने के लिये काफी शक्तिशाली थे। इसलिये इस समय में राजनैतिक व्यवस्था में होने वाले परिवर्तनों को पतनशील बताने की अपेक्षा रूपांतरण की विशेषता के नाम से जानना उचित होगा (इस अवधारणा का प्रयोग मुजफ्फर आलम ने किया है)। मुगलों के संस्थात्मक ढांचे के अंतर्गत एक नवीन राजनैतिक व्यवस्था को निर्मित किया गया।

अखिल भारतीय स्तर पर राजनैतिक व्यवस्था के मृतप्राय हो जाने पर सामान्यत: आर्थिक ह्रास नहीं हुआ। क्षेत्रीय चित्र बहुत ही भिन्न था। विदेशी आक्रमण के कारण पंजाब की अर्थव्यवस्था में रुकावट आयी लेकिन अवध की अर्थव्यवस्था में वृद्धि हुई। लखनऊ की सुरक्षा के लिये अवध नवाब सफदर जंग ने इस अवसर पर नादिरशाह को तीन करोड़ रुपये दिये। अवध में आर्थिक संपन्नता के आधार पर राजनैतिक व्यवस्था में स्थायित्व कायम हुआ जबकि पंजाब में निर्मित राज्य धराशायी हो गये।

हैदराबाद

1748 में निजाम-उल-मुल्क की मृत्यु के साथ हैदराबाद के इतिहास का गौरवशाली प्रथम अध्याय भी समाप्त हो गया। इस राज्य की स्थापना 1724 में निजामुल-मुल्क ने उस समय की थी जिस समय दिल्ली दरबार पर सैयद बंधुओं का नियंत्रण था और वह एक प्रमुख कुलीन था। इसने सैयदों को हटाने में मोहम्मद शाह की सहायता की थी और इसके बदले में उसने दक्कन की सूबेदारी प्राप्त की।

उसने प्रशासन को पुनर्गठित किया तथा राजस्व व्यवस्था को सुचारू बनाया। 1722 से 1724 तक संक्षिप्त समय के लिये दिल्ली में वज़ीर रहने के बाद वह एक राज्य की स्थापना करने के लिये दक्कन को वापस लौट गया जो व्यवहारिक स्तर पर एक स्वतंत्र राज्य था, फिर भी उसने मुगल सम्राट के प्रति अपनी राज भक्ति की घोषणा को निरंतर बनाये रखा। क्षेत्रीय प्रमुख सम्पन्न वर्ग के बन जाने से इस स्वतंत्रता को स्थायित्व मिल गया जैसा कि इतिहासकार कैरेन लियोनार्ड ने हैदराबाद की राजनैतिक व्यवस्था के अपने अध्ययन में दिखाया है। राजस्व व्यवस्था में सुधार, जमींदारों को अधीन करना, हिन्दुओं के प्रति सहिष्णुता की नीति का अनुसरण आदि उसकी प्रशंसनीय नीतियाँ थीं।

MAADHYAM IAS

परन्तु 1748 में उसकी मृत्यु हो जाने पर हैदराबाद की कमजोरियाँ, मराठों एवं विदेशी कम्पनियों के आघातों के सामने स्पष्ट हो गई। मराठा सेनायें अपनी इच्छानुसार राज्य पर आक्रमण करती और नि:सहाय राज्य के लोगों से चौथ वसूल करती। निजाम-उल-मुल्क पुत्र नासिर जंग और पौत्र मुजफ्फर जंग के बीच उत्तराधिकार के लिये संघर्ष हुआ। डुप्ले के नेतृत्व में फ्रांसीसियों ने इस अवसर का प्रयोग एक गुट को दूसरे गुट के विरुद्ध लड़ाने में किया तथा अन्तत: मुजफ्फर जंग का समर्थन किया और उसने इसके बदले फ्रांसीसियों को काफी मोटी रकम एवं क्षेत्र उपहार के रूप में दिया।

बंगाल

व्यवहार में स्वतंत्रता तथा दिल्ली की राजसत्ता के प्रति राज भक्ति बंगाल के नवाबों के शासन की विशेषता थी। 1717 में मुगलों की सत्ता के अधीन मुर्शिद कुली खान बंगाल का गवर्नर बना परन्तु दिल्ली के साथ उसका सम्पर्क नजराना भेजने तक ही सीमित था। शुजाउद्दीन 1727 में नवाब बना तथा अलीवर्दी खान द्वारा 1739 में शासन संभालने तक वह इस पद पर बना रहा। 1756 में अपने दादा अलीवर्दी खान की मृत्यु के बाद सिराजुद्दौला बंगाल का नवाब हुआ।

बंगाल के नवाबों ने, सार्वजनिक पदों के लिये नियुक्तियाँ करने में, धर्म के आधार पर कोई भेदभाव नहीं किया तथा हिन्दू भी सार्वजनिक सेवाओं में उच्चतर पदों तक पहुँचे और उन्होंने कई आकर्षक जमींदारियों को प्राप्त किया। नवाबों ने अपनी स्वतंत्रता को कठोरता के साथ बनाकर रखा तथा अपने प्रभुत्व वाले इलाकों में विदेशी कम्पनियों पर कड़ा नियंत्रण रखा।

फ्रांसीसी तथा अंग्रेज़ी कम्पनियों को चन्दरनगर तथा कलकत्ता में किलेबन्दी करने की इजाज़त नहीं दी और न ही नवाब द्वारा उनको विशेष सुविधायें प्रदान की गई। ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कम्पनी के द्वारा अपने लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिये बार-बार सैन्य शक्ति का प्रयोग करने की धमकियों के बावजूद बंगाल के नवाबों ने अपनी संप्रभुता को बनाये रखा।

परन्तु अंतत: कम्पनी के हाथों नवाबों को पराजय का मुँह देखना पड़ा क्योंकि उनकी सेना कमजोर तथा दुर्बल थी और उन्होंने कम्पनी से उत्पन्न होने वाले ख़तरों को कम करके आंका। 1757 में प्लासी के युद्ध में अंग्रेज़ों की विजय ने भारत के साथ अंग्रेज़ों के संबंधों के नये युग का सूत्रपात किया।

अवध

सआदत खां बुरहानुल-मुल्क को 1722 में अवध w सूबेदार नियुक्त किया गया था परन्तु उसने इसके बाद अवध को एक स्वतंत्र राज्य बना दिया। अवध में मुख्य समस्या उन ज़मींदारों ने उत्पन्न की जिन्होंने न केवल भू-राजस्व देना बंद कर दिया बल्कि अपनी सेनाओं तथा किलों के द्वारा स्वतंत्र सरदारों की भांति कार्य करने लगे। सआदत खां ने उनको अपने अधीन किया तथा एक नयी भू-व्यवस्था को लागू किया जिसके द्वारा किसानों को जमींदारों के शोषण के विरुद्ध संरक्षण am? किया गया। जागीरदारी व्यवस्था को सुधारा गया तथा जागीरों को स्थानीय उच्च लोगों को प्रदान किया गया और उनको प्रशासन एवं सेना में भी उच्च स्थान मिले। एक "क्षेत्रीय शासक वर्ग" पैदा हो गया जिसके अंतर्गत शेखज़ादे, अफगान एवं कुछ हिन्दू भी थे। परन्तु यह ध्यान देने योग्य है कि बुरहानुल-मुल्क और सफदर जंग दोनों बाहर से आये थे। बंगाल एवं हैदराबाद की भांति ही अवध के शासक भी अपने दृष्टिकोण में साम्प्रदायिक नहीं थे और हिन्दुओं ने भी उच्च पदों को प्राप्त किया था।

सआदत खां की मृत्यु के बाद 1739 में सफदर जंग अवध का नवाब बना तथा 1754 तक इस पद पर बना रहा। उसने पहले की नीति का सफलतापूर्वक अनुसरण करते हुए ज़मींदारों का कठोरता के साथ दमन किया। परन्तु पेशवा के साथ समझौता करने के अपने प्रयास में वह असफल रहा क्योंकि इसी के द्वारा मराठों और मुगलों को, अब्दाली के अधीन अफगान विदेशी आक्रमणकारियों और आंतरिक विद्रोहियों जैसे कि राजपूतों एवं बंगेश के पठानों के विरुद्ध संयुक्त रूप से सैनिक कार्यवाही करनी थी। परन्तु पेशवा ने अदूरदर्शिता का परिचय दिया क्योंकि दिल्ली में वह सफदर जंग के विरोधियों से जा मिला जिन्होंने उसे अवध और इलाहाबाद का सूबेदार बनाने का वचन दिया। लेकिन करार पूरा हो जाने पर सफदर जंग द्वारा पेशवा को 50 लाख रुपये तथा पंजाब सिंध और उत्तर भारत के कई जिलों का चौथ दिया जाने वाला था। इसके अलावा पेशवा को आगरा तथा अजमेर का सूबेदार बनाया जाना था।

MADHYAM IAS

1.4.2 नये राज्य

क्षेत्रीय राज्यों का दूसरा समूह "नये राज्यों" या "विद्रोही राज्यों" का था जिनकी स्थापना मराठों, सिक्खों, जाटों एवं अफगानों ने मुगलों के विरुद्ध विद्रोह करके की थी। पहले तीन राज्यों का प्रारंभ, किसान विप्लव के लोकप्रिय आंदोलनों के द्वारा हुआ। इन आंदोलनों का नेतृत्व कुलीनों के साथ न होकर अक्सर समाज के साधारण "नये आदमियों" अर्थात् हैदरअली, सिंधिया और होलकर सरीखे लोगों के पास था।

मराठा

यदि 18वीं सदी के इतिहास की दो मुख्य घटनायें मुगल शक्ति का पतन एवं औपनिवेशिक शासन की स्थापना थी तो तीसरी महत्वपूर्ण घटना क्षेत्रीय राज्यों का उदय एवं पतन था और इनमें सबसे महत्वपूर्ण मराठा राज्यों का उदय। इनमें से प्रथम का अखिल भारतीय साम्राज्य के रूप में पतन हुआ, दूसरे को अभी अपना स्थान ग्रहण करना था और तीसरा साम्राज्य अपने अस्तित्व में आने से पूर्व ही असफल हो गया। मुगल साम्राज्य का पतन सदी के पूर्वार्द्ध में हो गया, ब्रिटिश सत्ता का तेजी के साथ विकास सदी के उत्तरार्द्ध में हुआ परन्तु सदी के बिल्कुल मध्य में अधिकतर भू-भाग मराठों के राजनैतिक शासन के अधीन हो गया।

मराठा राज्य व्यवस्था की मुख्य विशेषता पेशवाओं या प्रधानमंत्रियों का आधिपत्य था जिसका विकास बालाजी विश्वनाथ के शासन काल के दौरान हुआ। वह शिवाजी के पौत्र साहू का एक

वफादार अधिकारी था। 1707 में साहू को मुगलों की जेल से छोड़ दिया गया तथा वह मराठा राज्य का राजा बन गया। उसके शासन के दौरान पेशवा की शक्ति में तेजी के साथ वृद्धि हुई और मराठा सम्राट नाम मात्र का शासक रह गया।

1702 में बालाजी विश्वनाथ की मृत्यु हो गई और उसके बाद उसका पुत्र बाजीराव पेशवा बना जिसकी मृत्यु 1740 में हुई और इसी समय से हमारा अध्ययन भी प्रारंभ होता है। इस समय तक मराठा क्षेत्रीय शक्ति न रहकर एक विस्तारवादी साम्राज्य बन गया था। उन्होंने मुगल साम्राज्य के दूर दराज के क्षेत्रों पर अधिकार कर लिया था। इसकी मुख्य दुर्बलता यह थी कि इन विजयों को प्राप्त करने में मराठा सरदारों की अग्रिम भूमिका थी और ये सरदार पेशवा द्वारा जारी किये गये नियमों को मानने के विरुद्ध थे। उन्होंने पेशवा के प्रभुत्व को इसलिये स्वीकार किया था कि उसके साथ रहने में उनको सैन्य तथा वित्तीय लाभ होता था। कुछ विशेष क्षेत्रों में चौथ तथा सरदेशमुखी को एकत्रित करने और विजित करने की आज्ञा मराठा सरदारों को प्रदान कर दी गई थी। अगर पेशवा उनकी गतिविधियों को नियंत्रित करने की कोशिश करता तो ये सरदार दूसरे विरोधी गुटों के साथ हो जाते। बालाजी विश्वनाथ के समय में यह स्थिति थी।

संभवत: इसी से सीख लेते हुए बाजीराव ने स्वयं सैनिक अभियानों का नेतृत्व किया और दूसरे क्षेत्रों के साथ-साथ गुजरात और मालवा के उपजाऊ क्षेत्रों पर अधिकार कर लिया। दुर्भाग्यवश वह दक्कन की शक्ति हैदराबाद के शासक निजामुल-मुल्क के साथ उलझ गया। दोनों ने पहले मुगलों के विरुद्ध गठबंधन किया और बाद में अंग्रेज़ों के, तथा दोनों को ही इससे लाभ हुआ। परन्तु उन्होंने एक दूसरे के विरुद्ध मुगल पदाधिकारियों के साथ गठबंधन भी बनाये।

बाजीराव की सेनाओं ने निजाम की सेनाओं को दो बार निर्णायक रूप से पराजित किया परन्तु दक्कन प्रांतों पर अधिकार करने के लिये दोनों के बीच संघर्ष जारी रहा। अंग्रेज़ भी इस संघर्ष में कूद पड़े और अब यह त्रिकोणीय संघर्ष में बदल गया जो अंग्रेज़ों के लिये बड़ा ही लाभकारी सिद्ध हुआ और उन्होंने उनका उपयोग एक दूसरे के विरुद्ध किया।

बालाजी राव, जिसको नानासाहेब के नाम से भी जाना जाता था, 1740 से 1761 तक पेशवा रहा। इसके शासन के दौरान मराठा शक्ति अपने चरमोत्कर्ष पर थी। अब मराठा शक्ति का प्रसार केवल उन्हीं क्षेत्रों तक सीमित नहीं था जिन पर मुगलों का अनिश्चित अधिकार था। भारत का कोई ऐसा भाग न था जिसने मराठों की विजय के साथ लूट को न देखा हो। दक्षिण भारत को अपने अधीन करना उनके लिये सरल रहा। 1760 में हैदराबाद की पराजय के बाद उसने अपने बहुत से क्षेत्रों को मराठों को चौथ एवं सरदेशमुखी वसूली के लिये छोड़ दिया। मैसूर तथा अन्य राज्यों ने उनको नजराना भेंट किया। पूरब में, बंगाल की लगातार विजयों से उनको 1751 में उड़ीसा प्राप्त हो गया। मध्य भारत में, बाजीराव ने मालवा, गुजरात तथा बुन्देलखंड के जिन क्षेत्रों को विजयी किया उनको शेष मराठा साम्राज्य के साथ भली भांति मिला लिया गया।

मुगलों, मराठों और अफगानों के बीच संघर्ष

प्रारंभिक सरल विजयों को प्राप्त करने के बाद मराठा शासकों के लिये उत्तरी भारत पर स्वामित्व बनाये रखना अधिक मुश्किल कार्य सिद्ध हुआ। दिल्ली पर स्थित मुगल शासक मराठों के प्रभाव में आ गये परन्तु अफगानों ने अब्दाली के नेतृत्व में मराठों को पीछे ढकेल दिया।

पानीपत का तृतीय युद्ध, 1761

पानीपत का तृतीय युद्ध 14 जनवरी 1761 को हुआ। परन्तु इस संघर्ष का परिणाम यह हुआ कि इसने मराठों के उस प्रभाव को भी मृतप्राय: कर दिया जो उन्होंने 1752 में उत्तरी भारत को रौंद कर दिल्ली दरबार में तथा उत्तरी भारत पर स्थापित किया था। इमाद-उल-मुल्क को राज्य का वजीर घोषित किया गया परन्तु व्यवहारिक तौर पर सभी प्रकार से, मराठे ही शासक थे। मराठों ने इसी की प्राप्ति तक स्वयं को संतुष्ट न रखा तथा उन्होंने अपनी लालची आँखों से पंजाब की ओर देखा, जिस पर इस समय अब्दाली के एक सामन्त के द्वारा शासन किया जा रहा था। यही उनकी भयंकर भूल थी। अब्दाली भारत की लूट-खसोट करके वापस लौट गया

MAADHYAM IAS

तथा कुछ क्षेत्रों का शासन प्रबंध करने के लिये अपने कुछ वफादार लोगों को छोड़ गया था, परन्तु मराठों की चुनौतियों का सामना करने के लिये उसने भारत वापस आने का निश्चय किया।

इस संघर्ष के बहुउद्देशीय परिणाम निकले क्योंकि इसमें उत्तरी भारत की छोटी-बड़ी कई ताकतों ने भाग लिया। मराठों की तुलना में अफगानों को एक लाभ था क्योंकि साम्राज्य के इस भाग को विजयी करने तथा इसका प्रशासन चलाने की प्रक्रिया में कई शक्तियाँ मराठों की शत्रु बन गई। इमाद-उन-मुल्क के अतिरिक्त मुगल कुलीनों को सत्ता संघर्ष में उन्होंने पराजित किया था। उनकी विजयों के कारण जाट और राजपूत शासक भी उनसे अलग-थलग पड़ गये थे और ऊपर से उनके ऊपर भारी जुर्माने थोपे गये। विदेशी आक्रमणों के कारण सिक्ख भी अपनी शक्ति को संगठित करने के प्रयासों से पहले ही निराश हो चुके थे। इसलिये पंजाब को अपने साम्राज्य में शामिल करने के मराठों के प्रयासों में सहायता करने के लिये कोई भी तैयार न था।

रुहेलखंड के सरदार तथा अवध के नवाब इस सीमा तक गये कि वे अब्दाली के साथ मिल गये क्योंकि मराठा सेनाओं ने उनके क्षेत्रों को भी रौंद डाला था। इन सबका परिणाम यह हुआ कि पानीपत के युद्ध में अब्दाली का सामना करने के लिये केवल मराठों की ही सेनायें थीं।

अफगान सेनाओं के साथ मराठा सेनाओं की कोई तुलना नहीं थी यद्यपि मराठा सेनाओं का प्रशिक्षण पश्चिमी आधार पर किया गया था। युद्ध के मैदान में 28000 सैनिकों के साथ-साथ सेनापति तथा पेशवा का छोटा बेटा विश्व राव और चचेरा भाई सदाशिव राव भाऊ मारे गये। इस दर्दनाक पराजय का समाचार सुनकर पेशवा, बालाजी बाजी राव अधिक समय तक जीवित न रह सका।

पानीपत के तृतीय युद्ध के बाद

भारत पर प्रभुत्व स्थापित करने के लिये पानीपत का तृतीय युद्ध निर्णायक साबित हुआ। मुगलों को साम्राज्य शक्ति से हटाकर मराठों को स्थापित करने की उनकी अभिलाषा को इस पराजय के द्वारा एक विशेष सामरिक बिन्दु पर रोक दिया गया। अफगानों की अपेक्षा इससे अंग्रेज़ों को लाभ हुआ। बंगाल और भारत में अपना प्रभाव बढ़ाने के लिए इससे अंग्रेज़ों को व्यापक अवसर प्राप्त हुआ। एक बार भारत में पैर जमाने के बाद एक बार भी उन्हें पीछे मुड़कर न देखना पड़ा। 1761 की भारी पराजय के बाद एक बार फिर परन्तु क्षणिक समय के लिये ऐसा प्रतीत हुआ कि मराठों का भाग्य पुन: उदित हो गया। माधव राव ने जो 1761 में पेशवा बना, सफलतापूर्वक उत्तर के अपने पुराने शत्रुओं रुहेलों, राजपूतों तथा जाटों और दक्षिण में मैसूर व हैदराबाद को रौंद डाला। परन्तु पेशवा माधव राव की 1772 में 28 वर्ष की आयु में मृत्यु हो जाने के कारण मराठों का सपना निर्णायक रूप से समाप्त हो गया। अंग्रेज़ों के हाथों प्रथम ऐंग्लो-मराठा युद्ध (ऐंग्लो-मराठा संघर्ष इकाई 10 का शीर्षक है) में मराठों की पराजय ने शक्ति के लिये होने वाले मराठा गुटों के षड़यंत्रों एवं संघर्षों को भी स्पष्ट कर दिया।

मराठा राज्य एवं आंदोलन का चरित्र

मराठों का उदय मुगल केन्द्रीयकरण के विरुद्ध क्षेत्रीय प्रतिक्रिया के साथ-साथ निम्न वर्गों तथा छोटी जातियों का प्रगतिशील आंदोलन था। छोटे ग्रामीण जमींदारों तथा परम्परागत जुताईदारों (मीरासदार) ने इसका सामाजिक आधार बनाया। कृषक जातियाँ क्षेत्रीय जाति का स्तर प्राप्त करना चाहती थी और अधिकारीगण अपने हाथों में शक्ति को केन्द्रित करना। लूट को चौथ के रूप में संस्थागत कर दिया गया और यह मराठा राज्य व्यवस्था का एक वैध भाग बन गयी। मराठों के अर्ध विकसित निवास क्षेत्रों के लिये आमदनी बढ़ाने के लिये चौथ के रूप में धन गरीबों से वसूल किया गया। परन्तु लूट पर निर्भरता मराठा व्यवस्था की एक कमजोरी थी तथा, उन्होंने कर्नाटक, कोरोमण्डल एवं गंगा के मैदान के सम्पन्न क्षेत्रों पर उस समय भी सीधा शासन लागू नहीं किया जबकि ये उनके नियंत्रण में आ गये थे।

मराठों ने मुगल प्रशासनिक व्यवस्था के कुछ भाग को अपनाया। परन्तु उन्होंने अतिरिक्त उत्पादन को वसूल करने के लिये अपनी ही तकनीकियों पर ध्यान केन्द्रित किया जिनमें व्यापक प्रशासनिक ढाँचे का अभाव था। भलीभाँति परिभाषित प्रांतीय प्रभुत्व के अभाव में वे अपने प्रभाव को अफगानों तथा अंग्रेज़ों के आने से पूर्व आवश्यक गति के साथ सुसंगठित न कर सके और परिणामस्वरूप उनकी पराजय हुई।

MAADHYAM IAS

उनकी प्रशासकीय व वित्तीय कमजोरियाँ विशेषकर सैन्य क्षेत्र में, उनके तकनीकी पिछड़ेपन में निहित थीं। उस समय की नवीन प्रगतियों को जैसे कि तोपखाना छोटे हथियार, विशेषकर कठोर बन्दूकें और उन्नत अग्नि हथियारों को नहीं अपनाया गया।

सिक्ख

15वीं शताब्दी के अन्त में नये लोकतान्त्रिक धर्म सिक्खवाद का प्रसार सामरिक दृष्टि से महत्वपूर्ण पंजाब प्रांत में हुआ। आगामी दो सदियों तक यह व्यक्ति विशेष तक सीमित रहा, परन्तु दसवें गुरु गोविन्द सिंह के समय में, इस पंथ के अनुचरों में राजनैतिक अभिलाषाओं तथा संघर्षकारिता को पैदा करके इसको एक भली भाँति सुसंगित समुदाय में बदल दिया गया। औरंगजेब के विरुद्ध गुरु गोविन्द सिंह के संघर्ष को अच्छी प्रकार से जाना जाता है तथा इसी प्रकार से औरंगजेब के उत्तराधिकारियों के विरुद्ध बंदा बहादुर का विद्रोह था।

पंजाब के सामरिक रूप से महत्वपूर्ण होने के कारण, मुगलों ने पूरी ताकत के साथ विद्रोह को दबा दिया। अन्य विद्रोहियों की तुलना में सिक्ख विद्रोही मुगलों के साथ समझौता करने के इच्छुक नहीं थे। उन्होंने केन्द्र के साथ किसी भी प्रकार संबंध रखने से इंकार कर दिया और पूर्ण स्वतंत्र शासक बनने के लिये अपना संघर्ष जारी रखा। सिक्खों के संगठन में कुछ आंतरिक कमजोरियाँ थी। आंदोलन के नेता खत्रियों की स्थिति में गिरावट आयी क्योंकि विदेशी आक्रमणों तथा मराठों के कारण व्यापार तथा शहरी केन्द्रों का पतन हो गया। प्रगति की संभावनाओं के कारण आंदोलन में छोटी जातियाँ सम्मिलित हो गई और जिसके फलस्वरूप उच्च जातियों व वर्गों का विरोध इस आंदोलन के अंदर होने लगा।

1715 में बंदा बहादुर के विद्रोह का दमन हो जाने के बाद, लगभग एक चौथाई शताब्दी तक सिक्ख शांत रहे। परन्तु मुगल साम्राज्य के बुरे दिन सिक्खों के लिये अवसर के रूप में लाभकारी हुए। नादिरशाह और अब्दाली के आक्रमण उत्तरी भारत के लिये विनाशकारी साबित हुए और जो उनके लूटने से बच गया उसको सिक्खों ने लूट लिया। अब्दाली तथा उसके समर्थकों के वापस लौट जाने के बाद इस अपार सम्पदा के आधार पर तथा मुगलों का नियंत्रण समाप्त हो जाने की स्थिति का लाभ उठाते हुए सिक्खों ने तीव्रता के साथ पंजाब में अपना नियंत्रण स्थापित कर लिया।

इसके उपरान्त 12 मिसलों या संघों ने मिलकर पंजाब प्रांत का गठन किया। हाल के वर्षों में इतिहासकारों ने इस विचार का खंडन किया है कि सिक्ख राज्य एक धार्मिक राज्य था। उनका कहना है कि यह भी उस समय देश के अन्य भागों की तरह एक धर्म निरपेक्ष राज्य था। लेकिन एक महत्वपूर्ण राज्य के रूप में पंजाब का उदय होना अभी बाकी था। यह कार्य शताब्दी के अन्त में रणजीत सिंह द्वारा पूरा किया गया।

MAADHYAM IAS

जाट

जाट एक खेतिहर जाति थे जो दिल्ली-आगरा क्षेत्र में बसे थे। 17वीं सदी के उत्तरार्द्ध में मुगल आधिपत्य के विरुद्ध जाट किसानों के विद्रोहों के कारण मुगलसाम्राज्य के इस अन्तर्भागीय क्षेत्र की स्थिरता के लिये खतरा पैदा हो गया। मुगल शक्ति के पतन के साथ-साथ जाट शक्ति में वृद्धि हुई और एक किसान विद्रोह को विप्लव में परिवर्तित कर दिया गया जो इस क्षेत्र के अन्य गुटों सहित राजपूत जमींदारों के लिये विनाशकारी सिद्ध हुआ। किसान विद्रोह होने के बावजूद भी जाट राज्य का ढाँचा सामंती बना रहा जिसके अंतर्गत प्रशासनिक तथा राजस्व शक्तियाँ जमींदारों के पास थी और सूरजमल के शासन में भू-राजस्व मुगलों से कहीं अधिक था।

चूड़ामन तथा बदन सिंह ने भरतपुर में जाट राज्य की स्थापना की। परन्तु यह सूरजमल ही था जिसने जाट शक्ति को 1756 से 1763 तक अपने शासन काल में सुगठित एवं सुदृढ़ किया। राज्य के प्रसार के कारण इसकी सीमायें पूरब में गंगा नदी, दक्षिण में चम्बल उत्तर में दिल्ली तथा पश्चिम में आगरा तक फैल गयी। इसी के साथ-साथ उसमें विशेषकर राजस्व एवं नागरिक मामलों में विशेष प्रशासनिक योग्यता थी। परन्तु उसका शासन काफी कम समय तक रहा और 1763 में उसकी मृत्यु के बाद जाट राज्य का पतन हो गया।

फर्रुखाबाद और रुहेलखण्ड

रुहेलखण्ड तथा बंगश पठानों के राज्यों की स्थापना 17वीं सदी में अफगानों के विस्थापन का परिणाम थी। अफगानिस्तान में 18वीं सदी के मध्य में राजनैतिक तथा आर्थिक अस्थिरता पैदा

हो जाने के कारण काफी बड़ी संख्या में अफगानों का भारत में विस्थापन हुआ। नादिरशाह के आक्रमण के बाद उत्तर भारत में अराजकता की स्थिति पैदा हो गई। इसका लाभ उठाते हुए मुहम्मद खां ने रूहेलखण्ड के एक छोटे राज्य की स्थापना की। यह क्षेत्र हिमालय की तलहटी में उत्तर में कुमायूं पहाड़ियों तथा दक्षिण में गंगा नदी के बीच स्थित था। रूहेलों को जिनको उनके क्षेत्र रूहेलखण्ड के नाम से जाना जाता था, क्षेत्र की अन्य शक्तियों जैसे कि जाटों और अवध के शासकों तथा बाद में मराठों एवं अंग्रेज़ों के हाथों भारी पराजय को देखना पड़ा। दिल्ली से पूरब की ओर फरुखाबाद में मोहम्मद खान बंगश ने जो एक अफगान सरदार था, एक स्वतंत्र राज्य की स्थापना की।

अफगानियों के तोपखाने ने विशेषकर कठोर मूठ वाली बन्दूकों ने युद्ध में घुड़ सेना के आधिपत्य को समाप्त कर दिया।

राजनैतिक रूप से अफगानों की भूमिका नकारात्मक थी। न केवल उन्होंने मुगल साम्राज्य के पतन की गति को तीव्र किया बल्कि उन्होंने अवध के नवाब को परास्त करने के लिये अब्दाली की मदद की जो भारत में अंग्रेज़ों के प्रसार को रोक सकता था।

1.4.3 स्वतंत्र राज्य

तीसरी श्रेणी में वे राज्य आते थे जो न तो ब्रिटिश साम्राज्य से अलग हुए थे और न ही इन राज्यों का निर्माण दिल्ली के विरुद्ध विद्रोह करके किया गया था। मैसूर, राजपूत राज्य एवं केरल इस श्रेणी के राज्य थे।

मैसूर

18वीं सदी के मध्य में मैसूर का दक्षिण भारत में एक महत्वपूर्ण राज्य के रूप में उदय हुआ। मैसूर शक्ति की आधारशिला हैदरअली के द्वारा रखी गयी जिसको सुसंगठित उसके पुत्र टीपू सुल्तान ने किया। हैदरअली यद्यपि मैसूर राज्य की सेना में एक छोटा अधिकारी था परन्तु उसने एक सेनापति के पद तक प्रगति की। हैदरअली की महत्वपूर्ण उपलब्धि यह एहसास कराना था कि एक आधुनिक सेना ही शक्तिशाली राज्य का आधार हो सकती है। फलस्वरूप उसने सेना को पश्चिमी तरीकों से प्रशिक्षित किया एवं शस्त्र भंडारण करने के लिये फ्रांसीसी विशेषज्ञों को भर्ती किया। शीघ्र ही वह इतना शक्तिशाली हो गया कि उसने मैसूर सिंहासन के पीछे वास्तविक शक्ति मंत्री नुंजराज को 1761 में उखाड़ दिया।

मैसूर राज्य की सीमाओं में मालाबार तथा कर्नाटक के सम्पन्न तटीय क्षेत्रों को सम्मिलित कर लिया गया। बिल्कुल मध्य में प्रसार होने के कारण क्षेत्र की दूसरी शक्तियों मराठों, हैदराबाद तथा नवीन उभरती शक्ति अंग्रेज़ों के साथ उसका संघर्ष होना स्वाभाविक था। उसने 1769 में मद्रास के निकट अंग्रेज़ी सेनाओं के विरुद्ध अपनी विजय को दर्ज किया। 1782 में उसकी मृत्यु के बाद उसका बेटा टीपू सुल्तान मैसूर का सुल्तान बना और उसने भी अपने पिता द्वारा शुरू की गयी नीतियों का अनुसरण किया। टीपू सुल्तान का शासन इस इकाई के क्षेत्र से बाहर है।

राजपूत राज्य

मुगल साम्राज्य के बिखराव से राजपूत राजाओं ने लाभ उठाते हुए अपनी स्थिति को अन्य शासकों की भांति और मजबूत किया। उनमें से कोई भी इतना बड़ा एवं पर्याप्त शक्तिशाली नहीं था कि सर्वोच्च शक्ति की स्थिति को प्राप्त करने के लिये मराठों एवं अंग्रेज़ों को चुनौती दे सके। उनकी नीति थी कि दिल्ली के साथ अपने संबंधों को धीरे-धीरे समाप्त होने देना और स्वतंत्र राज्यों के रूप में कार्य करना। दिल्ली दरबार में सत्ता के लिये होने वाले संघर्षों एवं षडयंत्रों में उन्होंने भाग लिया और मुगल शासकों से आकर्षक तथा प्रभावशाली सूबेदारियाँ प्राप्त कीं। उत्तर मुगल काल में भी राजपूत नीति विखण्डित रूप में जारी रही। सभी राज्यों ने प्रसारवादी नीति का लगातार अनुसरण किया और जब भी संभव होता तो वे अपने कमजोर पड़ौसी को अपने राज्य में मिला लेते। ये खेल राज्य के अंदर भी खेला जाता, एक गुट दूसरे गुट के विरुद्ध उसी प्रकार से षडयंत्र रचता रहता था जैसा कि मुगलों के दिल्ली दरबार में खेल चलता रहता था। राजपूत शासकों में अजमेर का राजा जय सिंह बहुत लोकप्रिय हुआ और जिसने 1699 से 1743 तक जयपुर पर शासन किया।

केरल

वर्तमान केरल राज्य का गठन तीन राज्यों को चीन, त्रावणकोर तथा कालीकट को मिलाकर किया गया है। बहुत से सरदारों तथा राजाओं के क्षेत्र 1763 तक इन राज्यों के अंतर्गत थे। परन्तु मैसूर राज्य का प्रसार केरल की स्थिरता के लिये विनाशकारी साबित हुआ। हैदरअली ने 1766 में केरल पर आक्रमण किया और मालाबार तथा कालीकट पर अधिकार कर लिया।

त्रावणकोर धुर दक्षिण का एक महत्त्वपूर्ण एवं सुरक्षित राज्य था। 1729 के बाद इसका महत्त्व उस समय और भी बढ़ गया जबकि इसके राजा मार्तन्ड वर्मा ने मजबूत तथा पश्चिमी तरीकों से प्रशिक्षित और आधुनिक हथियारों से लैस आधुनिक सेना की मदद से अपने राज्य की सीमाओं का प्रसार किया। डचों को केरल से बाहर तथा सामंत सरदारों का दमन कर दिया गया। उसकी दृष्टि प्रसार के आगे अपने राज्य के विकास की ओर थी तथा उसने सिंचाई परिवहन और सम्पर्क साधनों को विकसित करने के लिये कार्य किया। उसका उत्तराधिकारी राम वर्मा एक महान् रचनाकार एवं विद्वान था तथा उसे पश्चिम का ज्ञान भी था। उसके शासन काल के दौरान उसकी राजधानी त्रिवेन्द्रम विद्वता तथा कला का केन्द्र बन गई।

1.4.4 क्षेत्रीय राजनीति की कमजोरियाँ

ये राज्य मुगल सत्ता को नष्ट करने के लिये पर्याप्त शक्तिशाली साबित हुए परन्तु इनमें से कोई भी मुगल साम्राज्य के स्थान पर अखिल भारतीय स्तर पर एक स्थिर, राजनैतिक व्यवस्था देने में सक्षम न हो सका। एक मत के अनुसार, ऐसा इसलिये था कि इन क्षेत्रीय राजनैतिक व्यवस्थाओं में ही कमजोरियाँ निहित थीं। यद्यपि इनमें से कुछ ने विशेषकर मैसूर ने आधुनिकीकरण की ओर प्रयास किया परन्तु कुल मिलाकर वे तकनीकी एवं विज्ञान में पिछड़ी हुई थी। ये राज्य आर्थिक गतिरोध की उस प्रक्रिया को न बदल सके जिसने मुगल साम्राज्य की अर्थव्यवस्था को चौपट कर दिया था। जागीरदारी संकट और गहरा हो गया क्योंकि कृषि से होने वाली आमदनी में गिरावट आयी और अतिरिक्त पैदावार पर हक जमाने वालों की संख्या में तेजी से वृद्धि हुई। आंतरिक तथा विदेशी व्यापार बिना किसी रुकावट के जारी रहा और यहाँ तक कि उसमें सम्पन्नता बढ़ी परन्तु बाकी अर्थव्यवस्था में वृद्धि बंद हो गयी।

MAADHYAM IAS

कमजोरियों के विषय में उपरोक्त विश्लेषण पर अभी हाल के वर्षों में इतिहासकारों द्वारा प्रश्नचिह्न लगाया गया है। कुछ विशेष उदाहरण स्थिति का दूसरा ही चित्र प्रस्तुत करते हैं। सतीश चन्द्र का कहना है कि आर्थिक ह्रास तथा सामाजिक अवरोध का एकरूप चित्रण करना गलत है। साम्राज्य की राजनैतिक व्यवस्था के मृत प्राय: होने के बावजूद साम्राज्य के पूर्वी भाग में आर्थिक विकास की गति में और तेजी आयी। औपनिवेशिक शासन की प्रारंभिक लूट-पाट को बंगाल प्रांत ने मजबूती से वहन किया। 1770 के बाद भी बंगाल की अर्थव्यवस्था में स्थायित्व बना रहा और रुई की वस्तुओं का निर्यात 1750 में 400,000 से 1790 में ढाई गुना तक बढ़ गया।

सामाजिक ढांचे में ठहराव नहीं आया, इसमें भी परिवर्तन हुए और छोटी जातियों ने प्रगति की तथा "नये लोग" आगे बढ़ते रहे। सारे भारत में ये सामान्य बातें थी।

मुजफ्फर आलम ने क्षेत्रीय आधार पर भिन्न-भिन्न विवरण प्रस्तुत किये हैं। उनका कहना है कि अवध में जहाँ एक ओर आर्थिक सम्पन्नता बढ़ी तो वहीं दूसरे क्षेत्रों (पंजाब) की अर्थव्यवस्था में ठहराव आया। परन्तु राजनैतिक व्यवस्थायें क्षेत्रीय बनी रही क्योंकि पर्याप्त अतिरिक्त धन के अभाव में अखिल भारतीय स्तर पर एक ऐसी स्वदेशी राज्य व्यवस्था कायम न हो सकी। जिसकी तुलना मुगल साम्राज्य के साथ की जा सकती थी।

बोध प्रश्न 2

1) किन-किन चरणों में मुगल प्रांत केन्द्र से अलग हुए ?

....

....

....

....

....

2) उन क्षेत्रों की सूची बनाइये जो मराठों ने 1740 से 1761 तक प्राप्त किये।

....

....

....

....

....

3) मुगलों के विरुद्ध विद्रोहियों ने किन-किन मुख्य राज्यों की स्थापना की ?

....

....

....

4) क्षेत्रीय राजनैतिक व्यवस्थाओं की कमजोरियों पर 10 पंक्तियाँ लिखिये।

....

....

....

....

....

....

....

....

....

....

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

1.5 ब्रिटिश शक्ति का उदय

तृतीय तथा 18वीं सदी की राजनीति की सबसे निर्णायक तथा दूरगामी विशेषता भारत में ब्रिटिश शक्ति का उदय एवं प्रसार था। इसने भारत के इतिहास में एक नये युग का सूत्रपात किया। इस भाग में आप यह भली-भाँति जान जायेंगे कि भारत में अंग्रेज़ कैसे आये और फिर उन्होंने किस प्रकार से अपने प्रभाव का प्रसार किया।

1.5.1 व्यापारिक कम्पनी से राजनैतिक शक्ति तक

18वीं सदी के मध्य में अंग्रेजी ईस्ट इंडिया कम्पनी का एक व्यापारिक कम्पनी से राजनैतिक शक्ति के रूप में परिवर्तन हो गया। अपनी स्थापना के दिन 31 दिसंबर 1600 ई. से 1744 तक, अंग्रेज़ी ईस्ट इंडिया कम्पनी ने भारत में अपने व्यापार एवं प्रभाव को धीरे-धीरे फैलाया। युद्ध तथा मुगल दरबार में घुसपैठ की संयुक्त नीति के द्वारा पुर्तगालियों और डचों के बढ़ते प्रभाव को रोक दिया गया। 18वीं सदी के आते-आते केवल फ्रांसीसी ईस्ट इंडिया कम्पनी, भारत में अंग्रेज़ी ईस्ट इंडिया कम्पनी की प्रमुख विरोधी विदेशी शक्ति के रूप में रह गयी थी जिसने इस संघर्ष में देर से पदार्पण किया था।

ब्रिटिश साम्राज्य के प्रारंभ को सामान्यत: 1757 के उस समय से माना जाता है जबकि अंग्रेज़ों ने प्लासी के युद्ध में बंगाल के नवाब को पराजित किया। 1757 की विजय की पृष्ठभूमि दक्षिण भारत में उस समय तैयार की गयी जबकि अंग्रेज़ों ने फ्रांसीसी कम्पनी के साथ संघर्ष में अपनी

सैनिक शक्ति एवं कूटनीति का सफलतापूर्वक परीक्षण किया। इस संघर्ष को कर्नाटक युद्धों के नाम से जाना जाता है जो एक चौथाई शताब्दी 1744 से 1763 तक होते रहे। इकाई 9 में इनका विस्तृत रूप से विवरण किया जायेगा।

अंग्रेज़ी ईस्ट इंडिया कम्पनी 150 वर्षों तक एक व्यापारिक संगठन बनी रही। इस समय में इसकी राजनैतिक अभिलाषाओं में वृद्धि का क्या कारण था? जैसा कि हम खंड 2 में देखेंगे कि 1730 से भारत में यूरोपीय कम्पनियों के प्रसार का कारण, यूरोप के उत्पादन तथा व्यापार का फैलाव और यूरोप में आक्रामक राष्ट्रीय राज्यों का उदय होना था। भारत में मुगल प्रभुत्व के पतन ने स्पष्टत: इन कम्पनियों के प्रभाव के प्रसार के लिये महान् अवसर प्रदान किया।

करों से अधिक राजस्व प्राप्त करने की कम्पनी की लालसा ने उसे साम्राज्य स्थापित करने की ओर प्रेरित किया। कम्पनी को अपने व्यापार को बनाये रखने तथा सेनाओं के वेतन देने के लिये अधिक धन की आवश्यकता थी और उसे अपनी इस जरूरत को पूरा करने के लिये कुछ क्षेत्रों को प्राप्त करने का रास्ता सर्वश्रेष्ठ लगा। कम्पनी की बंगाल विजय में दोहरे स्वार्थों की पूर्ति हुई। एक तरफ तो उसने अपने व्यापार को संरक्षण प्रदान किया तो दूसरी ओर बंगाल के राजस्व पर अपना नियंत्रण कर लिया। उनका लक्ष्य था बंगाल के अतिरिक्त राजस्व को प्राप्त कर उसको बंगाल के सामानों पर खर्च करना। बंगाल से प्राप्त होने वाले सामानों के दाम 1765 में 400,000 पौंड से बढ़कर 1770 के दशक के अन्त तक 10 लाख पौंड तक पहुँच गये।

1.5.2 दक्षिण भारत में आंग्ल-फ्रांसीसी संघर्ष

निजामुल-मुल्क के अधीन हैदराबाद राज्य, केन्द्रीय प्रभुत्व से स्वतंत्र हो गया था परन्तु 1748 में उसकी मृत्यु के बाद इस राज्य में अस्थिरता की शुरुआत हुई। जैसा कि कर्नाटक के संघर्षों से स्पष्ट है कि उत्तराधिकार के संघर्षों ने विदेशी कम्पनियों को हस्तक्षेप का अवसर प्रदान किया।

प्रथम कर्नाटक युद्ध

1742 में यूरोप के अन्दर दोनों देशों में युद्ध हो जाने के कारण प्रथम कर्नाटक युद्ध हुआ। 1745 के आते-आते यह युद्ध भारत में अंग्रेजी ईस्ट इंडिया कंपनी तथा फ्रांसीसी ईस्ट कम्पनी के बीच का युद्ध बन गया। ये दोनों कम्पनियाँ भारत में व्यापार एवं राजनैतिक प्रभाव में एक दूसरे की प्रतिद्वन्द्वी थीं। पांडिचेरी के पास अंग्रेज़ी सेना ने फ्रांसीसी जहाज़ों पर आक्रमण कर दिया परन्तु फ्रांसीसियों ने शीघ्र ही मद्रास पर अधिकार कर लिया। इस मौके पर कर्नाटक के नवाब ने अंग्रेज़ों द्वारा मद्रास को बचाने की अपील का उत्तर देते हुए फ्रांसीसी सेनाओं पर आक्रमण कर दिया। परन्तु उसकी सेनाओं को फ्रांसीसियों की एक छोटी सी सेना ने मद्रास के पास सेंट थोमस में पराजित कर दिया। यूरोप में युद्ध समाप्त होने के साथ ही अस्थायी रूप से दोनों कम्पनियों के बीच युद्ध समाप्त हो गया। सर्वोच्चता के प्रश्न का अभी अंतिम रूप से समाधान नहीं हुआ था। अत: 1748 के बाद संघर्ष की संभावनाएँ फिर से शुरू हो गयीं।

कर्नाटक का दूसरा युद्ध

कर्नाटक का दूसरा युद्ध पांडिचेरी के फ्रांसीसी गवर्नर डुप्ले के कूटनीतिक प्रयासों का परिणाम था। हैदराबाद तथा कर्नाटक राज्यों के सिंहासन प्राप्त करने के लिये आंतरिक कलह काफी गंभीर स्थिति ग्रहण कर चुके थे। इन राज्यों से आकर्षक भेंट प्राप्त करने की लालसा से डुप्ले ने शीघ्रता के साथ कर्नाटक में चन्दा साहिब और हैदराबाद में मुजफ्फर जंग को समर्थन देने का निश्चय किया। ये प्रारंभिक तैयारियां उस समय काफी उपयोगी सिद्ध हुई जबकि फ्रांसीसियों और उनके सहयोगियों ने 1749 में अपने विरोधियों को पराजित कर दिया। फ्रांसीसियों को क्षेत्रीय व आर्थिक दोनों प्रकार के लाभ प्राप्त हुए। उन्होंने नॉर्दर्न सरकार, मच्छलीपत्तम और पांडिचेरी के आस-पास के कुछ गांवों को प्राप्त किया। राजनैतिक प्रभाव को बनाये रखने के लिये हैदराबाद के निजाम दरबार में फ्रांसीसियों के एक प्रतिनिधि की नियुक्ति कर दी गई।

अंग्रेज़ों ने अपनी पराजय का बदला 1750 में लिया। राबर्ट क्लाइव ने अपनी चालाकी पूर्ण योजना को लागू करते हुए 200 अंग्रेज़ सिपाहियों तथा 300 भारतीय सैनिकों की मदद से

आर्काट पर अधिकार कर लिया। चंदा साहिब के पास अब कोई रास्ता न था और अपनी राजधानी की सुरक्षा के लिये उसने त्रिचनापल्ली के घेरे को तोड़ा और इसके परिणामस्वरूप मुहम्मद अली को छुड़ा लिया। यह क्लाइव की आशाओं के अनुरूप था।

फ्रांसीसी सरकार के समर्थन के अभाव में फ्रांसीसियों के पुन: खोयी शक्ति को प्राप्त करने के प्रयासों को धक्का लगा। उनको अमेरिका तथा भारत के संघर्षों में भारी नुकसान को उठाना पड़ा और इसलिये उन्होंने खर्चीले संघर्षों के बदले अपमानजनक शांति को स्वीकार किया। इस प्रकार कम्पनी के चरित्र को एक राज्य के रूप में परिवर्तित करने का प्रयास फ्रांसीसी ईस्ट इंडिया कम्पनी के लिये बड़ा विनाशकारी सिद्ध हुआ। फ्रांसीसी सरकार न केवल भ्रष्ट एवं पतनशील थी बल्कि भविष्य में होने वाले विकासों तथा योजनाओं को समझने में भी असफल रही। अंग्रेज़ी कम्पनी के साथ वार्तालाप होने के बाद 1754 में डुप्ले को फ्रांस वापस बुला लिया गया और वास्तविक रूप में फ्रांसीसी चुनौती समाप्त हो गई।

कर्नाटक का तीसरा युद्ध

यूरोप में लड़ाई छिड़ जाने के कारण दोनों कम्पनियों के बीच पुन: 1756 में युद्ध शुरू हो गया। काउन्ट डी लाली के नेतृत्व में, फ्रांसीसी सेना की सहायता के लिये, फ्रांस ने एक सेना भारत को भेजी, परन्तु उसके जहाज को वापस भेज दिया गया तथा फ्रांसीसी सेना को कर्नाटक में पराजित कर दिया गया। हैदराबाद के दरबार, तथा क्षेत्र में फ्रांसीसियों को जो स्थिति प्राप्त थी उसको अंग्रेज़ों ने उनके स्थान पर ग्रहण कर लिया। 1760 में वाण्डी वाश के युद्ध में फ्रांसीसियों की पराजय से भारत में उनका प्रभाव समाप्त हो गया।

युद्ध जैसी शांति की परिस्थिति एक बार फिर यूरोप से ही संबंधित थी। पैरिस की 1763 की संधि के द्वारा फ्रांसीसी कम्पनी बिना किसी राजनैतिक अधिकार एक व्यापारिक संगठन मात्र रह गयी। अंग्रेज़ी और फ्रांसीसी कम्पनियों के बीच संघर्ष अंग्रेज़ों के लिये भारत में अपनी शक्ति को संगठित करने के लिये एक निर्णायक पड़ाव था। 20 वर्षों के बाद अंग्रेज़ों ने फ्रांसीसियों के ऊपर अपनी श्रेष्ठता को साबित कर दिया था। कर्नाटक के इन युद्धों से जो अनुभव उन्होंने सीखे उनको देश के अन्य भागों में भी लागू करके देखा गया।

1.5.3 बंगाल की विजय: प्लासी से बक्सर तक

MAADHYAM IAS

बंगाल पहला ऐसा प्रदेश था जिस पर अंग्रेज़ों ने अपने राजनैतिक नियंत्रण को स्थापित किया। नवाब सिराजुद्दौला को 1757 में प्लासी की लड़ाई में पराजित कर दिया गया। 1757 में मीर कासिम के द्वारा 24 परगनों की जमींदारी तथा फिर 1760 में बुर्दवान, मिदनापुर, और चटगांव की जमींदारियाँ कम्पनी को प्रदान कर दी गयी। इससे कम्पनी के अधिकारियों को नवाब के अधिकारियों तथा किसानों का दमन करने का अवसर मिल गया। इसी प्रकार व्यापारिक अधिकारों का भी दुरुपयोग कम्पनी ने किया। मीर कासिम ने सिराजुद्दौला के उदाहरण का अनुसरण करते हुए अपनी सार्वभौमिकता पर होने वाले हमलों को मानने से इंकार कर दिया। उसने अवध के नवाब तथा मुगल सम्राट के साथ मिलकर 1764 में बक्सर में अंग्रेज़ों के विरुद्ध युद्ध किया। कम्पनी ने एक आसान सी विजय प्राप्त की। इकाई 8 में प्लासी से बक्सर तक होने वाली घटनाओं का विस्तृत रूप से वर्णन किया जायेगा। यहाँ पर हमारा संबंध केवल राजनैतिक व्यवस्था में होने वाले परिवर्तनों से है।

दोहरी शासन प्रणाली

1765 की संधि के द्वारा बंगाल में दोहरी शासन प्रणाली को लागू किया गया। क्लाइव बंगाल का गवर्नर हो गया तथा कम्पनी वास्तविक शासक। नवाब अब नाम मात्र का शासक रह गया और उसकी सेना को समाप्त कर दिया गया। प्रशासन का कार्य एक उप-सूबेदार को सौंप दिया गया जिसे नवाब के नाम पर कार्य करना था परन्तु उसको मनोनीत कम्पनी के द्वारा किया जाना था। उप-दीवान के माध्यम से राजस्व को एकत्रित करने पर कम्पनी का प्रत्यक्ष नियंत्रण कायम हो गया। दीवानी और सूबेदार के कार्यालयों पर एक ही व्यक्ति का नियंत्रण होने के कारण कम्पनी का नियंत्रण संपूर्ण था।

इससे भी अधिक इसमें लाभ यह था कि उत्तरदायित्व नवाब का था। कम्पनी के कारिन्दे जो लूट तथा दमन करते उसका आरोप नवाब पर लगाया जाता। यह अनुमान है कि 1766 से

1768 तक के वर्षों में कम्पनी ने केवल बंगाल से ही 57 लाख रुपये वसूल किये। क्लाइव सहित अंग्रेज उच्च अधिकारियों ने यह स्वीकार किया कि कम्पनी का शासन अन्यायपूर्ण तथा भ्रष्ट था और परिणामस्वरूप बंगाल की जनता को भयंकर रूप से दरिद्र किया गया।

1.5.4 राजनैतिक व्यवस्था का पुनर्गठन

अत्यधिक प्रशासनिक गलतियों के फलस्वरूप कम्पनी ने 1772 में दोहरी शासन प्रणाली को समाप्त कर दिया। कम्पनी मूलत: एक व्यापारिक संगठन थी, राज्य का प्रशासन करने के लिये उसके पास प्रशासनिक ढाँचा नहीं था। राजनैतिक शक्ति को सुव्यवस्थित करने के लिये इसके संविधान में परिवर्तन अपरिहार्य थे। कम्पनी के कार्य संचालन के लिये ब्रिटिश सरकार नियम बनाती थी। इसी कारणवश 1773 के रेगुलेटिंग एक्ट ने इसके कार्य को प्रभावित किया। इकाई 23 में इस एक्ट का विस्तार के साथ वर्णन किया गया है।

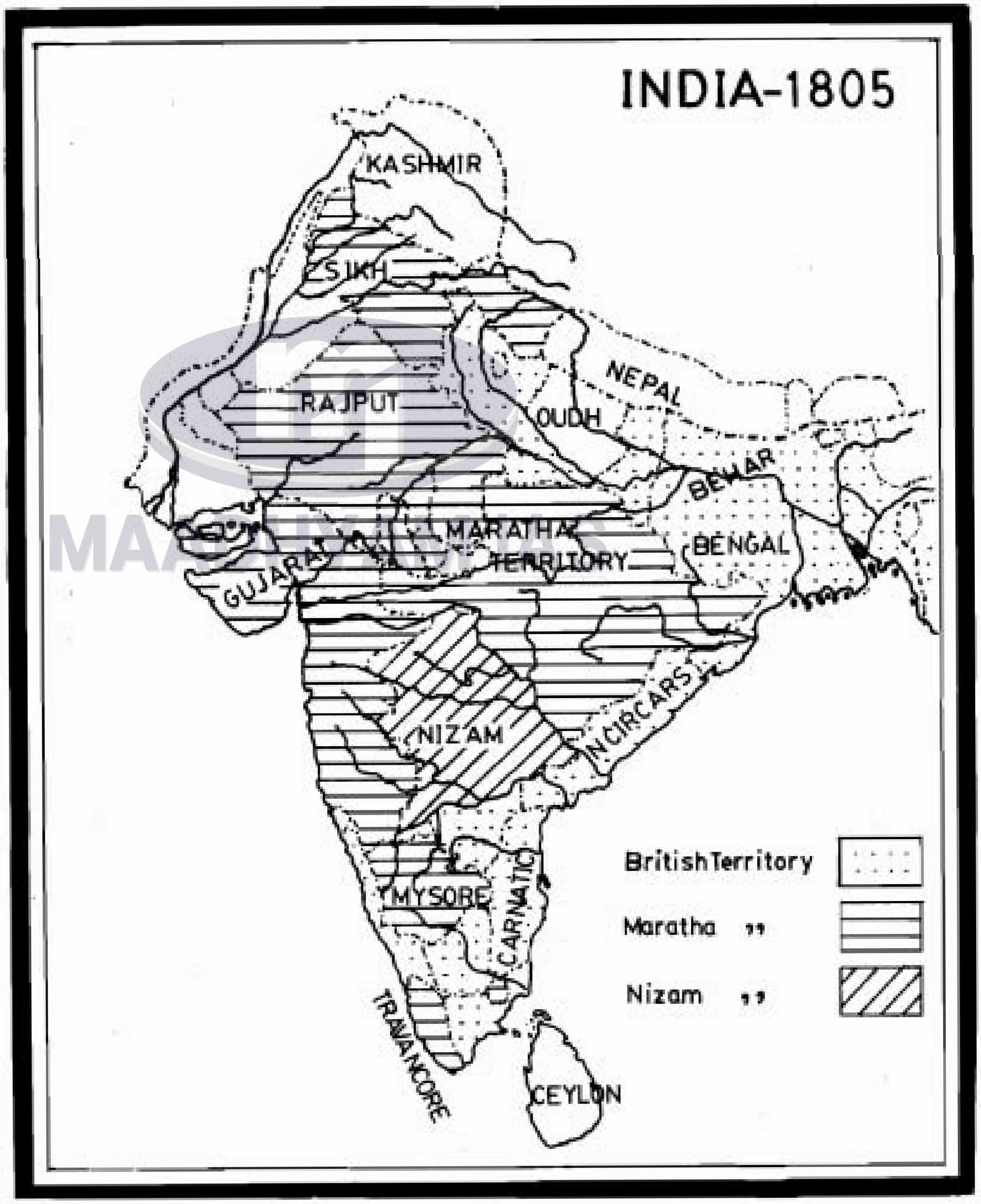

मानचित्र-1

पश्चिमी संस्थाओं को लागू करना

हमारे लिये रेगुलेटिंग एक्ट का महत्व इस बात में निहित है कि भारत में ब्रिटिश सरकार को चलाने की प्रणाली को लागू किया गया। ब्रिटिश पद्धति पर आधारित संस्थाओं को लागू किया गया। गवर्नर जनरल और उसकी परिषद को बंगाल का प्रशासन चलाना पड़ता तथा बम्बई व मद्रास के प्रशासन का निरीक्षण करना होता था। कलकत्ता में जजों के एक सर्वोच्च न्यायालय की स्थापना की गई जो ब्रिटिश मापदण्ड से न्याय का प्रशासन चलाता था। कम्पनी के अंतर्गत पहले से ही एक प्रशासनिक प्रणाली विद्यमान थी जैसे कि इसके पास एक सेना थी, करों को एकत्रित करने की प्रणाली तथा न्याय देने का अधिकार था। प्रारंभ में पुरानी व्यवस्था को केवल बढ़ाया मात्र गया। परन्तु सदी के अन्त तक प्रशासन के अंग्रेजी सिद्धांत गहरायी तक प्रवेश कर गये।

इस प्रकार का एक सिद्धांत यह था कि न्यायपालिका को कार्यपालिका से अलग कर दिया गया। दीवानी न्यायालयों को स्थापित किया गया जिनकी अध्यक्षता जजों या न्यायाधीशों द्वारा की जाती थी तथा इनकी लोकप्रियता की पुष्टि इस तथ्य से ही होती है कि 19वीं सदी के प्रारंभ तक इन न्यायालयों द्वारा 20,000 मामलों का निपटारा प्रति वर्ष किया जाता था। कार्नवालिस के शासन के दौरान पुलिस व्यवस्था भी कायम हो गई।

सेवाओं के लिये भारतीय आदमियों पर निर्भरता जारी रही, परन्तु विभिन्न नियमों के आधार पर। जैसे कम्पनी ने सत्ता की सर्वोच्चता प्राप्त की वैसे नवाब एवं उसके सहायकों की शक्ति समाप्त हो गई। एक शक्तिशाली राज्य व्यवस्था का निर्माण किया गया और जनता से यह आशा की गई कि वह उसकी आज्ञाओं का पालन करे। पुरानी परम्पराओं की निरंतरता बनी रही परन्तु जनता को शासित करने के तरीके में मूलभूत परिवर्तन हुआ। यह परिवर्तन तात्कालिक रूप से दिखायी नहीं पड़ता था। कम्पनी के कारिन्दे स्वयं नवाबों की भांति कार्य करते थे और राजस्व इकट्ठा करने के लिये विभिन्न परम्परागत तरीकों एवं मुगल परम्पराओं को अपनाया गया। कम्पनी के प्रशासन एवं नीतियों पर ब्रिटिश सरकार का नियंत्रण कायम हो गया और ब्रिटेन के हितों को पूरा करने के लिए स्वदेशी सरकार व्यवस्था का स्थान एक साम्राज्यवादी व्यवस्था ने ले लिया।

MAADHYAM IAS

बोध प्रश्न 3

1) 1720 के बाद ईस्ट इंडिया कम्पनी ने प्रसारवादी नीति को क्यों अपनाया ?

....

....

....

....

....

2) दोहरी शासन प्रणाली से आप क्या समझते हैं और अंग्रेजों को इससे क्या-क्या लाभ हुए ? पाँच पंक्तियों में लिखिये।

....

....

....

....

....

1.6 सारांश

यह स्पष्ट हो चुका है कि 18वीं सदी को अब एक मूलतः अन्धकारमय, अराजकतावादी युग नहीं माना जा सकता। मुगल साम्राज्य का पतन ही इस शताब्दी की एक मात्र प्रमुख विशेषता

नहीं थी। क्षेत्रीय शक्तियों का उदय 18वीं सदी के मध्य की लगभग इतनी ही महत्वपूर्ण घटना थी। 18वीं सदी के मध्य में ब्रिटिश शक्ति का उदय तीसरी महत्वपूर्ण घटना थी।

मुगलों से लेकर क्षेत्रीय व ब्रिटिश राजनैतिक व्यवस्थाओं में परम्पराओं की निरंतरता का बने रहना काफी महत्वपूर्ण था। परन्तु इन तीनों प्रकार की राजनैतिक व्यवस्थाओं में विभिन्नतायें भी समान रूप से विद्यमान थीं। एक ही प्रकार की संस्था को जब नयी राजनैतिक व्यवस्था के अंतर्गत मिला दिया गया तो उसने भिन्न प्रकार के कार्यों को सम्पन्न किया। उदित होने वाली क्षेत्रीय शक्तियाँ तीन प्रकार की थी – उत्तराधिकारी राज्य, नये राज्य और स्वतंत्र राज्य। प्रथम श्रेणी के राज्य राजनैतिक रूप से स्थिर साबित हुए। मराठा द्वितीय श्रेणी के "नये राज्यों" के अन्तर्गत आते थे और अखिल भारतीय स्तर पर साम्राज्य स्थापित करने वालों में वही मुख्य दावेदार थे। परन्तु बाह्य चुनौतियों तथा आंतरिक कमजोरियों के संयुक्त रूप ने उनके सपनों को धराशायी कर दिया। जिन राज्यों की स्थापना सिक्खों, जाटों तथा अफगानों द्वारा की गई वे थोड़े समय के लिये ही जीवित रह सके।

क्षेत्रीय शक्तियां मुगलों का स्थान लेने में सक्षम न हो सकी। यद्यपि कुछ राज्य आर्थिक रूप से काफी सम्पन्न थे और कुछ राज्यों ने सैनिक क्षेत्र में भी काफी प्रगति की, फिर भी अखिल भारतीय स्तर की राजनैतिक व्यवस्था को चलाने के लिये पर्याप्त साधनों एवं शक्ति का अभाव था। आधुनिकीकरण के प्रयास काफी सीमित थे। पिछड़े राज्य आसानी से अधिक सक्षम ब्रिटिश व्यवस्था के अधीन आ गये। सर्वोच्चता के लिये फ्रांसीसियों के साथ संघर्ष ब्रिटिश शक्ति के उदय का प्रथम पड़ाव था। बंगाल की विजय द्वितीय एवं निर्णायक चरण था। प्रारंभ में अंग्रेज़ों ने स्वदेशी संस्थाओं के माध्यम से शासन किया परन्तु 1773 से उन्होंने संवैधानिक सुधारों को लागू करना शुरू किया। ब्रिटिश शासन का मुख्य रुझान औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था की ओर था परन्तु औपनिवेशिक संस्थाएँ मुगल और अंग्रेजी संस्थाओं का मिश्रण थीं। भारत में ब्रिटिश शक्ति ब्रिटेन की विश्व व्यापी साम्राज्यवादी व्यवस्था का एक अभिन्न अंग थी।

1.7 शब्दावली

MAADHYAM IAS

चौथ: भू-राजस्व का एक चौथाई हिस्सा जो मराठा सरदार पेशवा के द्वारा दी गई भूमि पर इकट्ठा करते थे। इसके बदले में ये सरदार उन इलाकों को बाहरी ताकतों से बचाने के लिए वचनबद्ध थे।

जागीरदारी व्यवस्था: मुगल मंसबदारों या अधिकारियों को नकद पैसे की जगह भूमि देने की व्यवस्था। मंसबदार उस भूमि पर राजस्व इकट्ठा करके अपने सैनिकों को वेतन देते थे। वे उस स्थान का जिसे जागीर कहा जाता था, प्रशासनिक उत्तरदायित्व भी निभाते थे।

1.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) उप-भाग 1.3.2 को देखें।
2) i) ✓, ii) ✕ iii) ✓, iv) X
3) उप-भाग 1.3.4 को देखें।

बोध प्रश्न 2

1) उप-भाग 1.4.1 को देखें।
2) उप-भाग 1.4.2 को देखें।
3) उप-भाग 1.4.3 पर दृष्टि डालें।

4) आपको अपने उत्तर में संक्षिप्त रूप से पिछड़ी हुई सामाजिक तथा आर्थिक व्यवस्था, जागीरदारी व्यवस्था के संकट का जारी रहना, और अखिल भारतीय स्तर पर एक स्थिर राजनैतिक व्यवस्था के वैकल्पिक विकास की असफलता जैसे कारणों को बताना चाहिये। इस विषय में आपको विभिन्न इतिहासकारों के दृष्टिकोणों का भी वर्णन करना चाहिये। देखिये उप-भाग 1.4.4

बोध प्रश्न 3

1) आपको अपने उत्तर में अंग्रेज़ों के द्वारा अधिक राजस्व की आवश्यकता के साथ-साथ ब्रिटिश राज्य की बढ़ती दूसरी आर्थिक जरूरतों के बारे में लिखना चाहिये। देखिये उप-भाग 1.5.1

2) देखिये उप-भाग 1.5.3

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

इकाई 2 बंगाल और अवध

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य
2.1 प्रस्तावना
2.2 मुगलों के अधीन बंगाल और अवध
2.3 बंगाल: स्वायत्तता की ओर
2.3.1 मुर्शिद कुली खाँ और बंगाल
2.3.2 शुजाउद्दीन और बंगाल
2.3.3 अलीवर्दी खाँ और बंगाल
2.4 बंगाल: पराधीनता की ओर
2.4.1 प्लासी और उसके बाद
2.4.2 बक्सर और उसके बाद
2.5 अवध: स्वायत्तता की ओर
2.5.1 सआदत खाँ और अवध
2.5.2 सफदर जंग और अवध
2.5.3 शुजाउद्दौला और अवध
2.6 अवध: पराधीनता की ओर
2.6.1 अवध: 1764–1775
2.6.2 अवध: 1775–1797
2.6.3 अवध: 1797–1856
2.7 क्षेत्रीय राजनीतिक व्यवस्था का स्वरूप
2.8 सारांश
2.9 शब्दावली
2.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

2.0 उद्देश्य

अठारहवीं शताब्दी में क्षेत्रीय राज्य व्यवस्थाओं का उदय हुआ। इस इकाई को पढ़ने के बाद am:

- स्वायत्तता प्राप्ति के पूर्व बंगाल और अवध की प्रशासनिक व्यवस्था का वर्णन कर सकेंगे,
- बंगाल और अवध के स्वायत्त राज्य में रूपांतरण की प्रक्रिया को रेखांकित कर सकेंगे,
- उस संदर्भ पर प्रकाश डाल सकेंगे, जिसके तहत उन्हें ब्रिटिश साम्राज्यवादी व्यवस्था में मिला लिया गया, और
- अवध और बंगाल की क्षेत्रीय राजनीतिक व्यवस्था के स्वरूप और कार्यकलाप को व्याख्यायित कर सकेंगे।

2.1 प्रस्तावना

आजकल 18वीं शताब्दी का जो इतिहास लिखा जा रहा है, उसमें क्षेत्रीय राजनीतिक व्यवस्थाओं के अभ्युदय और अनुभव पर विशेष बल दिया जा रहा है, मुगल साम्राज्य का पतन अब इस शताब्दी की सर्वप्रमुख प्रवृत्ति नहीं मानी जाती है। इकाई 1 में आपने 18वीं शताब्दी की राजनीतिक व्यवस्था की आम जानकारी प्राप्त की। इस इकाई में हमने उन तत्वों

और प्रक्रियाओं को दिखाने की कोशिश की है, जिनके कारण साम्राज्यी प्रांत स्वायत्त राज्यों में परिवर्तित हो गये। यहाँ हमारा मुख्य केन्द्र बंगाल और अवध है। हालांकि इन दोनों में, कुछ मामलों में, विभिन्नता थी, पर रूपांतरण के आरंभिक वर्षों में उनके संगठन में समानतायें थीं। हम इस तथ्य का विश्लेषण करेंगे, क्योंकि इससे हमें अठारहवीं शताब्दी की राजनीतिक व्यवस्था की महत्त्वपूर्ण विशेषताओं और प्रक्रियाओं की तह में जाने का मौका मिलेगा। इस इकाई में पहले हमने यह दिखाया है कि किस प्रकार बंगाल और अवध मुगल सूबों से स्वायत्त राज्य बने और फिर किस प्रकार ब्रिटिश साम्राज्य ने उन्हें अपने अधीन कर लिया। इस क्रम में हमने क्षेत्रीय राजनीतिक व्यवस्था के स्वरूप और कार्यकलाप की भी चर्चा की है।

2.2 मुगलों के अधीन बंगाल और अवध

18वीं शताब्दी में स्वायत्त और स्वतंत्र राज्य के रूप में बंगाल और अवध का उदय अपने आप में अकेली घटना नहीं थी। अवध, बंगाल, हैदराबाद, मैसूर और अन्य क्षेत्रीय राज्यों का उदय 18वीं शताब्दी की राजनीतिक व्यवस्था की प्रमुख विशेषता है। मुगल साम्राज्य के पतन पर लगातार चल रहे शोध से यह स्पष्ट हो चुका है कि प्रशासनिक, कृषीय, सामाजिक आदि संकटों के कारण मुगल साम्राज्यी व्यवस्था भरभरा कर गिर गयी। इतिहासकारों के बीच इन विभिन्न कारकों के स्वरूप और सापेक्ष महत्व पर अभी भी बहस चल रही है। (इकाई 1 से आपको इसका कुछ आभास हो गया होगा)। इस इकाई में हमारे लिए अठारहवीं शताब्दी के दौरान मुगल प्रांतीय राजनीतिक व्यवस्था की जानकारी जरूरी है, इसे जानने के बाद ही हम बंगाल और अवध में नयी शासन प्रणाली के उदय की प्रक्रिया को समझ सकेंगे।

बंगाल और अवध मुगल साम्राज्यी व्यवस्था के अंतर्भूत हिस्से थे। दोनों प्रांतों में नाजिम और दीवान जैसे बड़े पदाधिकारियों की नियुक्ति सीधे मुगल बादशाह करता था। प्रांतीय पदाधिकारियों का विवरण इस प्रकार है।

सूबा या प्रांत में राजस्व प्रशासन का उच्चधिकारी दीवान कहलाता था। और नाजिम कार्यकारी प्रधान था, जो नागरिक और सैनिक प्रशासन से संबंधित अन्य मामलों पर नियंत्रण रखता था। बख्शी, मुख्य सेना का वेतन-देय पदाधिकारी होता था, कोतवाल पुलिस विभाग का उच्चाधिकारी होता sr, काजी न्यायाधीश को कहते थे और वाकया-नवीस राजनीतिक मामलों से संबद्ध सूचनाओं को एकत्र करता था और उसकी सूचना देता था।

सूबा या प्रांत सरकारों में विभक्त थे। यह फौजदार के अधीन होता था। सरकार पुन: परगनों में विभक्त किए जाते थे। इसके अतिरिक्त, विभिन्न स्तरों पर कई पदाधिकारियों की नियुक्ति होती थी। प्रांत में स्थानीय स्तर पर जमींदार का स्थानीय जनता और प्रशासन पर सीधा नियंत्रण होता था।

नाजिम और दीवान की नियुक्ति पर बादशाह का पूर्ण नियंत्रण था और इसी नियंत्रण के जरिए वह प्रांत पर अपनी पकड़ मजबूत रखता था। इसे संतुलन और नियंत्रण व्यवस्था के रूप में जाना जाता है। इन पदों पर बादशाह अपने भरोसे के लोगों को नियुक्त करता था। नाजिम की शक्ति पर नियंत्रण रखने के लिए बादशाह अलग से दीवान नियुक्त करता था। इन दो बड़े पदाधिकारियों के अतिरिक्त प्रांतीय कुलीन वर्ग और कई अन्य पदाधिकारी जैसे अमील, फौजदार आदि बादशाह पर ही निर्भर थे, क्योंकि वही उनकी नियुक्ति mar था। साम्राज्य का राजनीतिक एकीकरण जमींदार, छोटे और बड़े पदाधिकारियों जैसी कई शक्तियों के बीच समन्वय और संतुलन का ही प्रतिफलन था। इनमें से कुछ अधिकारियों का जिक्र हम अभी कर चुके हैं।

जब तक साम्राज्य प्रांतीय प्रशासन पर अपना प्रभावी नियंत्रण कायम रख सका, तब तक यह व्यवस्था सुचारू रूप से चलती रही।

सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और अठारहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में लगातार केन्द्रीय सत्ता की प्रांतीय प्रशासन पर पकड़ कमजोर होती गयी और इस समय तक वह प्रांतीय गवर्नर से नजराना प्राप्त करने तक सीमित रह गयी। केन्द्रीय सरकार की अधीनता स्वीकार करने के

बावजूद, प्रांतीय गवर्नर हमेशा अपने को स्थानीय शक्ति के रूप में प्रतिष्ठित करने की कोशिश करते रहते थे और एक स्वतंत्र शक्ति के रूप में कार्य करते थे। केन्द्रीय राज्यकोष में धन अनियमित रूप से भेजा जाने लगा। प्रांतीय गवर्नर वंशगत प्रशासन की स्थापना करने लगे और प्रशासन में अपने आदमियों की नियुक्ति करने लगे। इन सारी गतिविधियों से केन्द्रीय शासन कमजोर हुआ और प्रांतों पर उनकी पकड़ ढीली होती गयी। स्थानीय स्तर पर स्वतंत्र शक्तियों का उदय हुआ। आगे आने वाले अंश में हम 18वीं शताब्दी के दौरान स्वायत्त स्वतंत्र राज्य के रूप में अवध और बंगाल के उदय पर प्रकाश डालेंगे।

2.3 बंगाल: स्वायत्ता की ओर

अठारहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में स्वतंत्र स्वायत्त राज्य के रूप में बंगाल का उदय विभिन्न मुगल सूबों में पनप रही प्रांतीय स्वायत्ता की प्रवृत्ति का ज्वलंत उदाहरण है। हालांकि मुगल बादशाह की संप्रभुता को चुनौती नहीं दी गयी, पर प्रांतों में व्यावहारिक रूप में गवर्नर का स्वतंत्र और वंशगत अधिकार स्थापित होने लगा था और सभी मातहत अधिकारियों पर गवर्नर का सीधा नियंत्रण होने लगा था। इस प्रकार बंगाल में स्वतंत्र स्वायत्त शक्ति का उदय हुआ।

2.3.1 मुर्शिद कुली खाँ और बंगाल

बंगाल में स्वतंत्र राज्य की नींव मुर्शिद कुली खाँ द्वारा डाली गयी। बंगाल की राजस्व व्यवस्था को सुव्यवस्थित करने के लिए उसकी प्रथम नियुक्ति दीवान के रूप में हुई थी। औरंगजेब की मृत्यु के बाद केन्द्रीय सत्ता में आयी अस्थिरता के दौर में मुर्शिद कुली खाँ एक कुशल प्रशासक के रूप में सामने आया। इन दोनों कारणों से वह बंगाल का सूबेदार बन बैठा। हालांकि मुर्शिद कुली खाँ ने मुगलों की साम्राज्यी शक्ति की अवमानना नहीं की, पर उसकी प्रशासनिक व्यवस्था से ही बंगाल में वंशगत शासन की शुरुआत हुई। बादशाह द्वारा सीधे तौर पर नियुक्त वह बंगाल का अंतिम गवर्नर था। मुर्शिद कुली खाँ ने नाज़िम और दीवान के पदों को मिलाकर एक कर दिया। वस्तुत: प्रांत में दीवान की नियुक्ति का मुख्य उद्देश्य प्रांतीय गवर्नर पर अंकुश रखना था। पर मुर्शिद कुली खाँ ने इन दोनों पदों को मिलाकर गवर्नर की शक्ति को मजबूत करने की कोशिश की। यह प्रांत में स्वतंत्र सत्ता स्थापित होने का स्पष्ट संकेत था।

मुर्शिद कुली खाँ ने बंगाल में वंशानुगत शासन की शुरुआत की। यह स्पष्ट हो चुका था कि उसकी मृत्यु के बाद बंगाल की नवाबी पर उसके परिवार का ही अधिकार होगा। वे बराबर बादशाह की अनुशंसा लेते रहे, पर नवाब के चुनाव में अब बादशाह का कोई नियंत्रण नहीं था।

मुर्शिद कुली खाँ का प्रथम उद्देश्य बंगाल की राजस्व वसूली को सुदृढ़ करना था। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए मुर्शिद कुली खाँ ने प्रांत की स्थानीय शक्तियों से नये संबंध कायम किए। इससे स्वायत्त सूबे को एक बृहद् आधार प्राप्त हुआ, जिसके तहत 1730 और 1740 के दशकों में उसकी कार्य प्रणाली विकसित हुई। मुर्शिद कुली खाँ ने राजस्व व्यवस्था को मजबूत किया और इसकी वसूली के लिए कई कदम उठाए। इनमें से निम्नलिखित प्रमुख हैं:

- छोटे बिचौलिए जमींदारों का उन्मूलन
- उड़ीसा प्रांत के सीमांत के विद्रोही जमींदारों और जागीरदारों का निष्कासन
- खालसा भूमि का अधिक से अधिक निर्माण
- उन बड़े जमींदारों को प्रोत्साहन, जो राजस्व वसूली और भुगतान की जिम्मेवारी लेते थे।

मुर्शिद कुली खाँ ने कुछ बड़े जमींदारों को अपनी सम्पत्ति बढ़ाने के लिए प्रोत्साहित किया। ये बड़े जमींदार बागी जमींदारों की सम्पत्ति खरीद लेते थे। बंगाल की प्रमुख जमींदारियाँ राजसाही, दीनाजपुर, बुर्दवान, नादिया, बीरभूम, बिशनुपुर और बिहार की प्रमुख जमींदारियाँ तिरहुत, शाहाबाद और टेकारी में विकसित हुई। मुर्शिद कुली खाँ ने इन जमींदारों के माध्यम

से गाँवों पर और राजस्व पर अपना नियंत्रण स्थापित किया। दूसरी तरफ इन जमींदारों ने छोटे पड़ोसी जमींदारों पर अपना कब्जा जमाया। परिणामत: 1727 तक इस प्रांत में जमींदार एक प्रमुख राजनीतिक शक्ति के रूप में उमरे।

इसके साथ-साथ धनी और व्यापारिक शक्तियों को भी प्रमुखता मिली। जमींदारों पर राजस्व चुकाने का दबाव हमेशा बना रहता था, इस कार्य में वे विभिन्न सेठ-साहूकारों की सहायता लिया करते थे। अत: अगर इस काल में सेठ-साहूकारों को नवाब का प्रोत्साहन और संरक्षण प्राप्त हुआ, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। ये सेठ बड़े जमींदारों के गारंटीकर्ता के रूप में ही कार्य नहीं करते थे, बल्कि बंगाल के राजस्व को दिल्ली तक पहुँचाने का भी जिम्मा लेते थे।

बंगाल में विकसित सत्ता का यह स्वरूप मुगल प्रांतीय प्रशासन व्यवस्था से बिल्कुल भिन्न था, निश्चित रूप से यह प्रांत पर दिल्ली की कमजोर होती पकड़ का प्रतिफलन था। पर इस नये बदले माहौल के बावजूद नाज़िम ने दिल्ली से अपना पूर्ण संबंध विच्छेद नहीं किया और वार्षिक राजस्व भेजता रहा। लेकिन दूसरी तरफ, यह भी स्पष्ट हो चला था कि मुर्शिद कुली खाँ बंगाल को अपनी मिल्कियत समझने लगा था और वह इस बात के लिए सजग था कि उसके बाद सत्ता की बागडोर उसके परिवार के किसी सदस्य को ही मिले, न कि किसी बाहर के व्यक्ति को। अत: मुर्शिद कुली ने अपनी बेटी के लड़के सरफराज को अपना उत्तराधिकारी बनाया। मजबूत साम्राज्यी सरकार के दिनों में यह फैसला कतई बर्दाश्त नहीं किया जा सकता था।

2.3.2 शुजाउद्दीन और बंगाल

मुर्शिद कुली खाँ ने सरफराज को अपना उत्तराधिकारी बनाया, पर उसके पिता शुजाउद्दीन मुहम्मद खान ने उसे अपदस्थ कर दिया। शुजाउद्दीन के शासन के दौरान दिल्ली और मुर्शिदाबाद का संबंध कायम रहा। वह मुगल दरबार को राजस्व भेजता रहा। पर, इसके बावजूद, प्रांतीय सरकार के मामलों में शुजा अपने ढंग से कार्य करता था। उसने ऊंचे पदों पर अपने आदमियों की नियुक्ति की और बाद में उसे दिल्ली से अनुशंसित करवा लिया। शुजा ने मुर्शिद कुली खाँ की प्रशासन व्यवस्था को कायम रखा। प्रांत पर अपनी पकड़ मजबूत बनाए रखने के लिए उसने भी स्थानीय शक्तियों से अपने संबंध विकसित किए। फिलिप बी. काल्किन्स का मत है कि 1730 के दशक के दौरान बंगाल की सरकार विभिन्न शक्तियों का समुच्चय थी न कि बाहरी साम्राज्यी शासन का एक हिस्सा। बदलता हुआ यह शक्ति संतुलन तब और स्पष्ट हो गया जब 1739–40 में अलीवर्दी खाँ ने शुजाउद्दीन खाँ के वैधानिक उत्तराधिकारी सरफराज खाँ को मारकर गद्दी हथिया ली। जमींदारों और महाजनों ने अलीवर्दी खाँ को अपना समर्थन दिया।

2.3.3 अलीवर्दी खाँ और बंगाल

अलीवर्दी खाँ के शासन काल में मुगल सत्ता और बंगाल सरकार के संबंध में एक नया मोड़ आया। अपने पूर्वाधिकारी की तरह अलीवर्दी ने भी अपने पद की अनुशंसा मुगल दरबार से ली। पर उसके शासन-काल में मुगलों से विच्छेद आरंभ हो गया और इसे बंगाल सूबे की स्वायत्तता की शुरुआत मान सकते हैं। अलीवर्दी खाँ ने प्रांतीय प्रशासन के सभी प्रमुख पदों पर खुद नियुक्ति की और इसके लिए मुगल दरबार की अनुशंसा लेने की भी कोशिश नहीं की। पहले इन्हीं नियुक्तियों के जरिए बादशाह अपना नियंत्रण स्थापित करता था। अलीवर्दी ने पटना, कटक और ढाका में अपनी पसंद के उप-नवाबों की नियुक्ति की।

राजस्व प्रशासन की देखभाल के लिए मुत्सद्दी, अमील या स्थानीय दीवान के रूप में बड़ी संख्या में हिंदुओं को नियुक्त किया। उत्तर भारत तथा बिहार के पठानों की मदद से अलीवर्दी ने मज़बूत सैन्य शक्ति स्थापित की। इसके अतिरिक्त दिल्ली भेजा जाने वाला नियमित नजराना भी बाधित हुआ, यह केन्द्रीय सत्ता की बंगाल पर कमजोर होती पकड़ का प्रमाण था। समकालीन स्रोतों के अनुसार जहाँ मुर्शिद कुली और शुजाउद्दीन प्रतिवर्ष 10,000,000 रुपये बतौर नजराना भेजा करते थे, वहीं अलीवर्दी ने 15 वर्षों में कुल 4,000,000 से 5,000,000 रुपये तक ही भेजे। अलीवर्दी ने वार्षिक नजराने का भुगतान बंद कर दिया।

यह ध्यान देने की बात है कि 1740 के दशक के दौरान बंगाल, बिहार और उड़ीसा में एक प्रशासनिक व्यवस्था स्थापित हो चुकी थी, जिसने दिल्ली दरबार के प्रभाव को काफी कम कर दिया। यह सही है कि अलीवर्दी ख़ाँ ने औपचारिक रूप से साम्राज्यी सत्ता से संबंध विच्छेद नहीं किया, पर व्यवहारत: इस काल के दौरान उत्तरी भारत में एक स्वतंत्र राज्य का उदय हो चुका था। सामान्यत: वार्षिक राजस्व की वसूली और प्रांतीय अधिकारियों की नियुक्ति के माध्यम से केन्द्र प्रांत पर अपना नियंत्रण रखता है। ये दोनों ही माध्यम अलीवर्दी के शासनकाल में समाप्त हो चुके थे। व्यावहारिक रूप में बंगाल में साम्राज्यी सत्ता का कोई दखल नहीं था।

जब अलीवर्दी ख़ाँ बंगाल में अपना पैर जमाने की कोशिश कर रहा था, उस समय उसे दो मजबूत बाहरी शक्तियों (मराठों और अफगान विद्रोहियों) का सामना करना पड़ा। मध्य भारत में अपना नियंत्रण स्थापित करने के बाद मराठे मध्य भारत के बाहर अपना नियंत्रण स्थापित करना चाह रहे थे। वे पड़ोसी राज्यों से जबरन चौथ वसूल करते थे। मराठा साम्राज्य के निर्माण और धन की प्राप्ति के उद्देश्य से मराठों ने 1742 से 1751 के बीच तीन से चार बार बंगाल पर आक्रमण किया। हर बार बंगाल पर उनके आक्रमण से स्थानीय लोगों को माल और जान का नुकसान उठाना पड़ा। मराठों के इन लगातार हमलों को रोकने में असफल होकर और परेशान होकर अंतत: 1751 में अलीवर्दी ने मराठों के साथ संधि कर ली। अलीवर्दी 1,200,000 सालाना चौथ देने के लिए राजी हुआ और उड़ीसा मराठों को इस शर्त पर सौंप दिया गया कि वे फिर से अलीवर्दी के सीमा-क्षेत्र में प्रवेश नहीं करेंगे।

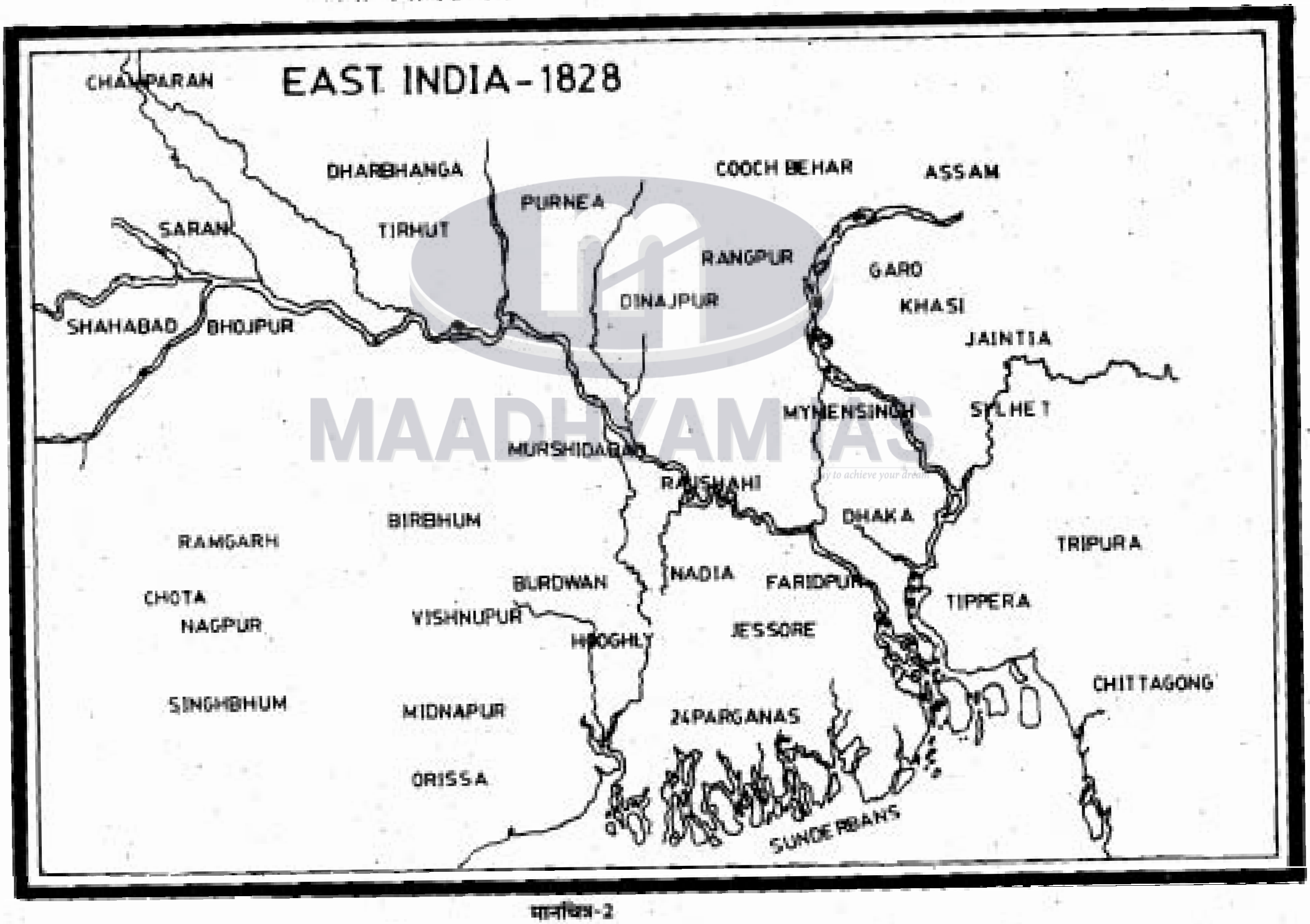

MAADHYAM IAS

मानचित्र-2

अलीवर्दी को अफगान विद्रोही सेना का भी सामना करना पड़ा। अफगान सेनापति, मुस्तफा ख़ाँ ने निष्कासित अफगान फौज की मदद से अलीवर्दी के लिए गंभीर खतरा पैदा कर दिया। 1748 में इस फौज ने पटना पर कब्जा कर लिया और इसे लूटा पाटा। पर, अलीवर्दी ख़ाँ कठिन संघर्ष के बाद उन्हें हराने में सफल हुआ और पटना पर कब्ज़ा किया। मराठों और अफगानों के खिलाफ लड़े गये लंबे युद्धों से अलीवर्दी ख़ाँ के राज्यकोष पर काफी दबाव पड़ा। शीघ्र ही इसका प्रभाव जमींदारों, पदाधिकारियों, महाजनों, व्यापारियों और यूरोपीय कम्पनियों पर भी पड़ा। अगले भाग में हम देखेंगे कि किस प्रकार इन शक्तियों ने स्वायत्त राज्य के आधार को कमजोर किया और ब्रिटिश साम्राज्यी व्यवस्था के अधीन होने का मार्ग प्रशस्त हुआ।

बोध प्रश्न 1

1) 18वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में प्रांत में साम्राज्यी नियंत्रण के पतन की व्याख्या आप कैसे करेंगे ? 100 शब्दों में उत्तर दें।

....

....

....

....

....

....

....

....

....

....

....

2) बंगाल में स्वतंत्र राजनीतिक सत्ता के तीन या चार लक्षणों का जिक्र करें।

....

....

....

....

....

....

....

....

MAADHYAM IAS
way to achieve your dream

2.4 बंगाल: पराधीनता की ओर

1756 ई. में अलीवर्दी की मृत्यु के बाद उत्तराधिकारी के प्रश्न को लेकर दरबार के विभिन्न समुदायों के बीच मनमुटाव उत्पन्न हो गया। वस्तुत: किसी निश्चित उत्तराधिकार के नियम के अभाव में हरेक नवाब की मृत्यु के बाद गद्दी के लिए संघर्ष होता था। अलीवर्दी ने अपने पोते सिराजुद्दौला को अपना उत्तराधिकारी बनाया। सिराजुद्दौला के दावे को पूर्णिया के फौजदार शौकत जंग और अलीवर्दी की बेटी घसिटी बेगम ने चुनौती दी। इससे दरबार में गुटबंदी को प्रोत्साहन मिला। विभिन्न गुटों को विभिन्न जगत सेठ, जमींदार और अन्य प्रभावशाली समुदाय समर्थन देते थे। इससे फूट बढ़ी और स्वतंत्र बंगाल सूबे का अस्तित्व खतरे में पड़ गया। इस संकट को अंग्रेज़ी ईस्ट इंडिया कंपनी ने अपनी चालाकियों से और गहरा कर दिया।

2.4.1 प्लासी और उसके बाद

आगे आने वाले वर्षों में कुछ ऐसी घटनाएँ घटीं जिनका प्रतिफलन 1757 के प्लासी के युद्ध और षड्यंत्र के रूप में हुआ। यहीं से ईस्ट इंडिया कंपनी द्वारा बंगाल के अधीनीकरण की प्रक्रिया भी शुरू हुई। नवाब और ईस्ट इंडिया कम्पनी के बीच संघर्ष के प्रमुख मुद्दे थे:
(1) राजस्व मुक्त व्यापार के विशेषाधिकार का दुरुपयोग; 1717 में ईस्ट इंडिया कंपनी ने यह विशेषाधिकार मुगल बादशाह फर्रुखसियर से प्राप्त किया था। इस विशेषाधिकार का प्रयोग कम्पनी के व्यापारी अपने निजी व्यापार के लिए जबरन करने लगे। (2) कलकत्ता शहर के अंदर किलेबंदी का अधिकार। बंगाल के नवाबों ने इन दोनों कार्यों का लगातार विरोध किया। सिराजुद्दौला के शासन काल में यह संकट और गहरा हो गया। इसके परिणामस्वरूप दोनों

शक्तियों (सिराजुद्दौला और ईस्ट इंडिया कंपनी) में युद्ध हुआ। सिराजुद्दौला के दरबार के असंतुष्ट तत्वों, खासकर जगत सेठों, यार लुत्फ खाँ, राय दुर्लभ और अमीर चन्द ने सिराजुद्दौला को पदच्युत करने के लिये अंग्रेज़ों का साथ दिया।

इस षड्यंत्र के पीछे असंतुष्ट तत्वों का वर्तमान राजनीतिक व्यवस्था को ध्वस्त करना उद्देश्य नहीं था, बल्कि शायद वे अलीवर्दी के शासनकाल में स्थापित व्यवस्था को कायम रखना चाहते थे। प्लासी का युद्ध (1757) नवाब के दरबार में पनप रही गुटबंदी का ज्वलंत उदाहरण है। प्लासी में कम्पनी की जीत उनकी शक्ति के कारण नहीं, बल्कि नवाब के निकट सहयोगियों की धोखेबाजी के कारण हुई। मीर जाफर को नया नवाब बनाया गया। अंग्रेज़ों और नवाब के बीच एक संधि हुई, जिसके मुताबिक अंग्रेज़ों के व्यापारिक विशेषाधिकार को संरक्षण ही नहीं प्रदान किया गया, बल्कि इस विशेषाधिकार का क्षेत्र-विस्तार भी हुआ। इसके बदले कम्पनी ने आश्वासन दिया कि वह नवाब की सरकार में कोई हस्तक्षेप नहीं करेगी।

प्लासी के युद्ध में कम्पनी का साथ देने वाले षड्यंत्रकारियों ने बंगाल की स्वायत्तता का जो स्वप्न देखा था, वह स्वप्न ही साबित हुआ। शीघ्र ही मुर्शिद कुली खाँ और उसके उत्तराधिकारियों द्वारा स्थापित बंगाल की स्वायत्तता ढह गयी। मीर जाफर की अयोग्यता, दरबार के अंदर चल रहे षड्यंत्र और नवाब की सेना की कमजोरी से प्रोत्साहित होकर अंग्रेज़ प्रांत के कार्यकलापों में हस्तक्षेप करने लगे। मीर जाफर सैन्य सहायता के लिए कम्पनी पर निर्भर होता गया और इसके बदले में कम्पनी ने और अधिक धन और विशेषाधिकार प्राप्त किए। पर नवाब के पास इतना धन नहीं था कि वह कम्पनी की बढ़ती हुई मांग को पूरा कर सके। कम्पनी की अनगिनत मांग और नवाब की असमर्थता के कारण मीर जाफर और कम्पनी में अंततः प्रत्यक्ष संघर्ष हो गया। मीर जाफर को मजबूर होकर गद्दी छोड़नी पड़ी।

अंग्रेज़ों के साथ एक गुप्त समझौते के तहत मीर कासिम को नवाबी हासिल हुई, पर उसका भी वही हाल हुआ, जो मीर जाफर का हुआ था।

2.4.2 बक्सर और उसके बाद

मीर कासिम ने अपने शासन काल के पहले वर्ष में स्वतंत्र बंगाल राज्य स्थापित करने की भरपूर कोशिश की। वह अपनी राजधानी मुर्शिदाबाद से हटाकर मुंगेर (बिहार) ले गया ताकि अंग्रेज़ों के प्रभाव-क्षेत्र से दूर रह सके। उसका उद्देश्य एक केन्द्रीकृत सत्ता की स्थापना करना था। उसने राज्य की वित्तीय और सैन्य व्यवस्था को पुनः संगठित करने की कोशिश की। सेना को फिर से संगठित किया गया, एक बारूद और हथियारों का कारखाना स्थापित किया गया और संदिग्ध व्यक्तियों को सेना से निकाल दिया गया। गबन को रोका गया, फालतू खर्चों को बंद किया गया और जमींदारों को नियंत्रित किया गया। विद्रोही जमींदारों को पदच्युत कर दिया गया और उनके स्थान पर आमिलों और राजस्व-कृषकों की नियुक्ति की गयी। नवाब के इन प्रयासों से किसी को यह शक नहीं रहा कि नवाब एक स्वतंत्र और स्वायत्त शक्ति के रूप में कार्य करने के लिए कृत संकल्प है।

कम्पनी के लिए यह स्थिति स्वीकार्य नहीं थी। मीर कासिम ने व्यक्तिगत व्यापार का कसकर विरोध किया, क्योंकि इससे राज्य के राजस्व को धक्का पहुँचता था और नवाब की स्वायत्ता का हनन होता था। बंगाल में अंग्रेज़ों की व्यापारिक घुसपैठ से न केवल राज्य की आर्थिक गतिविधि बाधित हो रही थी, बल्कि यह नवाब के अधिकार को भी खुली चुनौती थी। दस्तक (राजस्व मुक्त व्यापार अधिकार) का कम्पनी के अधिकारियों द्वारा दुरुपयोग 1764 के युद्ध का तात्कालिक कारण बना। पटना पर अंग्रेज़ों द्वारा अचानक आक्रमण करने के बाद अंग्रेज़ों और मीर कासिम के बीच खुला युद्ध छिड़ गया। बिहार और उड़ीसा के प्रांतीय कुलीन वर्गों, अवध के नवाब और मुगल बादशाह शाह आलम ने इस युद्ध में मीर कासिम की सहायता की। पर यह संयुक्त मोर्चा अंग्रेज़ों को आगे बढ़ने से न रोक सका और बंगाल में नवाब के स्वतंत्र शासन का अंत हो गया।

मीर कासिम को गद्दी से उतारकर फांसी दे दी गयी और मीर जाफर को पुनः अधिक कड़ी शर्तों पर गद्दी पर बैठाया गया। अब उसे और उसके उत्तराधिकारियों को न केवल 5,00,000 रुपये मासिक कम्पनी को भुगतान करना था, बल्कि पदाधिकारियों को नियुक्त और पदच्युत करने में भी उनकी सलाह माननी थी और सैन्य शक्ति में कमी लानी थी। व्यावहारिक रूप से अंग्रेज़ों

के हाथ में सत्ता का हस्तांतरण हो गया। 12 अगस्त 1765 की इलाहाबाद की संधि के मार्फत इसे औपचारिकता भी प्रदान की गयी। इस संधि के अनुसार मुगल बादशाह ने अंग्रेज़ी ईस्ट इंडिया कम्पनी को बंगाल बिहार और उड़ीसा का दीवान नियुक्त किया। इन तीनों प्रांतों का वित्तीय प्रशासन कम्पनी को सौंप दिया गया और इसके बदले में कम्पनी द्वारा बादशाह को 2,600,000 रुपये प्रतिवर्ष देने थे। बंगाल के नवाब नाजिम बने रहे और औपचारिक रूप से उन्हें प्रतिरक्षा कानून और व्यवस्था और न्यायालय का क्षेत्र सौंपा गया। संक्षेप में, प्रशासन का सारा जिम्मा नाजिम का हुआ और राजस्व तथा सभी अधिकारों पर कम्पनी का हक बना। इस प्रकार दीवानी प्राप्त कर अंग्रेज़ वृहद बंगाल के मालिक बन बैठे। हैदराबाद और अवध के विपरीत बंगाल में स्वायत्ता का नामोनिशान नहीं छोड़ा गया।

बोध प्रश्न 2

1) बंगाल के नवाब अपनी स्वायत्तता की रक्षा करने में क्यों सक्षम नहीं रहे ? 100 शब्दों में उत्तर दीजिए।

....

....

....

....

....

....

....

....

....

....

2) निम्नलिखित वक्तव्यों को पढ़कर सही (✓) और गलत (×) का निशान लगाएँ।

क) अंग्रेज़ों की मजबूत सैन्य शक्ति के कारण सिराजुद्दौला प्लासी के युद्ध में पराजित हुआ। ( )

ख) प्लासी के युद्ध से अधिक फायदा अंग्रेज़ी ईस्ट इंडिया कम्पनी को हुआ न कि मीर जाफर को। ( )

ग) ईस्ट इंडिया कम्पनी और मीर जाफर के बीच युद्ध का मुख्य कारण यह था कि मीर जाफर अपने वादे पर अटल नहीं रहा। ( )

घ) बंगाल की अर्थव्यवस्था में अंग्रेज़ों की बढ़ती घुसपैठ के कारण नवाब और अंग्रेज़ों में युद्ध हुआ। ( )

MAADHYAM IAS
way to achieve your dream

2.5 अवध: स्वायत्तता की ओर

प्रथम चरण में बंगाल की तरह अवध में भी स्वायत्तता की ओर बढ़ने की प्रवृत्ति विकसित हुई और अन्ततः उसका भी अंग्रेज़ी राज में विलय हो गया। अठारहवीं शताब्दी में क्षेत्रीय राजनीतिक व्यवस्था के रूप में अवध के उदय में आर्थिक और भौगोलिक कारकों के साथ-साथ बुरहानुल मुल्क सआदत खाँ की राजनीतिक स्वायत्तता की दृढ़ इच्छा का भी महत्वपूर्ण हाथ था।

2.5.1 सआदत खाँ और अवध

सआदत खाँ को दिल्ली दरबार में कभी भी अपेक्षित सम्मान और अधिकार प्राप्त नहीं हुआ। मुगल केन्द्रीय सत्ता का सक्रिय भागीदार न बन पाने के कारण सआदत खाँ ने अपने को अवध

में केंद्रित किया और अपनी सारी ऊर्जा अवध को मजबूत और स्वायत्तता बनाने में लगा दी। वह अवध को एक साम्राज्य के रूप में विकसित करने का स्वप्न देखा करता था।

अर्थव्यवस्था की दृष्टि से अवध अठारहवीं शताब्दी में समृद्ध था, व्यापार और कृषि उन्नत अवस्था में थे। भौगोलिक दृष्टि से भी यह क्षेत्र सामरिक महत्व का था, यह गंगा के उत्तरी तट और हिमालय पर्वत के बीच स्थित था। इसके अलावा यह केन्द्रीय सत्ता, (दिल्ली) के भी करीब था।

सआदत खाँ को अवध की सूबेदारी 1772 ई. में प्राप्त हुई थी। इसके पूर्व वह आगरा प्रांत का प्रशासक था, जहाँ उसे जाट बागियों को दबाने में कोई खास सफलता हासिल नहीं हुई थी। अवध की सूबेदारी संभालने के बाद सआदत खाँ ने अपनी सारी शक्ति अवध को स्वायत्त राज्य बनाने में लगा दी।

औरंगजेब की मौत के बाद केन्द्रीय सत्ता में आयी अव्यवस्था ने उसे इस काम में सहायता प्रदान की। अवध की बागडोर संभालने के शीघ्र बाद सआदत खाँ को विद्रोही सरदारों और राजाओं का जबरदस्त सामना करना पड़ा। अपनी स्थिति मज़बूत करने के लिए उसने निम्नलिखित कदम उठाए:

- स्थानीय बागी जमींदारों और सरदारों का दमन,
- मदद-ए-माश के अनुदान प्राप्तकर्ताओं की शक्ति को नियंत्रित किया,
- राजस्व वसूली को व्यवस्थित किया, और
- कुछ स्थानीय जमींदारों से संधि की।

प्रांतीय प्रशासन के सभी महत्वपूर्ण पदों पर उसने अपने संबंधियों और सहयोगियों को नियुक्त किया। इस तरह वह प्रांतीय पदाधिकारियों की वफादारी सुनिश्चित कर लेना चाहता था। इन उपलब्धियों के बाद सआदत खाँ में इतना आत्मविश्वास आ चुका था कि उसने बगैर केन्द्रीय सत्ता की अनुशंसा के अपने दामाद सफदर जंग को उप गवर्नर नियुक्त कर दिया। यह अवध सूबे की स्वायत्तता का स्पष्ट प्रमाण था। 1735 तक अवध पर सआदत खाँ का नियंत्रण इतना जबरदस्त हो चुका था कि दिल्ली ने बेहिचक उसे कोरा जहानाबाद की फौजदारी दे दी और बाद में बनारस, जौनपुर, गाजीपुर और चुनारगढ़ के राजस्व वसूली का काम सौंप दिया। फिर भी सआदत खाँ की ये उपलब्धियाँ केन्द्रीय राजनीति की देन थी, इसका संबंध क्षेत्रीय स्वायत्तता से नहीं था, वस्तुत: सआदत खाँ अभी भी केन्द्रीय राजनीति पर अपने दावे से पूर्णत: मुक्त नहीं हुआ था। हालांकि उसने क्षेत्रीय राजनीतिक व्यवस्था में महत्वपूर्ण परिवर्तन किए थे और इससे केन्द्रीय नियंत्रण बाधित हुआ था पर अभी भी यह क्षेत्रीय स्वतंत्रता और नियंत्रण मुगल ढाँचे की परिधि में ही था। लेकिन शीघ्र ही सआदत खाँ का केन्द्र के साथ टकराव शुरू हो गया। 1737 में सआदत खाँ ने मराठा आक्रमण का सामना करने के लिए अधिक क्षेत्रीय अधिकार और सैन्य नियंत्रण की मांग की पर मुगल दरबार ने उसे ठुकरा दिया। 1739–40 में उसने फारसी आक्रमणकारियों का सामना किया और इसके बदले मीर बख्शी के पद की मांग की। इसे भी मुगल दरबार ने नहीं माना। इसके साथ मुगल दरबार के साथ उसका अलगाव लगभग पूरा हो गया। 1739 में सआदत खाँ मजबूत सेना के साथ फारसी आक्रमणकारियों से मुगल बादशाह की रक्षा करने के लिए आगे आया। पर मुख्य फारसी सेना पर एकाएक आक्रमण से वह स्वयं ही नादिरशाह का बन्दी बन गया। इसके बावजूद सआदत खाँ ने नादिरशाह को प्रभावित किया और फारसी सेना और मुगलों के बीच समझौता कराने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। पर इसी समय फारसी दल में षड्यंत्र हुआ और बहुत से लोग सेना छोड़ कर भाग खड़े हुए। इसके बड़े दुष्परिणाम हुए। सआदत अपने फारसी संबंध का उपयोग मुगल राजनीति में अपना हक स्थापित करने के लिए करना चाहता था। पर नादिरशाह का विश्वास अपने विश्वस्त पात्रों पर से उठ गया और उसने सआदत से अधिक से अधिक धनराशि की मांग की। इन गतिविधियों और केन्द्रीय राजनीति के खेल से निराश होकर सआदत ने अपने प्राण त्याग दिये।

2.5.2 सफदर जंग और अवध

सआदत खाँ ने एक अर्द्ध स्वायत्तता प्रांतीय राजनीतिक व्यवस्था अपने दामाद और मनोनीत उत्तराधिकारी के लिए छोड़ी थी। अपने आंतरिक संगठन और कार्यकलाप में यह अब केन्द्रीय

सत्ता के अधीन नहीं थी और दिल्ली दरबार को भेजे जाने वाले राजस्व में अनियमितता आ गयी थी। इसके अलावा, प्रांत की राजस्व व्यवस्था को पुनर्व्यवस्थित किया गया था, दीवान का पद समाप्त कर दिया गया था और स्थानीय हिन्दू लोगों को प्रशासन में शामिल किया गया था।

1739 और 1764 के बीच अवध अपने उत्कर्ष पर था और वहाँ पूर्ण स्वायत्तता कायम हो चुकी थी। ऊपरी तौर पर बादशाह के साथ अभी भी संबंध कायम sr, उदाहरणस्वरूप,

- उच्च पदों पर नियुक्ति के लिए बादशाह की औपचारिक अनुशंसा की जाती थी,
- केन्द्रीय राज्यकोष में राजस्व भेजा जाता था,
- आदेश, पदवी आदि मुगल बादशाह के नाम से जारी किए जाते थे।

इसके बावजूद, सफदर जंग ने साम्राज्यी घेरे के अंदर अवध में स्वायत्त राजनीतिक व्यवस्था के आधार को मजबूत करने का हर संभव प्रयास किया। उसने गंगा के मैदानी क्षेत्रों पर अपना नियंत्रण स्थापित किया और रोहतास, चुनार के किलों और इलाहाबाद की सूबेदारी को विनियोजित किया। इन उपलब्धियों से मुगल दरबार में उसकी हैसियत बढ़ी और उसे विजारत का पद प्राप्त हुआ। फर्रूखाबाद के अधिग्रहण और स्वायत्तता के उसके लगातार प्रयत्नों के कारण मुगल दरबार से उसका रिश्ता विच्छिन्न हुआ। सफदर जंग से वजीर का पद छीन लिया गया। हालांकि 1754 में दिल्ली पर मराठों के आक्रमण के दौरान मुगल दरबार में थोड़े समय के लिए उसे जगह मिली, पर मुगल दरबार पर उसका प्रभाव वस्तुत: समाप्त हो चुका था।

2.5 शुजाउद्दौला और अवध

[illegible] के उत्तराधिकारी शुजाउद्दौला को प्रांत की विस्तृत सीमाओं को सुदृढ़ करने और अपने स्व[illegible]त्र सूबे से मुगल साम्राज्य के साथ तालमेल बैठाने में अधिक सफलता प्राप्त हुई। उसने पूर्व में बढ़ती हुई अंग्रेजी शक्ति के खिलाफ संधियाँ कीं और इस कार्य में उसे सफलता भी मिली। इसी प्रकार राजस्व वसूली को व्यवस्थित किया गया, सैन्य शक्ति मजबूत की गयी

MAADHYAM IAS

चित्र-1 दस पुत्रों के साथ अवध का नवाब शुजाउद्दौला

और राज्यकोष में नियमित रूप से धन आने लगा। प्रशासन और नौकरशाही में हिन्दू समुदाय को अच्छा प्रतिनिधित्व मिला। राजा बेनी बहादुर को नायब नियुक्त किया गया और नवाब ने एक मराठी भाषी ब्राह्मण को अपना सचिव बनाया। नवाब के प्रमुख सेनानायकों में हिन्दुओं के साथ-साथ गोसाईं साधु भी शामिल थे।

अपने पूर्वाधिकारियों के पदचिह्नों पर चलते हुए शुजाउद्दौला ने भी मुगल बादशाह से पूरी तरह से संबंध विच्छेद नहीं कर लिया। अपने राज्यारोहण की अनुशंसा भी उसने बादशाह से प्राप्त कर ली थी। उसने सफलतापूर्वक उत्तर भारत में बादशाह द्वारा साम्राज्यी नियंत्रण स्थापित करने के प्रयत्न को निष्फल कर दिया। शुजाउद्दौला ने शाही-दरबार में अवध की सत्ता को पुनर्स्थापित किया और वजीर का पद हासिल किया। उसने 1761 के युद्ध में मराठों के खिलाफ अहमद शाह अब्दाली का पक्ष लिया और उत्तर भारत में मराठों को बढ़ने से रोका। इस प्रकार से 1764 में ईस्ट इंडिया कम्पनी के साथ युद्ध के पहले शुजाउद्दौला ने अवध में एक स्वायत्त राजनीतिक व्यवस्था कायम कर ली थी, जिसकी शुरुआत 18वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध से हो चुकी थी।

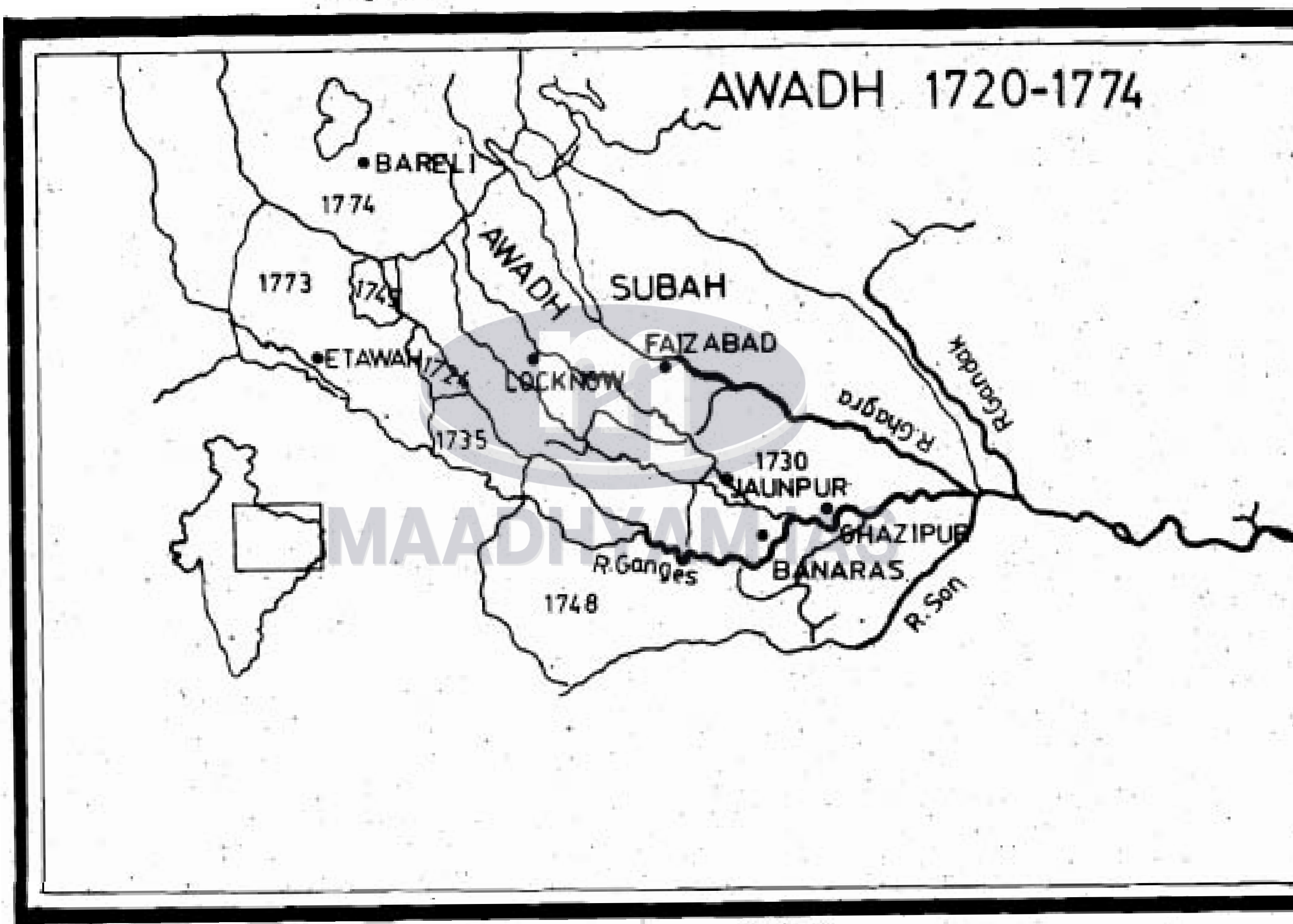

मानचित्र-3

बोध प्रश्न 3

1) सआदत खाँ ने अवध को स्वतंत्र राजनीतिक इकाई बनाने के लिए क्या-क्या प्रयत्न किये ? 100 शब्दों में उत्तर दें।

....

....

....

....

....

. . . .

. . . .

. . . .

. . . .

. . . .

2) निम्नलिखित वक्तव्यों को पढ़े और सही (✓) और गलत (×) का निशान लगाएँ।

क) सफदर जंग ने मुगल राज्यकोष में राजस्व भेजना बंद कर दिया। ( )

ख) सफदर जंग ने अपने प्रशासन में काफी संख्या में हिन्दुओं को नियुक्त किया। ( )

ग) शुजाउद्दौला अवध में दिल्ली दरबार पर अपना वर्चस्व जमाने में असफल रहा। रहा। ( )

घ) शुजाउद्दौला ने मुगल बादशाह से अपना संबंध पूरी तरह तोड़ लिया। ( )

2.6 अवध: पराधीनता की ओर

अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के दौरान अंग्रेज़ी ईस्ट इंडिया कम्पनी का उत्तरी भारत में प्रभाव बढ़ा और इसका अवध की अर्थव्यवस्था और राजनीति पर गहरा प्रभाव पड़ा। 1801 तक मध्यवर्ती राज्य (बफर स्टेट) के रूप में अवध की एक महत्वपूर्ण भूमिका थी और यह एक तरह से मराठों से बंगाल क्षेत्र की रक्षा करता था। अत: 19वीं शताब्दी में अवध अंग्रेज़ी विस्तार के रास्ते में रोड़ा बन गया। इस स्वतंत्र सूबे से अंग्रेज़ों की बार-बार टकराहट हुई और अंतत: 1856 में यह प्रांत अंग्रेज़ी राज्य में मिला लिया गया।

MAADHYAM IAS

2.6.1 अवध: 1764–1775

बक्सर की लड़ाई में बंगाल के नवाब मुगल बादशाह और शुजाउद्दौला के संयुक्त मोर्चे को अंग्रेज़ों ने हरा दिया। इससे अवध की शक्ति और प्रतिष्ठा को गहरा धक्का लगा। इलाहाबाद की संधि के बाद अवध अंग्रेज़ी जाल में फंस गया। इस संधि के अनुसार शुजाउद्दौला का अवध पर अधिकार बना रहा, पर कोरा और इलाबाद मुगल बादशाह को सौंपना पड़ा। शुजाउद्दौला को युद्ध हर्जाने के रूप में 50 लाख रुपये देने पड़े, और कम्पनी से यह भी संधि करनी पड़ी कि अवध और कम्पनी एक दूसरे के राज्य-क्षेत्रों की रक्षा करेंगे। बंगाल के नवाबों के समान अवध के नवाब भी अंग्रेज़ों की शक्ति और मनसूबे से परिचित थे और वे अपने दावों को बिना संघर्ष के छोड़ने वाले नहीं थे। अत: अवध में अंग्रेज़ों की व्यापारिक घुसपैठ को लगातार रोका गया। इसके साथ-साथ अवध की सेना को मजबूत और व्यवस्थित बनाने की कोशिश की जाती रही।

बक्सर की हार के बाद शुजाउद्दौला ने सैन्य सुधार आरंभ किया। उसका उद्देश्य अंग्रेज़ों को डराना या उनसे युद्ध करना नहीं था, बल्कि वह अपनी सत्ता को पुनर्स्थापित करना चाहता था, वह उस खोई हुई प्रतिष्ठा को पुन: प्राप्त करना चाहता था, जिसे विदेशी अंग्रेज़ी शक्ति ने धक्का पहुँचाया था। कम्पनी के लिए अवध इतना महत्वपूर्ण और लाभदायक राज्य था, जिसे वे नजरअंदाज नहीं कर सकते थे। इस राज्य के अपार राजस्व का उपयोग कम्पनी की सेना को मजबूत बनाने के लिए किया जा सकता था। एक सुनियोजित तरीके से कम्पनी ने अपनी वित्तीय माँगें बढ़ानी शुरू की। 1773 ई. में अंग्रेज़ी ईस्ट इंडिया कम्पनी और अवध के बीच पहली लिखित संधि हुई। इस संधि के मुताबिक नवाब को इलाहाबाद और अवध में स्थित कम्पनी की सेना के खर्च के लिए 2,10,000 रुपये प्रति माह का भुगतान करना था। यहीं से अवध कम्पनी का ऋणी बनता गया और यहीं से प्रांतीय राजनीतिक व्यवस्था में अंग्रेज़ों का हस्तक्षेप बढ़ना शुरू हुआ।

2.6.2 अवध: 1775–1797

1775 में और उसके बाद नवाबी की अभेद्यता पर प्रश्न चिह्न लगा। विडंबना यह है कि इसी दौरान लखनऊ क्षेत्रीय सांस्कृतिक विरासत और दरबार के केन्द्र के रूप में पहले से अधिक मुखर हो उठा: फैजाबाद के स्थान पर लखनऊ अवध की नयी राजधानी बन चुका था। आसफुद्दौला के अधिकार को किसी खास चुनौती का सामना नहीं करना पड़ा, थोड़ा सा अवरोध शुजाउद्दीन के दरबारियों और उसके भाई सआदत अली (रोहिल खंड का गवर्नर) के दल ने खड़ा किया। लेकिन शीघ्र ही मुर्तजा खां (आसफुद्दौला का विश्वासपात्र, जिसे मुख्तार उद्दौला का खिताब दिया गया) के नेतृत्व में पुरानी प्रशासनिक व्यवस्था में फेर बदल किया गया और पुराने सरदारों और सेनानायकों को हटा दिया गया। मुख्तार ने अवध के नवाब की ओर से कम्पनी से संधि की, जिसके मुताबिक बनारस के आसपास के इलाके (जौनपुर के उत्तर और इलाहाबाद के पश्चिम का इलाका, जिस पर एक समय चैत सिंह का अधिकार था) अंग्रेज़ों को सौंप दिये गये। इस संधि के अनुसार कम्पनी की सेना के लिए दी जाने वाली राशि बढ़ा दी गयी और भविष्य के अंग्रेज़ी नवाबी लेन देनों में मुगल बादशाह की मध्यस्थता समाप्त कर दी गयी। नवाब के दरबार में अंग्रेज़ों ने एक रेजिडेंट को नियुक्त किया, जिसे सभी कूटनीतिक और विदेशी संबंधों को नियंत्रित करना था।

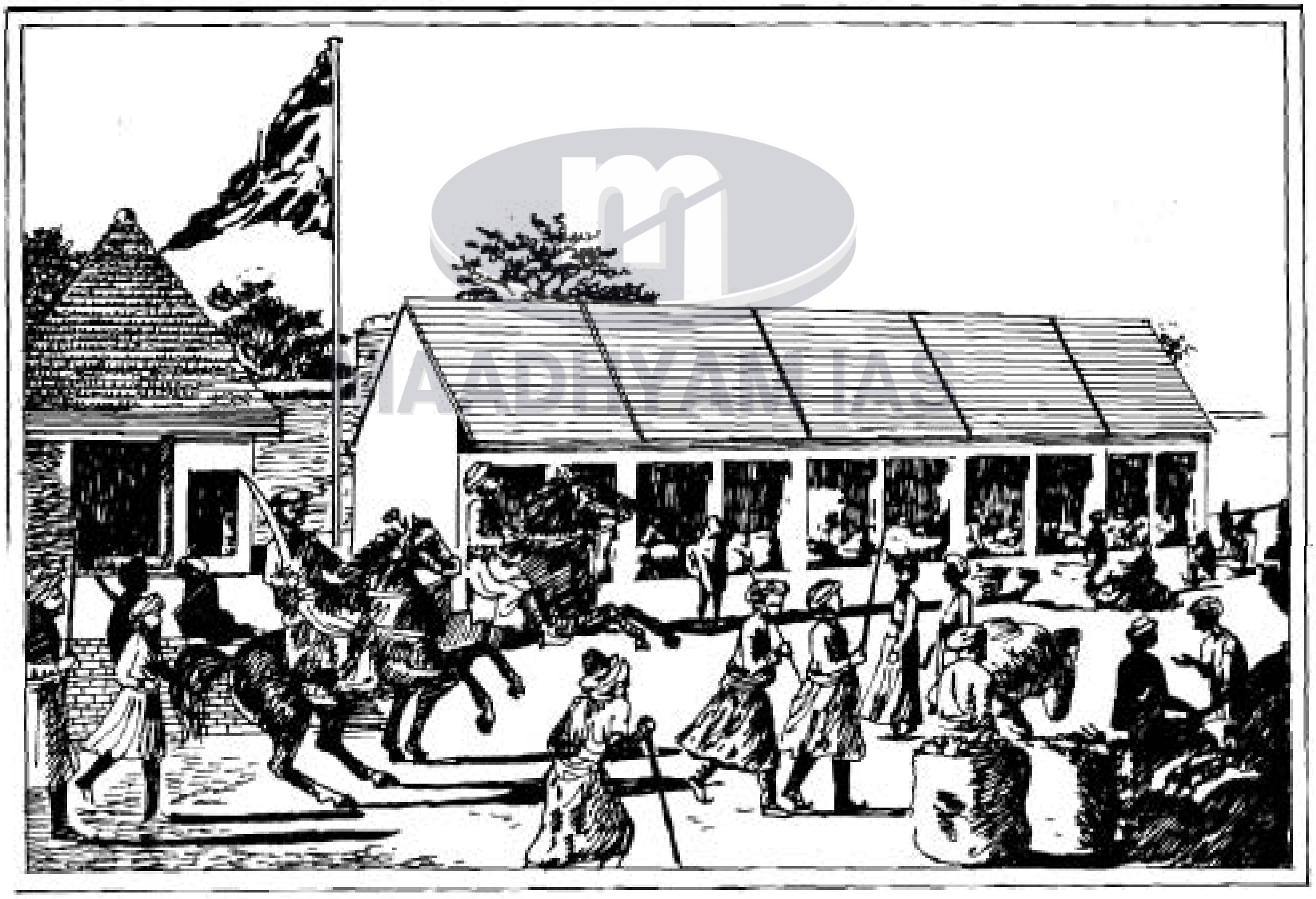

चित्र-2 अठारहवीं शताब्दी में लखनऊ की गली

राजनीतिक व्यवस्था के पतन, अवध के मामले में अंग्रेज़ों के बेबाक हस्तक्षेप और आसफुद्दौला की ऐयाशी और राजनीतिक गतिविधियों से निरासक्ति ने अवध के सरदारों के बड़े हिस्से को चौकन्ना कर दिया। स्थिति तब और बिगड़ गयी जब सेना को बहुत दिनों से वेतन नहीं मिला और उन्होंने जगह-जगह बगावत कर दी। इस अव्यवस्था और गड़बड़ी का फायदा अंग्रेज़ों को मिला और उनकी घुसपैठ का रास्ता आसान हो गया। 1770 के दशक में अंग्रेज़ी ईस्ट इंडिया कम्पनी ने लगातार अवध की प्रभुसत्ता पर आक्रमण किया। अंग्रेज़ी *iff* के लगातार जमाव ने नवाबी शासन को गहरा धक्का पहुँचाया और कम्पनी का हस्तक्षेप बढ़ता चला गया। पहली

बार 1780 ई. में इसका विरोध हुआ। कलकत्ता में स्थित सर्वोच्च अंग्रेज़ी सरकार को यह सोचने के लिए विवश होना पड़ा कि अगर अवध के स्रोतों का सही और लाभदायक उपयोग करना है तो अंग्रेजी रेजिडेंट के हस्तक्षेप को कम करना होगा।

अत: 1784 में वारेन हेस्टिंग्स ने आसफुद्दौला से कई संधियाँ कीं, जिससे अवध के कर्ज का बोझ घटाकर 50 लाख कर दिया गया और इससे अवध का बोझ कुछ कम हुआ।

आगे आने वाले डेढ़ दशक में अवध अर्द्धस्वायत्त प्रांतीय सत्ता के रूप में काम करता रहा और कम्पनी के साथ उसका सौहार्दपूर्ण संबंध बना रहा। यह स्थिति आसफ की मृत्यु (1797) तक कायम रही। आसफ की मृत्यु के बाद अंग्रेज़ों ने उत्तराधिकार के प्रश्न पर फिर हस्तक्षेप किया। उन्होंने आसफ द्वारा मनोनीत उत्तराधिकारी वजीर अली को पदच्युत कर दिया और सआदत अली को नवाबी सौंप दी। इसके बदले में सआदत अली ने 21 फरवरी, 1798 को अंग्रेज़ों से संधि की, जिसके मुताबिक उसे हर साल 76 लाख रुपये अंग्रेज़ों को देने थे।

चित्र-3 नवाब आसफुद्दौला अपने मन्त्रियों के साथ ब्रिटिश कर्मचारियों से बातचीत करते हुये .

2.6.3 अवध: 1797–1856

लार्ड वेलेस्ली ने, जो 1798 ई. में भारत आया था, एक कदम और आगे बढ़कर, अवध व्यवस्था को ही समाप्त कर दिया। नवाब ने अंग्रेज़ों की बढ़ी हुई वित्तीय मांगों के भुगतान में अपनी असमर्थता जाहिर की। वेलेस्ली को यह सुनहरा मौका मिला और उसने इसी आधार पर अवध हड़पने की नीति अपनाई। हेनरी वेलेस्ली सितम्बर 1801 में लखनऊ पहुँचा और पूरे राज्य के समर्पण की मांग की। लंबी बातचीत के बाद यह निश्चित किया गया कि अवध का अधिकार क्षेत्र रोहिलखंड, गोरखपुर और दोआब के इलाके तक सीमित रहेगा, जिसकी कुल आमदनी 1 करोड़ 35 लाख रुपये थी। 1801 की संधि के बाद अंग्रेज़ी-अवध संबंध का एक नया आयाम शुरू हुआ। अब इस निरापद सूबे से कम्पनी के स्थायित्व को कोई खतरा नहीं

था। वस्तुत: अवध के नवाबों ने भी इस काल में अंग्रेज़ों के बढ़ते प्रभुत्व का विरोध नहीं किया। अपनी सेना और आधे से अधिक क्षेत्र छिन जाने के बाद नवाबों ने अपना ध्यान सांस्कृतिक क्षेत्र की ओर केन्द्रित किया। इस क्षेत्र में वे आसुफद्दौला के पद चिह्नों पर चल रहे थे, जिसने लखनऊ और उसके दरबार के चारों तरफ एक जीवंत सांस्कृतिक माहौल पैदा कर दिया था। दिल्ली के पतन के बाद कवि और शायर लखनऊ दरबार की ओर आकृष्ट होने लगे और लखनऊ दरबार ने उन्हें शरण दी। इन शायरों में मिर्जा रफी सौदा (1713–86), मीर गुलाम हसन (1735–86) आदि उल्लेखनीय हैं।

गज़ियाल-दीन हैदर (1819) द्वारा बादशाही की दिखावटी हैसियत अपनाने और मुगल प्रभुसत्ता के औपचारिक अधिग्रहण के बाद अवध की दरबारी संस्कृति तेजी से फली-फूली। पर इसके साथ-साथ प्रशासन और प्रांत पर नवाब की पकड़ ढीली होती गयी। कम्पनी द्वारा प्राप्त संरक्षण के लिए नवाब को भारी रकम चुकानी पड़ती थी, प्रशासनिक जिम्मेवारी मंत्रियों के हाथों में चली गयी और अंग्रेज़ रेजिडेंट का हस्तक्षेप बढ़ता गया, इससे अवध की हालत खस्ता हो गयी।

यह अध:पतन नासिरुद्दीन-हैदर, मोहम्मद अली शाह और अमजद अली शाह के शासन काल में भी जारी रहा (1827–47)। इनमें से कोई भी शासक प्रशासन पर नियंत्रण रखने और कम्पनी के राजनीतिक नियंत्रण से अपने को मुक्त रखने में अक्षम था। उनकी उपलब्धि केवल यही थी कि उन्होंने अवध को नाम के लिए स्वायत्त हैसियत दी और लखनऊ को एक सांस्कृतिक केन्द्र के रूप में विकसित किया। अंग्रेज़ रेजिडेंट का प्रशासन पर पूर्ण अधिकार था और वह द्वैध या अप्रत्यक्ष शासन करता था। कम्पनी इस विरोधाभास से अपरिचित नहीं थी, और बार-बार अवध के पूर्ण अधिग्रहण की बात सोची जाती थी। पर यह विचार इस आधार पर स्थगित कर दिया गया कि कम्पनी अभी अवध का प्रशासन सीधे तौर पर नहीं लेना चाहती थी। अंतत: 1856 में वाजिद अली शाह को पदच्युत कर दिया गया और अवध अंग्रेज़ी राज्य में मिला लिया गया। गवर्नर जनरल डलहौजी ने अपने अधिनायक को लिखा "आज से हमारी महारानी के अधीन 5 लाख और लोग आ गये हैं और उनके विगत कल के राजस्व में 13 लाख रुपयों की वृद्धि हुई है।" इस प्रकार अवध की कहानी का अंत हुआ, बुरहानुलमुल्क (सआदत खाँ) के स्वतंत्र घराने का सूर्यास्त हुआ। यह घराना लगातार दो साम्राज्यों-मुगल और अंग्रेज़ से संघर्ष करता रहा और उनके बीच पिस कर रह गया।

MAADHYAM IAS
way to achieve your dream

2.7 क्षेत्रीय राजनीतिक व्यवस्था का स्वरूप

पिछले भागों में बंगाल और अवध के संदर्भ में हमने क्षेत्रीय राजनीतिक शासनों की बनावट और कार्यकलाप पर बातचीत की। इस भाग में हम क्षेत्रीय राजनीतिक व्यवस्था के स्वरूप और प्रांतीय राजनीतिक व्यवस्था के अंतर्गत कार्य कर रही विभिन्न शक्तियों की चर्चा करने जा रहे हैं। हालांकि बंगाल और अवध, दोनों ही राज्यों में स्वतंत्र अस्तित्व की स्थापना का प्रयास किया गया, पर औपचारिक रूप से मुगल संप्रभुता स्वीकार की जाती रही। अवध में, 1819 में जाकर गाजीउद्दीन हैदर के गद्दीनशीन होने के साथ-साथ मुगल संप्रभुता को एकतरफा अस्वीकार कर दिया गया। मुगल साम्राज्यी सत्ता से पूरी तरह संबंध विस्थापित नहीं किया गया और मुगल प्रांतीय सरकार के स्वरूप में बहुत बदलाव नहीं आया। इस काल की उल्लेखनीय विशेषता यह थी कि प्रांतीय शासक मजबूत होते गये और प्रांतीय शासकों पर केन्द्रीय सत्ता की पकड़ ढीली होती गयी। सत्रहवीं शताब्दी की तुलना में यह बिल्कुल बदली हुई परिस्थिति थी।

18वीं शताब्दी में प्रांतों की स्वतंत्र सत्ता स्थापित हुई, इसमें जमींदारों, व्यापारियों आदि का सहयोग भी प्राप्त हुआ। व्यापारी और महाजन 18वीं शताब्दी में राजनीतिक दृष्टि से महत्वपूर्ण हो गये और इन्होंने क्षेत्रीय राजनीतिक व्यवस्था के उदय में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। 17वीं शताब्दी के दौरान इस वर्ग ने मुगल राजस्व व्यवस्था और कृषीय उत्पाद तथा शिल्पगत वस्तुओं के व्यापार को स्थापित और विकसित किया। इसके बावजूद साम्राज्यी राजनीति में इनका दखल न के बराबर था। पर 18वीं शताब्दी में केन्द्रीय सत्ता के कमजोर होने और मुगल राज्यकोष के दिवालिया होने पर इस व्यापारिक वर्ग ने विकसित हो रहे क्षेत्रीय राजनीतिक

व्यवस्था को आर्थिक आधार प्रदान किया। ये शासकों और सरदारों के आर्थिक मददगार बन गये। प्रशासन के कार्यकलाप में इन वाणिज्यिक और व्यापारिक समुदायों का प्रभाव मुखर हो उठा। सरकार ने इन व्यापारिक घरानों से काफी मात्रा में बतौर कर्ज धन प्राप्त किया। बनारस में स्थापित राजस्व व्यवस्था पर अग्रवाल बैंकरों का पूरा नियंत्रण था। वस्तुत: आसफुद्दौला के शासन काल (1755–97) में अवध पर कर्ज का बोझ इतना बढ़ गया कि अंग्रेज़ रेजिडेंटो को इस मामले में हस्तक्षेप करना पड़ा। बंगाल में जगत सेठों के घराने की प्रांत के प्रशासन मुख्य भूमिका हो गयी। इस प्रकार अठारहवीं शताब्दी में व्यापारियों और महाजनों की प्रांतीय प्रशासन व्यवस्था में उल्लेखनीय भूमिका स्थापित हो गयी।

चित्र-4 अठारहवीं शताब्दी का एक सेठ

व्यापारियों के साथ-साथ प्रांत में जमींदारों का बोलबाला भी बढ़ा। केन्द्रीय सत्ता की क्षीण होती हुई शक्ति और नियंत्रण के कारण स्थानीय स्तर पर जमींदारों ने अपनी स्थिति मजबूत की और अपने इलाकों में बाजारों तथा व्यापार पर कर लगाने लगे, मुगल प्रशासन के उत्कर्ष के दिनों में ऐसा करना उनके लिए संभव न था। देहाती इलाकों में राजस्व की वसूली और कानून एवं प्रशासन की जिम्मेदारी जमींदारों ने अपने कब्ज़े में ले ली। प्रांतीय राजनीतिक व्यवस्था का स्थायित्व जमींदारों के सक्रिय सहयोग पर निर्भरशील हो गया। जमींदार और व्यापारी एक दूसरे की मदद किया करते थे और बहुत से मामलों में जमींदार ही महाजन भी थे और वे वाणिज्य में पूंजी निवेश किया करते थे। इस परस्पर स्वार्थ ने उन्हें एक दूसरे पर निर्भरशील बना दिया। हम यह देख चुके हैं कि किस प्रकार राज्य पर अपना नियंत्रण स्थापित करने के लिए अवध और बंगाल के नवाबों ने जमींदारों से अच्छे संबंध कायम किए।

बंगाल और अवध की राजनीतिक व्यवस्था की एक अन्य उल्लेखनीय विशेषता यह थी कि इनके राजस्व प्रशासन में काफी संख्या में हिंदुओं की नियुक्ति की गयी। अवध में आत्मा राम, राजा राम नारायण और बंगाल में राय दुलर्भ और अमीर चन्द जैसे हिन्दू पदाधिकारियों को राजस्व प्रशासन का भार सौंपा गया था। हिन्दुओं द्वारा नवाब की सत्ता के प्रतिरोध को कम से कम करने के लिए राजस्व प्रशासन में हिंदू पदाधिकारियों की नियुक्ति को प्रोत्साहित किया गया। इस प्रकार राजस्व प्रशासन के अधिकारी के तौर पर और बतौर क्लर्क बहुत से हिंदुओं की नियुक्ति हुई।

18वीं शताब्दी के पाँचवें छठे दशक के आसपास अंग्रेज़ी ईस्ट इंडिया कम्पनी का दखल बंगाल और अवध की प्रशासनिक व्यवस्था में धीरे-धीरे बढ़ने लगा। कम्पनी की बढ़ती आर्थिक और सैन्य शक्ति ने प्रांतीय राजनीतिक व्यवस्था पर उसके नियंत्रण को और मजबूत कर दिया। इस स्थिति का फायदा उठाकर उन्होंने विभिन्न गुटों को आपस में लड़ाया और प्रांत में अपनी स्थिति मजबूत की।

चित्र-5 ब्रिटिश कर्मचारियों के साथ एक भारतीय जमींदार

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

बोध प्रश्न 4

1) बक्सर के युद्ध में शुजाउद्दौला की हार का अवध पर क्या प्रभाव पड़ा ? पचास शब्दों में उत्तर दीजिए।

....

....

....

....

....

....

2) अवध अपनी स्वायत्तता की रक्षा क्यों न कर सका ? 100 शब्दों में उत्तर दीजिए।

....

....

....

....

....

....

....

3) क्षेत्रीय राजनैतिक व्यवस्था में व्यापारियों की भूमिका का उल्लेख करें। उत्तर 60 शब्दों में दीजिए।

....

....

....

....

....

....

2.8 सारांश

इस इकाई को पढ़ने के दौरान हमने देखा कि अठारहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में बंगाल और अवध में स्वतंत्र स्वायत्त राज्यों का उदय हुआ। इस क्षेत्रीय स्वायत्तता का जन्म एकाएक नहीं हुआ, बल्कि यह प्रांतों पर मुगल सत्ता के कमजोर होते नियंत्रण का परिणाम था। बंगाल ने अपनी यह स्वायत्तता तीन दशकों (1757) तक कायम रखी और अवध 1801 तक स्वतंत्र राज्य के रूप में कार्य करता रहा। अपनी सैन्य शक्ति के बल पर और प्रदेश के स्रोतों पर अधिकार जमाकर अंग्रेज़ी ईस्ट इंडिया कम्पनी ने इन प्रदेशों पर अपना अधिकार जमा लिया। बंगाल में, आधी शताब्दी पहले ही अंग्रेज़ों का प्रभुत्व कायम हो गया और उन्होंने एक ही झटके में ब्रिटिश पूर्व व्यवस्था को छिन्न भिन्न कर दिया। अवध के मामले में राजनीतिक व्यवस्था के कमजोर होने और अधिग्रहण की प्रक्रिया थोड़ी लंबी चली, पर उसका अंत भी लगभग वैसा ही हुआ।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

2.9 शब्दावली

खालसा भूमि: ऐसी भूमि जो, शासक के प्रत्यक्ष नियंत्रण में हो।

निजामत: गवर्नरों का पद।

पेशकश: अधीनस्थ प्रांतीय सरदारों द्वारा मुगल साम्राज्यी सत्ता को दिया जाने वाला राजस्व।

मदद-ए-माश: धार्मिक और सामाजिक उपयोग के कार्यों के लिए दी गयी राजस्व मुक्त भूमि।

विज़ारत: वज़ीर का पद।

सूबा: प्रांत। मुगल बादशाह ने प्रशासनिक व्यवस्था के तहत सम्पूर्ण देश को विभिन्न प्रांतों में विभक्त किया था।

स्वायत्त: ऐसा राज्य जो बगैर किसी बाहरी सत्ता के नियंत्रण के अपनी सरकार चलाता हो।

2.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) इस उत्तर में प्रांतीय स्तर पर पदाधिकारियों की नियुक्ति, केन्द्रीय राजस्व कोष में वार्षिक नजरानों का भुगतान, प्रांत में वंशानुगत शासन की स्थापना आदि बातें शामिल होनी चाहिए। देखें भाग 2.2.

2) उच्च पदाधिकारियों की नियुक्ति, राजस्व प्रशासन की व्यवस्था, वंशानुगत शासन की स्थापना आदि, देखें, भाग 2.3.

बोध प्रश्न 2

1) आपको अपने उत्तर में नवाब के दरबार में हुए षड़यंत्र, प्रशासन पर नवाबों का नियंत्रण का अभाव, ईस्ट इंडिया कम्पनी की भूमिका आदि पर विचार करना होगा। देखें भाग 2.4.

2) क) ×, ख) ✓, ग) ×, घ) ✓

बोध प्रश्न 3

1) अवध में स्वायत्त राजनीतिक व्यवस्था कायम करने के लिए सआदत खाँ द्वारा उठाए गये कदमों का उल्लेख करें। देखें उप-भाग 2.5.1.

2) क) × ख) ✓, ग), ×, घ), ×

बोध प्रश्न 4

1) इस उत्तर में आपको इस बात पर प्रकाश डालना है कि किस प्रकार बक्सर के युद्ध के बाद अवध अंग्रेज़ों के नियंत्रण में आता गया। देखें उपभाग 2.6.1.

2) इस उत्तर में आपको नवाबों की असफलता, प्रशासन में समन्वय का अभाव, सैन्य प्रशासन को संगठित रखने में असफलता आदि का जिक्र करना है। देखें भाग 2.6.7.

3) इस उत्तर में आपको क्षेत्रीय राजनीतिक व्यवस्था में व्यापारियों के बढ़ते प्रभुत्व का जिक्र करना है। देखें भाग 2.7.

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

इकाई 3 मराठा राज्य व्यवस्था

इकाई की रूपरेखा

3.0 उद्देश्य
3.1 प्रस्तावना
3.2 मराठा राजनीतिक व्यवस्था के स्वरूप पर इतिहासकारों का मत
3.3 मराठा राज्य संघ
  3.3.1 राजा और पेशवा
  3.3.2 नागपुर के भोसले
  3.3.3 बड़ौदा के गायकवाड़
  3.3.4 इंदौर के होल्कर
  3.3.5 ग्वालियर के सिंधिया
3.4 संस्थागत विकास
  3.4.1 प्रशासनिक संरचना
  3.4.2 दीर्घकालिक प्रवृत्तियां
3.5 समाज और अर्थव्यवस्था
  3.5.1 खेतिहर समाज
  3.5.2 नगरी व्यवस्था
3.6 अन्य राज्यों के साथ मराठों के संबंध
  3.6.1 बंगाल
  3.6.2 हैदराबाद
  3.6.3 मैसूर
  3.6.4 राजस्थान
  3.6.5 मुगल शासक
  3.6.6 ईस्ट इंडिया कंपनी
3.7 सारांश
3.8 शब्दावली
3.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

3.0 उद्देश्य

यह इकाई भी अठारहवीं शताब्दी के मध्य में भारतीय राजनैतिक व्यवस्था की आंतरिक संरचना को समझने का एक प्रयास है। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप —

- मराठा राजनीतिक व्यवस्था के स्वरूप संबंधी कुछ मतों का उल्लेख कर सकेंगे,
- अठारहवीं शताब्दी में मराठा राज्य संघ और उसके विस्तार पर प्रकाश डाल सकेंगे,
- मराठों द्वारा स्थापित राजनीतिक और प्रशासनिक संरचना का वर्णन कर सकेंगे और इस प्रकार मराठों को "लुटेरा" कहे जाने के परम्परागत मत में सुधार ला सकेंगे,
- क्षेत्र विशेष की सामाजिक और आर्थिक स्थिति को रेखांकित कर सकेंगे, और
- मुगल साम्राज्य, अन्य क्षेत्रीय शक्तियों और अंग्रेजी ईस्ट इंडिया कंपनी के साथ मराठों के संबंध को निरूपित कर सकेंगे।

3.1 प्रस्तावना

सत्रहवीं शताब्दी के दौरान पश्चिमी दक्कन में छोटे मराठा राज्य का गठन हुआ। यह क्षेत्र कालांतर में मराठा राज्य का केन्द्र बिन्दु बना और अठारहवीं शताब्दी में तथाकथित दूसरे बड़े

मराठा स्वराज्य (संप्रभु राज्य) का विस्तार उत्तर, पूर्व और दक्षिण दिशाओं में हुआ।

दक्कन से मुगलों की वापसी के बाद मराठों ने अपने सैनिक नेताओं या सरदारों के नेतृत्व में मिला-जुला संघ या राज्य संघ स्थापित और विकसित किया। आरंभ में इन सरदारों ने अपने को राजस्व वसूली तक सीमित रखा, पर एक बार पैर जमा लेने के बाद उन्होंने इस पर वंशानुगत अधिकार जमा लिया। इस इकाई में पश्चिमी दक्कन में मराठा राज्य की स्थापना, उसकी नयी और शक्तिशाली राजनीतिक व्यवस्था पर प्रकाश डाला जा रहा है।

3.2 मराठा राजनीतिक व्यवस्था के स्वरूप पर इतिहासकारों का मत

साम्राज्यवादी इतिहास लेखन अठारहवीं शताब्दी के मराठा राज्य को अव्यवस्था और अराजकता का पर्याय मानता है। दूसरी तरफ राष्ट्रवादी इतिहास लेखन के तहत बहुत से मराठी इतिहास लेखक मराठा राज्य को हिन्दू साम्राज्य की पुनर्स्थापना का अंतिम प्रयास मानते हैं।

इरफान हबीब का मानना है कि मराठों का उदय वस्तुत: मुगल साम्राज्य के शासक वर्ग (मनसबदारों और जमींदारों) के खिलाफ जमींदारों के विद्रोह का प्रतिफलन था। वे मराठा राज्य के निर्माण में जमींदार वाले संदर्भ पर विशेष जोर देते हैं।

सतीशचन्द्र का मानना है कि मुगलों की जमींदारी व्यवस्था आय और व्यय के संतुलन को कायम रखने में असफल हुई और इस संकट का लाभ उठाकर मराठों ने क्षेत्रीय स्वतंत्रता स्थापित करने का सफल प्रयत्न किया।

सी. ए. बेली तीन लड़ाकू राज्यों (मराठा, सिक्ख और जाट) का उल्लेख करते हुए बताते हैं कि यह भारतीय-मुस्लिम कुलीन तंत्र के खिलाफ एक लोकप्रिय या कृषक विद्रोह था। उनके अनुसार मराठों ने साधारण कृषकों और चरवाहों की जाति से शक्ति अर्जित की, पर प्रशासन के उच्च पदों पर मराठा ब्राह्मणों का वर्चस्व रहने के कारण मराठा राज्य को ''ब्राह्मण'' राज्य के रूप में देखा गया। तीर्थ स्थलों और पवित्र पशुओं की रक्षा करना इसकी उल्लेखनीय जिम्मेदारी थी।

MAADHIYAM IAS
'way to achieve your dream'

आन्द्रे विंक फितना की प्रक्रिया को मराठा राज्य व्यवस्था के सामाजिक और राजनीतिक गतिविधियों का केन्द्र बिन्दु मानते हैं। इस प्रक्रिया के तहत राजनीतिक मनमुटाव और फूट का लाभ उठाया जाता था और सीधी सैनिक कार्यवाई के बदले दबाव तथा समझौते का सहारा लिया जाता था। इस प्रकार फितना एक राजनीतिक क्रियाविधि थी, जिसका उपयोग क्षेत्र विस्तार, सुदृढ़ीकरण और अंतत: मराठा शक्ति को संस्थागत रूप देने के लिए किया जाता था फितना के सही राजनैतिक समीकरण के लिए जनता का सहयोग और स्वीकृति भी आवश्यक समझी गयी। यह विजय प्राप्त करने के साथ-साथ कृषि स्रोतों पर अधिकार स्थापित करने के लिए भी जरूरी था।

17वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में फितना द्वारा ही मराठों ने मुगल साम्राज्य के विस्तृत इलाकों पर कब्जा जमाया। उन्होंने मुगलों के खिलाफ विभिन्न दक्कनी सुल्तानों से गठबंधन किया। अंत:, विंक का मानना है कि मराठा संप्रभुता के उदय को मुगल साम्राज्य के विरुद्ध विद्रोह के रूप में देखने की अपेक्षा उसकी जड़ मुगल साम्राज्य के विस्तार में ही खोजी जानी चाहिए। मराठा स्वराज्य एक प्रकार की जमींदारी थी और मराठों ने वस्तुत: कभी भी जमींदार की भूमिका से अपने को अलग नहीं किया।

फैंक पर्लिन राज्य और राज्य निर्माण की अवधारणा को विशाल और दीर्घकालीन अन्तर-राजनीतिक, उपमहाद्वीपीय और अन्तर-राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में देखना चाहते हैं। इसके कई कारण हैं। राज्य का विकास लंबे समय में हुआ था, जिसमें विभिन्न शासनकाल और शताब्दियां (1 से 19वीं शताब्दी) शामिल थी। इसके अलावा औद्योगिकीकरण के पूर्व यूरोप और भारत की स्थिति में हो रहे परिवर्तनों को तुलनात्मक परिप्रेक्ष्य में भी देखा जाना चाहिए। इससे इस

परंपरागत मत का खंडन किया जा सकता है कि अंग्रेज़ों का प्रमुत्व स्थापित होने से पूर्व का भारतीय समाज बदलाव चाहता ही नहीं था।

बोध प्रश्न 1

1) मराठा राज्य के उदय के फितना आधारित दृष्टिकोण को संक्षेप में लिखिए।

....

....

....

....

....

2) मराठा राज्य व्यवस्था को बृहद परिप्रेक्ष्य में देखे जाने की क्यों जरूरत है?

....

....

....

....

....

.3 मराठा राज्य संघ

अठारहवीं शताब्दी के दूसरे दशक में दक्कन और मध्य भारत में बाजीराव पेशवा प्रथम के अधीन मराठा शक्ति मुगलों के आधिपत्य को लगभग समाप्त कर चुकी थी। इसके बावजूद 1730 के दशक की संधियों में (मुगल और मराठों के बीच) मुगल बादशाह की वरीयता स्वीकार की जाती रही। एक महत्वपूर्ण बात यह है कि चौथ वसूली के लिए औपचारिक रूप से मुगल बादशाह की अनुशंसा ली जाती रही, वस्तुतः यह मराठा संप्रभुता की स्थापना की पूर्वपीठिका थी (मसलन, गुजरात, मालवा, बेरार)

MAADEYAM IAS
'way to achieve your dream'

3.3.1 राजा और पेशवा

1719 ई. में बालाजी देशमुख को दिल्ली दरबार से चौथ और सरदेशमुखी का फरमान प्राप्त हुआ। मराठा राजा को सम्पूर्ण दक्कन (औरंगाबाद, बेरार, बीदर) और कर्नाटक का सरदेशमुख बना दिया गया।

1719 ई. में बालाजी विश्वनाथ ने साहू और उसके सरदार के बीच चौथ की वसूली और सरदेशमुखी का विभाजन कर दिया। इस वसूली का एक निश्चित अंश (सरदेशमुखी – चौथ का 34%) राजा के कोष में जमा होता था। इस प्रकार राजा अपने वित्तीय संस्थाओं के लिए काफी हद तक सरदारों पर निर्भरशील था।

आरम्भ में पेशवा केवल मुखिया प्रधान या प्रधानमंत्री होता था और उसका पद वंशानुगत नहीं था। पर 1720 ई. में बालाजी विश्वनाथ का पुत्र बाजीराव पेशवा बना। इसी समय से यह पद वंशानुगत हो गया। 1740 में बालाजी बाजीराव (नाना साहब) पेशवा बना। 1749 में साहू के निधन तक वह सतारा के राजा के अधीन था। इसके बाद उसने वस्तुतः राजा की संप्रभु शक्ति अपने हाथों में समेट ली।

पेशवा और उनके सरदार काफी लंबे समय से मराठा राज्य के विस्तार में प्रमुख भूमिका निभाते चले आ रहे थे। 1740 के दशक में मराठों ने मालवा, गुजरात, बुंदेलखंड, उत्तर में अहीक, राजस्थान, दोआब, अवध, बिहार और उड़ीसा पर अपना अधिकार जमा लिया। आंद्रे विंक का मानना है कि ये सारी जीतें फितना (निमंत्रण पर आक्रमण) के तहत ही सम्पन्न हुई थीं। इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि 1740 के दशक के दौरान उत्तर में मराठा संप्रभुता

की स्थापना निर्णायक रूप में नहीं हो सकी थी और दक्षिण में भी इसकी स्थिति क्षणभंगुर और सीमित थी।

MAADHYAM IAS

चित्र-6 मराठा पेशवा अपने मंत्रियों के साथ

3.3.2 नागपुर के भोसले

परसोजी भोसले पूना जिला के एक गाँव के मुखिया परिवार का वंशज था। उसने पहली बार उत्तर-पूर्व में पेशवा से स्वतंत्र होकर चौथ वसूलना शुरू किया। 1707 में जब साहू मुगल दरबार से वापस आया, तो वह सबसे पहले उपस्थित होने वाले सरदारों में से एक था। साहू ने उसके बेरार अभियान को मान्यता दी और बालाजी विश्वनाथ ने भी बेरार, गोंडवाना और कटक पर उसके स्वतंत्र अधिकार को मंजूरी दे दी। 1743 ई. में साहू ने बिहार, उड़ीसा, बरार और अवध प्रांत की चौथ की वसूली का जिम्मा और सरदेशमुखी रघुजी भोसले को सौंप दिया। 1755 में रघुजी की मृत्यु के बाद पेशवा ने भोसले की शक्ति पर अंकुश लगाया और सरंजाम को तीन हिस्सों में बाँटकर उन्हें काफी हद तक कमजोर बना दिया।

3.3.3 बड़ौदा के गायकवाड़

18वीं शताब्दी के दौरान जिन मराठा सरदारों ने मुगलों के गुजरात प्रांत पर आक्रमण का नेतृत्व किया, उनमें प्रमुख थे —बांदे, पवार और दामादे। दामादे गायकवाड़ों के सेनापति थे, 1730 के आसपास उनकी शक्ति में वृद्धि हुई।

1727 ई. में गुजरात के मुगल सूबेदार ने साहू को पूरे गुजरात के भू-राजस्व के 10% की सरदेशमुखी और गुजरात के दक्षिण की चौथ वसूली का अधिकार दिया। इसके बदले में साहू को उस प्रांत की लुटेरों से रक्षा करनी थी।

साहू की मौत के बाद, 1749 में पेशवा ने गुजरात की चौथ और सरदेशमुखी अपने और दामादे के बीच बांट लिया। 1751 ई. में गायकवाडों ने दामादों की जगह संभाली और 1752 में बड़ौदा को अपनी राजधानी बनाया।

नागपुर के भोसले की तरह गायकवाड़ शासक सरंजामदार की हैसियत से काम करते रहे। ये इंतजामकार मात्र थे, राजा नहीं।

3.3.4 इंदौर के होल्कर

mar प्रदेश हिन्दुस्तान और दक्कन का राजनीतिक और वाणिज्यिक संधि-स्थल था, इस इलाके पर 1699 से ही मराठों का आक्रमण होता आ रहा था। 1716 में पहली बार नर्मदा के पास मराठा चौकी स्थापित हुई और उसके तुरंत बाद चौथ का दावा किया गया। 1738 में दरोहा सराय की जीत के बाद पेशवा को मालवा W उप-राज्यपाल बनाया गया। इस समय तक (1730 के दशक में ही) पेशवा ने चौथ की वसूली और सरदेशमुखी अपने और सिंधिया, होल्कर और पवार के बीच बांट ली थी। पेशवा का मालवा के पूर्वी हिस्से पर अधिकार था जबकि पश्चिमी हिस्से के वंशगत सरंजाम होकर, सिंधिया और पवार थे।

सिंधिया और गायकवाड़ की तरह होल्कर भी ग्रामीण वतनदार का वंशज था। 1733 में उन्हें इंदौर का भार सौंपा गया, जिसे उन्होंने अपने राज्य या दौलत के रूप में विकसित किया। हालांकि तकनीकी तौर पर यह एक सरंजाम ही रहा। अपने उत्कर्ष के दिनों में भी होल्कर पेशवा के प्रति वफादार रहे। 1788 और 1793 के बीच होल्कर और सिंधिया के बीच लगातार झड़पें होती रहीं। राज्य विस्तार की दृष्टि से होल्कर सिंधिया से काफी पीछे था।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

चित्र-7 एक सिंधिया प्रमुख

3.3.5 ग्वालियर के सिंधिया

18वीं शताब्दी के अंतिम ढाई दशकों के पहले तक ग्वालियर पर सिंधिया वंश का अधिकार नहीं था। इस परिवार ने मालवा में शक्ति अर्जित की थी और मुख्यालय उज्जैन था। सिंधिया भी पेशवा के अधीन सरंजामदार थे।

1761 के पानीपत के युद्ध में अपने पिता की सेना के सर्वनाश के बाद महादजी सिंधिया भाग खड़ा हुआ और उसने मालवा पर अपना अधिकार पुनर्स्थापित किया। मल्हार राव होल्कर की मृत्यु के बाद वह हिंदुस्तान का वास्तविक संप्रभु शासक बन गया। (देखें उपभाग 3.6.4 और 3.6.5).

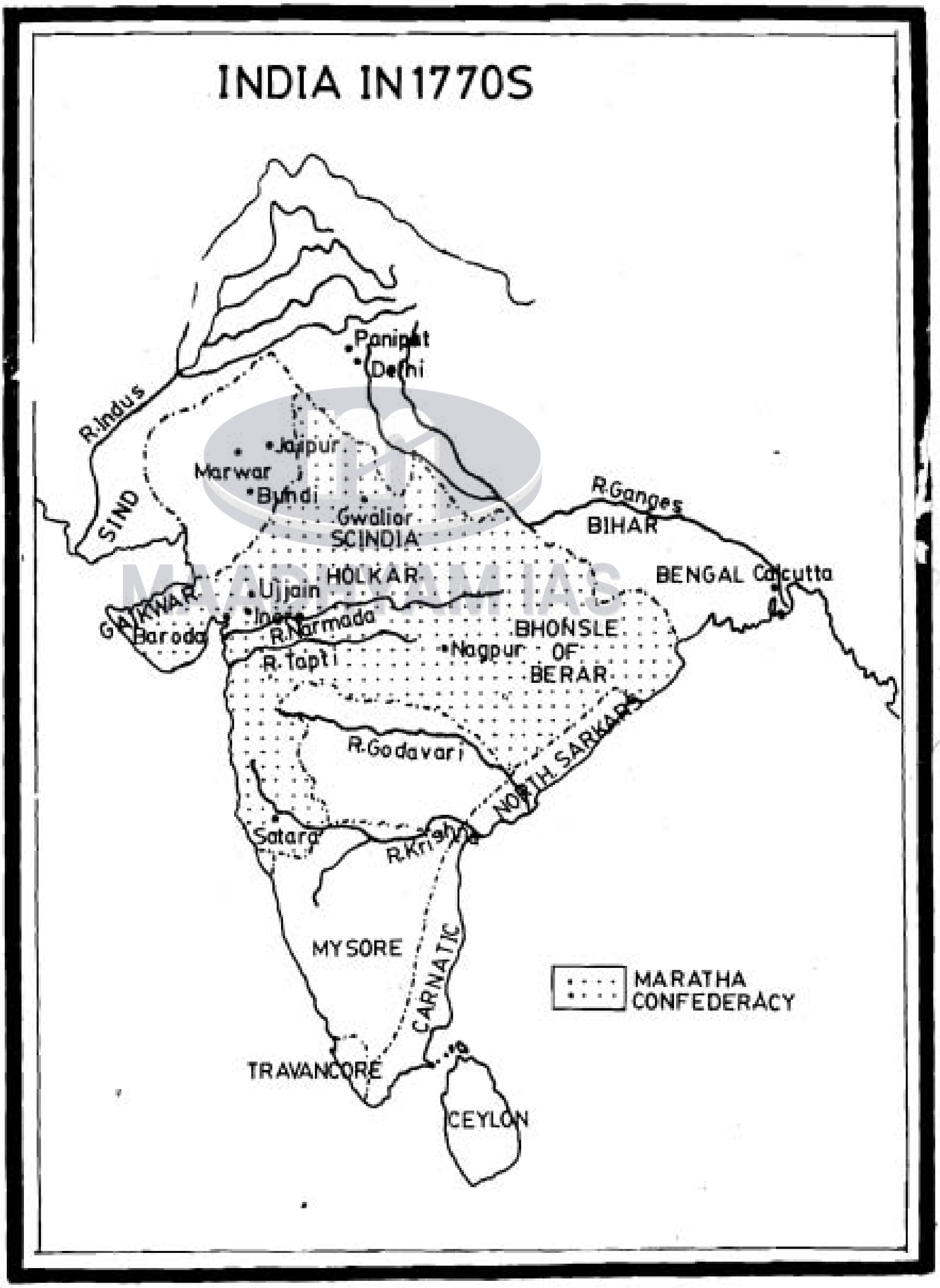

मानचित्र-4

बोध प्रश्न 2

1) 1780 के दशक में मुगल बादशाह और मराठा संबंध में मराठों की स्थिति क्या थी?

....

....

....

....

2) पेशवा और मराठा सरंजामदारों ने किस हद तक मराठा राज्य का विस्तार किया?

....

....

....

....

....

3.4 संस्थागत विकास

मुगल कभी भी सही ढंग से महाराष्ट्र पर अधिकार नहीं जमा सके थे। महाराष्ट्र की परंपरागत प्रशासनिक और सम्पत्ति व्यवस्था अबाध गति से 18वीं शताब्दी तक कायम रही।

3.4.1 प्रशासनिक संरचना

मराठा राज्य को मोटे तौर पर अनियंत्रित और नियंत्रित इलाकों में बांटा जा सकता है।

अनियंत्रित इलाकों के अधीन राज्य का वह हिस्सा आता था, जो जमींदारों, स्वायत्त और अर्द्धस्वायत्त सरदारों के अधीन था। ये सरदार आंतरिक प्रशासन के मामले में स्वायत्त थे। राजा इस इलाके से नजराना वसूल किया करता था, पर भू-राजस्व की तरह (नियंत्रित इलाके में) इनकी राशि निश्चित नहीं थी। सरदार की शक्ति से नजराने की राशि तय होती थी। मजबूत सरदार कम नजराना दिया करते थे, जबकि कमजोर सरदारों को अधिक भुगतान करना पड़ता था।

नियंत्रित इलाकों या प्रत्यक्ष प्रशासन वाले इलाकों में राजस्व निर्धारण, प्रबन्धन और लेखा की समुचित व्यवस्था थी। यह इलाके वतनदारों (शब्दावली देखें) को सौंप दिए गये थे। देशमुख देशपांडे के अधीन 10 से लेकर 100 गाँव होते थे। वतनदार व्यवस्था के अंतर्गत अधिकार किसी व्यक्ति विशेष को नहीं, बल्कि कुल या परिवार को सौंपे जाते थे। वतनदारों का भूमि की उपज पर सामूहिक हिस्सा होता था, इसके अतिरिक्त उन्हें कुछ अधिकार प्राप्त थे, जैसे खेतिहरों से बतौर वेतन बकाया वसूली तथा सरकार की राजस्व मुक्त भूमि में हिस्सा। वतन के हिस्सों के बंटवारे में जमीन का बंटवारा नहीं होता था, बल्कि उपज का बंटवारा होता था। सैद्धांतिक तौर पर, किसी भी वंशानुगत संपदा को बेचने का अधिकार मान्य था।

कृषीय, वित्तीय या प्रशासनिक संकट के दौरान यह नियंत्रण ढीला किया जा सकता था और राजस्व वसूली में जमींदारों को थोड़े समय के लिए स्वतंत्रता दी जा सकती थी।

जोतदार दो तरह के होते थे। (क) पहली श्रेणी के जोतदार को मिरासदार कहते थे। ये स्थायी जोतदार होते थे, जिनके पास वंशानुगत मिल्कियत होती थी। (ख) दूसरी श्रेणी के जोतदारों को उपरिस कहते थे। ये अस्थायी जोतदार होते थे। दक्षिण महाराष्ट्र और गुजरात की जोतदारी व्यवस्था और भी जटिल थी।

18वीं शताब्दी में भी अधिकांश नियंत्रित इलाकों में परंपरागत रूप से चले आ रहे निर्धारण मानदंड ही कायम रहे। पेशवा के अधीन तंखा राजस्व निर्धारण का आधार था। यह प्रत्येक गाँव के लिए एक स्थायी निर्धारण-मानदंड था।

1750 के दशक के अंत और 1760 के दशक के दौरान कमल (या समापन) बंदोबस्त लागू किया गया। इसने तंखा बंदोबस्त के पूरक का काम किया और इसके अधीन नयी जोती गयी भूमि भी शामिल कर ली गई। यह भूमि की उर्वरता के निर्धारण और वर्गीकरण पर आधारित था और उपज में राजा का 1/6 हिस्सा होता था।

एक बार ग्रामीण कर निर्धारण (तंखा या कमल) का आंतरिक वितरण तय हो जाने पर, बाकी कार्य पाटिल (गाँव का मुखिया) या पूरे गाँव के जिम्मे छोड़ दिया जाता था। नियमित भू-राजस्व के अतिरिक्त सरकार कई अन्य कर लगाती थी (गाँव के खर्च के मद में), जिसका लेखा-जोखा गाँव और जिला पदाधिकारी को कम विस्तार या ममलतदार कहते थे।

अठारहवीं शताब्दी के दौरान, दक्कन, दक्षिणी मराठा ग्रामीण इलाकों, गुजरात, मध्य भारत और नागपुर में सालाना बंदोबस्त का रिवाज था।

1790 और 1810 के दशक में, जब पेशवा को सेना के खर्च और अंग्रेज़ों को भुगतान करने के लिए अधिक धन की जरूरत पड़ने लगी, तो राजस्व में बढ़ोत्तरी की गयी और सरकार की मांग में वृद्धि हुई।

महाराष्ट्र में एक चौथाई से ज्यादा राजस्व का भुगतान नगदी नहीं किया जाता था। अधिकतर, इस राजस्व को हुंडी (विनिमय-पत्र) के माध्यम से गाँव से जिला और जिले से पूना भेज दिया जाता था।

सैद्धांतिक तौर पर उत्तरी सरंजाम राज्यों (होलकर, सिंधिया, ग्वालियर और भोसले) की प्रशासनिक व्यवस्था पेशवा की प्रशासनिक व्यवस्था का प्रतिरूप थी। इन राज्यों में केवल दीवान और पर्यवेक्षक पदाधिकारी अतिरिक्त होता था, जिसकी नियुक्ति पूना से होती थी।

3.4.2 दीर्घकालिक प्रवृत्तियाँ

14वीं-15वीं शताब्दी से पूरे उत्तर और पश्चिमी दक्कन मध्य प्रांतों, गुजरात और राजस्थान में कुछ घरानों ने पदों और अधिकारों पर कब्जा करके तेजी से शक्ति अर्जित की और अपने प्रभाव को बढ़ाते हुए राज्यों का निर्माण किया।

17वीं शताब्दी के महाराष्ट्र के बड़े घरानों (मसलन भोसले) ने प्रशासनिक ढाँचे में परिवर्तन किया। वित्तीय और सैन्य क्षेत्रों में भी बदलाव आया। नये सिरे से भूमि सर्वेक्षण किया गया। नगद राजस्व की वसूली होने लगी, लेखा-जोखा का नया ढंग विकसित हुआ।

MAADHYAM IAS

राज्य की केंद्रीकृत शक्तियों और स्थानीय किसानों के संगठनों के बीच तनाव की स्थिति बनी रहती थी। राज्य की मांग को विरोध करने के लिए अक्सर वतनदार सभाएँ (गोता) बुलाई जाती थीं। 17वीं शताब्दी में ये सभाएँ लोकप्रिय प्रतिरोध का केन्द्र थीं। 18वीं शताब्दी में क्षेत्रीय और ग्रामीण मुखियाओं की सत्ता और शक्ति क्षीण हुई और नयी प्रशासनिक व्यवस्था सामने आयी।

ऊपर जिन घरानों का जिक्र किया गया है, उनकी आर्थिक शक्ति भूमि, श्रम और पूँजी के नियंत्रण पर आधारित थी। यही माध्यम शाही दरबार और स्थानीय किसान को जोड़ने का कार्य करता था।

बोध प्रश्न 3

1) नियंत्रित और अनियंत्रित इलाकों में क्या अंतर है?

....

....

....

....

....

2) वतनदार और राजस्व निर्धारण (कमल) को संक्षेप में समझाएँ।

....

....

....

....

....

3) सरंजाम राज्यों और पेशवा की प्रशासनिक व्यवस्था की तुलना करें।

....

....

....

....

....

3.5 समाज और अर्थव्यवस्था

3.5.1 खेतिहर समाज

18वीं शताब्दी तक आते-आते मराठा ग्रामीण राजनीतिक व्यवस्था पूरी तरह स्थापित हो चुकी थी। इसका मतलब यह हुआ कि कृषीय बस्तियों और जनसंख्या में भी विस्तार आ चुका था।

पूना के आसपास का इलाका असिंचित था और यहाँ जनसंख्या भी अपेक्षाकृत विरल थी। तत्कालीन तकनीकी विकास को ध्यान में रखें तो यह इलाका 18वीं शताब्दी के मध्य में अपने विकास के छोर पर था। इसी से पता चलता है कि क्यों मराठे दक्षिण में तंजोर, गुजरात और उत्तर में गंगा की घाटी जैसे स्थायी खेतिहर इलाकों पर कब्जा जमाने का प्रयत्न करते थे।

करों में हो रही वृद्धि और अन्य जिम्मेदारियों को पूरा करने के लिए उत्पादन बढ़ाने पर भी जोर दिया गया।

इस क्षेत्र में मराठा शासकों ने दो कदम उठाए। सबसे पहले उन्होंने रिआयती निर्धारण (इस्तवा), करों की माफी और कर्जों को सुनियोजित किया। इससे नयी भूमि पर खेती संभव हो सकी। दूसरे कदम के तहत कृषि संसाधनों के विकास के लिए लोगों को प्रोत्साहित किया गया। उदाहरण के तौर पर, शिवाजी के शासनकाल में पुराने बांध की मरम्मत और नये बांध के निर्माण के लिए गाँव के मुखिया को इनाम में भूमि दी गयी थी।

इतिहासकार फुकुजावा ने बताया है कि मराठा शासकों के इन उपायों (राज्य द्वारा कृषि का विस्तार, राजस्व व्यवस्था आदि) के कारण कृषकों के बीच एक प्रकार की आर्थिक विषमता का जन्म हुआ। उन्होंने बताया है कि लोगों के पास 18 एकड़ से लेकर 108 एकड़ तक जमीन थी। उनके अनुसार 1790 से 1803 के बीच छोटे जोत पूरी तरह लुप्त हो गये। दूसरी ओर बड़े भूमिपतियों की संख्या में वृद्धि हुई।

18वीं शताब्दी तक आते-आते जनसंख्या, कराधान और खाद्यान्न की कीमत में वृद्धि होने से कृषकों के शोषण में वृद्धि हुई।

इस तथ्य के अनेक प्रमाण उपलब्ध है कि मंत्रियों, देशमुखों और सरंजाम प्राप्त सैनिक अधिकारियों, व्यापारियों, महाजनों जैसे गैर उत्पादक वर्ग का कृषि पर प्रभुत्व बढ़ता गया। इनमें से कई एक ही साथ कई भूमिकाएँ निभाते थे। इस प्रकार देहाती इलाकों में शनैः-शनैः सामाजिक विषमता बढ़ती गई।

ग्रामीण स्रोत पर नियंत्रण रखने के तीन तरीके थे —कर, इनाम, भूमि और वंशानुगत पद।

3.5.2 नगदी व्यवस्था

हम जिस काल का अध्ययन कर रहे है उसमें दक्षिणी दक्कन, बंगाल, बिहार और गुजरात के

तर्ज पर महाराष्ट्र की अर्थव्यवस्था में मुद्रा के निर्माण और नगदी फसलों के उत्पादन में वृद्धि हुई और बाजारों से इनका संबंध स्थापित हुआ।

17वीं-18वीं शताब्दी में शहरी और देहाती इलाकों में कर्ज देने वाली संस्थाएँ कार्यरत थीं। ये संस्थाएँ कर्ज से लदे कुलीन वर्ग और किसानों को ऋण देने के साथ-साथ, रोजाना के आर्थिक कार्यकलापों में भी हिस्सा लेती थीं। 18वीं शताब्दी के दौरान पश्चिमी दक्कन में तांबे और कौड़ियों का आयात सक्रिय और विकसित नगदी स्थानीय बाजारी केन्द्रों की मौजूदगी की ओर संकेत करता है।

पश्चिमी दक्कन के ग्रामीण बाजारों में ही नगदी का आदान-प्रदान नहीं होता था, बल्कि खेतिहर मजदूरों की रोजाना और मासिक मजदूरी, हस्तशिल्प उत्पादन और घरेलू कार्यों के लिए भी नगद भुगतान किया जाता था।

छोटे बाजारी शहरों, महत्वपूर्ण सरदारों के रिहायशी मकानों और बड़े नगरों में भी बड़े और छोटे टकसाल देखने को मिलते थे।

वस्तुत: 18वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में प्रचलित ग्रामीण नगदी व्यवस्थाओं की सूचना बड़े पैमाने पर मिलती है। महाराष्ट्र में किसानों, खेतिहर मजदूरों, शिल्पियों और सैनिकों द्वारा नगद और वस्तु में कर्ज लेने के भरपूर प्रमाण उपलब्ध हैं। कर्ज लेने और उसे लौटाने से संबंधित लिखित दस्तावेज भी उपलब्ध हुए हैं। इससे पता चलता है कि साधारण व्यक्ति भी इस व्यवस्था से पूरी तरह परिचित था।

बोध प्रश्न 4

1) 18वीं शताब्दी के अंतिम वर्षों में कृषकों का शोषण कैसे बढ़ा ?

....

....

....

....

....

MAADHYAM IAS

2) नगदी स्थानीय बाजारों के संकेतों का उल्लेख करें।

....

....

....

....

....

3.6 अन्य राज्यों के साथ मराठों के संबंध

3.6.1 बंगाल

1740 ई. में नादिरशाह के आक्रमण और अलीवर्दी खाँ की मृत्यु के शीघ्र बाद बंगाल, बिहार और उड़ीसा के मुगल प्रांत के नवाब ने अपने प्रतिद्वंदियों के खिलाफ पेशवा से मदद मांगी। प्रतिद्वंद्वी दल को रघुजी भोंसले का समर्थन प्राप्त था। इस सहायता के बदले 1743 में इस इलाके का चौथ पेशवा को सौंप दिया गया। हालाँकि, बाद में रघुजी भोंसले की अपील पर साहू ने बंगाल, बिहार और उड़ीसा का चौथ और सरदेशमुखी रघुजी भोंसले को सौंप दिया।

1751 की संधि के तहत नवाब ने नागपुर के भोंसले को बंगाल, बिहार और उड़ीसा के चौथ के रूप में 12 लाख रुपया देना स्वीकार किया।

3.6.2 हैदराबाद

दक्कन के वायसराय के रूप में 1715 से 1717 तक निजाम ने दक्कन में मराठों के चौथ और सरदेशमुखी के दावे का लगातार विरोध किया और दोनों पक्षों में बराबर संघर्ष होता रहा। 1720 के आसपास उसने कृषि और राजस्व पदाधिकारियों को मराठों द्वारा वसूली को रोकने के लिए प्रोत्साहित किया। 1724 में उसने पेशवा को इस वसूली की अनुमति दे दी। इसके एवज में पेशवा को निजाम के विरोधियों से उसकी रक्षा करनी थी। 1725–26 में मराठों द्वारा कर्नाटक पर आक्रमण करने के बाद यह संधि टूट गयी। अतः निजाम ने दक्कन सूबे की राजस्व वसूली का जिम्मा कोल्हापुर के सांभाजी को सौंप दिया। 1728 में पेशवा ने पालखेड में निजाम को हरा दिया, इसके बाद ही निजाम कोल्हापुर से संबंध समाप्त करने के लिए तैयार हुआ।

1752 में पूना और हैदराबाद के बीच का संघर्ष अपनी चरम सीमा पर था, इस समय गोदावरी और ताप्ती के बीच बरार के पश्चिमी हिस्से पर मराठों ने कब्जा जमा लिया।

3.6.3 मैसूर

मराठों ने अपना क्षेत्र तुंगभद्र तक फैला लिया था और मैसूर के हैदरअली और टीपू सुल्तान से उनका बराबर संघर्ष होता रहता था। उन्होंने 1726 ई. में मैसूर से नजराना भी वसूल किया था। 1764–65 और 1769–72 में पेशवा ने हैदरअली के खिलाफ सफल अभियान किया और 1772 की संधि के अनुसार हैदर के हाथ से तुंगभद्र का दक्षिणी क्षेत्र निकल गया।

1776 के बाद, हैदरअली ने मराठा राज्य के कृष्णा-तुंगभद्र दोआब इलाके पर आक्रमण किया। 1780 में आकर ही अंग्रेजों के खिलाफ मैसूर और मराठों के बीच अल्पकालीन संधि हुई।

3.6.4 राजस्थान

इस इलाके में मराठों ने नियमित प्रत्यक्ष प्रशासन स्थापित नहीं किया। हालाँकि 18वीं शताब्दी के तीसरे-चौथे दशक के दौरान मराठों ने राजपूत राज्यों, खासकर बूंदी, जयपुर और मारवाड़ के अंदरूनी कलह में कभी-कभी हस्तक्षेप किया।

MAADHYAM IAS
way to achieve your dream

1735 में बाजीराव के राजस्थान जाने के पूर्व केवल छोटे राज्य मराठों को चौथ देते थे, पर अब उदयपुर और मेवाड़ ने भी चौथ देना स्वीकार किया। पानीपत के युद्ध के बाद मराठों की बिगड़ी स्थिति के कारण यह चौथ कुछ दिनों तक स्थगित रहा, पर पुनः होल्कर और उसकी मृत्यु के बाद सिंधिया, पेशवा और बादशाह के प्रतिनिधि के रूप में चौथ की वसूली करते रहे।

3.6.5 मुगल शासक

जब 1752 ई. में अहमदशाह अब्दाली ने लाहौर और मुल्तान पर कब्जा जमा लिया, तब मुगल बादशाह ने मराठों से रक्षा के लिए मदद मांगी। 1752 ई. में बादशाह ने एक संधि के तहत मल्हार राव होल्कर और जयप्पा सिंधिया को पंजाब और सिंध और दोआब के चौथ के साथ-साथ अजमेर और आगरा की सूबेदारी देने का वादा किया। इसके एवज में होल्कर और सिंधिया को बाहरी दुश्मनों और षडयंत्रकारियों से मुगल बादशाह की रक्षा करनी थी। पर 1761 के पानीपत के युद्ध में मराठे अहमदशाह अब्दाली के सामने टिक नहीं पाये और उनकी पराजय हुई। पंजाब और राजस्थान उनके कब्जे में नहीं रहा।

1784 में शाहआलम ने दिल्ली और आगरा की प्रशासन व्यवस्था में परिवर्तन किया और मासिक भत्ता लेकर दिल्ली और आगरा का भार सिंधिया पर सौंप दिया। पेशवा को रिजेंट (Regent) और सिंधिया को डिपुटी रिजेंट (Deputy Regent) की उपाधि प्रदान की गई। इसी बीच रोहिल्ला सरदार गुलाम कादिर खाँ ने शाहआलम को अपदस्थ कर दिया, पर शीघ्र ही सिंधिया ने रोहिल्ला सरदार को निकाल बाहर किया और पुनः शाहआलम ने सिंधिया को उपाधि वापस कर दी।

इस उपलब्धि से सिंधिया को कोई खास शक्ति नहीं मिली; क्योंकि अधिकांश मुगल सरदार बादशाह के नियंत्रण में नहीं थे। अत:, सिंधिया ने राजपूतों पर अपना दबाव बढ़ाना शुरू किया।

3.6.6 ईस्ट इंडिया कम्पनी

1739 में मराठों ने पुर्तगालियों से बेसिन छीन लिया। इसके बाद कम्पनी की बम्बई शाखा ने बंगाल की किलेबंदी करने का निश्चय किया। उन्होंने साहू के साथ संधि की, जिसके तहत मराठा राज्य में अंग्रेज़ों को मुक्त व्यापार करने की छूट मिल गयी।

मराठा राज्य संघ (पेशवा और बरार और सतारा के राजा) के विभिन्न गुटों और पेशवा परिवार की अन्दरूनी लड़ाई का फायदा कम्पनी ने उठाया और वह मराठा राज्य के मामले में हस्तक्षेप करने लगी।

इकाई 10 में कम्पनी के षड्यंत्र और उनकी सरंजामदारों के पतन के कारणों और घटनाओं पर विस्तार से चर्चा की जाएगी।

बोध प्रश्न 5

1) क्षेत्रीय शक्तियों और ईस्ट इंडिया कम्पनी के साथ मराठों के संबंध का उल्लेख करें।

....

....

....

....

....

....

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

3.7 सारांश

इस इकाई में हमने निम्नलिखित मुद्दों पर विचार-विमर्श किया:

- मराठा राज्य व्यवस्था पर नवीन इतिहास लेखन
- मराठा राज्य संघ का उदय और इसके राज्य का विस्तार, जो मुगल शासन के ढाँचे में विकसित हुआ।
- मराठा राज्य के संस्थानों का विकास। इस बात का भी संकेत किया गया कि इतिहासकार मराठा राज्य की संपत्ति और प्रशासन संबंधी प्रक्रिया को एक वृहद पैमाने पर देखने की कोशिश कर रहे हैं जिसकी शुरुआत 15वीं शताब्दी से हो रही थी। वे इस विकास को मराठा राज्य काल की अवधि तक ही सीमित नहीं रख रहे हैं।
- खेतिहर समाज की प्रकृति और नगदीकरण की प्रक्रिया।
- क्षेत्रीय शक्तियों और ईस्ट इंडिया कम्पनी के साथ मराठों का संबंध।

3.8 शब्दावली

देशमुख: जिला जमींदार

देशपांडे: वंशानुगत जिला लेखपाल

फितना: फितना (मराठी): विद्रोह, बगावत
(अरबी-फारसी) विश्वासघात

वतन (दार): वंशानुगत प्राप्त अधिकार (का अधिकारी)

सरंजाम: भूमि या भू-राजस्व का जिम्मा।

3.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) देखें भाग 3.2
   इस प्रश्न के अन्तर्गत आप उल्लेख करें कि किस प्रकार आपसी संघर्ष का लाभ उठाया जाता था इसमें कभी दमन नीति अपनायी जाती थी, कभी मेल मिलाप की।

2) देखें भाग 3.2
   इस प्रश्न के अन्तर्गत क) राज्य के दीर्घावधि विकास और ख) परम्परागत राष्ट्रों की संरचना में सुधार, का उल्लेख कर सकते हैं।

बोध प्रश्न 2

1) देखें भाग 3.3
2) देखें उपभाग 3.3.1 से 3.3.5
   उपभाग 3.6.4 और 3.6.5 भी देखें

बोध प्रश्न 3

1) देखें उपभाग 3.4.1
2) क) और ख) देखें उपभाग 3.4.1
3) देखें उपभाग 3.4.1
4) देखें उपभाग 3.4.2

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

बोध प्रश्न 4

1) देखें उपभाग 3.5.1
2) क) और ख) देखें उपभाग 3.5.2

बोध प्रश्न 5

1) देखें उपभाग 3.6.1 से 3.6.6

इकाई 4 मैसूर और हैदराबाद

इकाई की रूपरेखा

4.0 उद्देश्य
4.1 प्रस्तावना
4.2 मैसूर
4.3 युद्ध और सैन्यीकरण
    4.3.1 स्थानीय सरदार
    4.3.2 18वीं शताब्दी के प्रयास
4.4 प्रशासन
4.5 वित्त
    4.5.1 भूमि से प्राप्त राजस्व
    4.5.2 व्यापार से प्राप्त राजस्व
4.6 हैदराबाद
4.7 भू-राजस्व प्रणाली
4.8 संरक्षक और उनके आश्रित
4.9 स्थानीय सरदार
4.10 वित्तीय और सैनिक समूह
4.11 प्रशासनिक प्रणाली
4.12 सारांश
4.13 शब्दावली
4.14 बोध प्रश्नों के उत्तर

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

4.0 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य है:

- आप यह समझ सकें कि 18वीं शताब्दी में मैसूर और हैदराबाद के राजनीतिक निर्माण की प्रक्रिया किस तरह चली,
- यह दिखाना कि यह प्रक्रिया दोनों क्षेत्रों में किस तरह अलग-अलग थी, और
- दोनों प्रक्रियाओं की भिन्नता के कारणों की तरफ इशारा करना।

4.1 प्रस्तावना

इस इकाई में हम आपको मुगलों का प्रभुत्व कम होने के बाद की दक्षिण भारत की स्थिति के बारे में बताएंगे। हमारा खास ध्यान मैसूर और हैदराबाद के राज्यों के उदय पर केंद्रित होगा। हम यहाँ देखेंगे कि पहले की राजनीतिक संस्थाओं के बने रहने के बावजूद गठित होने वाले राज्यतंत्रों में कुछ बुनियादी बदलाव हुए। मैसूर और हैदराबाद में ऐसा कई तरीकों से हुआ। जब हैदराबाद में मुगल राजनीतिक संस्थाएँ कमजोर पड़ गयी और उनका इस्तेमाल क्षेत्र की स्थिति को मजबूत करने के लिए होने लगा तो दूसरी तरफ मैसूर में वोडयार वंश को उखाड़ फेंका गया और उसकी जगह एक मजबूत और सुधरे प्रशासन का गठन हुआ। शुरुआत में इन दोनों ही प्रक्रियाओं ने 18वीं शताब्दी के मध्य दशकों में स्वायत्ता की स्थिति को जन्म

दिया। इस इकाई का यही विषय है। दोनों ही मामलों में, 18वीं शताब्दी का अंतिम दशक आते-आते स्वायत्तता या तो धीरे-धीरे बिखर गयी या उसे अंग्रेज़ों ने जबरन खत्म कर दिया।

4.2 मैसूर

मैसूर राज्य हैदराबाद के दक्षिण में था (देखिए मानचित्र)। 18वीं शताब्दी में, वोडयार से लेकर टीपू सुल्तान तक, मैसूर के सभी शासकों को एक ओर तो मराठों के विस्तारवाद की चुनौती का सामना करना पड़ा तो दूसरी ओर हैदराबाद और कर्नाटक के विस्तारवाद की चुनौती से निपटना पड़ा और अंग्रेज़ों ने इस स्थिति का फायदा उठाया। 18वीं शताब्दी की जो जानी-मानी हस्तियाँ थी उनमें एक टीपू सुल्तान था जो अंग्रेज़ों की बढ़ती ताकत से टक्कर लेने वाला एक लोक नायक बन गया और अंग्रेज उसे सत्ता हथियाने की राह का कांटा मानते थे। मैसूर को विजय नगर साम्राज्य की वाइसरायी से बदल कर वोडयार वंश ने उसे एक स्वायत्तशासी राज्य बना दिया। अब मैसूर को दक्षिण भारत में एक बड़ी ताकत के रूप में स्थापित करने का उत्तरदायित्व हैदरअली और उसके बेटे टीपू सुल्तान पर था। हैदर मामूली खानदान से था और उसके समय के उसके विरोधी अंग्रेज़ उसे अक्सर उपहारी (या, हड़प लेने वाला) कहते थे — इस बात का असर बाद के इतिहासकारों में भी देखने को मिलता है। लेकिन वह उसी मायने में उपहारी था जिस मायने में मैसूर का वह प्रधान मंत्री या दलवई उपहारी था जिसकी जगह हैदर आया था। दलवई ने नामधारी वोडयार राजा का वजूद ही शून्य कर दिया था और अपने पहले के दलवई, नंजराज की तरह हैदर ने भी राज्य की सेवा करने वाले एक कर्मचारी की हैसियत से शुरुआत की। उसने सेना को मजबूत करने, बेलगाम स्थानीय सरदारों या पोलीगरों को काबू में करने और बेदनोंव, सुंडा, सेवा, कनारा और गुटी को अधीन करने में अपनी सैनिक प्रतिभा दिखायी। उसकी जीत का सबसे महान क्षण वह था जब उसने अंग्रेज़ी सेनाओं को मद्रास के अंदर पाँच मील तक खदेड़ कर 1769 में उन्हें संधि के लिए मजबूर कर दिया। आप हैदर और टीपू सुल्तान के सैनिक और राजनयिक कारनामों के बारे में विस्तार से खंड तीन में अध्ययन करेंगे। इस इकाई में हम यह अध्ययन करेंगे कि मैसूर एक बड़ी क्षेत्रीय ताकत के रूप में कैसे मजबूत और स्थापित हुआ।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

4.3 युद्ध और सैन्यीकरण

युद्ध और उसके साथ सैन्यीकरण की अहमियत मैसूर के इतिहास में और भी पहले से दिखायी देती है। इतिहासकार स्टाइन के अनुसार सैन्यीकरण की परंपरा ऐतिहासिक विजयनगर साम्राज्य में 16वीं शताब्दी से देखी जा सकती है। दक्षिण भारत में सबसे पहले विजयनगर ने ही स्थानीय राजाओं और दूसरी बाहरी ताकतों पर अपना कब्जा कायम करने की गरज से आग्नेयास्त्रों (बंदूक, पिस्तौल जैसे हथियारों) का इस्तेमाल किया था।

4.3.1 स्थानीय सरदार

यह समझने के लिए कि मैसूर में बहुत पहले सैन्यीकरण क्यों जरूरी हो गया था, स्थानीय सरदारों की भूमिका को समझना अहमियत रखता है। स्थानीय सरदार, खास तौर पर, पोलीगर, जंगलों के शिकारी संग्रहकर्ता समूहों के वंशज थे जिन्होंने सैनिक कौशल हासिल कर लिया था और विजयनगर साम्राज्य की सैनिक सेवा में स्थानीय महत्व की राजनीति भी सीख ली थी। 18वीं शताब्दी आते-आते उनमें से अधिकांश ने दो मुख्य माध्यमों से ताकत हासिल कर ली थी — (क) राजस्व का कब्जा और अपनी भूमियों पर खेती से मिलने वाला अंशदान, और (ख) उनके अपने संप्रदाय के मंदिरों के पुरोहितों का समर्थन। इसके अलावा इस तथ्य ने भी इस दिशा में काम किया कि मंदिर व्यापार के केंद्र भी थे और उन्होंने स्थानीय सरदारों को ताकत हथियाने में मदद की जिससे वे मैसूर के किसी भी केंद्रीकृत राज्य के विकास

को प्रभावित कर सकें। इसका यह भी अर्थ हुआ कि मैसूर और पोलीगारों के बीच ताकत और सैनिक बल का टकराव मैसूर में किसी राजतंत्र को स्थापित करने में निर्णायक कारक होता।

4.3.2 18वीं शताब्दी के प्रयास

इस टकराव की शुरुआत 18वीं शताब्दी में चिक्कदेव राजा वोडयार (1672–1704) ने की। उसके अधीन मैसूर अभूतपूर्व सैन्यीकरण की ओर बढ़ा। इस बढ़ी सैनिक क्षमता को बनाये रखने के लिए उसने राज्य के अधिकारियों के द्वारा इकट्ठे होने वाले आम राजस्व को बढ़ा दिया और उसके सैनिकों के पास जो भूमि थी उसे राजस्व करों से मुक्त कर दिया।

हैदर अली जो धीरे-धीरे मैसूर प्रशासन की सीढ़ियाँ चढ़ता ऊपर तक जा पहुँचा था, उसने अपने आपको ठीक इसी तरीके से मजबूत किया। उसने भूमि के बड़े हिस्सों को महत्वाकांक्षी योद्धाओं के हाथों नीलाम कर दिया, जिन्होंने राजस्व किसानों की हैसियत से स्थानीय सरदारों पर राजस्व लाद दिया। हैदर अली ने इन सरदारों का स्वाधीनता का कोई दावा नहीं माना और अगर किसी ने विरोध करने की कोशिश की तो उसे उसकी भूमि से ही खदेड़ दिया। इन सरदारों की गतिविधियों के क्षेत्र को सीमित करके हैदर ने फिर उनके स्थानीय प्रभुत्व को तोड़ा। उसका बेटा, टीपू सुल्तान पोलीगारों को अधीन बनाने में और भी आगे बढ़ा। उन्हें निकाल देने के बाद उसने उनकी भूमि को या तो निजी क्षेत्र के व्यक्तियों को या फिर सरकारी अधिकारियों को किराये पर उठा दिया। इसके अलावा, टीपू सुल्तान ने अपने सैनिकों को युद्ध की लूट में हिस्सा देने की जगह उन्हें नियमित तनख्वाह देनी शुरू कर दिया, जिससे यह तय हो गया कि सेना में स्थानीय सरदारों के साथ सांठ-गांठ वाला कोई स्वार्थी तत्व सर न उठा सके।

कुछ मायनों में हैदर और टीपू ने सेना के संगठन की कुछ कमजोरियों को भी खत्म करने की कोशिश की। उन्होंने संगठन में यूरोपीय ढंग से अनुशासन को और मजबूत बनाने की कोशिश की। उन्होंने संगठन में यूरोपीय ढंग से अनुशासन को और मजबूत बनाने की कोशिश की।

MAADHYAM IAS

चित्र-8 युद्ध और सैन्यीकरण का एक चित्रण (श्रीरंगपट्टम की लड़ाई)

इसके लिए उन्होंने फ्रांसीसी सैनिकों की भर्ती की और उनसे सैनिकों को विशेष प्रशिक्षण देने का काम लिया। हमारे पास हैदर के अधीन फ्रांसीसी सेनापति द ला तूर की सेवा का ब्योरा उपलब्ध है, जिससे पता चलता है कि 1761 तक मैसूर सेना में फ्रांसीसी लोगों की गिनती काफी बढ़ गयी थी। इससे पैदल सेना और तोपचियों के प्रशिक्षण में मदद मिली होगी। दूसरी बात यह है कि, इससे आधुनिक यूरोपीय आग्नेयास्त्रों और तोपों के उपयोग के लिए एक माहौल भी तैयार हुआ। उपर्युक्त विचार इतिहासकार संजय सुब्रहमण्यम का है, जिन्होंने वोडयार मैसूर के युद्ध का विशेष अध्ययन किया है।

4.4 प्रशासन

हैदर और बाद में टीपू की एक और उपलब्धि थी प्रशासन के ढाँचे में मजबूती। असल में हैदर और टीपू ने वोडयारों के पुराने प्रशासन के साथ छेड़छाड़ नहीं की। उन्होंने सेना और राजस्व से लेकर सूचना तक प्रशासन के 18 विभागों को बनाये रखा। अपनी क्षमता दिखाने वाले खांडे राव, वेंकटप्पा या मीर सादिक जैसे सर्वोच्च अधिकारियों को राजनीतिक खींचतान के बावजूद साथ रखा गया। असल में रद्दोबदल उसी समय की गयी जब ऐसे बड़े अधिकारी पैसों की गड़बड़ी में पकड़े गये। ब्रिटिश प्रशासन टामस मुनरो का यह मत था कि हिंदू या मुसलमान देशी शासक के अधीन व्यक्तिगत दौलत और महत्वाकांक्षा पाने की जो गुंजाइश थी उसे देखते हुए ही समाज के कुलीन वर्गों ने कंपनी की सेवा के "विनम्र मामूलीपन" की जगह देसी शासकों के साथ जुड़ना पसंद किया।

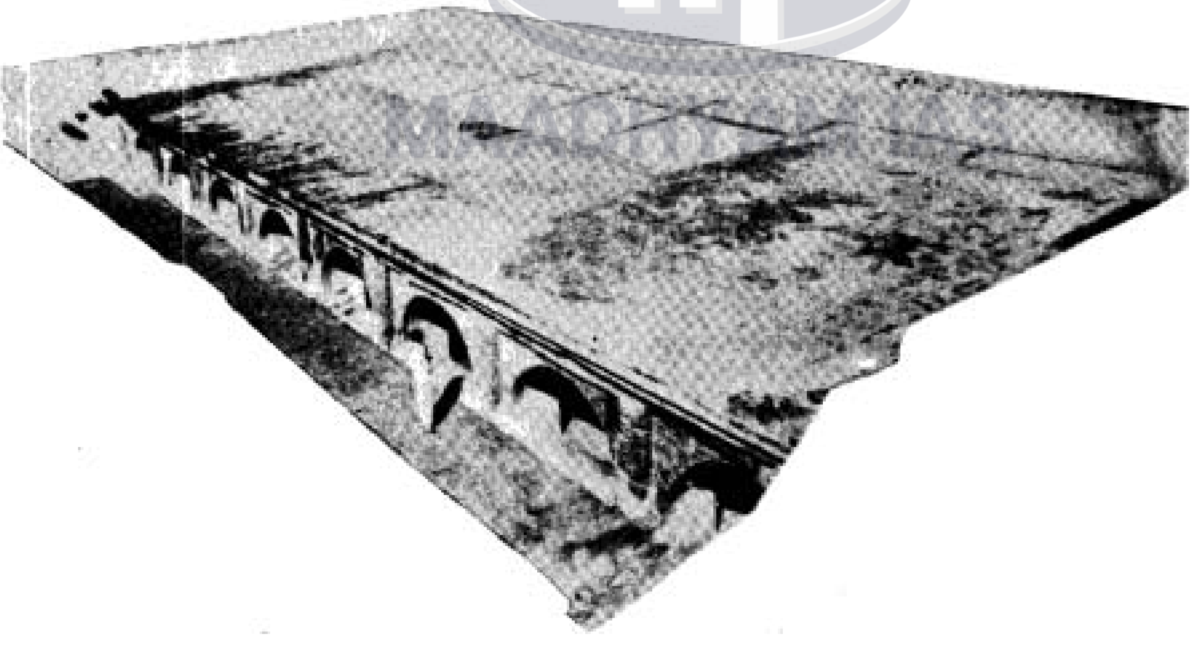

चित्र-9 श्रृंगोपट्टन का जेल

4.5 वित्त

बहरहाल, हैदर और टीपू के अधीन मैसूर प्रशासन की खास बात थी राज्य चलाने के लिए अपने वित्तीय संसाधनों में बढ़ोतरी करके अपने सैनिक राजनीतिक अधिकार का आधार तैयार करना। इसके लिए, 18वीं शताब्दी के मैसूर के वित्त और उत्पादन के दो संचालकों-व्यापारी और किसान दोनों को संभालना था।

4.5.1 भूमि से प्राप्त राजस्व

भूमि को अलग-अलग दरजों में बाँटा हुआ था और हर दरजे की भूमि के मूल्यांकन का तरीका भी अलग था। इजारा भूमि को तय किरायों पर किसानों को पट्टे पर दिया जाता था। हिस्सा भूमि पर किराया उत्पादन में हिस्से के तौर पर देना होता था। इसके अलावा सिंचित भूमि का किराया उत्पादन में हिस्से के तौर पर देना होता था और सूखी भूमि का किराया पैसों में चुकाना होता था।

भूमि को सर्वेक्षण और नियंत्रण प्रणाली के तहत रखा जाता था और खेत जोतने वालों को काफी राहत और सुरक्षा देकर उनका हौसला बढ़ाया जाता था। राज्य नियंत्रण की एक मजबूत प्रणाली बनायी गयी थी जिसमें अमलदार तो राजस्व प्रशासन को नियंत्रित करते थे और आसफदार किराये संबंधी झगड़ों के कानूनी बिंदुओं की देखभाल करते थे। बिचौलियों को खत्म करके राज्य के लिए अधिक से अधिक राजस्व बनाने के लिए राज्य के हितों और किसानों के हितों के बीच एक सीधा सूत्र बनाया गया। टीपू ने राजस्व किसानों से किसानों की रक्षा करने के लिए खास सरकारी अधिकारियों को खेती के अधिकार न देने जैसे कई उपाय किये।

टीपू की भूमि राजस्व नीति में खेती के लिए विकसित सुविधाएँ देने के लिए व्यक्तियों को खेती करने के लिये पूरी स्वायत्तता देने का प्रावधान था। ऐसे व्यक्तियों को सिंचाई तथा अन्य संबंधित कार्यों के लिये जमीन मुफ्त में दी गई। इस तरह लोगों का एक ऐसा वर्ग तैयार किया गया जो खेती के विकास को स्वतंत्र रूप से सहारा दे सकें।

परन्तु, इन उपायों से अलग पड़ी भूमि को जोतने और एक खास परिवार को हमेशा के लिए जागीर दे देने वाली, जागीर प्रणाली के कारण सफलता नहीं मिली। दूसरी ओर खेती के उत्पादन में पूरे गाँव की साझेदारी होने की प्रथा थी। जैसा कि इतिहासकार निखिलेश गुहा बताते हैं, इस प्रथा के कारण उत्पादन का बड़ा हिस्सा वर्चस्व रखने वाली या ऊँची जातियों को चला जाता था जो अधिकतर कर्मकांड करते थे। इस तरह, ऐसा कोई तरीका नहीं था जिससे कि अतिरिक्त उत्पादन का इस्तेमाल खेतिहर समुदाय में विकास का काम शुरू करने के लिए किया जा सके। परिणामस्वरूप खेतिहर के पास इतने संसाधन नहीं बच पाते थे कि खेती का विकास हो सके।

MAADHYAM IAS

सबसे अधिक, राज्य युद्ध को प्राथमिकता देता था। सुलतानों का खास ध्यान मराठों, हैदराबाद कर्नाटक और अंग्रेज़ों पर था। इसके कारण सेना का खर्चा बेतहाशा बढ़ गया और उसके परिणामस्वरूप राजस्व की मांग बढ़ गयी। उदाहरण के लिए, टीपू ने अपनी हार के समय भूमि राजस्व में 30 प्रतिशत की बढ़ोत्तरी की थी। इस तरह खेती के किसी स्थायी विकास की संभावना नहीं थी और खेतिहर को और अधिक पैसा देने को मजबूर करना इस स्थिति का ऐसा परिणाम था जिसे टाला नहीं जा सकता था।

4.5.2 व्यापार से प्राप्त राजस्व

व्यापारी लोग लगभग पिछली दो शताब्दियों से मैसूर की अर्थव्यवस्था में एक अहम भूमिका निभा रहे थे। इनमें से अहम् व्यापारियों ने अंदरूनी, बाहरी व्यापार और राजस्व खेती को एक दूसरे से जोड़ व्यापार और भूमि के इन विविध निवेशों का एक विभाग हथियाया हुआ था। राजनीतिक कार्यवाही के स्तर पर वे अक्सर सत्ताधारी शासकों के बीच अपने हितों की रक्षा करवाने के लिए मौजूद प्रथा और पारंपरिक संबंधों का इस्तेमाल करते थे। भूमि में उनका दखल काफी महत्वपूर्ण था। जैसा कि संजय सुब्रमण्यम बताते हैं, उनमें से कुछ के बड़े राजस्व किसान होने के बावजूद उनके अधीन खेती वाले इलाके में संपन्नता ही आयी, गिरावट नहीं। इससे पता चलता है कि वे भूमि को कितना महत्व देते थे और व्यापार के लाभों का भूमि में थोड़ा-थोड़ा करके आना कितना अहम् था। इस तरह संपन्न व्यापारियों की मैसूर की अर्थव्यवस्था में अहम भूमिका थी।

टीपू ने इन व्यापारियों और उनके व्यापार की अहमियत को समझा। उसने "आसफों" को नियुक्त किया कि वे अधिकारियों को प्रशिक्षित करें जिससे कि वे व्यापार को काबू में रखने के लिए टीपू के द्वारा स्थापित व्यापार केंद्रों को चला सकें।

राज्य के अधिकारियों के जमा किये हुए राजस्व से इन व्यापार केंद्रों के लिए व्यापार पूंजी उपलब्ध करानी होती थी। ऐसी व्यवस्था की गयी थी कि व्यक्ति निजी हैसियत में राज्य के व्यापार में पूंजी लगाने के लिए पैसा जमा करें जिस पर उन्हें 35 प्रतिशत का लाभ दिया जाता था। निजी व्यापारियों को यह छूट थी कि वे यहाँ आवश्यक वस्तुओं की बिक्री में हिस्सा लें, इसे राज्य के लिए फायदेमंद समझा जाता था। इन केंद्रों के हिसाब-किताब की नियमित जाँच होती थी। इसके अलावा, मुद्रा के नियमन का कठोरता से पालन होता था।

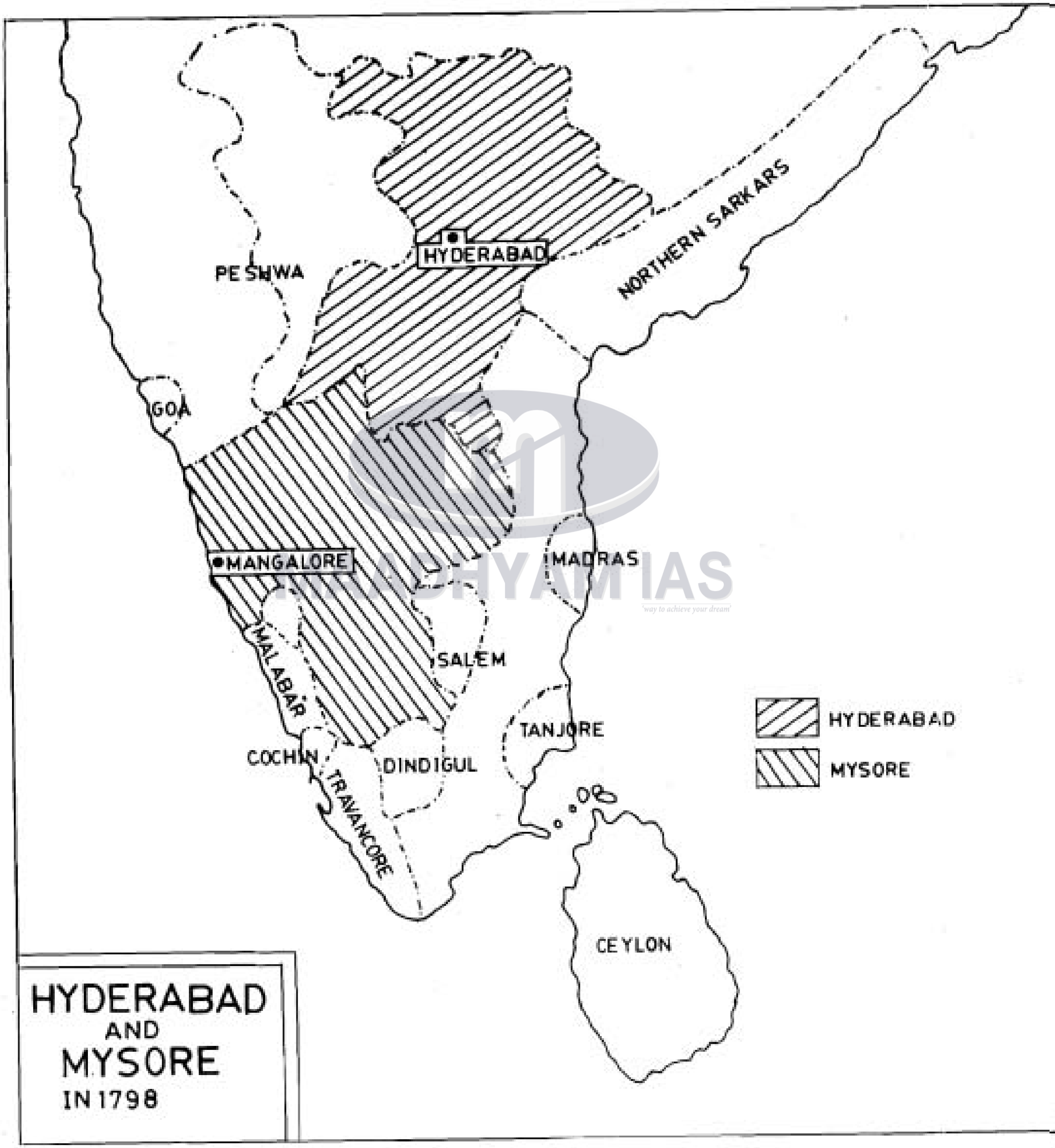

MADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

मानचित्र-5

बहरहाल, ऐसा लगता है कि निजी व्यापारियों की गतिविधियों के विस्तार, या अंग्रेज़ों के संदर्भ में समुद्री व्यापार पर वर्चस्व को एक संभावी खतरे के रूप में देखा जाता था, ऐसा शायद देसी व्यापारियों और अंग्रेज़ों के बीच गठबंधन के रूप में था। 1785 में उसने अपने बंदरगाहों से काली मिर्च, चंदन और इलायची के निर्यात पर पाबंदी लगा दी। 1788 में उसने अंग्रेज़ों के साथ व्यापार करने की साफ मनाही कर दी।

संक्षेप में, 18वीं शताब्दी में मैसूर एक ऐसा राज्यतंत्र था जो हैदर और टीपू की सैनिक ताकत के द्वारा मजबूत तो हुआ लेकिन उन पर इस बात का लगातार दबाव रहा कि वे सैनिक शक्ति के कारण काबू में आयी ताकतों का कोई स्थायी हल निकालने में समर्थ नहीं थे। इसके परिणामस्वरूप हमने देखा कि राज्यतंत्र के भीतर के व्यक्तियों में खुद राज्यतंत्र की कीमत पर अपना निजी फायदा करने की कैसी संभावनाएँ बनीं।

बोध प्रश्न 1

सही उत्तर पर निशान लगायें।

1) टीपू के अधीन स्थानीय सरदार

   क) खुलेआम अपने अधिकारों का इस्तेमाल कर रहे थे

   ख) पूरी तरह से काबू में रखे जाते थे

   ग) कभी रहे ही नहीं

   घ) (क) और (ग) दोनों

2) युद्ध

   क) मैसूर राज्यतंत्र की कार्यसूची से पूरी तरह से गायब था।

   ख) मैसूर राज्यतंत्र स्थापित करने की तरकीबों का एक अहम हिस्सा था।

   ग) 18वीं शताब्दी में मैसूर राज्य और स्थानीय सरदारों के बीच शक्ति संतुलन को निर्धारित करता था।

   घ) (ख) और (ग) दोनों

3) टीपू के अधीन भू-राजस्व

   क) मुख्य तौर पर राजस्व किसानों के माध्यम से इकट्ठा किया जाता था।

   ख) मुख्य तौर पर टीपू द्वारा नियुक्त सरकारी अधिकारी इकट्ठा करते थे।

   ग) बिचौलिये इकट्ठा करते थे।

   घ) सुल्तान के हाथों में नहीं जाने दिया जाता था।

4) मैसूर में व्यापारियों के लाभ

   क) कृषि विकास में लगाये जाते थे

   ख) कृषि में कभी नहीं आते थे

   ग) मुख्य तौर पर उद्योग में लगा दिये जाते थे

   घ) उपर्युक्त में से कोई नहीं।

MAADHYAM IAS

4.6 हैदराबाद

ऐसा लगता है कि हैदराबाद के राज्यतंत्र ने मैसूर के राज्यतंत्र से अलग किस्म के ढाँचे को अपनाया। यहाँ शुरू के दिनों में मुगल प्रभाव कहीं अधिक मुखर था। आमतौर पर मुगल साम्राज्य के दिनों में दक्कन के सूबेदार को हैदराबाद में नियुक्त किया जाता था। यहाँ पर मुगल प्रशासन प्रणाली को लागू करने का प्रयास किया गया। लगातार मुगल मराठा टकराव और अंदरूनी तनाव के बावजूद इस प्रणाली ने दक्कन में मुगल साम्राज्य की व्यवस्था को

मुखर किया। परंतु मुगल साम्राज्य के पतन के परिणामस्वरूप यह प्रणाली संकट में पड़ गयी थी।

निजाम आसफ ma को मुगल सम्राट ने 1713 में पहले सूबेदार (प्रांत का प्रभारी) बनाया। लेकिन 1724 में अपने प्रतिद्वंद्वी मुगल नियोक्ता पर सैनिक विजय के बाद ही उसके हाथ में दक्कन की बागडोर असरदार ढंग से आ सकी। इस दौर के बाद वह दक्कन में ही बना रहा और अपने नियुक्त किये हुए प्रभारी को यहाँ छोड़कर ही वह मुगल दरबार में गया। उसके बाद उसने हैदराबाद से मुगल अधिकारियों को हटा दिया और उनकी जगह अपने आदमी बिठा दिये। उसने संधि करने, युद्ध करने और मंसब और खिताब देने के अधिकार भी अपने हाथ में ले लिये। अब धीरे-धीरे मुगल अधिकार कुतबा पढ़ने आदि तक ही सीमित रह गया। निजाम अली खां (1762–1803) के समय तक आते-आते कर्नाटक मराठे और मैसूर सभी ने अपने जमीन के दावों को सुलझा लिया था और हैदराबाद में एक किस्म का स्थिर राजनीतिक ढांचा उभर आया था

युद्ध और सेना

और जगहों की तरह ही, हैदराबाद में उभरने वाले राज्यतंत्र का एक अहम अंग सेना ही थी। निजामुल-मुल्क ने मौजूदा जागीरदारियों को बने रहने देने की नीति ही अपनायी। सेनापति और उनके सैनिक अपने निजी नियोक्ताओं, खासतौर पर सामंतों के जरिये राजनीतिक व्यवस्था से बंधे थे। यहां की स्थिति मैसूर से इस मायने में अलग थी कि यहाँ (हैदराबाद में) स्थानीय सरदारों के अधिकारों को ज्यों का त्यों बना रहने दिया गया। मुगल सेना की तरह, हैदराबाद की सेना का रख-रखाव भी निजाम के खजाने में सामंतों द्वारा लिये गये नकद भत्तों से किया जाता था।

सेना की मराठा, कर्नाटक नवाब, मैसूर या अंग्रेजों को अंकुश में रखने में महत्वपूर्ण भूमिका थी। हालांकि ऐसा मैसूर में नहीं था, फिर भी हैदराबाद में राज्य के वित्त को सीधा-सीधा युद्ध में लगाने के लिये तैयार करने के प्रयास मैसूर के मुकाबले निश्चित रूप से कमजोर दिखायी देते हैं। आइये हम वित्त के मुख्य साधन —भूमि राजस्व प्रणाली की ओर ध्यान दें और देखें कि क्या राज्य के लिये राजस्व इकट्ठा करने में सचमुच फर्क था।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

4.7 भू-राजस्व प्रणाली

हैदराबाद की भू-राजस्व प्रणाली मैसूर की भू-राजस्व प्रणाली से इस मायने में फर्क थी कि टीपू और हैदर ने तो राजस्व पर एक बड़ी नौकरशाही के जरिये सीधे काबू करने की कोशिश की थी, लेकिन हैदराबाद के शासकों ने यह काम बिचौलियों को करने दिया।

इतिहासकार एम. ए. नईम ने इजारा या राजस्व खेती भूमि के वजूद की बात कही है। दूसरे, तमाम ऐसे पेशकश जमींदार थे जिनकी भूमि का सरकारी तौर पर मूल्यांकन नहीं होता था लेकिन उन्हें अपने ही मूल्यांकन खातों के हिसाब से एक सालाना अंशदान या "पेशकश" देनी होती थी। तीसरे, नईम के अनुसार, जहाँ जमींदारों और देशपांडे (गांव प्रधानों) को राज्य के मूल्यांकन के आधार पर भू-राजस्व देना होता था, वहाँ भी उनकी सहमति ली जाती थी।

राजस्व के लिये यह तो समझा जाता था कि वह उत्पादन का 50 प्रतिशत होना चाहिए, लेकिन ऐसा बहुत कम ही होता था कि इस अनुपात में राजस्व इकट्ठा हो। राज्य और भू-राजस्व दाताओं के बीच बिचौलियों का महत्व इस तथ्य से पता चलता है कि राज्य की इकट्ठा हुई रकम, या "जमांबंदी" जमींदार की सहमति से तय हुई मूल्यांकन की रकम, या "कामिल" से हमेशा कम होती थी। जैसा कि नईम ने लिखा है, इन दोनों, कामिल और जमा के बीच का फर्क जमींदार का हिस्सा होता था। निजाम काल के राजस्व संबंधी दस्तावेजों से "हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि वास्तविक राजस्व में भी गिरावट आयी।"

हैदराबाद में जागीरें या राज्य की सेवा के लिये मिलने वाली भूमि पुश्तैनी होती थी। मैसूर में तो इस पर रोक लगाने की कोशिश हुई, लेकिन हैदराबाद में इसके लिये कोई गंभीर उपाय

किये गये नहीं लगते। यही नहीं, जागीरदार पुश्तैनी विरासत का फायदा उठाते हुए इतने मजबूत हो गये कि वास्तविक राजस्व में गिरावट आने के संदर्भ में भी इस बात का कोई सवाल ही नहीं उठता कि जागीरदारों को जो रकम सचमुच मिलनी चाहिये, उनकी जागीरों से उन्हें मिलने वाल राजस्व उससे कम हो।

हैदराबाद के भू-राजस्व प्रशासन में आमिलों (प्रांतीय प्रधानों) के नीचे अधिकारी होते थे। नियमित मूल्यांकन और सर्वेक्षण के उपाय किये जाते थे। खेती करने वालों का राज्य की कर्ज और मोहलत की नीति के जरिये हौसला बढ़ाया जाता था।

मगर, ये सभी संभावनायें बिचौलियों की ताकत और अहमियत ने खत्म कर दी। हमने ऊपर देखा कि उनकी भूमिका राजस्व के मूल्यांकन और जमा करने में निर्णायक थीं।

इसका निजामों के अधीन हैदराबाद के राज्यतंत्र के बनने पर महत्त्वपूर्ण असर पड़ना था। लगता है वहाँ बिचौलिये स्वार्थों का एक ऐसा तंत्र (नेटवर्क) मौजूद था जो सर्वोच्च स्तर पर ताकत और असर के लिये चलने वाली होड़ के लिये राजनीतिक आधार बन सकता था।

4.8 संरक्षक और उनके आश्रित

इतिहासकार कैरेन लियोनार्ड हैदराबाद की राजनीतिक व्यवस्था में शिथिल "संरक्षक-आश्रित संबंध" की बात बताती है। वह मुख्य संरक्षक निजाम और शक्तिशाली सामंतों को बताती है। निजाम तो अपनी पकड़ बनाये रखते थे, जबकि उनके गिर्द सामंतों का घेरा समय-समय पर बदलता रहता था। निजाम के काल में सामंतों को अपने काम में आगे बढ़ने के लिये कोई एक-सा मानदंड नहीं था, जैसा कि मुगलों के अधीन होता था। निजाम के साथ व्यक्तिगत संबंध या सैनिक कौशलों को अहमियत मिल रही थी। इसलिये हैदराबाद में शक्तिशाली बनने के लिये मंसबों ने (जैसा कि मुगलों की व्यवस्था में था) सामंतों के उदय को नहीं रोका। बहुत से ऐसे जमींदार या जागीरदार जो अपने पीछे छोटे बिचौलियों को लेकर चल सकते थे, थोड़े से सैनिक कौशल और कूटनीति के बल पर शक्तिशाली हो गये।

MAADHYAM IAS

इससे पहले मुगलों के औपचारिक भू-राजस्व नियमों और व्यवस्थित प्रशासनिक स्तरीकरण के कारण शक्ति और दौलत बनाने की गुंजाइश सीमित ही रही। लेकिन अब संस्था का ढाँचा इतना कमजोर था कि शीर्ष पर राजनीतिक दावों को सीधे-सीधे हथियाया जा सकता था।

वकील

शक्ति और दौलत हथियाने की इस प्रक्रिया को "वकील" कहलाने वाले बिचौलियों का एक और तंत्र मदद पहुँचा रहा था। ये "वकील" निजाम और सामंतों के बीच, सामंतों और सामंतों के बीच, और निजाम और बाहरी ताकतों के बीच रताल्लों का काम करते थे। वकील हैदराबादी सामंतों द्वारा संचालित विशाल और पैसे वाली संस्थाओं में व्यक्तियों ... लिये सुअवसरों की भी व्यवस्था करते थे।

ये वकील आमतौर पर व्यक्तियों के स्वार्थों के आधार पर काम करते थे और वहाँ तक शक्तिशाली थे जहाँ तक उनके संरक्षक शक्तिशाली थे । इसी के साथ, व्यक्तिगत लाभ के लिये निष्ठा तथा संरक्षण बदल लेना आम बात थी। उस माहौल में जहाँ काम को आगे बढ़ाने के लिये कोई एक-सा मापदंड नहीं था, ये वकील शक्ति और दौलत के लिये चलने वाली होड़ में व्यक्तिगत लाभ के लिये कार्य करने वाली शक्तियों के प्रतिनिधि थे।

4.9 स्थानीय सरदार

मैसूर की स्थिति के विपरीत, निजाम के अधीन स्थानीय सरदारों ने निजाम को अंशदान देने के बाद अपनी पुश्तैनी भूमि पर कब्जा जारी रखा। उन्होंने निजामों और उसके सामंतों जैसे

संरक्षकों की भूमिका तो निभायी, लेकिन उन्हें हैदराबाद की राजनीतिक व्यवस्था में कभी पूरी तौर पर मिलाया नहीं गया। न ही उनके वकीलों ने दूसरे शासकों के साथ संबंध बनाये रखे। स्थानीय सरदारों ने हैदराबाद दरबार की जीवन शैली को भी नहीं अपनाया और दरबार की राजनीतिक के दायरे से बाहर रहने में ही संतुष्ट रहे। लेकिन जब हैदराबाद दरबार कमजोर हो गया उस समय वे अपनी व्यक्तिगत क्षमता में निर्णायक कारक बने रहे।

4.10 वित्तीय और सैनिक समूह

साहूकारों, महाजनों और सेनापतियों (आम तौर पर भाड़े के) ने हैदराबाद की राजनीतिक व्यवस्था में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। वे प्रमुख भूमिका निभाते थे क्योंकि वे आवश्यक वित्तीय और सैनिक सेवा प्रदान करते थे। उनकी शक्ति का स्रोत उनका सम्प्रदाय था और वकीलों के विपरीत वे जाति अथवा सम्प्रदाय के समूहों की तरह काम करते थे। वित्तीय समूहों में कुछ मुख्य सम्प्रदाय या जाति समूह अग्रवाल और मारवाड़ी थे जबकि अफगान और अरब प्रमुख सैनिक समूह थे। समर्थन और सेवाएँ वापस लेने की धमकी देकर ये व्यक्ति और समूह अपने स्तर पर राज्यतंत्र के संतुलन में एक अहम् भूमिका निभाने की स्थिति में थे।

4.11 प्रशासनिक प्रणाली

प्रशासनिक प्रणाली हैदराबाद राज्यतंत्र के दूसरे पहलुओं की प्रवृत्ति का अनुसरण करती दिखती है। पहले की मुगल संस्थाएँ प्रकट में व्यक्तियों को लाभ कमाने की छूट देने की प्रक्रिया में लगी रहीं, लेकिन अब उन्होंने निहित स्वार्थों को मज़बूत करने की भी छूट दे दी। सबसे अच्छा उदाहरण दीवान के पद का है जो राज्य के अधिकतर रोज़मर्रा के मामलों को चलाता था। यहाँ दीवान की जगह दफ्तरदारों का मातहत पुश्तैनी पद कहीं अधिक अहम् हो गया। राजस्व जैसे मामलों को चलाने के लिए वेतनभोगी अधिकारियों के न होने की स्थिति में, ये दीवान स्थानीय देशपांडे या तालुकदार के द्वारा रकम निश्चित करके और उसे खाते में दर्ज करके, सही नियंत्रण कर पाने में समर्थ थे। इस तरह से उन्हें काफी दौलत बना लेने का मौका भी मिल जाता था।

MAADHYAM IAS

बोध प्रश्न 2

सही ˙S Ω पर निशान लगायें।

1) हैदराबाद में इकट्ठा होने वाले राजस्व की रकम

   क) का फैसला दीवान करता था।

   ख) का फैसला निजाम करता था।

   ग) का फैसला देशपांडे या स्थानीय बिचौलियों की सहमति से दफ्तरदार करते थे।

   घ) का फैसला जनता करती थी।

2) हैदराबाद के वकील

   क) प्रमुख व्यापारी थे।

   ख) प्रमुख सैनिक थे।

   ग) प्रमुख कलाकार थे।

   घ) बुनियादी तौर पर ताकत और प्रभाव के विभिन्न केन्द्रों के बीच के दलाल थे।

3) हैदराबाद के निज़ाम का शासन 1724 के बाद

   क) पूरे तौर पर मुगलों के अधीन था।

ख) केवल नाम के लिये मुगलों के अधीन था।

ग) पूरे तौर पर फ्रांसीसियों के अधीन था।

घ) पूरे तौर पर पुर्तगालियों के अधीन था।

4) हैदराबाद में स्थानीय सरदार

क) पूरी तरह से निज़ाम के अधीन थे।

ख) अपनी-अपनी जगह शासक रहे।

ग) कभी रहे ही नहीं।

घ) ख) और ग) दोनों।

4.12 सारांश

इस इकाई में हमने देखा कि मैसूर के राज्यतंत्र में किस तरह उन संस्थाओं में जो कमज़ोर ढंग से स्थापित हुई थीं या कमज़ोर हो रही थीं तमाम बिचौलिये तथा अन्य व्यक्ति राज्यतंत्र के विभिन्न स्तरों पर निर्णायक भूमिका निभा रहे थे। इस प्रक्रिया में मैसूर एक ऐसे राज्य के रूप में उभरा जो कुछ अर्थों में हैदर और टीपू की सैनिक शक्ति के ज़रिए एक मज़बूत प्रशासन कायम करके उनके संस्थात्मक आधार की कमज़ोरियों को दूर करने में कामयाब रहा। इससे कुछ हद तक कुछ व्यक्तियों और ताकतों पर पाबंदी तो लग गई लेकिन वे खत्म बिल्कुल नहीं हुई। दूसरी ओर, हैदराबाद में प्रशासन के अंदर स्वार्थी तत्वों को मज़बूत हो जाने दिया और ऊपर से नीचे तक 'संरक्षण-आश्रितों' के सम्पर्कों से अपने राजतंत्र को कायम किया।

MAADHYAM IAS
way to achieve your dream

4.13 शब्दावली

विभाग निवेश: इस इकाई में विभाग निवेश व्यापारी पूंजीपतियों के द्वारा किए निवेश की विविधता को जताता है।

राजस्व किसान: ऐसे व्यक्ति जिन्हें कोई शासक राज्य की मांग के अनुसार एक निर्धारित राजस्व के बदले में खेती योग्य भूमि देता है।

संरक्षक: ऐसा व्यक्ति जो अपनी हैसियत या असर के कारण किसी को कुछ भला कर सकता है। आश्रित वह है जिसका यह भला किया जाता है और जो संरक्षक की कुछ सेवा करता है।

कुतबा: सम्राट के लिए प्रार्थना।

4.14 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) ख), 2) घ), 3) ख), 4)क)

बोध प्रश्न 2

1) ग), 2) घ), 3)ख), 4) ख)

इकाई 5 पंजाब

संरचना

5.0 उद्देश्य
5.1 प्रस्तावना
5.2 स्वायत्तता से पूर्व पंजाब की राजनीति
5.3 सिक्ख धर्म: धार्मिकता से राजनैतिक पहचान तक
5.4 सिक्ख राज्य का उदय
5.5 सिक्ख राज्य और अंग्रेज़ी ईस्ट इंडिया कम्पनी
5.6 राज्य का संगठन
    5.6.1 क्षेत्रीय प्रशासन
    5.6.2 राजस्व प्रशासन
5.7 सिक्ख राजनीति का चरित्र
5.8 सारांश
5.9 शब्दावली
5.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

5.0 उद्देश्य

यह इकाई 18वीं सदी के मध्य से 19वीं सदी के मध्य तक पंजाब में स्वतंत्र राज्य के घटनाक्रम पर है। इस इकाई में आप सीख सकेंगे:

- पंजाब की राजनीति में सिक्ख राज्य की स्थापना से पूर्व की घटनाओं के विषय में,
- सिक्ख धार्मिक व्यवस्था के राजनैतिक शक्ति के रूप में परिवर्तन के विषय में,
- वह प्रक्रिया जिसके माध्यम से सिक्ख राज्य का उदय हुआ और अंतिम रूप से इसका ब्रिटिश साम्राज्यवादी व्यवस्था में विलय,
- राज्य संगठन और
- सिक्ख राज्य का चरित्र।

MAADHYAM IAS
"way to achieve your dream"

5.1 प्रस्तावना

इकाई 2, 3 तथा 4 में हमने विवेचन किया कि किस प्रकार से बंगाल, अवध, हैदराबाद, मैसूर और मराठा क्षेत्र में 18वीं सदी के दौरान स्वायत्त राजनीतिक प्रभुत्व का विकास हुआ। यहाँ पर हमारा केन्द्र बिंदु पंजाब होगा। अन्य मुगल प्रांतों की तुलना में पंजाब में विकास की धारा भिन्न थी। पंजाब के संदर्भ में स्वतंत्र राजनीतिक प्रभुत्व की स्थापना किसी मुगल गवर्नर द्वारा नहीं बल्कि स्थानीय लोगों (सिक्खों) द्वारा की गई थी। यह देखना स्वाभाविक रूप से महत्वपूर्ण होगा कि किस प्रकार से सिक्खों ने प्रांत से मुगल प्रभुत्व को उखाड़ दिया और इसके स्थान पर अपना शासन कायम किया। इस इकाई में पहले आपका परिचय सिक्ख राज्य के उदय से पूर्व की पंजाब की राजनैतिक स्थिति से कराया जाएगा। फिर इस इकाई में यह बताया गया है कि कैसे सिक्ख धार्मिक व्यवस्था का परिवर्तन एक क्षेत्रीय शक्ति के रूप में हुआ और इसके बाद सिक्ख राज्य की स्थापना कैसे हुई। अंत में इस इकाई में सिक्ख राज्य की प्रशासनिक व्यवस्था और सिक्ख शासन के चरित्र का विश्लेषण किया गया है।

5.2 स्वायत्तता से पूर्व पंजाब की राजनीति

18वीं सदी के पूर्वार्द्ध में मुगल साम्राज्य के विखण्डन के तुरंत बाद बहुत से प्रांतों में स्वतंत्र राजनैतिक प्रभुत्व स्थापित हो गया। बंगाल, अवध और हैदराबाद प्रांतों के गवर्नरों ने सफलता पूर्वक अपने स्वतंत्र प्रांतों का संचालन किया। परन्तु पंजाब जैसे प्रांत ने इस प्रकार के मार्ग का अनुसरण नहीं किया। जकारिया खान 1726–1745 में लाहौर का गवर्नर था और उसने अपनी स्थिति को मजबूत करने का प्रयास किया परन्तु एक स्वतंत्र राजनैतिक व्यवस्था की स्थापना की प्रक्रिया में वह असफल रहा। अन्य दूसरे प्रांतों की तुलना में पंजाब की स्थिति बिल्कुल भिन्न थी। इस समय में पंजाब की राजनीति में निम्नलिखित शक्तियों का प्रभुत्व था :

- स्वतंत्र राजनैतिक अधिपत्य के लिए सिक्खों का संघर्ष,
- पहले ईरानी विदेशियों का और फिर अफगानों का आक्रमण,
- मराठा आक्रमण, और
- प्रांतीय प्रशासन की आंतरिक स्पर्धा।

18वीं सदी के दौर में सिक्खों का आंदोलन धार्मिक आंदोलन से एक राजनैतिक आंदोलन में परिवर्तित हो गया और इसका मुख्य लक्ष्य मुगल साम्राज्य के आधिपत्य का विरोध करना था। 18वीं सदी के प्रारंभ में गुरु गोविन्द सिंह की मृत्यु के तुरन्त बाद किसान विद्रोह हो गया जिसका नेतृत्व उनके शिष्य बंदाबहादुर ने किया। प्रांत पर अपने नियंत्रण को बनाये रखने के लिए मुगल अधिकारियों के लिए यह बड़ा कठिन समय था। 1715 में बंदाबहादुर को फांसी देने के बाद मुगलों को कुछ ही समय के लिए चैन की सांस लेने का अवसर मिला। सिक्खों ने स्वयं को छोटे-छोटे बहुत से अति गतिशील गुटों में संगठित किया जिनको जत्था कहा जाता था और पुन: मुगल साम्राज्य के अधिपत्य को गंभीर चुनौती दी।

1739 में ईरानी आक्रमणकारी नादिर शाह के आक्रमण ने मुगल शासकों के लिए पंजाब में और अधिक गंभीर समस्या उत्पन्न कर दी। नादिरशाह के द्वारा प्रांत पर हमले तथा लूट ने पंजाब में साम्राज्य के प्रभुत्व को काफी कमजोर कर दिया। ईरानी आक्रमण के साथ अहमदशाह अब्दाली के नेतृत्व में अफगान आक्रमणों की ऐसी श्रृंखला का प्रारंभ हुआ जिसने पंजाब से मुगल प्रभुत्व पर अंतिम तथा निर्णायक आघात किया। इन विदेशी आक्रमणों के लगातार होते रहने तथा प्रांत में विप्लव के कारण मराठों ने पंजाब पर अपना नियंत्रण स्थापित करने का प्रयास किया।

इसके अतिरिक्त प्रांत की राजनैतिक अनिश्चितता के लिए अधिक निर्णायक कारण प्रांत के प्रशासन का आंतरिक संघर्ष था। संघर्ष का प्रमुख कारण उत्तराधिकार का प्रश्न था। जकारिया खाँ की मृत्यु के बाद पंजाब की सूबेदारी के उत्तराधिकार के लिए उसके तीनों पुत्रों — याहिया खाँ, शाह नवाज खाँ और मीर बाकी के मध्य रक्त रंजित संघर्ष शुरू हो गया। एक वर्ष तक सूबेदार की नियुक्ति को रोकने के बाद अन्तत: मुगल सम्राट ने याहिया खाँ को सूबेदार नियुक्त कर दिया। परन्तु भाइयों के बीच इससे संघर्ष बन्द न हुआ। अन्तत: शाह नवाज खाँ ने ताकत के बल पर सूबेदार के पद पर अधिकार कर लिया। याहिया खाँ ने दिल्ली को कूच किया तथा मुगल सम्राट मुहम्मद शाह एवं वज़ीर कमरूद्दीन से सहायता माँगी। कमरूद्दीन उसका चाचा तथा ससुर था। दूसरी ओर शाहनवाज खाँ ने सहायता प्राप्त करने के लिए अब्दाली के साथ बातचीत करने की कोशिश की। इसी के साथ अब्दाली तथा मुगल सम्राट के बीच जो संघर्ष शुरू हुआ वह वज़ीर कमरूद्दीन की मृत्यु के साथ समाप्त हो गया और उसके पुत्र मीर मन्नू को लाहौर का सूबेदार नियुक्त कर दिया गया।

दिल्ली में नया वजीर सफदरजंग मीर मन्नू का विरोधी था और उसने उसकी सूबेदारी के विरुद्ध षड्यंत्र करना शुरू कर दिया। शाह नवाज के माध्यम से उसने लाहौर के आस-पास समस्याएँ पैदा की। मीर मन्नू सफलतापूर्वक इस संकट से बाहर निकल गया। परन्तु अब्दाली के नेतृत्व में लगातार अफगान हमलों के कारण मीर मन्नू चैन की सांस न ले सका और अन्तत: अहमद शाह अब्दाली ने उसको पराजित कर दिया। अफगानों के लगातार आक्रमणों से सम्राट को

पंजाब, कश्मीर, और सिंध का परित्याग करने के लिए मजबूर होना पड़ा। अहमद शाह ने अपने पुत्र तिमूर शाह को लाहौर का सूबेदार नियुक्त किया। परन्तु जालंधर दोआब के फौजदार अदीना बेग खाँ ने मराठों की मदद से तिमूर को पंजाब से निष्कासित कर दिया। प्रांत के प्रशासन को प्रत्यक्ष चलाने में समस्या समझ कर मराठों ने पंजाब की सूबेदार अदीना बेग खाँ को इस शर्त पर दे दी कि वह मराठों को प्रतिवर्ष 75 लाख रुपये का नजराना देगा। अदीना बेग खाँ की मृत्यु के बाद मराठों ने ख्वाजा मिर्जा खाँ को लाहौर का सूबेदार नामजद किया। पंजाब में मराठों की इस बढ़ती शक्ति को अफगान शांति के साथ बैठकर नहीं दे रहे थे। अफगानों ने अब्दाली के नेतृत्व में पुनः आक्रमण किया और 1761 में पानीपत की लड़ाई में मराठों की शक्ति को अंतिम रूप से कुचल दिया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ये वे परिस्थितियाँ थी जिनके कारण मुगल सूबेदारों को पंजाब में स्वतंत्र प्रभुत्व स्थापित करने में कठिनाई हुई परन्तु अवध, बंगाल और हैदराबाद में ऐसा नहीं हुआ। पंजाब में व्याप्त इस राजनैतिक अस्थिरता का सिक्खों ने पूरा-पूरा लाभ उठाया और अंततः पंजाब में उन्होंने एक स्वायत्त राज्य की स्थापना की। आगे के भाग में हम विवरण करेंगे कि सिक्खों ने किस प्रकार से एक धार्मिक समुदाय से धीरे-धीरे स्वयं को एक स्वतंत्र राजनैतिक शक्ति के रूप में स्थापित किया।

5.3 सिक्ख धर्म: धार्मिकता से राजनैतिक पहचान तक

15वीं तथा 16वीं सदियों में धार्मिक आंदोलनों की शृंखलाओं ने भारतीय धार्मिक विश्वासों को पुनः जागृत किया। इन्हीं आंदोलनों के गर्भ से पंजाब में सिक्ख धर्म का उदय हुआ। इस नये उदित होते संप्रदाय के संस्थापक गुरु नानक थे जिन्होंने अपने अनुयायियों को सिक्ख नाम दिया जिसका साहित्यिक अर्थ है सिखने वाला या अनुशासित। कुछ ही समय में इस नये धर्म का प्रसार होने लगा, लोगों के लिए सिक्ख नाम एक व्यापक अर्थ वाला हो गया, किसी जाति का प्रतीक न होकर एक धर्म बन गया। गुरु नानक का धार्मिक आंदोलन शांतिपूर्वक, व्यापक था और इसका लक्ष्य धर्म निरपेक्ष जीवन के साथ एकता स्थापित करना था।

MAADHYAM IAS

गुरु नानक के बाद अन्य नौ गुरु हुए जिन्होंने 200 वर्षों में न केवल सिक्ख धर्म को संगठित तथा शक्तिशाली किया बल्कि मुगल सम्राटों तथा उनके सूबेदारों को चुनौतियों का सामना करने के लिए शक्तिशाली लड़ाकू ताकत बना दिया। इन गुरुओं के सिक्ख धर्म के विकास में योगदान इस प्रकार थे:

- गुरु आनन्द ने गुरुमुखी लिपि को विकसित किया,
- गुरु रामदास ने अमृतसर के मंदिर की आधारशिला रखी,
- गुरु अर्जुन देव ने आदि ग्रंथि को संकलित किया,
- गुरु हरि गोविन्द ने सिक्खों को सैन्य कला एवं युद्ध नीतियों में प्रशिक्षित किया,
- गुरु गोविन्द सिक्ख ने सिक्खों को खालसा संगठनात्मक केन्द्र बिन्दु के साथ एक भली भांति संगठित लड़ाकू ताकत के रूप में संगठित किया।

गुरु गोविन्द सिंह की मृत्यु के साथ गुरुओं की परंपरा का अंत हो गया और सिक्ख धर्म का नेतृत्व उनके विश्वसनीय शिष्य बंदा बैरागी के हाथों में चला गया जिसकी लोकप्रियता बंदाबहादुर के नाम से हुई। बंदा बहादुर ने मुगल सेनाओं के विरुद्ध 8 वर्षों तक प्रबल संघर्ष किया। 1715 में उसको गिरफ्तार कर फांसी दे दी गई। बंदा की फांसी के बाद लगभग 10 वर्षों तक मुगल अधिकारियों ने सिक्ख विद्रोहियों पर नियंत्रण करने के लिए अथक प्रयास किये। परन्तु उनका यह प्रयास सफल न हुआ। ऐसे बहुत से कारण थे जिनकी सहायता से सिक्खों ने स्वयं को पंजाब में सबसे शक्तिशाली राजनैतिक ताकत के रूप में संगठित एवं स्थापित किया। ये कारण निम्नलिखित थे:

- 18वीं सदी के प्रारंभिक दशकों से मुगल साम्राज्यवादी प्रभुत्व का कमजोर पड़ना,
- नादिरशाह और अहमद शाह अब्दाली के आक्रमण,

- मराठा आक्रमण,
- प्रांतीय प्रशासन में एकरूपता तथा एक सूत्र संपर्क का अभाव, और
- साम्राज्य के प्रभुत्व की बहुत से स्थानीय सरदारों तथा जमींदारों के द्वारा अवमानना।

18वीं सदी पंजाब में इन सभी कारणों से बड़ी अराजक स्थिति पैदा हो गई और इस स्थिति से सिक्खों का सबसे शक्तिशाली ताकत के रूप में उदय हुआ। अहमद शाह अब्दाली की मौत उत्तर भारत में अफगान साम्राज्य के आधिपत्य की मृत्युघण्टी साबित हुई। अफगान शक्ति के पतन के साथ ही सिक्ख मसलों ने पंजाब में प्रमुख भूमिका प्राप्त कर ली और क्रमशः इनके सरदारों ने स्वतंत्र रियासतों को बनाने में सफलता प्राप्त की।

सिक्खों ने मुगल अधिकारियों के दमन का सामना करने के लिए स्वयं को बहुत से छोटे तथा अत्यंत गतिशील गुटों में संगठित किया। इन गुटों को जत्थे तथा इनके कमाण्डरों को जत्थेदार कहा जाता था। एकताबद्ध कार्यवाही की आवश्यकता को महसूस करते हुए जत्थेदारों ने एक संघ बनाने की कोशिश की और इसके लिए वे बैसाखी तथा दिवाली के त्यौहारों के अवसरों पर एक समूह के रूप में मिलते थे। यद्यपि इन बैठकों को स्थायी तौर पर आयोजित न किया जा सका परन्तु इससे विभिन्न गुटों के बीच एकता को बढ़ावा मिला।

अफगानों के द्वारा मुगलों तथा मराठों की पराजय से लाभ उठाते हुए सिक्खों ने पंजाब में अपने आधार को और सुदृढ़ किया। 1765 के बाद से सिक्खों का राजनैतिक शक्ति के रूप में तेजी से विकास हुआ और जिसकी अंतिम परिणिति 19वीं सदी के प्रारंभ में स्वतंत्र राज्य की स्थापना के रूप में हुई। 18वीं सदी के उत्तरार्ध में बहुत छोटे गुटों ने स्वयं को 12 क्षेत्रीय संघों या मिसलों में स्थानीय सरदारों के नेतृत्व में पुनः संगठित किया। इस प्रकार:

- भांगी मिसल का नियंत्रण झेलम तथा सिंधु नदियों के बीच के क्षेत्रों लाहौर एवं अमृतसर पर था।
- रामगढ़ी मिसल का नियंत्रण जालंधर के दोआब पर था,
- कन्हैया का नियंत्रण रैकरी क्षेत्र पर,
- सिंहपुरियों का नियंत्रण सतलज नदी के पूर्वी तथा पश्चिमी इलाकों पर
- अहलूवालिया मिसल का नियंत्रण राजकोट तथा कपूरथला पर,
- सुकरचकिया का आधिपत्य गुजरनवाला, वजिराबाद पर, तथा
- फुलकिया का नियंत्रण मालवा तथा सिरहिन्द पर था।

ये मिसलें अपने मूल रूप में समानता के सिद्धांत पर आधारित थी। मिसलों के मामलों के बारे में निर्णय करते समय प्रत्येक सदस्य को समान रूप से बोलने का अधिकार था और अपने-अपने संगठन के मुखिया तथा अन्य अधिकारियों को चुनने का भी अधिकार था। मिसल के प्रारंभिक चरण में उसकी एकता तथा लोकतांत्रिक चरित्र अफगान आक्रमण के खतरे के टल जाने के बाद धीरे-धीरे समाप्त हो गया। समय के इस घटना चक्र में शक्तिशाली सरदारों के उदय तथा उनके आंतरिक कलह और उनकी विनाशकारी लड़ाइयों के कारण मिसलों का लोकतांत्रिक चरित्र भी समाप्त हो गया। इस आंतरिक संघर्ष ने मिसलों की जड़ ही खोद दी। अन्ततः सुकरचाकिया मिसल के सरदार रणजीत सिंह का। दूसरी मिसलों के सरदारों के बीच एक शक्तिशाली ताकत के रूप में उदय हुआ और उसने हथियारों की शक्ति के बल पर सिक्खों के बीच एकता स्थापित की।

बोध प्रश्न 1

1) पंजाब पर अपने नियंत्रण को बनाये रखने में मुगल सूबेदारों की असफलता की व्याख्या आप कैसे करेंगे ? अपना उत्तर लगभग 100 शब्दों में दीजिए।

....

....

....

....

MAADHYAM IAS

. . . .

. . . .

. . . .

. . . .

. . . .

. . . .

2) सिक्ख धर्म के मूल भूत दर्शन पर तीन पंक्तियाँ लिखिए।

. . . .

. . . .

. . . .

. . . .

3) सिक्ख मिसलों का उदय कैसे हुआ ? सिक्ख राजनीति में उनकी क्या भूमिका थी ? उत्तर लगभग 100 शब्दों में दें।

. . . .

. . . .

. . . .

. . . .

. . . .

. . . .

. . . .

. . . .

. . . .

MAADHYAM IAS
way to achieve your dream

4) प्रत्येक वाक्य के सामने "सत्य" (✓) "झूठ" (×) का निशान लगायें।

अ) पानीपत की तीसरी लड़ाई ने भारत में मराठा संप्रभुता के भाग्य को समाप्त कर दिया। ( )

ब) पंजाब पर विदेशी आक्रमण सिक्ख सरदारों के प्रभुत्व का दमन करने में असफल रहा। ( )

स) गुरु गोविन्द सिंह ने सिक्ख धर्म की स्थापना की। ( )

द) गुरु अर्जुन देव ने गुरुमुखी लिपि को विकसित किया। ( )

फ) मिसलों को स्वायत्तता के सिद्धांत पर संगठित किया गया। ( )

5.4 सिक्ख राज्य का उदय

पंजाब के राजनैतिक घटनाचक्र में नया मोड़ रणजीत सिंह के उदय के साथ आया। जिस प्रक्रिया का प्रारंभ 18वीं सदी में सिक्ख क्षेत्रीय संगठन की स्थापना के साथ हुआ था उसकी चरम पराकाष्ठा 19वीं सदी के पूर्वार्द्ध में पंजाब में रणजीत सिंह द्वारा स्थापित स्वायत्त राज्य की स्थापना के रूप में हुई। रणजीत सिंह सुकर चकिया मिसल के सरदार महान सिंह का पुत्र था। 1792 में जिस समय उसके पिता की मृत्यु हुई उस समय वह केवल 12 वर्ष का था। उसे उत्तराधिकार में जो राज्य मिला था उसके अंतर्गत गुजरनवाला, वजीराबाद और सियालकोट रोहतास तथा पिण्डदन्दान खाँ के क्षेत्र आते थे। यह वह समय था जबकि सिक्ख मिसलों का आपसी संघर्ष सर्वोच्चता के लिए चल रहा था। सिक्ख सरदारों के आपसी संघर्षों

और ज़मन शाह के नेतृत्व में 1795, 96 तथा 98 में अफगान आक्रमणों ने रणजीत सिंह की अपनी ताकत को पंजाब में सुदृढ़ करने में मदद की। रणजीत सिंह ने सफलतापूर्वक सिक्ख मिसलों की स्वतंत्रता को समाप्त कर दिया और उनको एक मात्र राजनैतिक आधिपत्य के अधीन कर लिया।

MAADHYAM IAS

चित्र-10 रणजीत सिंह

प्रारंभिक कुछ वर्षों में रणजीत सिंह के सम्मुख समस्या अपने दीवान लखपत राय की बढ़ती शक्ति और उसकी माता माई मलवाई द्वारा, प्रशासन पर नियंत्रण करने के प्रयासों को रोकना था। उसने अपने दीवान से छुटकारा पाने के लिये उसको कैथाल के एक खतरनाक अभियान पर भेज दिया और जहाँ पर उसको मार दिया गया। माई मलकाई की हत्या भी संदेहास्पद ढंग से कर दी गई। अपने घरेलू राज्य के मामलों पर पूर्ण नियंत्रण स्थापित करने के बाद रणजीत सिंह ने मसलों के सरदारों के विरुद्ध अभियान चलाया। कन्हैया मसल सरदार तथा उसकी सास रानी सदा कौर के सक्रिय सहयोग से उसने रामगढ़ी मसल पर आक्रमण किया। कन्हैया मसल के क्षेत्र पर अधिकार कर लेने के कारण रामगढ़ी मसल को सजा देने के लिए इस अभियान को चलाया गया था। रामगढ़ी मसल को पराजित कर उसके मुख्य नगर मियानी पर अधिकार कर लिया गया।

शक्तिशाली रामगढ़ी मिसल के अपमानजनक समर्पण के बाद रणजीत सिंह ने अपना ध्यान लाहौर पर केन्द्रित किया। 1747 में अफगान नेता ज़मान शाह ने लाहौर पर अपना नियंत्रण कायम कर लिया। परन्तु ईरान के शाह के साथ मिलकर उसके भाई द्वारा उसके विरुद्ध षडयंत्र करने के कारण जमान शाह को वापस लौटने के लिए मजबूर होना पड़ा। उसने लाहौर को अपने सूबेदार शाहची खाँ के अधीन कर दिया। ज़मान शाह के वापस लौट जाने के कारण रणजीत सिंह को लाहौर पर अधिकार करने के लिए सुअवसर मिल गया। गुजरात के साहिब सिंह तथा पिण्डीवाला के मिलखा सिंह के गठबंधन के साथ उसने शाहची खाँ पर आक्रमण किया और 1799 में लाहौर पर अधिकार कर लिया। लाहौर के बाद उसने भांजी मसल पर

आक्रमण कर किसी कड़े विरोध के बिना अमृतसर तथा उनके अन्य क्षेत्रों पर अधिकार कर लिया। लाहौर और अमृतसर का स्वामी होने के बाद रणजीत सिंह ने स्वयं को इसका सर्वमान्य राजा घोषित करते हुए पंजाब में संप्रभु संपन्न सिक्ख राजतंत्र की नींव रखी।

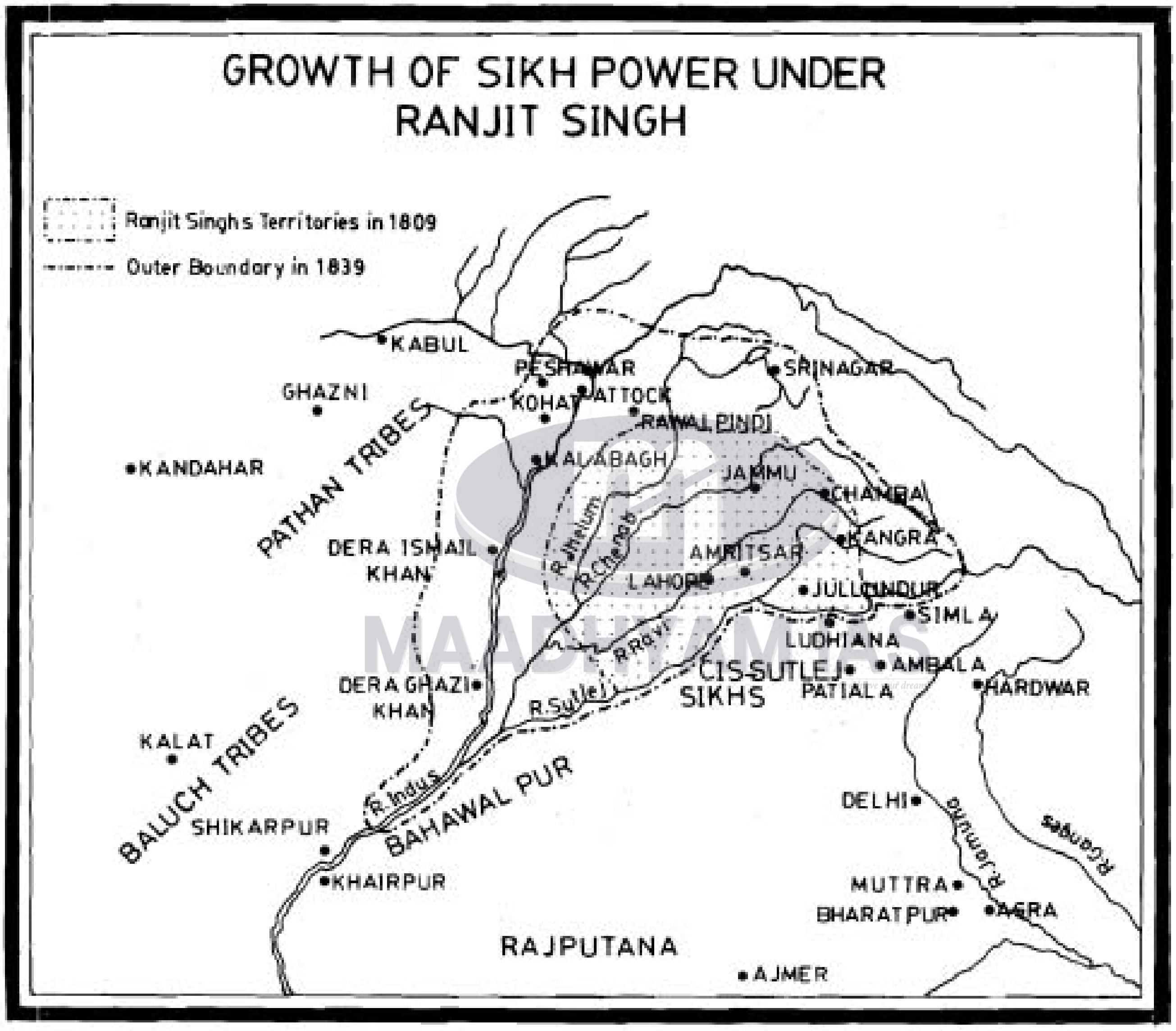

मानचित्र-6

अपनी स्थिति को और सुदृढ़ करने के लिए रणजीत सिंह ने अन्य राज्यों की ओर अपने अभियान को जारी रखा। उसने जम्मू को अधीन कर लिया, मिरोवाल, नरोवाल, सियालकोट, दिलावरगढ़, वजीराबाद पर भी अधिकार कर लिया और उसने कांगड़ा के राजा संसार चंद तथा कासूर के पठान सरदार निजामुद्दीन के अभिमान को तोड़ दिया। काबुल की मुसलमान रियासतें जैसे कि झंग तथा साहीवाल समर्पण करने को तैयार थी और मुलतान के गवर्नर मुजफ्फर खाँ ने रणजीत सिंह को ढेर सारे उपहारों के साथ बधाई दी। परन्तु मुल्तान ने अन्तत: 1818 में मीर दीवान चन्द के नेतृत्व में सिक्ख सेनाओं के सम्मुख आत्मसमर्पण कर दिया। कश्मीर 1819 तक जीत लिया गया और 1820 में रणजीत सिंह को संपूर्ण पंजाब का शासक मान लिया गया जिसके अंतर्गत सिंधु से सतलज तक का क्षेत्र, कश्मीर और तिब्बत की

सीमा तक पर्वतीय क्षेत्र आता था। सिंधु नदी के पार के डेरा इस्माइल, डेरा गाजी खान, खैराबाद और अंततः पेशावर (1834) सभी को सिक्ख शासन के अधीन कर लिया गया। रणजीत सिंह के अधिकारियों ने रणजीत सिंह द्वारा स्थापित राज्य की क्षेत्रीय अखण्डता को 1845 तक बनाये रखा तथा कुछ नये छोटे क्षेत्रों को भी उसमें शामिल कर लिया, परंतु विभिन्न चरणों में सिक्ख राज्य ब्रिटिश साम्राज्यवादी व्यवस्था के अधीन हो गया और 1849 में अंतिम रूप से इसको पूर्णतः ब्रिटिश साम्राज्य में लिया गया। इस प्रकार मुगलों के भूतपूर्व प्रांत लाहौर में सिक्खों का सर्वभौम शासन 1765 से 1845 तक रहा।

चित्र-11 महाराजा का पदक: एकबाले-ए-पंजाब

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

5.5 सिक्ख राज्य और अंग्रेज़ी ईस्ट इंडिया कम्पनी

जिस समय सिक्ख पंजाब में अपना क्षेत्रीय आधार सुदृढ़ करने की कोशिश कर रहे थे ठीक उसी समय अंग्रेज़ी ईस्ट इंडिया कंपनी स्वयं को भारत में एक राजनैतिक ताकत के रूप में स्थापित करने की प्रक्रिया प्रारंभ कर चुकी थी। सिक्खों की गतिविधियों का क्षेत्र उत्तरी भारत था तो ईस्ट इंडिया कंपनी का पूर्वी भारत। परंतु अंग्रेज़ों ने पूर्वी भारत में अपना नियंत्रण कायम करने के बाद अखिल भारतीय साम्राज्य स्थापित करने की लालसा से उत्तरी भारत की ओर अपना ध्यान केन्द्रित किया। इसलिए अंग्रेज़ों की प्रसार की इस योजना के साथ सिक्ख राज्य का टकराव निश्चित था।

1808 के मध्य तक अंग्रेज़ी ईस्ट इंडिया कंपनी लाहौर के शासक के साथ विश्वसनीय संबंध बनाये रखने की इच्छुक थी क्योंकि उत्तर-पश्चिमी सीमाओं से होने वाले किसी भी विदेशी आक्रमण के विरुद्ध यह रक्षक राज्य की भूमिका निभा सके। लाहौर के शासक के प्रति अंग्रेज़ों के इस दृष्टिकोण का कारण अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के दबाव और पूरब की ओर नेपोलियन के अभियान को बढ़ता खतरा था। परन्तु 1808 के अंत में अंतर्राष्ट्रीय परिस्थितियों में परिवर्तन हो गया। फ्रांस के विरुद्ध स्पेन वासियों का विद्रोह, इंग्लैंड तथा टर्की के बीच संधि और 1809 में इंग्लैंड तथा ईरान के बीच संधि ऐसी घटनायें थी जिनसे फ्रांस के हमले की संभावना क्षीण पड़ गयी। अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में आये इस परिवर्तन का प्रभाव लाहौर के शासक के साथ ब्रिटिश संबंधों पर भी पड़ा। अंग्रेज़ अब सतलज नदी के पूरब में स्थित सिक्ख राज्यों के प्रति

अपने सहानुभूति दिखाने लगे और ये राज्य भी रणजीत-सिंह के विरुद्ध ब्रिटिश संरक्षण चाहते थे। अंग्रेज़ों ने रणजीत सिंह से उसकी सेना सतलज नदी के उत्तर से वापस बुलाने और लुधियाना की ओर जाने वाली ब्रिटिश सेना की सहायता के लिए कहा। रणजीत सिंह ब्रिटिश सैन्य शक्ति की सर्वोच्चता से भली-भाँति परिचित था और इसलिए उसने सतलज नदी के पूरब के सिक्ख रियासतों पर अपना दावा छोड़ दिया। अंग्रेज़ों तथा रणजीत सिंह के मध्य एक समझौता हुआ जिसको अमृतसर की संधि के नाम से जाना जाता है।

1809 की अमृतसर संधि के बाद से और 1839 में रणजीत सिंह की मृत्यु तक दोनों शक्तियों के बीच कोई बड़ा तनाव पैदा नहीं हुआ। अंग्रेज़ों ने उसको सतलज नदी के पूरब के क्षेत्रों पर नियंत्रण स्थापित करने की इजाजत नहीं दी, परन्तु उसके अधीन क्षेत्र में हस्तक्षेप भी नहीं किया। रणजीत सिंह की मृत्यु हो जाने से सिक्ख राज्य की स्वतंत्रता का आधार कमजोर पड़ा और एक दशक के अंदर ही ब्रिटिश साम्राज्यवाद की फैलती मजबूत भुजाओं ने सिक्ख राजतंत्र की ताकतवर रचना को अपने अंदर समेट लिया। रणजीत सिंह का सबसे बड़ा पुत्र खड़क सिंह उत्तराधिकारी के रूप में लाहौर के सिंहासन पर बैठा। परन्तु वह रणजीत सिंह का योग्य उत्तराधिकारी नहीं था। उसके शासक बनते ही दरबार में मौजूद विभिन्न गुट सक्रिय हो गये। 1839 में खड़क सिंह की अचानक मृत्यु हो जाने और उसके पुत्र राजकुमार नौनिहाल सिंह की मृत्यु उस समय हो जाने से जिस समय वह अपने पिता के दाह संस्कार से वापस लौट रहा था, पंजाब में अराजकता की स्थिति पैदा हो गयी। लाहौर के सिंहासन को प्राप्त करने के लिए बहुत से गुटों द्वारा किये गये दावों और प्रतिदावों ने अंग्रेज़ों द्वारा निर्णायक कार्यवाही करने का मार्ग साफ कर दिया।

प्रथम आंग्ल-सिक्ख युद्ध 1845 में लड़ा गया और कुल मिला कर दोनों शक्तियों के मध्य पाँच युद्ध हुए। अंग्रेज़ों ने लाहौर पर अधिकार कर लिया और 1846 में सिक्खों को लाहौर संधि पर हस्ताक्षर करने के लिए बाध्य किया। इस संधि से सिक्ख राजतंत्र का अंत हो गया और पंजाब अंग्रेज़ों के ऊपर निर्भर एक राज्य बन गया। परन्तु 1849 तक पंजाब का पूर्ण विलय ब्रिटिश साम्राज्य में नहीं किया गया। दूसरे आंग्ल-सिक्ख युद्ध (1849) में अंग्रेज़ों ने सिक्खों के विरुद्ध अंतिम विजय प्राप्त की और लार्ड डलहौजी ने सिक्ख राज्य का भारत के ब्रिटिश साम्राज्य में पूर्ण विलय कर लिया। इसी के साथ पंजाब की स्वायत्तता का अंत हो गया और वह भारत में ब्रिटिश औपनिवेशिक साम्राज्य का एक अंग बन गया। खण्ड 3 की इकाई 11 में हम अंग्रेज़ों की पंजाब विजय के बारे में विस्तृत रूप से विवेचन करेंगे।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

बोध प्रश्न 2

1) रणजीत सिंह के राज्य की क्षेत्रीय सीमाओं का वर्णन कीजिए।

....

....

....

....

....

....

2) रणजीत सिंह की मृत्यु के बाद सिक्ख राज्य में क्या हुआ ? उत्तर लगभग 60 शब्दों में दें।

....

....

....

....

....

....

....

5.6 राज्य का संगठन

राज्य के संगठन में सिक्ख शासकों ने मुगल व्यवस्था तथा अपने स्वयं के शासन की जरूरतों के बीच संतुलन कायम करने का प्रयास किया। अधिकतर मामलों में क्षेत्रीय विभाजनों और अधिकारियों की कार्यशैलियों में पुरानी व्यवस्था को बनाये रखा गया। लेकिन उन स्थानों पर जहाँ तत्कालीन स्थिति में परिवर्तनों की आवश्यकता पड़ी वहाँ पर उन्होंने नयी व्यवस्था को अपनाने का प्रयास किया। राज्य संगठन के मामलों में धार्मिक दृष्टिकोण की अपेक्षा प्रशासनिक आवश्यकताओं ने उनका दिशा निर्देशन किया। भिन्न-भिन्न जातियों, धार्मिक, भाषाई तथा आर्थिक संगठनों और बहुत संख्या में स्वायत्त रियासतों के अस्तित्व के कारण ऐसी प्रशासनिक व्यवस्था को अपनाया गया जिसके अंतर्गत इन विभिन्न शक्तियों को एक साथ एक ही प्रभुत्व के अधीन रखा जा सके। इसलिए सिक्ख धर्म के मठों के साथ उनकी पहचान को बनाये रखने के लिए सिक्ख शासकों ने प्रशासन में धर्म निरपेक्ष दृष्टिकोण को अपनाया।

5.6.1 क्षेत्रीय प्रशासन

सिक्खों के अधीन प्रशासनिक विभाजन लगभग मुगल साम्राज्य के समान ही था। पूरे राज्य का विभाजन सूबों में, सूबों का परगनों में और परगनों का टप्पाओं या ताल्लुकों में किया गया था। प्रत्येक ताल्लुक के अंतर्गत कुछ गाँव आते थे। परंतु मुगल समय के साथ तुलना करने पर प्रत्येक इकाई का आकार काफी छोटा था। राजा प्रशासन का सर्वोच्च अधिकारी था। प्रशासन में उसकी सहायता करने के लिये अनेक अधिकारी थे जो राजा के प्रति उत्तरदायी थे। केन्द्र में राजस्व प्रशासन में राजा की मदद दीवान करता था और राजा के बाद वह सबसे शक्तिशाली अधिकारी होता था। प्रांतीय स्तर पर बहुत से अधिकारी निम्न प्रकार से थे:

MAADHYAM IAS

नज़ीम	—	(सूबे का मुखिया)
कारदार	—	(परगनाधिकारी)
चौधरी	—	(टप्पा का मुखिया)
मुकद्दम	—	(एक गाँव का मुखिया)

इनके अतिरिक्त कानूनगो, पटवारी आदि भी थे। इन सब अधिकारियों के कार्य थे —

- राजस्व एकत्रित करना,
- कृषि को बढ़ावा देना,
- व्यवस्था को बनाये रखना, और
- अपराधों का दमन करना।

इन अधिकारियों की न्यायिक शक्तियाँ सीमित थीं। छोटे-मोटे मामलों से लेकर अति महत्वपूर्ण मामलों का महाराज, काज़ी और ग्रामीण क्षेत्रों में भ्रमणशील न्यायाधीश निपटारा करते थे। उच्च अधिकारियों की नियुक्ति सामान्यतः शासक द्वारा की जाती थी और उनके पद पैत्रिक नहीं होते थे। नियुक्ति के समय योग्यता को प्राथमिकता दी जाती थी। उच्च पदों पर विभिन्न गुटों एवं विभिन्न धर्मों के मानने वाले लोग थे। अधिकारियों को वेतन के बदले जागीर दी जाती थी परंतु रणजीत सिंह के शासन काल के उत्तरार्ध में अधिकतर अधिकारियों को वेतन की अदायगी नकद की जाने लगी थी।

केन्द्रीय प्रभुत्व का विभिन्न भागों पर नियंत्रण मुख्य रूप से केन्द्रीय प्रभुत्व के स्थान की समीपता के ऊपर निर्भर करता था। वास्तविक शाही नियंत्रण के आधार पर इतिहासकारों ने

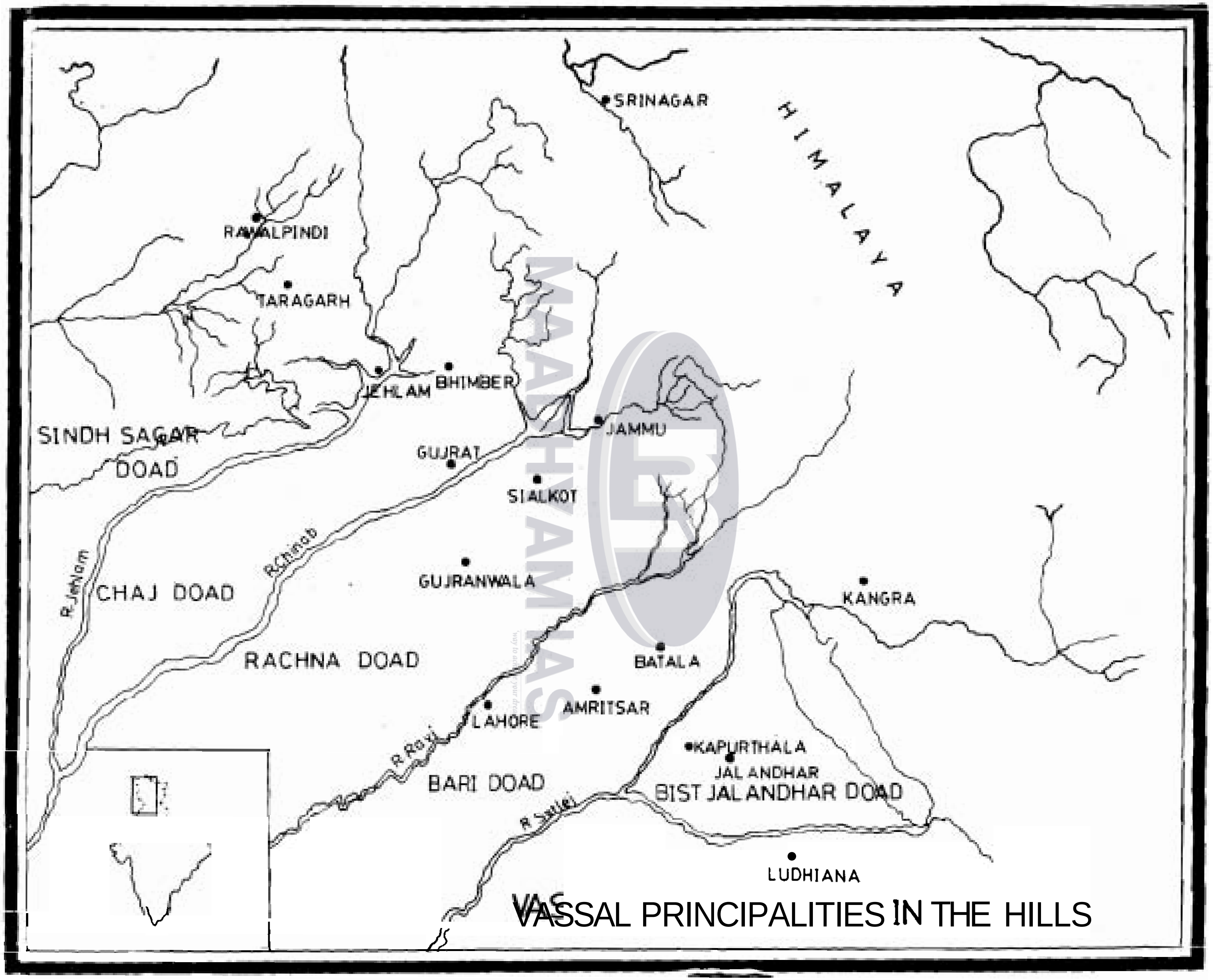

VASSAL PRINCIPALITIES IN THE HILLS

मानचित्र-7

MAADHYAM IAS

सिक्ख राज्य के क्षेत्र का विभाजन तीन मंडलों में निम्न प्रकार से किया है:

- केन्द्रीय मंडल, यह क्षेत्र सतलज से झेलम नदी तक फैला था और इस पर सबसे पहले नियंत्रण किया गया तथा यह राजधानी के सबसे नजदीक था।
- मध्य क्षेत्रीय मंडल, सिंधु तथा झेलम के मध्य का क्षेत्र और इसके अंतर्गत मुख्य रूप से मुल्तान और कश्मीर का सूबा था।
- सीमांत मंडल, इसके अंतर्गत पेशावर, डेरा इस्माइल खान, डेरा गाजी खान आदि क्षेत्र आते थे।

केन्द्रीय मण्डल पर शाही नियंत्रण सबसे अधिक था तथा यहाँ पर अधिकारियों की नियुक्तियाँ और उनके कार्यों पर केन्द्र का कड़ा नियंत्रण होता था। अन्य दोनों मण्डलों में केन्द्रीय नियंत्रण तुलनात्मक रूप से कम था और समय-समय पर स्थानीय अधिकारियों की नियुक्तियाँ प्रांतीय सूबेदारों के द्वारा स्वयं की जाती थी। इन सीधे शासित होने वाले क्षेत्रों के अतिरिक्त, पूरे सिक्ख शासन काल के दौरान विशेषकर पर्वतीय क्षेत्रों में स्वायत्तता प्राप्त कुछ रियासतें भी थीं। इन परतंत्र रियासतों को निम्नलिखित तीन समूहों में विभाजित किया गया था:

- सतलज और रावी नदियों के बीच स्थित पूर्व समूह,
- रावी और चेनाब नदियों के बीच स्थित केन्द्रीय समूह,
- चेनाब तथा सिंधु नदियों के बीच का पश्चिमी समूह।

इन रियासतों के सरदारों ने सिक्ख शासकों के सामन्ती प्रभुत्व को स्वीकार किया और वे उनको वार्षिक नजराना अदा करते थे। लेकिन अपनी रियासत के अंतर्गत उनको पर्याप्त स्वतंत्रता थी और सिक्ख शासकों की राजस्व संबंधी नीतियों का अनुसरण करने के लिए बाध्य नहीं थे। फिर भी, कुछ रियासतों के शासकों ने सिक्ख शासकों की सामान्य प्रशासन तथा सैनिक अभियानों में मदद की और नजीम एवं इजारेदार की हैसियत से कार्य किया।

MAADHYAM IAS

5.6.2 राजस्व प्रशासन

आर्थिक लक्ष्यों के लिए पंजाब को तीन वर्गों में विभाजित किया गया। पहले वे क्षेत्र थे जिनको किराये पर दिया गया, दूसरे वे क्षेत्र थे जिनको अनुदान के रूप में दिया गया तथा तीसरे वे थे जिन पर सीधे प्रशासन किया गया था। इन क्षेत्रों को तीन वर्गों के प्रशासनकर्ताओं को सौंपा गया:

- जनता का सम्पन्न वर्ग जिनका कार्य राजस्व वसूली का था।
- सेना के वे सरदार जिनको अपने क्षेत्रों में पूर्ण अधिकार इस आशय के साथ दिये गये थे कि आवश्यकता पड़ने पर अपने सैन्यबल को भेजेंगे।
- कर इकट्ठा करने वाले राज्य के कर्मचारी जिनके वेतन अधिकतर उनके अनुलाभों पर निर्भर करते थे।

देश की अर्थव्यवस्था का आधार कृषि थी इसलिए देश के धन का मुख्य साधन भी भूमि से प्राप्त होने वाला राजस्व था। भू-राजस्व की वसूली बटाई, कंकूट और जब्ती व्यवस्था के अंतर्गत होती थी।

- बटाई: फसल की कटाई के बाद जो वास्तविक पैदावार होती थी उसी को फसलों में हिस्सेदारी का आधार बनाया जाता था। यह व्यवस्था मुगल काल से ही प्रचलित थी। इस व्यवस्था के अंतर्गत शासकों को फसल की कटाई पर लगातार निगरानी रखनी पड़ती थी अन्यथा उनको वास्तविक हिस्से से वंचित होने की संभावना रहती थी।
- कंकूट: इस व्यवस्था के अंतर्गत खड़ी फसल पर या फसल के कटाई से पूर्व सरकार का हिस्सा निश्चित किया जाता था। यह व्यवस्था भी मुगल शासन के दौरान प्रचलित थी। इस व्यवस्था का एक लाभ यह भी था कि इसके अंतर्गत सरकार को लगातार फसलों पर निगरानी नहीं रखनी पड़ती थी क्योंकि फसल की कटाई से पूर्व ही सरकार अपने हिस्से का निर्धारण कर लेती थी जिससे सरकार अपना बजट बना सकती थी।
- जब्ती: इस व्यवस्था के अंतर्गत फसलों के आधार पर आकलन करने के बाद नकद भुगतान

करना होता था। सामान्यत: कपास, नील, गन्ना, तम्बाकू आदि नकद फसलों पर यह व्यवस्था लागू होती थी।

भू-राजस्व का स्तर एक स्थान से दूसरे स्थान पर भिन्न-भिन्न था। सामान्यत: सरकार का हिस्सा उत्पाद के दो-तिहाई से लेकर एक तिहाई तक होता था। राजस्व का निर्धारण जमीन की गुणवत्ता, सिंचाई की प्रणाली और जुताई करने पर आये खर्च के आधार पर किया जाता था। भू-राजस्व के अतिरिक्त और भी अन्य कर थे जिनको अबवाब के नाम से जाना जाता था तथा इनको किसानों से ही वसूल किया जाता था। राजस्व को नकद तथा वस्तु दोनों में इकट्ठा किया जाता था। इस प्रकार हम पाते है कि राजस्व प्रशासन में भी मुगल व्यवस्था की तुलना में कुछ अधिक परिवर्तन नहीं हुए थे।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

चित्र-12 रणजीत सिंह की मोहरें

5.7 सिक्ख राजनीति का चरित्र

अभी तक हमने सिक्ख राज्य तथा उसके संगठनात्मक ढांचे के विकास के विषय में विवेचन किया है। लेकिन सिक्ख राजनीति का क्या चरित्र था ? इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि सिक्ख राजनीति को मूलभूत आधार सिक्ख गुरुओं के उपदेशों ने उपलब्ध कराया। मध्य काल में सामाजिक, आर्थिक तथा धार्मिक अन्यायों के विरुद्ध संघर्ष करते हुए सिक्खों के बीच जो आंदोलन पैदा हुआ वह 18वीं सदी के दौरान अंतत: एक राजनैतिक आंदोलन में

परिवर्तित हो गया। इसलिए सिक्ख राजनीति की आधारशिला नैतिक नियमों और गुरुओं की लोकतांत्रिक परंपराओं के आधार पर रखी गयी। इस लोकतांत्रिक परंपरा की अभिव्यक्ति मिसल काल की सिक्ख राजनीति में गुरमत, दल खालसा, खालसा के नाम पर शासन करने आदि जैसी बहुत सी विशेषताओं में पायी जाती है।

यह जानना महत्वपूर्ण है कि मिसल काल के दौरान की सिक्ख राजनीति के चरित्र के विषय में सभी इतिहासकार एक मत नहीं हैं। कुछ इतिहासकारों के अनुसार मिसलें अपने चरित्र में धार्मिक,राजनैतिक व्यवस्था वाली थी परन्तु दूसरी ओर यह भी मत व्यक्त किया गया है कि मिसल के सरदारों के कार्य करने से स्पष्ट है कि अपने-अपने क्षेत्रों में स्वतंत्रतापूर्वक कभी-कभी अपने हितों के अनुरूप कार्य करते थे। सरबत खालसा की सभाओं में उनकी उपस्थिति आवश्यक नहीं थी। वे इन सभाओं में आपात स्थिति पर विचार-विमर्श करने के लिए ही शामिल होते थे या पारस्परिक हितों के मामलों के लिए। इन सभाओं के निर्णयों को मानना उनके लिए अनिवार्य नहीं था। परन्तु लोकतांत्रिक परंपराओं का एक ढांचा होने के बावजूद भी मिसलों के आंतरिक संगठन में बहुत अधिक लोकतंत्र नहीं था। व्यक्ति विशेष की सरकार के सिद्वांत का प्रचलन ही अधिक था। इसमें कोई संदेह नहीं है कि मिसलों का एक संघ था परन्तु एक मिसल के अंतर्गत सरदार या मिसल का मुखिया पूर्ण रूप से स्वतंत्र होता था। बाह्य खतरों के कारण मिसलों के संघ का अस्तित्व था। आंतरिक मामलों में संघ का मिसलों पर कोई नियंत्रण न था।

बहुत से स्वतंत्र सरदारों के स्थान पर सिक्ख राजतंत्र के उदय के कारण सिक्ख राजनीति के चरित्र में पुन: और परिवर्तन हुआ। 19वीं सदी में सरदार की व्यक्तिगत स्वायत्तता का अंत हो गया और राज्य के अंतर्गत राजा सर्वोच्च प्रभुत्व संपन्न बन गया। रणजीत सिंह का सिक्ख धर्म का पुस्तकों तथा सिक्ख धर्म में पूरा-पूरा विश्वास था। परन्तु उसने अपने व्यक्तिगत विश्वास (धर्म) का प्रशासन चलाने में कभी भी प्रयोग नहीं किया। पंजाब को विभिन्न जातियों, धार्मिक और भाषाई गुटों के लोगों की भूमि होने के कारण एक धर्म निरपेक्ष प्रशासन की आवश्यकता थी और सिक्ख शासकों ने इस क्षेत्र में अपने शासन को सुदृढ़ करने के लिए उचित ढंग से कार्य किया। प्रशासन के मामलों में धर्म का हस्तक्षेप बिल्कुल भी नहीं किया गया। डॉ. इन्दु बंगा ने लिखा है कि पहाड़ी घाटियों तथा इसी प्रकार के अन्य मैदान वाले स्थानों पर स्वायत्त रियासतों की निरंतरता, जागीरों का आवंटन तथा बिना किसी मदभेद के जमींदार कुलीनों की सेवा, धरमार्थ के लिए धार्मिक व्यक्तियों और विभिन्न धर्मों से संबंधित धार्मिक संस्थाओं को दिये जाने वाले अनुदान, इन सबके पीछे मुख्य उद्देश्य सुदृढ़ता की आवश्यकता थी।

MAADHYAM IAS

बोध प्रश्न 3

1) क्या आप यह सोचते हैं कि सिक्ख तथा मुगल प्रशासनिक व्यवस्थाओं के बीच निरन्तरता थी ? लगभग 60 शब्दों में लिखिये।

....

....

....

....

....

....

2) सिक्ख शासकों ने किस प्रकार भू-राजस्व व्यवस्था को संगठित किया ? लगभग 60 शब्दों में लिखिए।

....

....

....

....

....

. . . .

. . . .

3) सूची (ब) में दिये गये शब्दों को सूची (अ) में दिये गये शब्दों से मिलाओ।

अ)	ब)
ग्राम मुखिया	चौधरी
टप्पा का मुखिया	पटवारी
पारगनाधिकारी	करदार
गाँव का मुनीम	मुकद्दम
राजस्व विभाग का मुखिया	नजीम
सूबे का प्रमुख	दीवान

5.8 सारांश

इस इकाई में हम देख चुके हैं कि लगातार होने वाले विदेशी आक्रमणों और सिक्ख सरदारों के विद्रोहों के कारण पंजाब में मुगल प्रशासन समाप्त हो गया था। इन व्याप्त अस्थिर राजनैतिक परिस्थितियों में सिक्खों का उदय एक राजनैतिक ताकत के रूप में हुआ और उन्होंने पंजाब में एक स्वायत्त राज्य की स्थापना की। रणजीत सिंह के नेतृत्व तथा उसकी राजनैतिक कुशलता ने इस प्रक्रिया में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। मुगल व्यवस्था की तुलना में प्रशासन में बहुत अधिक संस्थात्मक परिवर्तन नहीं हुए और अपने शासन को सुदृढ़ करने के लिये सिक्ख शासकों ने प्रशासन में धर्म निरपेक्ष दृष्टिकोण को अपनाया। परन्तु राजतंत्र की आंतरिक कमजोरियों तथा गुटबाजियों, जो राज्य के अंदर जीवित रहीं, के कारण इसने ब्रिटिश साम्राज्यवादी व्यवस्था के सम्मुख घुटने टेक दिये।

MAADHYAM IAS

5.9 शब्दावली

अबवाब: भू-राजस्व के साथ-साथ अन्य कर (उत्पादक कर, चुंगी) भी किसानों से वसूल किये जाते थे।

आदि ग्रंथ: सिक्ख पंथ की धार्मिक पुस्तक।

दल खालसा: एक से अधिक सरदार की संयुक्त सेनायें जिनका गठन किसी विशेष उद्देश्य के लिये किया गया हो परन्तु अस्थायी तौर पर।

धरमारथ: भूमि अनुदान जिसे धार्मिक तथा स्वयंसेवी संस्थाओं को दिया गया हो।

फौजदार: मुगलों के अंतर्गत एक सरकार का प्रशासनिक अधिकारी

गुरमत: गुरु ग्रंथ साहिब के सम्मुख सरबत खालसा में उपस्थित सिक्खों द्वारा पूर्ण बहुमत से पारित प्रस्ताव

पटवारी: गाँव का मुनीम

सरबत खालसा: सम्पूर्ण खालसा, सिक्ख पंथ की सभा

5.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) आपका उत्तर सिक्ख सरदारों के विद्रोहों, विदेशी आक्रमणों, प्रांतीय प्रशासन के अंदर

व्याप्त गुटबाजी आदि पर आधारित होना चाहिए। देखें भाग 5.2

2) धर्मनिरपेक्ष चरित्र, सार्वभौमिक भ्रातृत्व, गैर-संकुचित समझ आदि के विषय में लिखें। देखें भाग 5.3

3) आप उस पृष्ठभूमि के विषय में लिखें जिसके कारण पंजाब में अपने आधार को सुदृढ करने के लिये बहुत से सिक्ख सरदारों तथा सिक्खों के बीच व्यापक एकता कायम हुई। देखें भाग 5.3

5) अ) ✓, ब) ✓, स) ×, द) ×, इ) ✓

बोध प्रश्न 2

1) भाग 5.4 को पढ़कर अपना उत्तर दें।

2) आपका उत्तर रणजीत सिंह के बाद की राजतंत्र की आंतरिक समस्याओं और इसके ब्रिटिश साम्राज्य में विलय पर केन्द्रित होना चाहिये। देखें भाग 5.5

बोध प्रश्न 3

1) भाग 5.6 को दृष्टिकोण में रखते हुए कुछ उदाहरणों के साथ आप अपने तर्कों को प्रस्तुत करें।

2) आपको अपने उत्तर में राजस्व निर्धारण की व्यवस्थायें, राजस्व की दर तथा एकत्रित करने का तरीकों को शामिल करना चाहिए। देखें उप-भाग 5.6.2

3) मुकद्दम, चौधरी, कारदार, पटवारी, दीवान, नज़ीम।

कुछ उपयोगी पुस्तकें

बिपन चन्द्र: आधुनिक भारत।

ताराचन्द: भारत का स्वतंत्रता संग्राम, Vol. 1, Vol. 2.

आर. एल. शुक्ला: आधुनिक भारत।

प्रो. सतीश चंद्र: मुगल दरबार में दलगत राजनीति।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

इकाई 6 वाणिज्यिक से औद्योगिक पूंजीवाद की ओर बढ़ता यूरोप

इकाई की रूपरेखा

6.0 उद्देश्य
6.1 प्रस्तावना
6.2 सामंतवादी यूरोप
6.3 नये विचार : पुनर्जागरण और सुधार
6.4 भौगोलिक खोजें और पारसमुद्रीय उपनिवेशीकरण
6.5 सोलहवीं शताब्दी का इंग्लैंड : परिवर्तन के दौर
6.6 व्यापारिक पूंजी के दौरान उत्पादन
6.7 व्यापार के तरीके और संगठन
6.8 वाणिज्यवाद
6.9 मूल्य वृद्धि और संकट
6.10 इंग्लैंड : औद्योगीकरण की ओर
6.11 औद्योगिक क्रांति
6.12 औद्योगिक पूंजीवाद की ओर
6.13 सारांश
6.14 शब्दावली
6.15 बोध प्रश्नों के उत्तर

6.0 उद्देश्य

इस इकाई में हम 15वीं शताब्दी से लेकर 19वीं शताब्दी तक यूरोप में पनपी प्रमुख आर्थिक और सामाजिक प्रवृत्तियों का अध्ययन करेंगे। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

- यूरोप में सामंतवाद के कमजोर होने के कारणों का उल्लेख कर सकेंगे,
- यूरोप की अर्थव्यवस्था पर भौगोलिक खोजों, पारसमुद्री उपनिवेशीकरण के प्रभावों को रेखांकित कर सकेंगे,
- वाणिज्यवादी काल, बाजारों का उदय, मुद्रा अर्थव्यवस्था, पूंजी का जमाव और वाणिज्यवादी विचारों के प्रभाव पर प्रकाश डाल सकेंगे,
- विज्ञान और तकनीक में विकास होने के साथ-साथ कृषि, उद्योग और व्यापार के क्षेत्र में होने वाले परिवर्तनों को समझा सकेंगे,
- यूरोपीय देशों के तुलनात्मक विकास का वर्णन कर सकेंगे,
- एक प्रमुख औपनिवेशिक शक्ति के रूप में इंग्लैंड के उदय का उल्लेख कर सकेंगे,
- ब्रिटेन की औद्योगिक क्रांति के कारण, स्वरूप और परिणाम पर प्रकाश डाल सकेंगे, और
- पूंजीवाद के उदय में उपनिवेशों की भूमिका समझा सकेंगे।

6.1 प्रस्तावना

खंड 7 में आप भारत में 18वीं सदी के दौरान, घटित राजनीतिक गतिविधियों की जानकारी प्राप्त कर चुके हैं। इस काल की उल्लेखनीय बात यह थी कि कई यूरोपीय औपनिवेशिक शक्तियाँ भारतीय उपमहाद्वीप पर अपना प्रभुत्व जमाने के लिए एक दूसरे में होड़ लगा रही थीं। सवाल यह उठता है कि एक साथ इतने यूरोपीय देश उपनिवेश बनाने के लिए क्यों आतुर हो गये?

इस इकाई में हम इसी प्रश्न पर विचार कर रहे हैं और इस प्रश्न पर विचार करने के लिए 15वीं से 19वीं शताब्दी के मध्य तक यूरोप में हुए आर्थिक और सामाजिक बदलाव को समझना जरूरी है।

इस इकाई में हम यूरोप में सामंतवाद के पतन और नये विचारों के उदय, भौगोलिक खोजो, पारसमुद्रीय व्यापार और उपनिवेशीकरण पर विचार-विमर्श करेंगे। इस इकाई में हम व्यापारिक क्रांति और 17-18वीं शताब्दी में प्रभावशाली वाणिज्यवादी विचारों से आपको अवगत कराएंगे। इकाई के अंतिम हिस्से में हम औपनिवेशिक शक्ति के रूप में ब्रिटेन के उदय, औद्योगिक क्रांति और यूरोप में वाणिज्यिक पूंजीवाद से औद्योगिक पूंजीवाद के रूपांतरण पर प्रकाश डालेंगे।

6.2 सामंतवादी यूरोप

मध्ययुग की समाप्ति के साथ-साथ यूरोप में सामंती समाज का अस्तित्व भी संकट में पड़ गया। वहाँ लगभग एक हजार सालों से सामंतवाद स्थापित था। पाँचवीं शताब्दी में शक्तिशाली रोमन साम्राज्य के पतन के बाद राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक शक्तियाँ विकेंद्रित हो गयीं, राज्य और राजा के स्थान पर बिचौलिये शक्तिशाली हो गये। आने वाली शताब्दियों में सामंती समाज बिचौलियों के समाज में रूपांतरित हो गया, जहाँ बिचौलियों के कई स्तर स्थापित हो गये। ये बिचौलिए अपने मातहतों के सहारे जीते थे। अर्थव्यवस्था और समाज व्यवस्था प्रमुख रूप से भूमि और कृषि पर आधारित थी, व्यापार की भूमिका बहुत गौण थी। कृषि पर आधारित जनसंख्या में कृषिदासों (सर्फ्स) की संख्या सबसे ज्यादा थी। मालिक की सेवा इनका धर्म था। एक छोटे जमींदार के ऊपर दूसरा बड़ा जमींदार होता था। छोटा जमींदार बड़े जमींदार की जरूरतों को पूरा करता था।

इस प्रकार, सामंती समाज निर्भरता और परस्पर निर्भरता के बंधन में बंधा था : मजबूत कमजोर को अपना सेवक बनाता था और सेवक को संरक्षण प्रदान किया जाता था। वर्गों के बीच का संबंध विश्वास और संरक्षण से निर्धारित होता था।

इस युग में नाइट्स (knights), कुलीनों और राजाओं जैसे बड़े भूमिपतियों के जीवन मूल्य शौर्य और सम्मान पर आधारित थे। चर्च और उसके पुजारी शक्तिशाली थे और सामंती समाज पर उनका अच्छा खासा प्रभाव था।

चौदहवीं शताब्दी आते-आते सामंती समाज अपने उत्थान के उत्कर्ष पर था। बारहवीं शताब्दी से सामंती समाज में तकनीक, कृषीय उत्पादन, व्यापार वाणिज्य और जनसंख्या की वृद्धि हो रही थी। पर, एक सीमा तक पहुंचकर इस व्यवस्था ने विकास का मार्ग अवरुद्ध किया। 1000 ई. में जनसंख्या 385 लाख थी जो 14वीं शताब्दी में बढ़कर 735 लाख हो गयी। इतनी तेजी से तकनीकी और स्रोतों का विकास न हो सका और युद्धों की श्रृंखला और प्राकृतिक प्रकोप ने जनसंख्या की बाढ़ पर रोक लगायी। सन् 1348 ई. के बाद प्लेग का भयंकर प्रकोप हुआ और जनसंख्या में तेजी से कमी आयी। जनसंख्या की इस गिरावट के कारण लोग खेतों को छोड़कर भागने लगे और कृषीय उत्पादन में गिरावट आयी। परिणामस्वरूप, सामंती भूमिपतियों की आय में भी कमी आयी। इसकी प्रतिक्रिया में भूमिपतियों ने कृषिदासों पर अपना सामंती नियंत्रण और भी कस दिया। कृषिदासों ने इसका विरोध किया और 14वीं-15वीं शताब्दी के दौरान समूचे यूरोप में लगातार कई कृषक विद्रोह हुए। इनमें 1358 का फ्रांसीसी जेक्वेरे और 1381 का अंग्रेज कृषक विद्रोह उल्लेखनीय है।

इस प्रकार पश्चिमी यूरोप अर्थात् एल्ब नदी के पश्चिमी किनारे पर स्थित देश, जैसे इंग्लैंड, फ्रांस, हॉलैंड, स्पेन, जर्मनी के एक हिस्से और स्कैंडिनेविया के सामंती समाज का अस्तित्व संकट में पड़ गया। इस सामंती संकट के फलस्वरूप सामंती भूमिपतियों का प्रभाव कमजोर हुआ और कृषिदास की प्रथा कमजोर हुई। पूर्वी यूरोप, अर्थात् आज के पोलैंड, रूमानिया, हंगरी, यू.एस.एस.आर. आदि में भूमिपतियों ने कृषिदास प्रथा को फिर से लागू किया और 14वीं-15वीं शताब्दी के बाद यह प्रथा पुनः सुदृढ़ हो गयी। परिणामस्वरूप, पूर्वी यूरोप में सामंती प्रथा पश्चिमी यूरोप की अपेक्षा अधिक दिनों तक जीवित रही। अगली तीन-चार शताब्दियों में व्यापार, उद्योग और नगरीकरण के क्षेत्र में पूर्वी यूरोप पश्चिमी

यूरोप से पिछड़ गया। आने वाले वर्षों में पूर्वी यूरोप ने पश्चिमी यूरोप को बने बनाये माल के बदले कृषि उत्पादों की आपूर्ति की। आगे हम यूरोप में होने वाली जिन गतिविधियों पर विचार-विमर्श करने जा रहे हैं, उससे हम पश्चिम यूरोप पर ही अपना ध्यान केंद्रित करेंगे।

6.3 नये विचार : पुनर्जागरण और सुधार

16वीं शताब्दी के आरंभ होते-होते यूरोप की सामंती व्यवस्था पर प्रश्न-चिह्न लग गया और इसमें कई प्रकार के सुधार हुए। संस्कृति और विचार के क्षेत्र में कई लेखकों, चित्रकारों, शिल्पियों और अन्य कलाकारों ने व्यक्ति और मानवता पर बार-बार जोर दिया। इनमें से अधिकांश कलाकारों/लेखकों ने प्राचीन संस्कृति या प्राचीन यूनान और रोम से प्रेरणा ग्रहण की और कई यूरोपीयवासियों ने व्यक्ति के शोषण और सामंतयुग की सामूहिक सत्ता को चुनौती दी। 14वीं शताब्दी में सामंती व्यवस्था के कमजोर पड़ने के साथ व्यक्तिवाद और मानवतावाद जैसे विचारों ने नये जीवन-मूल्य को सामने रखा। समग्र रूप से इसे Renaissance (पुनर्जागरण) के रूप if जाना जाता है। इतालवी भाषा में रेनेसां (Renaissance) का शब्दार्थ पुनर्जन्म है और मध्ययुग के बाद यूरोप if होने वाले परिवर्तनों के लिए इसका प्रयोग किया गया।

उत्तर मध्यकाल के दौरान, खासकर इटली में, विश्वविद्यालयों में पुनर्जागरण संबंधी विचारों का प्रस्फुटन हुआ और 16वीं शताब्दी के दौरान साहित्य और विभिन्न कलाओं में इसकी मुखर अभिव्यक्ति हुई। 1520 के दशक में मार्टिन लूथर और जॉन केल्विन जैसे सुधारकों ने क्रिश्चियन चर्च पर लगातार प्रहार किया। उन्होंने चर्च पर भ्रष्टाचार, दुरुपयोग और लोगों को गलत रास्ते पर ले जाने का आरोप लगाया। उन्होंने चर्च की यह कहकर भी आलोचना की कि यह ईसा मसीह और अन्य संतों के बताए गये मार्ग से भटक गया है। लूथर और कैल्विन दोनों ने अपने पृथक चर्च स्थापित किये।

इन चर्चों की ओर जर्मनी, स्विट्जरलैंड, फ्रांस, इंग्लैंड, स्कॉटलैंड और उत्तरी स्कैंडिनेवियन देशों के लोग आकृष्ट हुए। क्रिश्चियन चर्च पर यह आक्रमण और इसमें सुधार का प्रयास एक आंदोलन के रूप में विकसित हुआ, जिसे सुधार आंदोलन के नाम से जाना जाता है।

MAADHYAM IAS

व्यापारियों, व्यवसायियों और बैंकरों के उदित हो रहे वर्ग से यूरोप का नया मध्यवर्ग निर्मित हुआ। यह वर्ग पुनर्जागरण और सुधार आंदोलन से काफी प्रभावित हुआ। 14वीं-15वीं शताब्दी में सामंती के दौरान कृषि क्षेत्र में पूंजी लगाना कम फायदेमंद हो गया था, इसकी तुलना में व्यापार और वाणिज्य में अधिक फायदा था।

पुनर्जागरण के जन्मस्थान इटली के व्यापारी 11वीं-12वीं शताब्दी से ही यूरोप के देशों को कलात्मक और ऐयाशी के सामान निर्यात कर रहे थे। उसी समय से वे काफी सम्पन्न थे। इसमें इटली की भौगोलिक स्थिति भी सहायक थी, यह समुद्र से घिरा था और पूर्व की ओर जमीन के रास्ते से भी जुड़ा था। सन् 1500 ई. के आसपास इटली यूरोप का सबसे सम्पन्न देश था, जहाँ उस समय छोटे-छोटे स्वतंत्र राज्य और वेनिस, जेनेवा, मिलान, फलोरेंस आदि जैसे स्वायत्त व्यापारिक शहर विराजमान थे।

6.4 भौगोलिक खोजें और पारसमुद्रीय उपनिवेशीकरण

यूरोप के कई देश व्यापार के क्षेत्र में इटली के एकाधिकार को तोड़ना चाहते थे। 15वीं शताब्दी से ही अतलांतिक तट पर बसे देश अफ्रीका होकर पूर्व की ओर जाने का वैकल्पिक रास्ता खोज रहे थे। नये अनजाने स्थलों और नये समुद्री रास्तों की खोज में कई तत्व सहायक हुए।

- 15वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में कई केंद्रीयकृत राज्यों और मजबूत राजाओं का उदय हुआ। उन्होंने भौगोलिक खोजों को प्रोत्साहित किया। पुर्तगाल और स्पेन जैसे केंद्रीयकृत राज्यों ने इन खोजों को बढ़ावा दिया और खोजियों को वित्तीय सहायता भी प्रदान की।

- कंपास, ऐस्ट्रोलेब, बारूद आदि तकनीकी उपलब्धियों और सूचनाओं से खोजियों को काफी मदद मिली। 15वीं और 16वीं शताब्दियों में मुद्रण और नक्शा बनाने का काम तेजी से विकसित हुआ।
- पूर्व की समृद्धि की कहानियाँ, नयी जगहों पर ईसाई मत को फैलाने की इच्छा और सबसे बढ़कर नाम कमाने की इच्छा ने और खोजियों को प्रोत्साहित किया।

दूसरे शब्दों में धर्म, ख्याति और धर्म की इच्छा और रोमांच के मिजाज से यूरोप के खोजी प्रेरित थे। 1487 में, बार्थोलो दीयाज नाम का एक पुर्तगाली अफ्रीका के दक्षिणी सिरे तक पहुंच गया और इस जगह को केप ऑफ द गुड होप कहा गया। 1498 में वास्कोडिगामा भारत पहुंचा। इसी समय क्रिस्टोफर कोलंबस पूर्व के रास्ते की खोज में निकला। उसने अतलांतिक पार किया और अमेरिका नामक एक नये महादेश की खोज की।

MAADHYAM IAS

1. विभिन्न प्रकार के कंपास

1530 के दशक में, पुर्तगाली और स्पैनिश खोजी न केवल आज के दक्षिणी अमेरिका तक पहुंच गये बल्कि उन्होंने तत्कालीन इंका और एज्टेक साम्राज्यों को जीतना भी शुरू कर दिया।

नयी दुनिया (उत्तरी और दक्षिण अमेरिका) के उपनिवेशों के साथ यूरोपीय व्यापार एशिया के साथ होने वाले व्यापार से भिन्न था। पहले अमेरिकी खजानों को लूटा गया और फिर बहुमूल्य वस्तुओं (सोना और चांदी) के खानों पर अधिकार जमाकर उन्हें स्पेनिश और पुर्तगालियों ने अपने-अपने वतन भेजना शुरू किया। कुछ समय बाद यूरोपीय देश चीनी, लकड़ी, तंबाकू, रूई और मछली जैसे सामानों का आयात करने लगे और कपड़ा, घरेलू फर्नीचर और साजोसामान और अन्य उपभोक्ता वस्तुओं का निर्यात करने लगे। इसके अलावा दासों के व्यापार में खूब वृद्धि हुई। ईख, तंबाकू, रूई की खेती और सोने और चांदी की खानों में मजदूरों की जरूरत पड़ती थी, इस काम के लिए अफ्रीकी दासों का आयात किया जाता था। आरम्भ में अमेरिकी "भारतीयों" के प्रति औपनिवेशिक देशों का रवैया बहुत कठोर और निर्मम था। उदाहरणस्वरूप, मेक्सिको की जनसंख्या 1519 ई. में 250 लाख थी, वह 1600 में घटकर 10 लाख रह गयी। नयी दुनिया के बहुमूल्य वस्तुओं की खान की खोज से सबसे ज्यादा फायदा स्पेन को हुआ। सोलहवीं शताब्दी के दौरान अमेरिका से स्पेन को निर्यात होने वाली वस्तुओं में 90% हिस्सा बहुमूल्य पत्थरों का था। चार्ल्स पंचम और उसके पुत्र फिलिप द्वितीय के नेतृत्व में स्पेन यूरोप का सबसे शक्तिशाली देश साबित हुआ। दूसरी तरफ पूरब के मसाले के व्यापार पर पुर्तगालियों ने अपना नियंत्रण लगातार बढ़ाना शुरू किया।

सोलहवीं शताब्दी के दौरान पूरब और अमेरिका से बढ़ते संबंधों के कारण व्यापार में काफी बढ़ोत्तरी हुई। अतलांतिक तट पर व्यापार की गतिविधि तेज होती गयी। इस कारण एटवर्प

का तेजी से विकास हुआ। (एंटवर्प पहले दक्षिण नेदरलैंड का हिस्सा था और अब वह बेल्जियम का हिस्सा है) पुर्तगाली व्यापारियों ने अपने मसाले के व्यापार के लिए एंटवर्प को केंद्र बनाया। जर्मन व्यापारियों ने अपने धातु व्यापार और अंग्रेज व्यापारियों ने अपने कपड़ा व्यापार के लिए एंटवर्प को अड्डा बनाया। जैसे-जैसे समय आगे बढ़ता गया इटली का व्यापार पर एकाधिकार समाप्त होता गया।

इसी समय उत्तरी नेदरलैंड भी प्रमुख व्यापारिक और उत्पादन क्षेत्र के रूप में तेजी से उभर रहा था। डच अपने समुद्री अभियानों और जहाजरानी उद्योग के लिए प्रसिद्ध थे। 1550 ई. के बाद उन्होंने बाल्तिक समुद्री क्षेत्र के खाद्यान्न व्यापार पर भी अधिकार जमा लिया। सोलहवीं शताब्दी के दौरान डचों ने कृषि और उद्योग के क्षेत्र में कई परिवर्तन किये। उन्होंने दलदल और समुद्री भूमि पर खेती करने की तकनीक विकसित की। दुग्ध उत्पादन उद्योग फला फूला था और पवनचक्की का खूब उपयोग होता था। उन्होंने हल्के व्यापारिक जहाज बनाए, वे अपने युद्धपोतों पर कम से कम जहाजियों को रखते थे और निम्नकोटि की शराब और कपड़े निर्यात करते थे। 1585 में एंटवर्प पर स्पेन का अधिकार हो गया। इसके बाद उत्तर-पश्चिमी अतलांतिक क्षेत्र में एमस्टर्डम (उत्तरी नेदरलैंड) प्रमुख व्यापार केंद्र के रूप में विकसित हुआ।

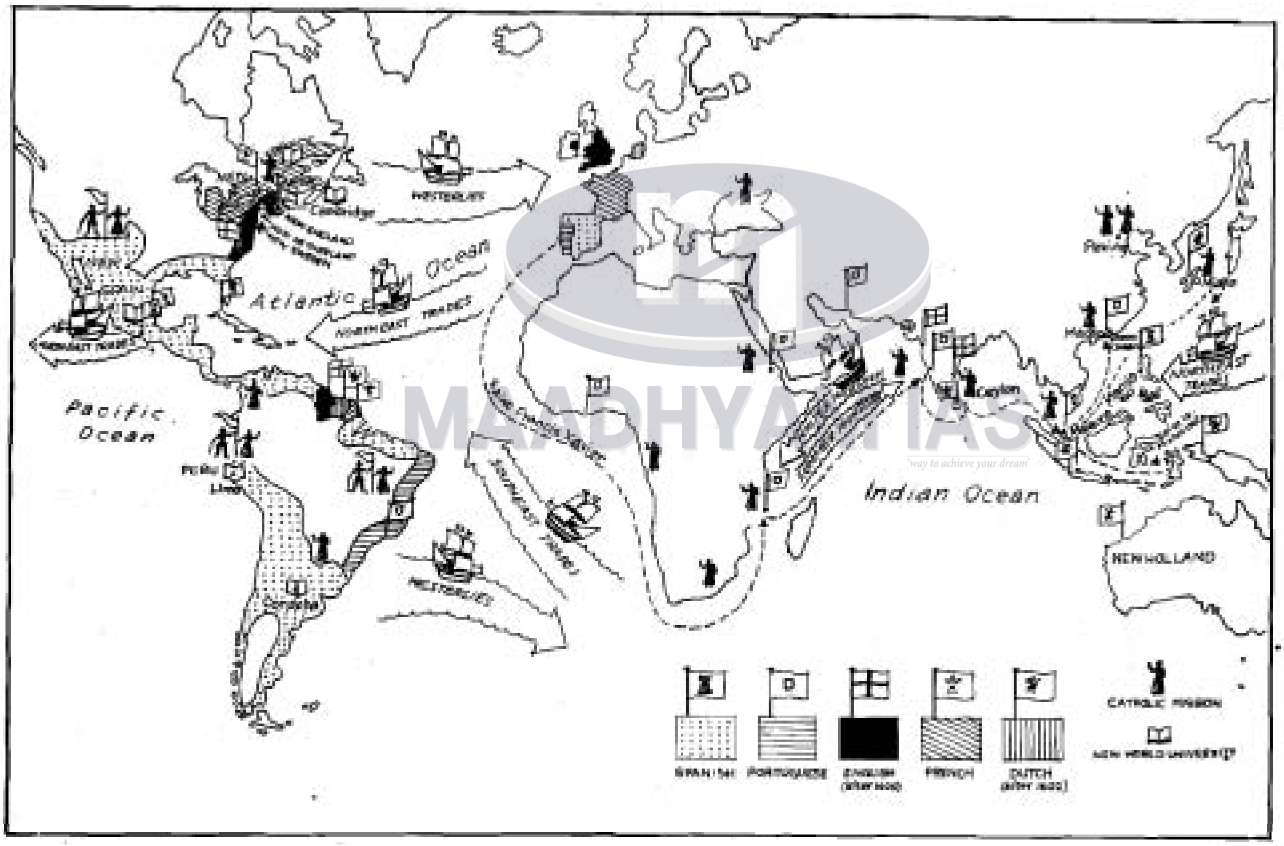

MAADHYAM IAS

2. यूरोपीय संस्कृति का प्रसार (16वीं-17वीं शताब्दी के आसपास)

6.5 सोलहवीं शताब्दी का इंग्लैंड : परिवर्तन के दौर

आने वाली शताब्दियों में स्पेन, पुर्तगाल, इटली और नेदरलैंड को एक देश मात देने वाला था। उस देश का नाम था इंग्लैंड। स्पेन की तरह इंग्लैंड की न तो बहुमूल्य वस्तुओं के खान तक सीधी पहुंच थी और न ही आरंभ में पुर्तगालियों की तरह लाभकारी मसाले के व्यापार पर कोई विशेष पकड़ थी। इसके बावजूद सोलहवीं शताब्दी का अंत आते-आते

इंग्लैंड इतना शक्तिशाली हो गया कि उसने 1588 के नौसैनिक युद्ध में स्पेन को हरा दिया। इंग्लैंड की इस जीत के पीछे उसके अंदरूनी परिवर्तन का प्रमुख हाथ था। 15वीं शताब्दी के अंत में हुए सामंती संकट के कारण यह बदलाव आया। इस समय इंग्लैंड में "एन्क्लोजर मूवमेंट" (घेराबंदी आंदोलन) नामक आंदोलन हुआ। अंग्रेज भूमिपतियों को कृषि में घाटा हुआ और उन्हें विद्रोही कृषकों का सामना करना पड़ा। उन्होंने अपने खेतों की घेराबंदी शुरू कर दी और उन्हें चारागाह के रूप में बदलना शुरू किया। इसके कई परिणाम सामने आये।

इन चारागाहों का उपयोग व्यापारिक उद्देश्य को ध्यान में रखकर भेड़ों के पालन के लिए किया गया। इस धंधे से मांस और ऊन के व्यापार को गति मिली और संकट के दिनों में भूमिपतियों ने न केवल अपने अस्तित्व की रक्षा की, बल्कि मुनाफा भी कमाया। सर थॉमस मोरे ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "यूरोपिया" में लिखा है कि आरंभिक सोलहवीं शताब्दी में भेड़ आदमी को खा रहे थे।

सोलहवीं शताब्दी में जनसंख्या के पुन: स्थायित्व प्राप्त करने के बाद खेती का सिलसिला फिर शुरू हुआ, साथ ही साथ भेड़ और पशुपालन का धंधा भी चलता रहा। घेराबंदी आंदोलन (Enclosure movement) का सबसे उल्लेखनीय परिणाम यह हुआ कि भूमिपति की जमीन पर परम्परागत रूप से रह रहे किसान उजड़ गए। अपनी भूमि छिन जाने के बाद वे कृषिदास बनने को मजबूर हुए या बंदरगाहों पर चले गये और आजीविका की खोज में शहरी इलाकों की ओर भागे। सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी के दौरान "प्रगतिशील अंग्रेज भूमिपतियों" के उद्यम से अंग्रेजी कृषि व्यवस्था में मूलभूत बदलाव आये। वे घेराबंदी आंदोलन के प्रतिफलन थे, जो कृषि में वाणिज्यिक लाभ के लिए लगातार पूंजी निवेश कर रहे थे। वे खाद्यान्न और ऊन के बाजार के लिए कृषि का विकास करना चाहते थे। 1485 के बाद ट्यूडर राजतंत्र के उदय ने इस विकास को और गति दी। जब द्वितीय ट्यूडर शासक, हेनरी अष्टम ने 1530 के दशक में चर्च की सम्पत्ति को जब्त कर उसे बेचने का फैसला किया, तब जमीन के भूखे इन व्यापारिक भूमिपतियों ने शीघ्रता से यह जमीन खरीद ली और अपने उत्पादन को बढ़ाया। इसके अतिरिक्त यह वर्ग पुराने सामंती कुलीन वर्ग के लोगों की जमीन को किराये पर लेकर भी अपना धंधा बढ़ा रहा था। इंग्लैंड में उदित हो रहे इन वाणिज्यिक भूमिपतियों को भद्रवर्ग (gentry) के नाम से जाना जाता था।

सत्रहवीं शताब्दी में अंग्रेजी कृषि समाज में मोटे तौर पर चार वर्ग सामने आये :

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

- बड़े भूमिपतियों का ऐसा वर्ग जो किराये की आमदनी से अपनी जिंदगी बसर कर रहा था।
- भद्रवर्ग **(gentry)**
- काश्तकार किसान
- भूमिहीन खेतीहर मजदूर

इसी समय अंग्रेज व्यापारी ऊन और कपड़े के निर्यात को लगातार बढ़ा रहे थे। अंग्रेजी कपड़े एंटवर्प होकर यूरोप पहुंच रहे थे। 1520 से आर्थिक विकास में तेजी आयी। प्रतिरक्षा के खर्च को वहन करने के लिए हेनरी अष्टम ने मुद्रा का अवमूल्यन कर दिया। इस प्रकार यूरोपीय बाजार में अंग्रेजी माल की कीमत कम दी गयी।

1550 में यूरोपीय कपड़ा बाजार में अधिक कपड़े की आपूर्ति हो जाने से मंदी आ गयी। इससे अंग्रेजी कपड़ा उद्योग को आघात पहुंचा इस संकट का सामना करने के लिए अंग्रेज उत्पादकों ने अपने उत्पादों में परिवर्तन किया और नये क्षेत्रों की खोज की। अंग्रेज कपड़ा उत्पादकों ने ज्यादा से ज्यादा अपरिष्कृत कपड़े का निर्यात आरंभ किया, जो बाद में नये वस्त्र विन्यास या वर्स्टेड के रूप में ख्यात हुआ। 1550 के बाद कोयला और धातु उद्योग का तेजी से विकास हुआ। घरों, ईंटों की भट्टियों और बीयर, चीनी, शीशा और साबुन के उत्पादन में जलाने के काम में लकड़ी के बदले कोयले का उपयोग बढ़ गया। जहाजरानी बर्तन और उद्योग की जरूरतों को पूरा करने के लिए कोयला, लकड़ी और धातु उद्योग का विकास हुआ। सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में इंग्लैंड में सही माहौल का निर्माण हुआ और वहाँ की आर्थिक स्थिति तेजी से विकसित हुई। एलिजाबेथ के शासनकाल की स्थिरता, जनसंख्या का बढ़ाव, भौगोलिक खोज और फ्रांस और दक्षिणी नेदरलैंड से प्रोटेस्टेंटों (जो ज्यादातर व्यापारी थे) के आगमन से आर्थिक विकास का एक सही माहौल कायम हुआ।

बोध प्रश्न 1

1) सामंतवाद के पतन के तीन कारकों का उल्लेख करें।

....

....

....

....

....

2) भौगोलिक खोजों को प्रोत्साहित करने वाले तत्वों का उल्लेख 50 शब्दों में करें।

....

....

....

....

....

3) 16वीं शताब्दी के दौरान यूरोप के अन्य देशों की तुलना में इंग्लैंड के विकास को आप कैसे व्याख्यापित करेंगे? 100 शब्दों में उत्तर दें।

....

....

....

....

....

MAADHYAM IAS

4) सही वक्तव्य पर (✓) का निशान लगाएं।
   1) क) सामंती समाज में विभिन्न वर्गों के आपसी संबंध विश्वास और संरक्षण पर आधारित नहीं थे।
      ख) सामंती समाज भूमिपतियों और किसानों की आपसी निर्भरता और निर्भरता पर आधारित थी।
      ग) सामंती समाज में किसान अपने स्वामियों की सेवा करने के लिए वैधानिक रूप से बाध्य नहीं थे।
   2) क) पुनर्जागरण और सुधार आंदोलन के दौरान व्यक्तिवाद पर जोर नहीं था, बल्कि सामूहिक सत्ता द्वारा व्यक्ति की गुलामी पर जोर था।
      ख) पुनर्जागरण और सुधार आंदोलन के दौरान कई लेखकों ने चर्चा में व्याप्त भ्रष्टाचार को जनता के सामने रखा था।
      ग) पुनर्जागरण और सुधार आंदोलन के विचारों का यूरोप के मध्यवर्ग पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा।

6.6 व्यापारिक पूंजी के दौरान उत्पादन

सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी के दौरान यूरोप में वाणिज्यिक क्रांति हुई। इस दौरान बाजारों का अभूतपूर्व विकास हुआ और मुद्रा अर्थव्यवस्था तेजी से विकसित हुई। पुराने समय से चली आ रही बार्टर व्यवस्था (वस्तुओं का लेन-देन) के बदले मुद्रा का प्रयोग काफी बढ़ा। संचार के साधन विकसित हुए। 1600 ई. तक यूरोप के सभी महत्वपूर्ण शहर डाक व्यवस्था से जुड़ गये। इन वाणिज्यिक और प्रशासनिक गतिविधियों के कारण नगरीकरण की प्रवृत्ति तेजी से सामने आयी। लंदन, पेरिस, एंटवर्प और एमस्टर्डम का तेजी से विकास हुआ।

यह व्यापारियों का युग था। विकसित बाजार के कारण मुनाफे की गुंजाइश काफी बढ़ गयी। व्यापारी कम लागत से ज्यादा से ज्यादा उत्पादन करना चाहते थे। इस काम में श्रेणी संस्थाएँ बाधा उत्पन्न कर रही थीं। यहाँ आप समझ लें कि ये श्रेणी संस्थाएँ क्या थीं। श्रेणियाँ कारीगरों और कामगारों का संघ थी, जो उत्पादन की मात्रा, गुणवत्ता और मूल्य पर नियंत्रण रखती थी। वे बेहतर मजदूरी और मजदूरों के उत्पादन के सही मूल्य की सुरक्षा करती थी और बुरे दिनों में कामगारों की देखभाल करती थी। मध्यकाल में अलग-अलग व्यवसायों की अलग-अलग श्रेणियाँ थी, मसलन बुनकरों, धातुकारों, बढ़इयों, चर्मकारों आदि के अपनी-अपनी श्रेणियाँ थीं। श्रेणियों के अंतर्गत उपश्रेणियाँ भी थी, मसलन बुनकर की श्रेणियों के अंतर्गत धागा बनाने वालों और रंगरेजों की श्रेणियाँ थी। अक्सर किसी खास कला और निपुणता की जानकारी पर किसी एक खास श्रेणी का आधिपत्य होता था। यह निपुणता श्रेणी-विशेष के सदस्यों को ही सिखाई जाती थी। निपुणता प्राप्त करने वाला युवा सदस्य अपने वरिष्ठ सदस्य के साथ जुड़कर काम सीखता था। उसे किसी दूसरे को (श्रेणी के बाहर) यह कला सिखाने का अधिकार नहीं था।

16वीं शताब्दी के व्यापारियों के सामने बढ़ी हुई मजदूरी एक समस्या थी। इस बाधा को दूर करने के लिए इन व्यापारियों ने अपनी आमदनी बढ़ाने के इच्छुक किसान परिवारों को शिल्पगत कार्यों के लिए अग्रिम राशि मुहैया करना शुरू किया। वे श्रेणी से असंबद्ध कारीगरों को भी अग्रिम राशि देने लगे। अग्रिम देने की इस व्यवस्था को घरेलू व्यवस्था भी कहा जाने लगा। इसकी निम्नलिखित विशेषताएँ थीं :

1) व्यापारी शिल्पियों को पूंजी और कच्चा माल अग्रिम तौर से दे देते थे। वे उत्पाद के प्रकार, गुणवत्ता और मात्रा का भी उल्लेख कर दिया करते थे।

2) कारीगर अपने घर में ही काम करता था, अपने औजारों का उपयोग करता था और अपने परिवार के सदस्यों के श्रम का इस्तेमाल करता था।

3) वे बना बनाया माल व्यापारियों को दे देते थे, व्यापारी इसे मुनाफा लेकर बेच देते थे।

इस व्यवस्था का एक महत्वपूर्ण पहलू यह था कि व्यापारियों का अभी भी श्रम प्रक्रिया पर पूर्ण नियंत्रण नहीं था, क्योंकि कारीगर घर पर काम करते थे। दूसरे, औजार और अपने काम करने की क्षमता पर भी अभी कारीगर का ही नियंत्रण था। व्यापारियों की दृष्टि से, इस व्यवस्था का दोष यह था कि इसमें तकनीकी विकास की गुंजाइश कम थी, लेकिन दूसरी तरफ श्रेणियों के बंधन से मुक्त कारीगरों के परिवार का सस्ता श्रम उन्हें उपलब्ध था। अभी व्यापारी प्रत्यक्ष रूप में उत्पादक नहीं थे और उनके मुनाफे का स्रोत व्यापार तक सीमित था। इस प्रक्रिया में 16वीं और 17वीं शताब्दी के दौरान जो पूंजी जमा हुई, उसे व्यापारिक पूंजी के नाम से जाना जाता है। केवल व्यापारी ही पूंजी नहीं जमा कर रहे थे बल्कि श्रेणी के बंधन से मुक्त कारीगर उद्यम दिखाकर, बाजार में अपना माल बेचकर पूंजी जमाकर रहे थे और समाज में अपनी सामाजिक और आर्थिक हैसियत बढ़ा रहे थे। औद्योगिक विकास के इस दौर को पूर्व-औद्योगिकरण युग के रूप में जाना जाता है। इस घरेलू व्यवस्था ने न केवल व्यापारिक पूंजी का निर्माण किया बल्कि एक ऐसा सामाजिक और जनसांख्यिकी (जनसंख्या संबंधी) आधार प्रदान किया, जिस पर अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और उन्नीसवीं शताब्दी की कारखाना व्यवस्था और आधुनिक विज्ञान और तकनीक का भवन निर्मित किया जा सका। घरेलू व्यवस्था के कारण किसानों की असमानता बढ़ी, परिवार के सदस्यों की संख्या (श्रम शक्ति) बढ़ाने के लिए विवाह कम उम्र में होने लगे, और विशेष क्षेत्रों में निपुणता और पूंजी पर ध्यान केंद्रित किया जाने लगा। इन्हीं क्षेत्रों ने बाद में औद्योगिकरण का मार्ग प्रशस्त किया। फ्रांस के निकट फलैंडर्स और इग्लैंड में पूर्व एंगलिया इसके उत्तम उदाहरण हैं।

6.7 व्यापार के तरीके और संगठन

सोलहवीं शताब्दी से व्यापार में काफी प्रगति हुई। व्यापार के बढ़ते आकार और प्रकार के कारण ऋण व्यवस्था और मुद्रा व्यवस्था की पुनर्व्यवस्था की आवश्यकता पड़ी। ऋण देने, व्यापारिक आदान-प्रदान और हस्तांतरण के लिए ड्राफ्ट और ऋण पत्रों का व्यापक प्रयोग शुरू हुआ। कागज के नोटों का चलन काफी बाद में हुआ। कुछ राज्यों में एक तरह की मानक मुद्रा व्यवस्था लागू करने की कोशिश की गयी। अठारहवीं शताब्दी के अंत तक

कई यूरोपीय देशों में पूर्णरूपेण मानक मुद्रा का प्रचलन शुरू हो गया।

पन्द्रहवीं शताब्दी तक व्यापारी या तो निजी तौर पर व्यापार करते थे या ज्यादा से ज्यादा पूरा परिवार व्यापार में लगा होता था। मिलन के स्फोरजा, फलोरेंस के मेडिसि और जर्मनी के फगरर्स, यूरोप के कुछ प्रसिद्ध व्यापारिक घराने थे। इसके अतिरिक्त व्यापारी साझेदारी में भी व्यापार करते थे। उत्तरी यूरोपीय व्यापारियों का एक लीग (हेनसिप्टिक लीग) इस दृष्टि से उल्लेखनीय है। इस लीग के सदस्य अधिकांशतः जर्मनभाषी थे। पर, इस साझेदारी व्यवस्था की एक बड़ी कमजोरी यह थी कि इसमें उत्तरदायित्व का भार भी बँट जाता था। जहाजरानी उद्योग और व्यापार के प्रसार की वजह से अधिक पूंजी निवेश अधिक जोखिम उठाने की जरूरत पड़ी। इस आम हित के कारण व्यापारी एक दूसरे के निकट आये और इसके परिणाम स्वरूप विनियामक कम्पनियों (Regulated companies) का निर्माण हुआ। ये कम्पनियाँ क्षेत्र विशेष के किसी खास व्यापार पर अपना एकाधिकार स्थापित करने की कोशिश भी करती थीं। कम्पनी के सदस्य अपने स्रोतों को इकट्ठा करने पर जोर नहीं देते थे। बल्कि कुछ ऐसे नियमों पर चलने का करार करते थे, जो सभी सदस्यों के लिए लाभदायक होता था, मसलन गोदी और गोदाम की देखभाल, बिना लाइसेंस वाले व्यापारियों के खिलाफ कार्यवाई और एकाधिकार की रक्षा। साहसी व्यापारियों की अंग्रेजी कम्पनी एक रेगुलेटेड कम्पनी थी, जिसकी स्थापना जर्मनी और नेदरलैंड के साथ व्यापार के लिए हुई थी।

सत्रहवीं शताब्दी के दौरान ज्वायंट (Joint) स्टॉक कम्पनी जैसे परिष्कृत व्यापारिक संगठन का विकास हुआ। व्यापार के बढ़ते हुए कारोबार के कारण एक अधिक फलक वाले सुगठित संगठन की आवश्यकता महसूस हुई ताकि व्यापार में आने वाले जोखिमों को कम किया जा सके, स्थायित्व बनाया जा सके और पूंजी आसानी से प्राप्त की जा सके। ज्वायंट स्टॉक कम्पनियाँ बड़ी संख्या में निवेशकों को अपनी पूंजी का हिस्सा बेचती थी। रेगुलेटेड कम्पनियों में ऐसी व्यवस्था नहीं थी। पूंजी के हिस्सेदारों का कम्पनी के मुनाफे में एक निश्चित हिस्सा होता था। ये हिस्सेदार कम्पनी के कार्यकलापों में सीधे तौर पर हिस्सा नहीं लेते थे। ज्वायंट स्टॉक कम्पनियों के दो मुख्य लाभ थे :

- काफी बड़ी पूंजी इकट्ठी की जा सकती थी और इसका जोखिम और खर्च का भार पूंजी के हिस्सेदारों पर भी होता था। मामूली आमदनी वाले लोग भी अपनी बचत से पूंजी के हिस्से खरीद सकते थे और मुनाफा कमा सकते थे।
- ज्वायंट स्टॉक कम्पनी एक वैधानिक सामूहिक निकाय थी, जो पूंजी के हिस्सेदारों के अलग हटने या मृत्यु हो जाने के बावजूद भी कायम रहती थी।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

चार्टड कम्पनियों का निर्माण इस क्षेत्र की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि थी। ये कम्पनियाँ सरकारी आज्ञापत्र के आधार पर किसी खास क्षेत्र के व्यापार विशेष पर अपना एकाधिकार स्थापित करती थी। इस प्रकार की कई कम्पनियों ने पूरब के व्यापार और वहाँ के लोगों पर अपना नियंत्रण स्थापित किया। इनमें अँग्रेजी ईस्ट इंडिया कम्पनी (1600), डच ईस्ट इंडिया कम्पनी (1602), फ्रांसिसी ईस्ट इंडिया कम्पनी आदि प्रमुख हैं।

6.8 वाणिज्यवाद

सत्रहवीं शताब्दी के दौरान यूरोप में कुछ ऐसे आर्थिक विचार और कार्यकलाप सामने आये; जिससे यूरोप के देश प्रभावित हुए। इन्हें वाणिज्यवाद के नाम से जाना जाता है। वाणिज्यवाद में व्यवस्थागत एकरूपता कभी नहीं आ पाई। यह कुछ सिद्धांतों और नीतियों का समुच्चय था, जिसके माध्यम से राज्य राष्ट्रीय समृद्धि और शक्ति के लिए आर्थिक कार्यकलापों में हस्तक्षेप करता था। इसके विचारों और नीतियों को निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है।

1) यह विश्वास किया जाता था कि विश्व में व्यापार की मात्रा लगभग नियत है राज्य की नीतियाँ इस प्रकार बनाई जाएँ कि उस व्यापार के अधिक से अधिक हिस्से पर अधिकार जमाया जा सके।

2) बहुमूल्य पदार्थ, जैसे सोना और चांदी राष्ट्रीय सम्पत्ति के लिए अनिवार्य माना जाता

था। अगर राष्ट्र के पास बहुमूल्य पदार्थों का प्राकृतिक स्रोत नहीं है, तो उसे व्यापार द्वारा सोना-चांदी इकट्ठी करनी चाहिए।

3) बहुमूल्य पदार्थ जमा हो सकें, इसलिए व्यापार संतुलन अपने हक में होना चाहिए, अर्थात् आयात कम और निर्यात ज्यादा। दूसरे शब्दों में, जितना सामान देश से बाहर जा रहा है उससे ज्यादा मूल्य का सोना और चांदी देश में आना चाहिए।

4) इस भुगतान संतुलन को बनाए रखने और बढ़ाते रहने के लिए उत्पादित वस्तुओं के आयात पर अधिक कर, निर्यात पर कम कर, कच्चे माल के आयात पर कम कर लगाना चाहिए और निर्यात को प्रोत्साहित करना चाहिए।

5) राज्य को बनी बनाई वस्तुओं के निर्यात को बढ़ावा देना चाहिए। इन वस्तुओं के निर्माण के लिए राज्य अधिकृत कारखानों और मिलों का इंतजाम, इन उत्पादनों पर एकाधिकार और श्रेणियों को नियंत्रित करना चाहिए।

6) उपनिवेशों का उपयोग बाजार के रूप में किया जा सकता था और वहाँ से कच्चा माल और अगर संभव हो तो मूल्यवान पदार्थ लाया जा सकता था। उपनिवेशों की प्राप्ति और रक्षा के लिए अन्य औपनिवेशिक शक्ति से लड़ाई भी की जा सकती थी।

7) एक उपनिवेश को, औपनिवेशिक देश हमेशा दुहता रहता था। उपनिवेश के उद्योग को हतोत्साहित किया जाता था। इससे दो फायदे होते थे। एक तो बनी बनायी वस्तुओं का बाजार तैयार मिलता था और दूसरे औपनिवेशिक देशों के कारखानों के लिए कच्चे माल की कमी नहीं पड़ती थी।

कुछ देशों के संदर्भ में हम वाणिज्यवाद को विस्तार से समझाने की कोशिश करेंगे। सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में रानी एलिजाबेथ के राज्यकाल के दौरान इंग्लैंड में वाणिज्यवाद से संबंधित कई कदम उठाए गये। सत्रहवीं शताब्दी के दौरान यही स्थिति बनी रही। सत्रहवीं शताब्दी में कई नेविगेशन एक्ट पारित किये गये। ओलिवर क्रौमवेल के नेतृत्व के दौरान 1651 में पहला नेविगेशन एक्ट पारित हुआ। इसके तहत इंग्लैंड के औपनिवेशिक उत्पादों को अंग्रेजी जहाजों से ही ले जाया जा सकता था। इसका मुख्य उद्देश्य जहाजरानी उद्योग में डच वर्चस्व को समाप्त करना था। इसके बाद लगातार कई नेविगेशन एक्ट पारित हुए, जिनका उद्देश्य औपनिवेशिक उत्पादों पर अंग्रेज व्यापारियों का एकाधिकार स्थापित करना और उन बाजारों पर कब्जा जमाए रखना था। लंदन का एक व्यापारी और ईस्ट इंडिया कम्पनी का निदेशक थामस मून इस व्यवस्था के प्रमुख समर्थकों और विचारकों में से एक था।

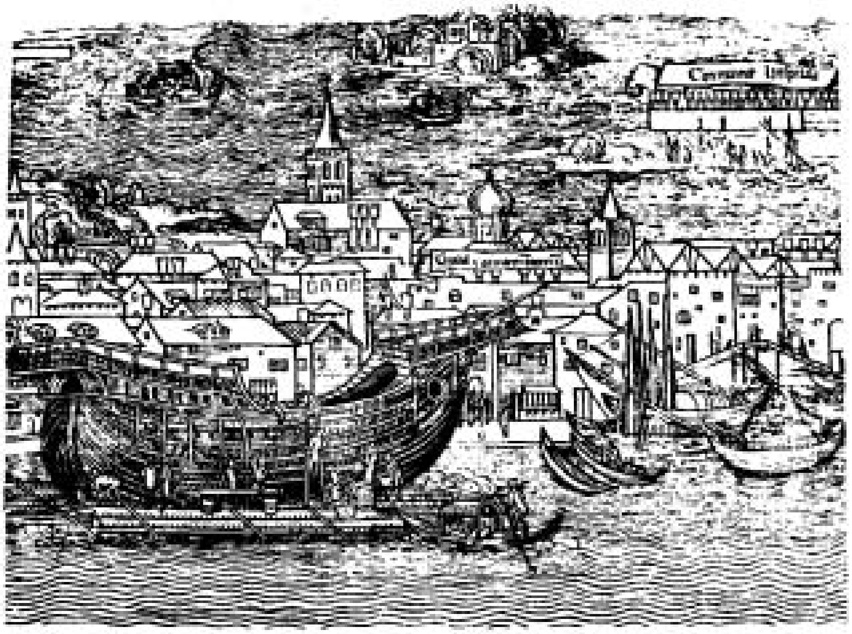

3. बंदरगाह से रवाना होते हुए यूरोपी जहाज

मून ने धन और पैसे को एक बताया और विलासी वस्तुओं के आयात को कम करने की वकालत की और अंग्रेजी जहाजों को अलग से जहाजरानी अधिकार देने की अनुशंसा की।

फ्रांस में 1661 और 1683 के बीच लुईस xiv के मुख्यमंत्री जीन बैपटिस्ट कॉलबर्ट ने वाणिज्यवाद से संबंधित कई नीतियाँ लागू कीं। उसने आयातित वस्तुओं पर ज्यादा कर लगाए मूल्यवान वस्तुओं और अनाज के निर्यात पर प्रतिबंध लगाया, विशेष विनिर्मिता और राज्य के नियंत्रण में कई कारखाने स्थापित किए गये। फ्रांसीसी प्रभुत्व स्थापित करने के लिए उन्होंने प्रमुख प्रतिद्वंद्वी डचों से युद्ध भी छेड़ा। वेस्टइंडीज, कनाडा, लूसियाना, भारत और अफ्रीका में फ्रांसीसी औपनिवेशिक शक्ति का विस्तार हुआ।

जर्मनी में वाणिज्यवाद को "कैमरेलिज्म" के नाम से जाना जाता था। यह शब्द केमर से बना था, जिसका अर्थ राजकोष होता है। इस "कैमरेलिज्म" की शुरुआत प्रशा के राजा फ्रेडरिक विलयम I (1713-1740) और फ्रेडरिक महान (1740-86) ने की थी। इसके पीछे उनका उद्देश्य निर्यात को बढ़ाना और बहुमूल्य वस्तुओं को इकट्ठा करना था ताकि राज्य की शक्ति में वृद्धि हो सके।

1600 और 1700 के बीच वाणिज्यवादी विचार बहुत प्रभावशाली रहे और अठारहवीं शताब्दी के अंत तक इसकी कई प्रवृत्तियाँ बरकरार रहीं। अठारहवीं शताब्दी के अंत में ऐडम स्मिथ ने 1776 में प्रकाशित अपनी पुस्तक "द वेल्थ ऑफ नेशन्स" में इस नीति की आलोचना की। प्रसिद्ध मार्क्सवादी विचारक मॉरिस डॉब के शब्दों में—"वाणिज्यवादी व्यवस्था व्यापार के माध्यम से राज्य नियंत्रित शोषण व्यवस्था थी जिसने पूंजीवादी उद्योग की पूर्वपीठिका की भूमिका अदा की : यह निश्चित रूप से आदिम संचय के युग की आर्थिक नीति थी।" इस वक्तव्य से यह स्पष्ट है कि यूरोप में वाणिज्यवाद के काल में धन का संचय हुआ जिसने अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी की औद्योगिक क्रांति में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की।

6.9 मूल्य वृद्धि और संकट

दीर्घकालीन परिप्रेक्ष्य में देखें, तो केवल बहुमूल्य पदार्थों को खजाने में जमा कर लेने से कोई देश अमीर नहीं बन जाता। कुछ व्यक्ति सोना और चाँदी जमा करके अमीर बन सकते हैं, पर अगर सारा देश सोना और चाँदी जमा करने लगेंगे, तो यह खतरनाक प्रवृत्ति होगी। लोग देश के बाहर की चीज खरीदने लगेंगे। सवाल यह है कि यह प्रवृत्ति खतरनाक क्यों हैं? उत्तर स्पष्ट है। सोने और चांदी का अपने आप में कोई महत्व नहीं है।

अपने आप में न तो इसका कोई उपयोग किया जा सकता है न ही ये लोगों को रोजगार दे सकते हैं। हाँ, इनका उपयोग उत्पादन के प्रसार के लिए किया जा सकता है। मतलब इन्हें खजाने के बाहर निकालकर उत्पादन में लगाना होगा। ऐसा न किया गया तो देश आयातित वस्तुओं पर निर्भर हो जाएगा और सोने-चांदी की मूल्यवत्ता का उपयोग नहीं किया जा सकेगा। सत्रहवीं शताब्दी के दौरान स्पेन के साथ ऐसा ही हुआ। आप पढ़ चुके हैं कि दक्षिण अमेरिका से काफी मात्रा में सोना और चांदी स्पेन आया था।

1594 में अमेरिका से बाहर जाने वाली वस्तुओं में बहुमूल्य पदार्थों का प्रतिशत 95.6 था। स्पेन ने 1530 ई. में दक्षिणी अमेरिका पर अपना प्रभुत्व जमाया। उसे मानों सोने का खजाना मिल गया। सोलहवीं शताब्दी के अंतिम दशक तक दक्षिण अमेरिका से 27 लाख किलोग्राम सोना स्पेन जा चुका था। इसमें कोई संदेह नहीं कि सोलहवीं शताब्दी में स्पेन समृद्ध और शक्तिशाली था। पर अंततः स्पेन के पास सोने-चाँदी का यह ढेर रह नहीं सका। स्पेनवासी यूरोप के बाजार से खाद्यान्न और औद्योगिक वस्तुएँ खरीदने लगे, इससे इंग्लैंड और हॉलैंड जैसे देशों के उत्पादन में तेजी से वृद्धि हुई। अंततः स्पेन को गहरा धक्का लगा, जब उसके सोने और चाँदी के कारण मुद्रा के प्रसार में तेजी से वृद्धि हुई, जिससे मूल्य भी तेजी से बढ़े इसे यूरोप में मूल्य क्रांति के नाम से जाना जाता है। अनुमानतः 1500 और 1600 के बीच सोने और चाँदी की मात्रा में तिगुनी बढ़ोत्तरी हुई। 1503 और 1650 के बीच कुल मिलाकर लगभग, 20,644 टन चाँदी और सोने का आयात किया गया। हालांकि सोलहवीं शताब्दी में व्यापार और जनसंख्या के तेजी से बढ़ने के कारण इनकी कुछ खपत हुई, पर इससे आमतौर पर मूल्य में ही वृद्धि हुई।

उदाहरणस्वरूप, सोलहवीं शताब्दी के दौरान इंग्लैंड और फ्रांस में अनाज के मूल्य में क्रमशः चौगुनी और छहगुनी वृद्धि हुई। बढ़ते हुए मूल्य, इटली, पुर्तगाल, स्पेन जैसे देशों की आर्थिक अवरुद्धता धार्मिक युद्ध और यूरोप के अधिकांश भागों में घटती हुई आबादी से सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में यूरोप में संकट की स्थिति उत्पन्न हो गयी। तीस वर्षीय युद्ध (1618-1648) महामारी और किसानों के विद्रोह ने इस संकट को और भी गहरा बना दिया। यह संकट चारों ओर फैला हुआ था, पर यूरोप के सभी देशों में यह संकट समान गंभीर नहीं था। यह स्पेन और इटली जैसे देशों के लिए घातक सिद्ध हुआ जहाँ सोलहवीं शताब्दी में व्यापार और बाजार के बदलते स्वरूप से राजनीति, तकनीक और सामाजिक धार्मिक संबंध ताल नहीं बैठा सके। दूसरी तरफ डचों ने अपने को न केवल इस संकट से उबार लिया बल्कि वो एक विकसित अर्थव्यवस्था और व्यापार के साथ सामने आये। 1640 के दशक में इंग्लैंड में नागरिक युद्ध छिड़ गया, जिसके परिणामस्वरूप स्टुअर्ट राजा चार्ल्स प्रथम को अपनी जान गंवानी पड़ी। यहीं से राजनीतिक शक्ति के कुलीनों और व्यापारियों तथा उद्योगपतियों के हाथों में आने की प्रक्रिया शुरू होती है। तत्पश्चात् 1651 के बाद कई नेविगेशन एक्ट पारित किए गये। (इनकी चर्चा हम पहले कर चुके हैं) जिन्होंने अंग्रेजी हितों की रक्षा की। कालबर्ट ने फ्रांस में कुछ ऐसे ही कदम उठाए और सत्रहवीं शताब्दी के संकट से अपने देश को बचाया। इस प्रकार 1700 के आसपास हॉलैंड, फ्रांस और इंग्लैंड यूरोप की प्रमुख शक्तियाँ रह गयी थी। इस समय तक शक्तियों का ध्यान भूमध्य सागर से हटकर अटलांटिक सागर के तटों पर केंद्रित हो गया था और इन देशों को फायदा यह था कि इन सभी देशों की पारसमुद्रीय बाजारों और उपनिवेशों तक पहुँच थी। अठारहवीं शताब्दी के दौरान यह तीनों प्रतिद्वंद्वी शक्तियाँ एक साथ उभरी। इनमें संघर्ष भी हुआ। लेकिन अपनी औद्योगिक क्रांति के बल पर अंग्रेजों ने अठारहवीं सदी के अंत तक सर्वोच्चता हासिल कर ली। अब सवाल यह उठता है कि ब्रिटेन पहला औद्योगिक राष्ट्र क्यों और कैसे बना? अगले भाग में हम इस जटिल प्रश्न का उत्तर देने की कोशिश करेंगे।

बोध प्रश्न 2

1) वाणिज्यिक क्रांति से आप क्या समझते हैं?

....

....

....

....

....

MAADHYAM IAS
way to achieve your dream

2) घरेलू व्यवस्था की महत्वपूर्ण विशेषताओं का उल्लेख करें।

....

....

....

....

....

3) वाणिज्यवाद में राज्य की भूमिका का उल्लेख सौ शब्दों में करें।

....

....

....

....

....

4) निम्नलिखित प्रश्नों के संक्षिप्त उत्तर लिखें।

क) औपनिवेशिक शक्ति के लिए उपनिवेश की क्या उपयोगिता थी?

....

....

ख) औपनिवेशिक शक्तियाँ निर्यात को क्यों प्रतिबंधित करना चाहती थीं?

....

....

ग) चार्टर्ड कम्पनी से आप क्या समझते हैं?

....

....

6.10 इंग्लैंड : औद्योगीकरण की ओर

अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में तकनीकी विकास से कृषि और उद्योग के क्षेत्र में अभूतपूर्व उन्नति हुई। यह उन्नति इस हद तक हुई कि इसने ब्रिटिश अर्थव्यवस्था और समाज में क्रांति ला दी। "औद्योगिक क्रांति" नाम का चलन उन्नीसवीं शताब्दी के अंत में हुआ और इस नाम की अनेकों व्याख्याएँ प्रस्तुत की गयीं। वस्तुत: किसी एक कारक को औद्योगिक क्रांति में महत्वपूर्ण मानना और दूसरे को नकारना बड़ा मुश्किल काम है। अत: औद्योगिक क्रांति की प्रक्रिया का सूक्ष्म अवलोकन उपयोगी सिद्ध हो सकता है और विभिन्न तत्वों जैसे राजनीति, सांस्कृतिक मूल्य, जनसंख्या और स्रोतों के सही उपयोग आदि के आपसी आदान-प्रदान पर बातचीत की जा सकती है।

पिछले अध्याय में हमने इंग्लैंड में नागरिक युद्ध के परिणामों की चर्चा की थी। इससे वाणिज्यिक समुदायों को फायदा हुआ और इंग्लैंड की संसद में उनका वर्चस्व बढ़ता गया। जब राजा ने (1660 में राजतंत्र पुनर्स्थापित हो गया था) राजतंत्र की निरंकुश सत्ता को पुन: स्थापित करने की कोशिश की, तो 1688 में राज की निरंकुश सत्ता में कटौती कर दी गयी। इंग्लैंड में संवैधानिक राजतंत्र की स्थापना हो गयी, जिसमें संसद प्रभावशाली शासकीय संस्था के रूप में उभर कर सामने आई। 1688 की घटनाओं को ग्लोरियस रेवल्यूशन (Glorious Revolution) के नाम से जाना जाता है। इसमें कोई खून खराबा नहीं हुआ और इसके जरिए शासन में कानून की सर्वोच्चता स्थापित हुई। ग्लोरियस रेवल्यूशन के बाद भद्र जनों (ऐसे भूमिपति जो वाणिज्यिक कृषि में लगे थे) और व्यापारियों की अंग्रेजी समाज और संसद में महत्ता तेजी से बढ़ी। उनके नेतृत्व में अठारहवीं शताब्दी के दौरान राज्य विधि निर्माण द्वारा घेराबंदी संबंधी नये कानून पारित किए गये। आपको याद होगा कि पंद्रहवीं और सोलहवीं शताब्दी के दौरान इंग्लैंड में पहला घेराबंदी आंदोलन शुरू हुआ था। इसके तहत खेतों की घेराबंदी की गयी और इसका उपयोग भेड़ों को पालने और जानवरों के चारागाह के लिए किया गया। 1710 ई. के बाद घेराबंदी का उपयोग खाद्यान्न उत्पादन को बढ़ाने के लिए हुआ। भूमिपति वैज्ञानिक खेती और नयी फसलों तथा कृषि तकनीक के द्वारा भूमि की उर्वरता बढ़ाना चाहते थे। इसके तहत आम जनता की भूमि पर कब्जा किया गया, इन भूमियों पर किसानों का वंशगत अधिकार था। इसके परिणामस्वरूप भूमि का व्यापारिक वस्तु के रूप में विकास हुआ और भूमिपतियों के निजी स्वामित्व में बढ़ोत्तरी हुई। भूमिपत्तियों ने मुनाफा कमाने के लिए बाजार के लिए उत्पादन करना शुरू किया। उत्पादन की तकनीक में कई बदलाव आए, मसलन फसलों को बारी-बारी से उपजाया जाने लगा, नये औजारों और उर्वरकों का उपयोग शुरू हुआ। आधुनिक पम्पों की मदद से दलदल भूमि को कृषि योग्य बनाया गया। इससे उत्पादकता में वृद्धि हुई। कृषि संबंधों और उत्पादन तकनीकों के इस परिवर्तन को अंग्रेजी कृषि क्रांति के नाम से जाना जाता है। अठारहवीं शताब्दी के दौरान इंग्लैंड के गेहूं उत्पादन में एक तिहाई वृद्धि हुई और जानवरों का औसतन वजन दुगुना हो गया। 1880 तक इंग्लैंड अपने घरेलू खाद्यान्न उत्पादन का नब्बे प्रतिशत खुद पैदा करने लगा।

हालाँकि घेराबंदी आंदोलन का एक उल्लेखनीय परिणाम यह हुआ कि कई किसान अपनी भूमि से अलग कर दिए गये। राज्य की सहायता से भूमिपतियों ने अधिक से अधिक भूमि पर कब्जा जमा लिया और किसान खेतिहर मजदूर बनने को विवश हुए। इस प्रक्रिया को

''अकिसानीकरण'' के रूप में जाना जाता है, जिसमें किसान, किसान नहीं रह गये। सवाल यह उठता है कि भूमिहीन किसानों के इस बड़े वर्ग की स्थिति क्या हुई। साधारण स्थिति में उन्हें भुखमरी का सामना करना पड़ता, पर इंग्लैंड में ऐसा माहौल बना कि उन्हें वैकल्पिक रोजगार प्राप्त हो गया। इसकी व्याख्या अठारहवीं शताब्दी के इंग्लैंड के बाजार और व्यापार के विकास तथा मजदूरों की माँग के परिप्रेक्ष्य में की जा सकती है।

इस अवधि में निम्नलिखित प्रकार के बाजार सामने आये :

- घरेलू बाजार
- निर्यात बाजार
- राज्य द्वारा प्रदत्त बाजार

इंग्लैंड का घरेलू बाजार तेजी से फैला। यह कई कारणों से विकसित हो रहा था। हमने देखा कि अकिसानीकरण की प्रक्रिया के कारण अधिक से अधिक किसान मजदूर बनने को बाध्य हुए। इनमें से बहुत से भूमिहीन किसानों को भूमिपतियों ने खेतिहर मजदूर बना दिया। बचे हुए मजदूर शहरों को चले गये और उन्हें व्यापार, कारखानों और घरेलू क्षेत्रों में नौकरी मिली। अब उन्हें नगद मजदूरी मिलती थी, जिससे वे भोजन, वस्त्र और जरूरी वस्तुएँ खरीदते थे। दूसरे शब्दों में वे बाजार से चीजें खरीदने लगे और इस प्रकार उपभोक्ता वस्तुओं की माँग में वृद्धि हुई। इंग्लैंड में 1750 के दशक के दौरान जनसंख्या में तेजी से वृद्धि हुई। हालाँकि जनसंख्या की बढ़ोत्तरी हमेशा देश के आर्थिक विकास की द्योतक नहीं होती है। मसलन, आज कई गरीब देशों में जनसंख्या तेजी से बढ़ रही है और वे लगातार गरीब बने हुए हैं। इंग्लैंड के संदर्भ में केवल जनसंख्या की बढ़ोत्तरी नहीं हुई बल्कि साथ ही साथ आय की दीर्घावधि विकास दर में भी तेजी आयी। यहाँ तक कि अठारहवीं शताब्दी के प्रथम चार दशकों में (जब जनसंख्या स्थिर थी) आयात में चालीस प्रतिशत की बढ़ोत्तरी हुई, निर्यात के लिए किए जाने वाले उत्पाद में साठ प्रतिशत की बढ़त हुई और पुन: निर्यातित होने वाली वस्तुओं की विकास दर सौ प्रतिशत रही। इससे पता चलता है कि लोगों की क्रय क्षमता में उल्लेखनीय वृद्धि हुई। इंग्लैंड में नयी उपभोक्ता वस्तुओं की माँग बढ़ी और इस माँग को पूरा करने के लिए नयी उपभोक्ता वस्तुओं का उत्पादन होने लगा। आटा पीसने, बीयर उत्पादन, छुरी-काँटे और स्टोव उत्पादन के क्षेत्र में तेजी आयी। ज्यादा लोग घरों में आग तापने के लिए कोयले का उपयोग करने लगे। 18वीं शताब्दी में हुई जनसंख्या वृद्धि से औद्योगिक क्रांति के दौरान बड़े उत्पादन कार्य के लिए सस्ते मजदूर उपलब्ध हो गये।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

घरेलू बाजार में स्थिरता और एकरूपता थी, जबकि विदेशी व्यापार में काफी वैविध्य था। अत: निर्यात को बढ़ावा देने के लिए 1780 के बाद उद्योगों का मशीनीकरण आरंभ हुआ जिसने इंग्लैंड की अर्थव्यवस्था को मजबूत बनाया। ई.जे.हा. सवाम अपनी पुस्तक ''इंडस्ट्री एंड एम्पायर'' में लिखते हैं : ''घरेलू माँग बढ़ी पर विदेशी माँग में कई गुना वृद्धि हुई।''

इस निर्यात व्यापार में वृद्धि होने के साथ-साथ उपनिवेशी व्यापार में भी बढ़ोत्तरी हुई। 1700 के आसपास उपनिवेशी व्यापार का हिस्सा कुल वाणिज्य में पंद्रह प्रतिशत था, 1775 में यह बढ़कर तीस प्रतिशत हो गया। 1715 में उत्तरी अमेरिका और वेस्ट इंडीज के साथ ब्रिटेन का होने वाला व्यापार उसके कुल निर्यात व्यापार का उन्नीस प्रतिशत था जो 1785 में बढ़कर चौंतीस प्रतिशत हो गया। इसी अवधि में एशिया और अफ्रीका से होने वाले व्यापार का प्रतिशत सात से बढ़कर उन्नीस हो गया। ब्रिटेन के अधीन उत्तरी अमेरिका की जनसंख्या में 1700 से 1774 के बीच दस गुना वृद्धि हुई और इस प्रकार माँग भी बढ़ी। पहले चीनी, चाय, कॉफी, तम्बाकू और कपड़े का व्यापार होता था, अठारहवीं शताब्दी के अंत तक इसका स्थान मसालों और सोने ने ले लिया। चीनी, चाय, कॉफी, तम्बाकू, कपास आदि का उत्पादन बागानों में होता था और इसके लिए मजदूरों की जरूरत पड़ती थी। अत: उत्तरी अमेरिका, वेस्ट इंडीज और दक्षिण अमेरिका में, खासकर ब्राजील के चीनी और कॉफी के बगानों के लिए काफी संख्या में दासों को बेचा गया। एक मोटे अंदाज के आधार पर यह अनुमान लगाया गया है कि सोलहवीं शताब्दी में दस लाख और सत्रहवीं शताब्दी में तीस लाख दास अफ्रीका से अमेरिका लाये गये। अठारहवीं शताब्दी में लगभग सत्तर लाख मजदूरों को स्थानान्तरित किया गया। 1780 के दशक में ब्रिटिश दास व्यापार ने काफी मुनाफा कमाया, अफ्रीका से निर्यातित दासों के आधे से अधिक व्यापार पर उनका वर्चस्व था।

अठारहवीं शताब्दी के दौरान आक्रमक विदेश नीति की सहायता से ब्रिटेन ने अपनी स्थिति मजबूत की। ब्रिटेन ने इस अवधि में पाँच बड़े युद्धों में हिस्सा लिया और बड़ी शक्ति के रूप में उसकी धाक जम गयी। राज्य अधिक से अधिक उपनिवेश बनाने के चक्कर में था और आर्थिक लाभ के लिए युद्ध करने को कटिबद्ध था। इंग्लैंड ने अपने आर्थिक हितों की पूर्ति के लिए सारी शक्ति विदेश नीति पर लगा दी। परिणामस्वरूप अठारहवीं शताब्दी के अंत तक वह अपने प्रतिद्वंद्वियों फ्रांसीसी और डचों पर हावी हो गया। इसके साथ ही हमारे सामने बाजार का एक और तत्व उभर कर आता है, यह है राज्य द्वारा प्रदत्त बाजार। वाणिज्यिक युद्धों के परिणामस्वरूप नौसेना को मजबूत किया गया, अस्त्रों की माँग बढ़ी और नौसेना के लिए अधिक जहाजों की जरूरत पड़ी। अत: घरेलू और विदेशी बाजार के अलावा ब्रिटिश उत्पादक सरकारी ठेकों और राज्य की जरूरतों से भी मुनाफा कमाने लगे।

राजनीतिक स्थायित्व, चीजों की बढ़ती माँग और औद्योगीकरण की इच्छा रखने वाले समाज ने इंग्लैंड को औद्योगिक क्रांति के कगार पर खड़ा कर दिया। कई इतिहासकार 1750-1780 की अवधि को औद्योगिक क्रांति की तैयारी का काल मानते हैं। इसका मतलब यह हुआ कि वृहद् बाजार की माँग को पूरा करने के लिए तेज मशीनी उत्पादन के जरूरी आधार पूंजी, श्रम और तकनीक का जुगाड़ हो चुका था। 1780 के दशक के बाद विकास इतनी तेजी से हुआ कि इससे उत्पादन में क्रांति आ गयी और उस आधुनिक समाज की नींव पड़ गयी जो आज इंग्लैंड और यूरोप तक ही सीमित नहीं है।

आज हम देख रहे हैं कि विज्ञान और तकनीक काफी तेजी से विकसित हो रही है और बदल रही है। अपना अस्तित्व बनाए रखने और सफल होने के लिए उत्पादकों को अधिक से अधिक लाभ कमाने के लिए नयी तकनीकों का उपयोग करना पड़ता है। आज के युग में पुरानी तकनीक को अपनाकर कोई भी उद्योगपति जिंदा नहीं रह सकता और अपने को विज्ञान और तकनीक के क्षेत्र में हुए परिवर्तन से अलग नहीं रख सकता। पर यह समझने की भूल नहीं करनी चाहिए कि इंग्लैंड के उत्पादक खुद वैज्ञानिक या तकनीक विशेषज्ञ थे। उनकी खासियत यह थी कि उन्होंने नये आविष्कारों को उत्पादन के लिए लगाया और घरेलू तथा विदेशी बाजार में अपना वर्चस्व जमाए रखा।

इसका मतलब यह नहीं है कि वैज्ञानिक विचारों की अपने आप में कोई भूमिका नहीं थी। पंद्रहवीं शताब्दी से ही यूरोप के प्रकृति संबंधी दृष्टिकोण और पुरानी धारणाओं में परिवर्तन आ रहा था। निकोलस कॉपरनिकस, गैलीलियो गैलीलर, आइज़ाक न्यूटन, फ्रांसिस बेकन आदि विचारकों ने प्रयोग और वैज्ञानिक दृष्टिकोण का सहारा लिया न कि विश्वासों और सुनी सुनाई बातों का। इससे एक वैज्ञानिक माहौल बना। सामूहिक रूप से वैज्ञानिक विचारों के प्रचार-प्रसार के लिए रॉयल सोसाइटी ऑफ लंदन (1662) और फ्रेंच रॉयल अकादमी (1665-66) की स्थापना हुई। इन वैज्ञानिक विचारों के प्रचार-प्रसार के फलस्वरूप अंध विश्वास, जादुई शक्ति पर से विश्वास उठा और चिकित्सा और मानव-शरीर की बनावट के बारे में लोग वैज्ञानिक ढंग से सोचने लगे। अत: वैज्ञानिक विचारों ने एक माहौल पैदा किया, इस माहौल के कारण ही नये आविष्कारों और विचारों को स्वीकार कर सके।

MAADHYAM IAS
way to achieve your dream

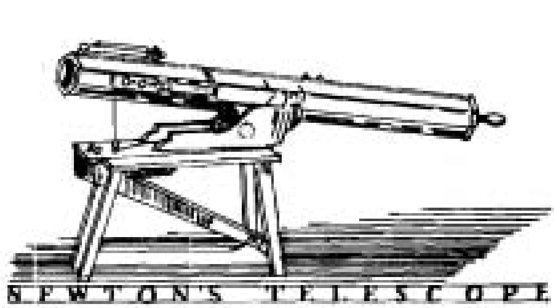

4. न्यूटन का टेलिस्कोप

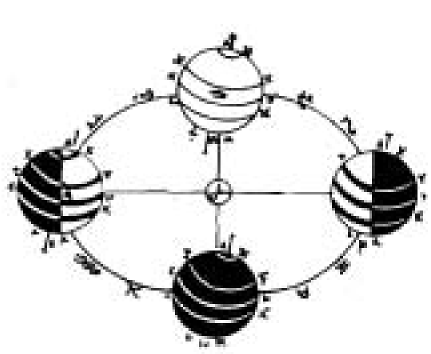

सूर्य और पृथ्वी के संबंधों पर गैलीलियो की धारणा

पर सर्वप्रथम ब्रिटेन में औद्योगिक क्रांति होने का कारण यह नहीं है कि इसका वैज्ञानिक माहौल अन्य यूरोपीय देशों से अधिक उपयुक्त था। ऊपर जिन खोजियों, आविष्कारों, वैज्ञानिकों और विचारकों की चर्चा की गयी है, वे फ्रांस, इटली, जर्मनी आदि यूरोप के कई हिस्सों से आये थे। पर इन वैज्ञानिक विचारों का उपयोग सर्वप्रथम ब्रिटेन ने किया। इसका कारण था अठारहवीं शताब्दी के इंग्लैंड की अर्थव्यवस्था और समाज की आंतरिक शक्ति। यह शक्ति एक सतत ऐतिहासिक विकास का प्रतिफलन थी।

अठारहवीं शताब्दी तक आते-आते ब्रिटेन को पूरे विश्व का दूकानदार कहा जाने लगा। दूसरी तरफ फ्रांस में, स्थायी और एकरूप बाजार, पूंजी तथा श्रम के अभाव के कारण धन भूमि और सम्पदा खरीदने में लगाया जाने लगा। उच्च वर्ग और सरकार अपने में सीमित थे और ब्रिटेन के समान उनमें व्यापारिक पटुता नहीं थी। डच व्यापार और वित्तीय मामलों में कुशल थे। पर वे बड़े पैमाने पर होने वाले मशीनी औद्योगीकरण में अपने को ढाल नहीं सके।

6.11 औद्योगिक क्रांति

अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से ही नयी तकनीक के उपयोग के प्रमाण मिलने लगते हैं। कई शहरों का पुनर्निमाण किया गया और अंतर्देशीय यातायात में महत्वपूर्ण विकास हुआ। नदियों से यातायात बढ़ा और नहरों का निर्माण हुआ। यातायात के साधनों के विकास से राष्ट्रीय बाजार बनने में मदद मिली और यातायात का खर्च कम हुआ। उदाहरणस्वरूप नहरों के माध्यम से यातायात करने से लिवरपूल और मैनचेस्टर या बरमिंघम के बीच का यातायात खर्च आठ प्रतिशत कम हो गया।

1754 में स्टील के उत्पादन के लिए बेलन (Rolling) मशीन का निर्माण हुआ। हालांकि कपड़ा उद्योग में अपनाये जाने वाले तीन परिवर्तन अपने आप में महत्वपूर्ण हैं। 1765 में जेम्स हारग्रीव्ज ने स्पीनिंग जेनी का आविष्कार किया जिससे कारीगरों की कताई क्षमता में कई गुना वृद्धि हो गयी। अब एक आदमी आठ आदमी का काम कर सकता था। आर्कराइट ने बेलनों और तकलियों का सही तालमेल बैठाकर जेनी की उत्पादन शक्ति में और भी वृद्धि कर दी। क्राम्पटन मूल ने इस जेनी को और परिष्कृत किया और 1780 के दशक से यह वाष्प शक्ति से चलने लगी। इसके परिणामस्वरूप एक जगह कई मजदूरों की एक साथ जरूरत पड़ी और इस प्रकार कारखाना उत्पादन आरम्भ हुआ।

बुनाई के क्षेत्र में मशीनीकरण हुआ, वाष्प शक्ति से चलने वाले करघों का प्रचलन 1780 के दशक में हुआ। 1815 के नेपोलियन युद्ध के बाद इसका प्रयोग तेजी से बढ़ा। अठारहवीं शताब्दी के अंतिम दशक में ब्रिटेन के कपड़ा निर्यात में तेजी से वृद्धि हुई, जो 1815 के बाद के तीन दशकों में अपने उत्कर्ष पर पहुंच गई। उत्तर नेपोलियन दशकों में ब्रिटेन के कुल निर्यात में आधा हिस्सा कपड़े का होता था और 1830 के दशक में ब्रिटेन के कुल आयात में बीस प्रतिशत हिस्सा कपास का था। उसका भारत जैसे उपनिवेश के देशी उद्योग और कृषि समाज पर उल्लेखनीय प्रभाव पड़ा। इसका अध्ययन हम आगे विस्तार से करेंगे।

नयी तकनीक के उपयोग से कपड़ा उद्योग के अलावा धातु उद्योग जैसे तांबे और इस्पात, उत्पादन, शीशा और कागज उद्योग में भी अभूतपूर्व विकास हुआ। 1770 के दशक में जेम्सवॉट द्वारा इंजन के आविष्कार से कई उद्योग और यातायात के साधनों में क्रांति आ गयी। जहाज में वाष्प शक्ति के उपयोग ने पानी से होने वाले यातायात में एक क्रांति ला दी। अंततः 1830 के दशक से रेलवे का जाल चारों तरफ फैलने लगा, जिससे स्थल यातायात में एक नये युग का जन्म हुआ।

इस प्रकार औद्योगिक क्रांति ने उत्पादन से संगठन में ढेर सारे परिवर्तन किए। तकनीकी विकास के फलस्वरूप घरेलू व्यवस्था का स्थान कारखाना व्यवस्था ने ले लिया। जैसा कि हम पढ़ चुके हैं, घरेलू व्यवस्था में कारीगर अपने घर बैठा अपने औजारों से काम करता था। वह व्यापारियों से अग्रिम राशि ले आता था और उत्पादन भी उन्हीं के लिए करता था। कारखाना व्यवस्था में कारखाने का मालिक मजदूरों की नियुक्ति करता था, मजदूरों के पास औजार और मशीन नहीं होते थे, उसे केवल मेहनत की मजदूरी मिलती थी। इससे एक औद्योगिक सर्वहारा का जन्म हुआ, एक ऐसा वर्ग जो मजदूरी पर अपना गुजारा करता

था। औजार, भूमि और मेहनत अब मजदूरों की मिल्कियत नहीं रह गयी और इन्हें छीने जाने का विरोध भी हुआ। बढ़ते हुए मशीनीकरण का भी विरोध हुआ। उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भिक दशकों में रोटियों के लिए दंगे हुए और मशीनों को तोड़ने की वारदातें हुई। 1830 के दशक के बाद मजदूरों के एक जगह काम करने के कारण मजदूर आंदोलन का भी जन्म हुआ।

मजदूर वर्ग के जन्म के साथ-साथ पूंजीपति वर्ग का बर्जुआ वर्ग भी परिपक्व होता गया। व्यापारियों और समृद्ध कारीगरों से पूंजीपति वर्ग का निर्माण हुआ। इन्होंने उद्योगों में पूंजी निवेशित की, मजदूरों का उपयोग किया और बाजार से मुनाफा कमाया। मुनाफे को पुन: निवेशित किया जाता था और प्रतियोगिता के कारण अच्छी तकनीक का इस्तेमाल किया जाता था और अच्छा माल बनाने की कोशिश की जाती थी। वाणिज्यवादी प्रक्रिया के कारण पूंजी काफी मात्रा में इकट्ठी हो गयी थी। 1820 और 1845 के दौरान कपड़ा उद्योग का उत्पादन चालीस प्रतिशत बढ़ गया था, जबकि इसकी मजदूरी में मात्र पाँच प्रतिशत की वृद्धि हुई थी।

औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप कृषि क्षेत्र से औद्योगिक क्षेत्र की ओर मजदूरों का स्थानांतरण हुआ। एक मोटा अनुमान यह है कि सत्रहवीं शताब्दी के अंत तक लगभग अस्सी प्रतिशत जनता खेती में लगी थी। 1800 में यह प्रतिशत घटकर साठ रह गया और 1901 आते-आते कृषि क्षेत्र के मात्र 8.5% लोग संलग्न रह गये। एक दूसरा सूचकांक भी इसी प्रकार की सूचना देता है। 1750 के आसपास, कुल राष्ट्रीय आय का पैंतालीस प्रतिशत कृषि से प्राप्त होता था, 1851 में यह प्रतिशत घटकर बीस रह गया। इसका अर्थ यह नहीं है कि कृषि क्षेत्र में अवनति हुई बल्कि इससे यह पता चलता है कि तकनीकी विकास के कारण इस क्षेत्र में मजदूरों की आवश्यकता कम होती गयी। उद्योगों के विकास से शहरों का विकास भी तेजी से हुआ। लंदन शहर की जनसंख्या 1600 में दो लाख थी, 1800 में यह बढ़कर 10 लाख हो गयी। 1851 तक एक लाख से अधिक वाले शहरों की संख्या उनतीस हो गयी और 50,000 से ऊपर आबादी वाले शहरों में कुल ब्रिटिश जनसंख्या के एक तिहाई लोग रहते थे। शहर का जीवन कठिन और संघर्षपूर्ण था और लोगों को आम जरूरत की चीजें पर्याप्त रूप में नहीं मिल पाती थी। औद्योगिक क्रांति के दौरान आदमी, औरत और बच्चे के श्रम का निर्ममतापूर्वक शोषण किया गया। यह मजदूर वर्ग नारकीय जीवन बिताता था। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रमुख उपन्यासकार चार्ल्स डिकेन्स ने अपने उपन्यासों (ओलिवर, डेविड कापरफिल्ड, निकोलस निकेलबाई, ग्रेट एक्सपेक्टेशंस आदि) में इस नाटकीय जीवन का जीवंत चित्रण प्रस्तुत किया है।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

6.12 औद्योगिक पूंजीवाद की ओर

उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भिक दशकों में वाणिज्यवादी युग पूंजीवादी युग में बदल रहा था। एडम स्मिथ ने 1776 में अपनी पुस्तक "द वेल्थ ऑफ नेशन्स" में वाणिज्यवादी विचारों पर करारा प्रहार किया था। पूंजीवादी आर्थिक क्षेत्र में राज्य के हस्तक्षेप का विरोध कर रहे थे, हालांकि विगत शताब्दियों में राज्य के समर्थन से ही वे तरक्की करते रहे थे। बढ़ते हुए पूंजीवादी उत्पादन के लिए मुक्त व्यापार और बाजार की आवश्यकता महसूस हुई। इस नये सिद्धांत को "लैसेजफेयर" (Laissezfaire) के नाम से जाता है, जिसका मतलब होता है अहस्तक्षेप की नीति, कहने का तात्पर्य यह है कि आर्थिक क्षेत्र में राज्य का हस्तक्षेप नहीं होना चाहिए। मुक्त व्यापार की माँग और दबाव के कारण 1813 और 1833 के अधिनियमों के द्वारा पूरब के व्यापार पर ईस्ट इंडिया कम्पनी के एकाधिकार को समाप्त कर दिया गया। 1832 के सुधार अधिनियम से ब्रिटिश समाज के धनी वर्ग को मताधिकार प्राप्त हुआ। इसके बाद बुर्जुआ वर्ग का राजनीतिक प्रभाव तेजी से बढ़ा।

एक बार ब्रिटेन के महत्वपूर्ण औद्योगिक पूंजीवादी विश्व शक्ति के रूप में स्थापित होने के बाद वाणिज्यवादी युग की नीतियाँ बिखर गयीं। नेविगेशन कानून ढीले किए गये और 1849 में उन्हें हटा दिया गया। ब्रिटिश मशीनरी और तकनीकी विशेषज्ञता के निर्यात पर लगा प्रतिबंध हटा दिया गया। अन्तत: मकई कानून (कार्न लॉ) हटा लिया गया। यह भूमिपतियों के प्रभाव की अवनति का द्योतक था। ब्रिटिश भूमिपतियों के कृषीय हितों को संरक्षण देने के लिए मकई कानून के अंतर्गत खाद्यान्न आयात को नियंत्रित किया गया था।

इस प्रकार उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक लैसेजफेयर की जीत हो गयी और वाणिज्यवाद की जगह औद्योगिक युग की स्थापना हो गयी।

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में अन्य यूरोपीय देशों ने भी ब्रिटेन का अनुसरण किया, लेकिन सभी देशों के औद्योगीकरण की प्रक्रिया एक जैसी नहीं थी। पूरे महाद्वीप में औद्योगीकरण एक समान नहीं हुआ और पूर्वी यूरोप के अनेक देशों में सामंती मूल्य बरकरार रहे और 19वीं शताब्दी के अंत तक औद्योगिक-पूर्व संस्थाएँ कायम रहीं।

बोध प्रश्न 3

1) उन कारणों को समझायें जिनसे इंग्लैंड विश्व का प्रथम औद्योगिक राष्ट्र बना। 100 शब्दों में उत्तर दें।

....

....

....

....

....

....

....

....

....

....

2) राज्य नियंत्रित व्यापार पर औद्योगिक क्रांति का क्या प्रभाव पड़ा? 50 शब्दों में उत्तर दें।

....

....

....

....

....

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

3) निम्नलिखित वक्तव्यों को पढ़ें और सही (✓) और गलत (✗) का निशान लगाएँ।
   क) घेराबंदी आंदोलन के कारण बहुत से किसानों को अपनी भूमि छोड़नी पड़ी।
   ख) जनसंख्या की बढ़ोतरी हमेशा देश के आर्थिक विकास में सहायक नहीं होती है।
   ग) औद्योगिक क्रांति के दौरान ब्रिटिश कपड़ा उद्योग में कोई खास परिवर्तन नहीं हुआ।
   घ) औद्योगिक क्रांति से सबसे ज्यादा फायदा कामगारों को हुआ।
   ङ) लैसेजफेयर का अर्थ है कि आर्थिक मामले में राज्य हस्तक्षेप न करे।

6.13 सारांश

अब इस इकाई को हम समाप्त कर रहे हैं। आइए, चलते-चलते चौदहवीं-पंद्रहवीं शताब्दी के सामंती संकट के बाद से यूरोप की मुख्य प्रवृत्तियों पर एक बार फिर नजर दौड़ा लें। जहाँ पूर्वी यूरोप में दास प्रथा और सामंती शक्ति में वृद्धि हुई, वहीं पश्चिमी यूरोप में मजबूत राजाओं के नेतृत्व में राष्ट्रीयता पर आधारित राज्यों का उदय हुआ। भौगोलिक खोजें हुई, पारसमुद्रीय विस्तार और उपनिवेशीकरण हुआ। वाणिज्य और बाजार के विस्तार में क्रांति आने से व्यापारियों और मुद्रा अर्थव्यवस्था का प्रभाव बढ़ा। पुनर्जागरण, सुधार आंदोलन और नये विज्ञान के उदय ने मध्ययुगीन संस्कृति पर करारा प्रहार किया

और नये युग का आरंभ हुआ। इसके साथ-साथ यूरोपीय समाज और राज्य व्यवस्था की आंतरिक संरचना में परिवर्तन हुए बाजार अर्थव्यवस्था में बढ़ती भागीदारी के कारण विभिन्न देशों में प्रतिद्वंद्विता शुरू हो गयी और प्रतिद्वंद्वी देश आपस में लड़ने-झगड़ने लगे। यह संघर्ष यूरोप तक ही सीमित नहीं रहा, बल्कि पूरे विश्व में छा गया। यूरोपीय देशों के बीच उपनिवेश बनाने की होड़ सी मच गयी। इस संघर्ष में ब्रिटेन सफलतम प्रतिद्वंद्वी के रूप में सामने आया, क्योंकि इसका समाज अन्य यूरोपीय देश से अधिक गतिशील था। इस देश में औद्योगिक क्रांति सबसे पहले हुई, जिसने वाणिज्यवादी युग की समाप्ति की घोषणा की और औद्योगिक पूंजीवाद के आगमन का उद्घोष किया।

आपको यह हमेशा याद रखना चाहिए कि वाणिज्यवाद से औद्योगिक पूंजीवाद की ओर बढ़ने के क्रम में अधीनस्थ उपनिवेश भी प्रभावित हुए। पूंजीवाद के उदय और विकास के साथ यूरोपीय देशों ने उपनिवेशों की खोज और उसके लिए संघर्ष जारी रखा। इसी प्रकार के उपनिवेशों में भारत का भी नाम आता है। भारत में यूरोपीय औपनिवेशिक शक्तियों की भूमिका पर हम अगली इकाई में विचार करेंगे।

6.14 शब्दावली

औद्योगिक पूंजीवाद : ऐसी पूंजीवादी व्यवस्था, जिसमें पूंजी पर उद्योगपतियों का अधिकार हो।

जैक्वेयर : किसान विद्रोह

बुलियन : सोने या चाँदी का भंडार जिसका उपयोग अक्सर सिक्का बनाने के लिए किया जाता था।

मानवतावाद : एक विचारधारा जिसके अनुसार मनुष्य अपनी सोच के आधार पर काम कर सकता है।

वाणिज्यिक पूंजीवाद : ऐसी पूंजीवादी व्यवस्था, जिसमें पूंजी पर व्यापारियों का नियंत्रण हो।

व्यक्तिवाद : यह सिद्धांत आर्थिक और राजनीतिक मामलों में समुदाय या राज्य की अपेक्षा व्यक्ति की भूमिका पर बल देता है।

अकिसानीकरण : वह प्रक्रिया जिसमें किसान को अपनी जमीन छोड़कर जीवन यापन के अन्य साधनों पर निर्भर करना पड़ता था।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

6.15 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) देखें भाग 6.2

2) नये विचारों का उदय, केंद्रीयकृत राज्य का उदय, तकनीकी विकास आदि। देखें भाग 6.4

3) इस उत्तर में घेराबंदी आंदोलन और इसके परिणाम, कपड़ा उद्योग का विकास, राजनीतिक स्थायित्व; व्यापारियों की भूमिका आदि का जिक्र करें। देखें भाग 6.5

4) 1) क　　　2) ख

बोध प्रश्न 2

1) देखें भाग 6.6

2) देखें भाग 6.6

3) इस उत्तर में आर्थिक मामलों में राज्य के हस्तक्षेप, आंतरिक व्यापार के विकास, बनी

बनायी वस्तुओं के आयात पर प्रतिबंध, विदेशी व्यापार पर नियंत्रण आदि को शामिल करें। देखें भाग 6.8

4) क) और ख) देखें भाग 6.8
   ग) देखें भाग 6.7

बोध प्रश्न 3

1) अपने उत्तर में आप कृषि में होने वाले परिवर्तन, जनसंख्या वृद्धि, बाजार की भूमिका, विज्ञान और तकनीकी विकास, राजनीतिक स्थायित्व आदि का जिक्र करें। देखें भाग 6.10

2) इस उत्तर में राज्य हस्तक्षेप की समाप्ति, मुक्त व्यापार की शुरुआत, पूंजीवादी उत्पादन के विस्तार आदि पर प्रकाश डालें। देखें भाग 6.1

3) क) ✓ ख) ✓ ग) × घ) × ङ) ✓

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

इकाई 7 यूरोपीय औपनिवेशिक शक्तियाँ

इकाई की रूपरेखा

7.0 उद्देश्य
7.1 प्रस्तावना
7.2 पृष्ठभूमि
7.3 अफ्रीका और अमेरिका की ओर
7.4 एशिया की ओर : पुर्तगाली आक्रमण
7.5 पुर्तगाली साम्राज्य का पतन
7.6 डचों का उदय
7.7 अंग्रेजों की सफलता
7.8 पुर्तगालियों और डचों के साथ अंग्रेजों की दुश्मनी
7.9 फ्रांसीसी औपनिवेशिक महत्वकांक्षा
7.10 यूरोपीय व्यापार की संरचना और तरीके
7.11 भारत पर कब्जा जमाने का प्रयत्न
7.12 औद्योगिक पूंजीवाद और साम्राज्यवाद
7.13 सारांश
7.14 शब्दावली
7.15 बोध प्रश्नों के उत्तर

7.0 उद्देश्य

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

इस इकाई में यूरोपीय शक्तियों की पारसमुद्रीय गतिविधियों (खासकर एशिया और भारत के परिप्रेक्ष्य में) की चर्चा की जा रही है। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- यूरोपीय देशों के व्यापार और फैलाव तथा व्यापारिक कम्पनियों की स्थापना पर प्रकाश डाल सकेंगे,
- पूरब में पुर्तगालियों, डचों, अंग्रेजों और फ्रांसीसियों के व्यापारिक साम्राज्य के विकास की कहानी कह सकेंगे,
- विश्व स्तर पर होने वाले पूंजीवादी विकास के परिप्रेक्ष्य में पूरब के साथ होने वाले व्यापार के स्वरूप और तरीके को रेखांकित कर सकेंगे,
- यूरोपवासियों के व्यापारी से औपनिवेशिक शक्ति के रूप में रूपांतरित होने का वर्णन कर सकेंगे, और
- यूरोपीय औपनिवेशिक शक्तियों की व्यापारिक दुश्मनी और भारत में फ्रेंच और अंग्रेजी ईस्ट इंडिया कम्पनी की विजय को निरुपित कर सकेंगे।

7.1 प्रस्तावना

पिछली इकाई में हमने यूरोप में पन्द्रहवीं शताब्दी से उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक होने वाले बदलावों की परीक्षा की। इस काल में व्यापार और बाजार का तेजी से फैलाव हुआ और कृषि तथा उत्पादन क्षेत्र में नयी तकनीकों का प्रयोग शुरू हुआ। सामंती अर्थव्यवस्था और समाज का स्थान पूंजीवाद ले रहा था। इस परिवर्तन का असर यूरोप तक ही सीमित नहीं रहा। 1500 ई. के बाद विश्व इतिहास यूरोप में होने वाले परिवर्तनों से पट गया। इसका कारण यह था कि पूंजीवाद मुनाफा और प्रतिद्वंद्विता पर आधारित होता है। इसमें बाजार में मुनाफा कमाने की होड़ मच जाती है। यह व्यवस्था कच्चे माल की आपूर्ति और तैयार माल को बेचने के लिए बराबर बाजार खोजती रहती है। इसके जरिए पूंजी एकत्रित होती है, जिसे मुनाफा कमाने के लिए पुन: निवेशित किया जाता है। अत: इसका प्रसार विश्व भर में हुआ, जिसने पूर्ववर्ती अर्थव्यवस्थाओं, समाजों और संस्कृतियों को समाप्त कर दिया।

7.2 पृष्ठभूमि

पन्द्रहवीं शताब्दी के बाद यूरोप में महत्वपूर्ण बदलाव आये, ऐसा अन्य देशों के साथ उनके सम्पर्क के कारण हुआ। पर इसका यह अर्थ नहीं है कि इसके पूर्व अन्य संस्कृतियों से उनका सम्पर्क ही नहीं था। भारत का यूनानियों और रोमन साम्राज्य से ई.पू. की शताब्दियों से ही सम्पर्क स्थापित था। यूरोप के लोगों का चीन और अन्य एशियाई देशों से पुराना संबंध था और यह संबंध पूरे मध्यकाल में कायम रहा। आपने मार्को पोलो (लगभग सन् 1254-1324 ई.) का नाम अवश्य सुना होगा। उसने चीन की यात्रा की थी और अपने रोमांचकारी किस्सों से यूरोपवासियों को प्रभावित किया था। पूर्व की समृद्धि की कहानियों ने यूरोपवासियों की इच्छा को और जाग्रत कर दिया।

बारहवीं शताब्दी से इटली ने पूरब के व्यापार पर अन्य यूरोपीय देशों के मुकाबले में लगभग एकाधिकार जमा रखा था। दक्षिण-पूर्व एशिया और भारत के साथ समुद्री और थल मार्गों से व्यापार होता था। एक रास्ते से पूरब का सामान फारस की खाड़ी होता हुआ इराक और तुर्की आता था। वहाँ से भू-मार्ग के जरिए सामान जेनेवा और वेनिस पहुँचता था। एक दूसरे रास्ते के जरिए लाल सागर होते हुए सामान मिश्र के अलेक्जेंड्रिया तक पहुँचता था। चूँकि उस समय तक कोई स्वेज नहर जैसी चीज नहीं थी, अतः अलेक्जेंड्रिया से भूमध्य सागर होते हुए यह सामान इटली के शहरों में पहुँचता था। एक दूसरा रास्ता (थल मार्ग), जिसका उपयोग कम होता था, मध्य एशिया के उत्तर-पश्चिमी के दर्रों, से होता हुआ रूस और बाल्टिक तक पहुँचता था।

7.3 अफ्रीका और अमेरिका की ओर

पन्द्रहवीं शताब्दी से ही अतलांतिक तट पर बसे देशों ने वैकल्पिक समुद्री रास्ते की खोज शुरू कर दी थी। पुर्तगालियों ने यह प्रयत्न अफ्रीका के पश्चिमी तट से शुरू किया। जैसा कि हम इसके पहले वाली इकाई में पढ़ चुके हैं, धर्म, इटली के साथ प्रतिद्वंद्विता और पुनर्जागरण से उत्पन्न रोमांच और खोज की भावना ने खोजियों को प्रोत्साहित किया। इस दिशा में प्रयत्न और तेज हुए जब 1453 में ऑटोमन तुर्क ने कौस्टैंटीनोपल पर कब्जा करके थल मार्ग को अवरुद्ध कर दिया। पूरब के मसाले और अन्य वस्तुओं के व्यापार को पुनः स्थापित करने की कोशिशें होने लगीं। पुर्तगालियों और स्पेनवासियों ने इस दिशा में प्रयत्न शुरू किया। इस प्रयत्न के फलस्वरूप सोलहवीं शताब्दी के मध्य में न केवल भारत जाने के लिए नये समुद्री रास्ते की खोज की गयी बल्कि एक नये महाद्वीप की खोज की गयी और उसे उपनिवेश बनाया गया। विश्व के कई देशों पर यूरोपीय आक्रमण होने लगे और अठारहवीं शताब्दी के अंत तक यूरोपीय देशों ने विश्व की आधे से अधिक भूमि पर अपना अधिकार जमा लिया और कम से कम एक तिहाई भूमि को अपने वास्तविक नियंत्रण में ले लिया। अतलांतिक के पार स्पेन और पुर्तगाल ने दक्षिण अमेरिका पर नियंत्रण स्थापित कर लिया और उत्तरी अमेरिका में यूरोप के विभिन्न देशों के लोग बसने लगे। 1776 में संयुक्त राष्ट्र अमेरिका नामक देश का उदय हुआ, जो पहले ब्रिटिश साम्राज्य का अंग था। कैरिबियन द्वीपों के उत्तरी और दक्षिण हिस्सों को स्पेन, फ्रांस और ब्रिटेन ने अपने बीच बाँट लिया।

अमेरिका महादेश को अधीनस्थ करके और उसे अपना उपनिवेश बनाकर यूरोपीय शक्तियों ने खूब मुनाफा कमाया। ये उपनिवेश औपनिवेशिक शक्तियों का मातहत अंग बन गये और उनका असन्तुलित विकास हुआ। इतिहासकार आन्द्रे गुंडर फैंक के अनुसार, जहाँ एक ओर यूरोपीय शक्तियाँ तेजी से विकास कर रही थीं, वहीं उपनिवेशों में "अविकास का विकास" हो रहा था। स्पेनवासियों ने दक्षिण अमेरिका में अपनी संस्कृतियों (इनकासैंड और एजटेक) को नष्ट कर दिया। बागानों में दासों का उपयोग उपनिवेशों की अर्थव्यवस्था का अंग बन गया। चीनी, कपास और तम्बाकू की खेती के लिए और अमेरिका के खानों के लिए सस्ते मजदूर उपलब्ध हो गये। ये मजदूर नारकीय जीवन बिताते थे। मोटे तौर पर अनुमान किया जाता है कि 1 करोड़ 50 लाख से 5 करोड़ अफ्रीका वासियों को यहाँ दास के रूप में लाया गया। दूसरी तरफ यूरोप यहाँ होने वाले उपज, जैसे कोको, टमाटर, बाजरा, बीज, मिर्च और तम्बाकू से खूब मुनाफा कमा रहे थे। 1538 ई. में

स्पेन के एक सैनिक पेट्रो दे सियेजा दे लिओन ने कोलंबिया की साउका घाटी में आलू का पता लगाया। 1588 में उत्सुकतावश यूरोप में इसकी खेती शुरू हुई। अठारहवीं शताब्दी के दौरान मक्के के साथ आलू यूरोप की बढ़ती आबादी के लिए वरदान सिद्ध हुआ। इससे खाद्यान्न समस्या भी हल हुई और बार-बार आने वाली अकाल की समस्या का भी अंत हुआ। इसके अतिरिक्त बुलियन (सोना-चाँदी) की प्राप्ति ने प्रत्यक्ष रूप से यूरोप को समृद्ध किया। इससे यूरोप को धन और पूंजी प्राप्त हुई जिसे उत्पादन, व्यापार और युद्ध में लगाया गया। यूरोप के साथ एशिया के होने वाले व्यापार पर इन सब बातों का असर पड़ा।

7.4 एशिया की ओर : पुर्तगाली आक्रमण

पश्चिम में अमेरिका के विपरीत, पूरब में यूरोपीय शक्तियाँ सीधे उपनिवेशीकरण से श्रीगणेश न कर सकीं। राज्य क्षेत्रों पर अधिकार जमाने में उन्हें कुछ समय मिला पर अपनी विकसित समुद्री ताकत, तकनीक और अस्त्र (खासकर बारूद) के कारण उन्होंने शीघ्रता से समुद्र पर अपना नियंत्रण स्थापित कर लिया। 1513 में पुर्तगाल के जहाज के एक कप्तान ने गर्व के साथ अपने राजा को लिखा "हमारे आने की अफवाह सुनते ही देशी जहाज लुप्त हो जाते हैं, यहाँ तक कि पक्षी भी पानी के ऊपर उड़ना बंद कर देते हैं।"

जब केप ऑफ गुड होप होकर वास्कोडिगामा कालिकट पहुँचा तब तक भारत के साथ यूरोप के व्यापारिक संबंध का एक नया अध्याय शुरू हुआ। लिसब से कालिकट की यात्रा दस महीने और चौदह दिनों में पूरी की गयी। पुर्तगालियों ने अपनी मंशा शुरू में ही स्पष्ट कर दी कि वे ईसाई मत और मसाले के कारण भारत आये थे। उन्होंने निश्चित रूप से अपना दूसरा उद्देश्य पूरा किया और वास्कोडिगामा ने इस दौर में अपनी यात्रा खर्च का साठ गुना मुनाफा कमाया।

उस समय तक हिन्द महासागर के व्यापार पर अरब व्यापारियों का एकाधिकार था। अगले पन्द्रह वर्षों में पुर्तगालियों ने अरब नौपोतों को पूरी तरह नष्ट कर दिया। उन्होंने उनके जहाजों को लूटा, उन पर आक्रमण किए, जहाजियों को मारा और अन्य दमनात्मक कार्यवाइयाँ कीं। वहाँ के राजा मैनुएल प्रथम ने तुरंत 1501 ई. में अपने को "आक्रमण, नौपोतों, और एथोपिया, अरब, फारस और भारत के साथ व्यापार का मालिक" घोषित कर दिया।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

पुर्तगाली एशिया के महत्वपूर्ण व्यापारियों स्थलों या अड्डों (फितोरिया) पर कब्जा जमाकर अपनी नौसेना की वर्चस्वता को कायम रखना चाहते थे और उसका विकास करने के लिए कटिबद्ध थे। फितोरिया ऐसे व्यापारिक स्थल या अड्डे होते थे, जहाँ से नौसैनिक बेड़ों को सहायता भी प्रदान की जाती थी। पुर्तगालियों ने अपने पारसमुद्रीय फैलाव के लिए खासकर अफ्रीकी तट पर इसी प्रकार के अड्डों का इस्तेमाल किया। थोड़े ही दिनों में उन्होंने अनुभव किया कि भारत में इन अड्डों का कब्जा करना इतना आसान नहीं है और इसके लिए उन्हें संघर्ष करना होगा। जब कालिकट के राजा जामोरिन ने अपने बंदरगाह से मुसलमान व्यापारियों को हटाने से मना कर दिया, तब पुर्तगालियों ने वहाँ गोलाबारी की। इसके बाद पुर्तगालियों ने बड़ी चालाकी से कोचिन और कालिकट की दुश्मनी का फायदा उठाया और कोचिन के राजा के मालाबार क्षेत्र में पहला किला बनाया। 1509 ई. में पुर्तगालियों ने मिस्र के शासक ममलूक द्वारा भेजे गये जहाजी बेड़ों को पराजित कर दीव पर अधिकार जमा लिया। उन्होंने 1510 में गोवा पर कब्जा किया और अपना प्रशासनिक केन्द्र बनाया। स्पेनिश राजा चार्ल्स पंचम द्वारा हिंद महासागर में अपने हितों को छोड़ने और सुदूरपूर्व में फिलिपिन्स तक अपने को सीमित रखने की घोषणा के बाद पुर्तगाली पूर्वी समुद्री क्षेत्र के एकछत्र बादशाह हो गये और जिसे एस्तादो दा इंडिया के नाम से जाना गया।

सोलहवीं शताब्दी के आरंभ तक पुर्तगालियों का एशियाई व्यापार पर प्रभुत्व बना रहा। 1506 ई. में मसाले के लाभदायक व्यापार को राजा ने अपने अधीन कर लिया और दूसरी तरफ पुर्तगाली अपने अधिकार को सुरक्षित रखने के लिए जी जान से भिड़ पड़े। कभी-कभी व्यापार और लूट में अंतर करना मुश्किल हो जाता था। भारतीय जहाजों से

कई तरीके से पैसा वसूल किया जाता था, इनमें प्रमुख थी "कार्टेज व्यवस्था"। इस व्यवस्था के अन्तर्गत भारतीय जहाजों के कप्तानों को गोवा के वायसराय से लाइसेंस या पास लेना पड़ता था। इसके बाद पुर्तगाली भारतीय जहाजों को नहीं छेड़ते थे, अन्यथा वे उसे लूट लेते थे। पुर्तगालियों के समुद्र पर वर्चस्व रहने का एक महत्वपूर्ण कारण यह था कि मुगल बादशाहों ने कभी भी मजबूत नौसेना तैयार करने की कोशिश नहीं की। इसके अतिरिक्त सुदूर दक्षिणी क्षेत्र मुगलों के प्रत्यक्ष नियंत्रण से बाहर था और इसलिए भी पुर्तगालियों को पैर जमाने का मौका मिल गया। इस प्रकार पुर्तगालियों ने केवल मसाले के व्यापार से ही मुनाफा नहीं कमाया, बल्कि विभिन्न एशियाई देशों के बीच सामान ले जाने और ले आने के कार्य से भी लाभ कमाया। भारतीय कपड़े स्याम जाते थे, मलक्कर से लौंग चीन जाता था, फारसी कालीन भारत आते थे और तांबा तथा चाँदी जापान चीन को भेजता था।

7.5 पुर्तगाली साम्राज्य का पतन

सत्रहवीं शताब्दी के पहले दशक में पूरब में स्थापित पुर्तगाली साम्राज्य लगभग समाप्त हो गया और इसका स्थान डचों और अंग्रेजों ने ले लिया। इसके कई कारण थे। 1580 में पुर्तगाल स्पेन के राजा के साथ जुड़ गया और स्पेन के पतन के साथ-साथ इसका भी पतन हो गया। 1588 के नौसेना युद्ध में अंग्रेजों ने स्पेन को करारी हार दी। इसके बाद स्पेन की नौसेना शक्ति कमजोर हो गयी। पुर्तगाल के अंदरूनी मामलों ने भी उसकी स्थिति कमजोर की। समाज में कुलीन वर्ग का प्रभुत्व था और व्यापारियों का इतना सामाजिक प्रभाव नहीं था कि वे राज्य को अपने हितों की पूर्ति के लिए प्रभावित कर सकें। राजा निरंकुश था। धर्म के मामले में पुर्तगाली असहिष्णु और धर्मांध थे और कई जगहों पर उन्होंने लोगों का जबरन धर्म परिवर्तन किया। इसके अतिरिक्त उनका फितोरिया मात्र एक व्यापारिक अड्डा था, जिसे क्षेत्रीय राज्य के रूप में बदलने की राजनीतिक इच्छा शक्ति नहीं दिखाई गयी। इसके अतिरिक्त पुर्तगालियों ने अपने को एकाधिकार व्यापार के मुनाफों तक ही सीमित रखा।

तीन शताब्दियों में पुर्तगालियों के पतन का अन्दाजा उन जहाजों की संख्या में होती कमी से लगाया जा सकता है, जो लिस्बन से गोआ के लिए चलते थे। इन जहाजों की संख्या 1500-49 में 451, 1700-1750 में 112 और 1750-80 में मात्र 70 थी।

अन्ततः उनका नियंत्रण कुछ क्षेत्रों तक ही सीमित रह गया, मसलन उत्तरी अफ्रीका, दीव, दमन, गोवा (जहाँ 1961 में उनका वर्चस्व समाप्त हुआ), तिमोर और माकाओ (यहाँ अभी भी उनका नियंत्रण है)।

7.6 डचों का उदय

स्पेन का पतन होने के बाद पुर्तगाली शक्ति बिखर गयी और सत्रहवीं शताब्दी के मध्य तक डचों ने उसका स्थान ग्रहण कर लिया। सोलहवीं शताब्दी से ही डच अपनी वाणिज्यिक और नौसैनिक शक्ति को बढ़ा रहे थे। वे पुर्तगालियों द्वारा लाये गये पूरब के सामान को लिस्बन से ऐंटवर्प पहुँचाया करते थे, जहाँ से वह यूरोप के बाजारों में पहुँचाया जाता था। डचों ने व्यापारिक संगठन और तकनीक और जहाजरानी में नये-नये प्रयोग किए। सत्रहवीं शताब्दी में उन्होंने फ्लूटशिप का निर्माण किया, जो अपने आप में एक अनोखा और अद्भुत जहाज था। यह फ्लूयित काफी हल्का था और इसे खेने के लिए कम लोगों की जरूरत पड़ती थी। इससे आने-जाने के खर्च में कटौती हुई। ये डच जहाज भारी और धीमी गति से चलने वाले पुर्तगाली जहाजों से श्रेष्ठ साबित हुए। डचों ने अपनी मातृभूमि नेदरलैंड से स्पेनवासियों को हटाने के लिए कड़ा संघर्ष किया था। उन्होंने एक राष्ट्रीय भावना के तहत भी पुर्तगालियों से मसाले का व्यापार छीनने का संकल्प किया।

MAADHYAM IAS
way to achieve your dream

6. भारतीय बंदरगाह पर सामान उतारते हुए यूरोपी नाविक

1602 ई. में डच ईस्ट इंडिया कम्पनी की स्थापना हुई और इसे युद्ध, संधि, इलाकों पर कब्जा करने और किला बनाने के अधिकार प्राप्त हो गये। आरंभ में डच इंडोनेशिया द्वीप समूह और मसाला उत्पादन करने वाले द्वीपों की ओर आकर्षित हुए, भारत की ओर नहीं शीघ्र ही उन्होंने अनुभव किया कि दक्षिण-पूर्व एशिया के व्यापार को बढ़ाते रहने के लिए भारत से व्यापार करना जरूरी है, क्योंकि वहाँ भारतीय कपड़ों की बहुत माँग थी। उस इलाके में कपड़े की माँग अधिक थी और भारत में काली मिर्च और मसालों की माँग थी। पश्चिमी भारत के गुजरात प्रदेश और पूर्व में कोरोमंडल तट पर बड़े पैमाने पर सूती कपड़े का उत्पादन होता था। हेंड्रिक ब्रोअर, जो बाद में पूरबी भारत के डच इलाकों का गवर्नर जनरल बना, कोरोमंडल को मोलक्कस का बांया हाथ कहा करता था। 1606 में डच गोलकुंडा के राजा से कारखाना स्थापित करने के लिए फरमान प्राप्त करने में सफल हो गये। और उन्होंने मसुलीपट्टम में अपना कारखाना स्थापित किया। धीरे-धीरे उन्होंने कोचिन, मद्रास में नागपट्टपम, सूरत, कैंबे, भड़ौच और पश्चिमी भारत में अपने व्यापारिक डिपो बनाए। बंगाल के चिन्सुरा, उत्तर प्रदेश के आगरा और बिहार के पटना में और भी कई व्यापारिक केन्द्र कायम किए गये।

उन्होंने कपड़े के अलावा, कच्चा रेशम, अफीम, शोरा, नील आदि वस्तुओं पर नियंत्रण स्थापित कर लिया और इस प्रकार उन्होंने पुर्तगालियों द्वारा नियंत्रित अंतर-एशियाई व्यापार पर कब्जा कर लिया। पुर्तगालियों द्वारा नियंत्रित क्षेत्रों गोवा, मालाबार के कारखाने और श्रीलंका के साथ उनके दाल चीनी के व्यापार पर कई आक्रमण किए गये। व्यापार के दिनों में गोवा को चारों ओर से बंद कर दिया गया। 1641 में मलक्का पर कब्जा कर लिया गया, 1655-56 में कोलम्बो और 1659-63 में कोचिन पर कब्जा हो गया। इसके साथ डचों ने वस्तुतः पुर्तगालियों का वर्चस्व समाप्त कर दिया, पर अभी भी अंग्रेजों के रूप में उनका एक प्रतिद्वंद्वी बाकी था।

7.7 अंग्रेजों की सफलता

ईस्ट इंडिया कंपनी की स्थापना 1600 ई. में हुई। एक आदेश पत्र के माध्यम से इसे केप

ऑफ गुड होप के पूरब में 15 सालों तक व्यापार करने का विशेषाधिकार प्रदान किया गया। वित्तीय दृष्टि से यह डच कंपनी की तुलना में छोटी कंपनी थी। अपनी पहली व्यापार-यात्रा में उसे डच कंपनी की तुलना में कम आमदनी हुई। इसके बावजूद अंग्रेजी कंपनी की एक विशेषता यह थी कि उसका संगठन बड़ा ही सहज था, इसमें 24 निदेशकों का समूह था, जिसका चुनाव प्रत्येक वर्ष शेयर होल्डर्स की आम सभा में होता था। आरंभ में ईस्ट इंडिया कंपनी ने अपना ध्यान मसाले के व्यापार, खासकर इंडोनेशिया से काली मिर्च और मसाला प्राप्त होने वाले द्वीप तक केन्द्रित रखा। प्रथम बारह वर्षों तक प्रत्येक साल इन्हें बीस प्रतिशत फायदा होता रहा। 1611 और 1615 के बीच कई यात्राओं में मूल निवेश पर 24% लाभ भी हुआ। जल्द ही अंग्रेजों ने भारत की वस्तुओं, खासकर कपड़े का महत्व समझा और वे उसका उपयोग मसाला खरीदने के लिए करने लगे। गुजरात में सूरत में कारखाना खोलने की योजना बनाई गई और कप्तान विलियम हौकिन्स को मुगल बादशाह जहांगीर के दरबार में भेजा गया। पुर्तगालियों के षडयंत्र के कारण हौकिन्स को आगरा से खाली हाथ लौटना पड़ा। अब अंग्रेजों के सामने यह तथ्य स्पष्ट हो गया कि मुगलों की सहायता लेने के लिए पुर्तगालियों से निपटना जरूरी है। 1611 ई. में सूरत के निकट स्वाली होल में उन्होंने पुर्तगालियों के जहाजी बेड़े को परास्त किया। इससे जहांगीर प्रभावित हुआ और उसने 1613 ई. में सूरत में स्थायी कारखाना स्थापित करने की अनुमति दे दी। इसके पहले 1611 ई. में मसुलीपट्टम में अंग्रेज एक कारखाना स्थापित कर चुके थे। बाद में पश्चिमी तट के अनेक स्थानों पर उन्हें कारखाना खोलने की अनुमति मिली।

सर थामस रों को मुगल दरबार में राजदूत के रूप में भेजा गया और अंग्रेजों ने विस्तार की नीति पर अमल किया। रों ने शाही सहायता प्राप्त करने के लिए अपने कूटनीतिक कौशल का इस्तेमाल किया। इसके साथ-साथ उन्होंने पुर्तगालियों के जहाज को लूटना और नष्ट करना जारी रखा और भारतीय जहाजों से भारी हरजाना वसूल करते रहे। उन्होंने अपनी नीति के तहत चेतावनी, संधियों, षडयंत्र और आक्रमण का सहारा लिया। रों ने अपने प्रयत्नों से संपूर्ण मुगल प्रदेशों में व्यापार करने और कारखाना स्थापित करने का शाही फरमान प्राप्त किया। 1620 ई. के नौसेना युद्ध में अंग्रेजों ने पुर्तगालियों को परास्त किया और इसके बाद पुर्तगालियों का खतरा लगभग समाप्त हो गया। 1633 ई. में मुगल सेना ने बंगाल में हुगली से पुर्तगालियों को मार भगाया।

MAADHYAM IAS

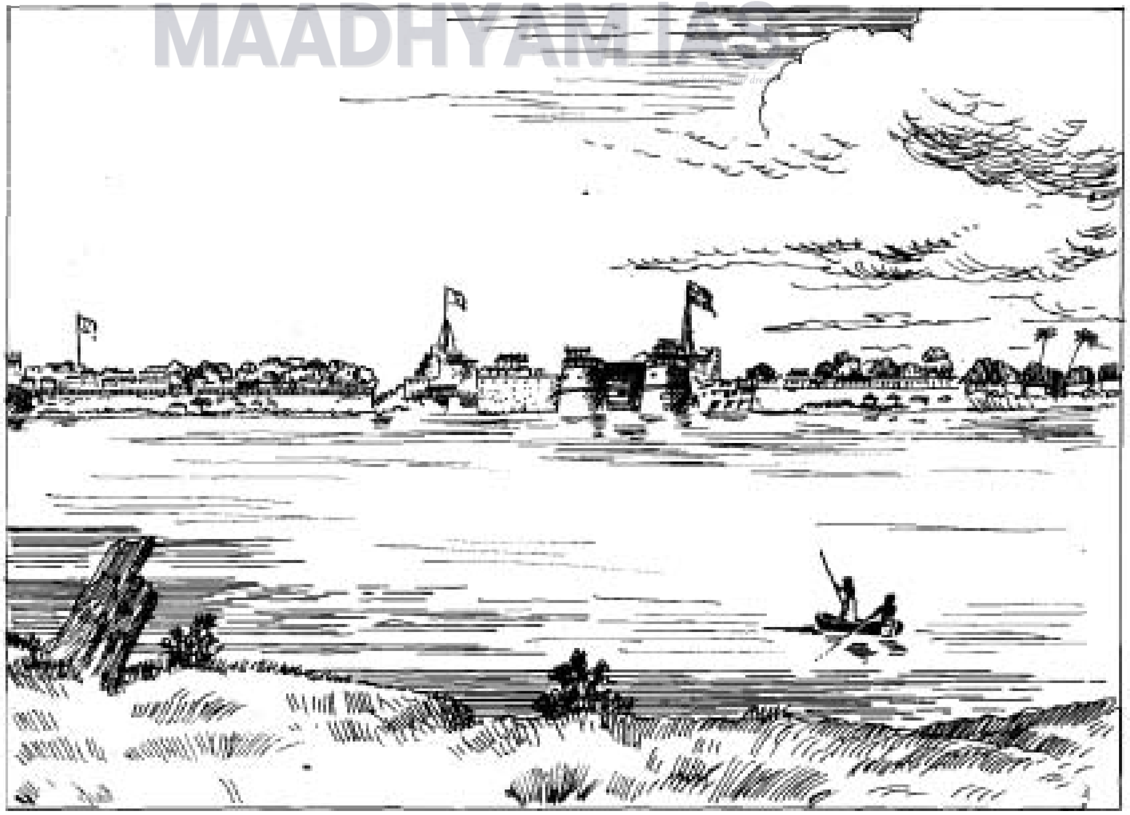

7. सूरत के बंदरगाह का एक दृश्य

पुर्तगालियों के प्रभाव और शक्ति को समाप्त कर अंग्रेजों ने भारत के विभिन्न हिस्सों में कारखानों की स्थापना की। 1623 ई. तक सूरत और मसुलीपट्टम के अतिरिक्त भड़ोंच और अहमदाबाद में कारखाने खोले गए। इसके बाद कंपनी सुरक्षा की दृष्टि से इन बस्तियों की किलाबंदी के बारे में सोचने लगी। उन्होंने देशी राजाओं की बकाया राशि देने में भी टाल-मटोल की। उन्हें यह भुगतान उन स्थानीय व्यापारियों को करना पड़ता था, जो बिचौलिए के रूप में काम करते थे। अंग्रेज इन बिचौलियों द्वारा अर्जित लाभ पर भी अधिकार जमाना चाहते थे।

1625 ई. में अंग्रेजों ने सूरत की किलेबंदी की। इससे उनकी क्षेत्र विस्तार की और साम्राज्यवादी महत्वाकांक्षा का पता चलता है। अभी हाल में ही, 1623 ई. में उन्हें डचों ने इंडोनेशिया द्वीप से मार भगाया था। इसके अतिरिक्त सूरत में अंग्रेजों को गिरफ्तार करके मुगल सत्ता ने अंग्रेजों को काफी निराश किया था। इसके बाद सीधे टकराव से बचने के लिए अंग्रेजों ने दक्षिण भारत के छोटो-छोटे राज्यों पर अपना ध्यान केन्द्रित किया। 1565 ई. में शक्तिशाली विजयनगर साम्राज्य का पतन होने के बाद कई छोटे-छोटे राज्य निर्मित हुए। 1639 में उन्होंने स्थानीय राजा से मद्रास को लीज पर ले लिया। मद्रास एक बंदरगाह था और अंग्रेजों ने राजा को आधा सीमा शुल्क देने का वादा किया। इसके बदले में उन्होंने किलेबंदी करने ओर अपना सिक्का जारी करने का अधिकार प्राप्त कर लिया। अंग्रेजों ने वहाँ अपना कारखाना स्थापित किया और इसके चारों ओर सेंट जार्ज नामक किला बनाया। 1662 ई. में, इंग्लैंड के राजा चार्ल्स द्वितीय ने पुर्तगाली राजकुमारी से शादी की और उसे दहेजस्वरूप बंबई प्राप्त हुआ। 1665 ई. में राजा ने यह इलाका कंपनी को सौंप दिया, जिसे शीघ्र किलाबंद कर दिया गया। मराठों से बढ़ते खतरे और अच्छा बंदरगाह होने के कारण बंबई ने शीघ्र सूरत का स्थान ले लिया और वह पश्चिमी तट पर कंपनी का प्रमुख व्यापारिक केन्द्र बन गया।

1630 के बाद पूर्वी भारत में इस्ट इंडिया कंपनी का प्रभाव तेजी से बढ़ा। 1633 ई. में उड़ीसा के बालासोर और 1651 ई. में बंगाल के हुगली में कारखाने स्थापित किए गए। बिहार में पटना और बंगाल में ढाका और कासिम बाजार में भी कई कारखाने खुले। 1658 ई. में बंगाल, बिहार, उड़ीसा और कोरोमंडल तट सेंट जार्ज किले के नियंत्रण में आ गए।

पूर्वी भारत में, कंपनी को अपने व्यापार के लिए माल, जैसे कपड़े का थान, सिल्क, चीनी और शोरा देश के अंदरुनी हिस्सों से लाना पड़ता था। इसके लिए उन्हें कई जगह चुंगी और सीमा शुल्क देना पड़ता था। कंपनी ने बराबर इन बाधाओं को दूर करने का प्रयत्न किया। 1651, 1656 और 1672 में प्राप्त फरमानों से उन्हें इन बाधाओं से मुक्ति मिली। अब उन्हें कुछ नियत राशि भारतीय राजाओं को देनी पड़ती थी। 1680 ई. में मुगल बादशाह औरंगजेब ने कंपनी पर जज़िया कर लगाया और इसके बदले में कंपनी को सूरत को छोड़कर सभी सगह सीमा शुल्क रहित व्यापार करने की अनुमति दे दी। कहा जाता है कि इस कार्य के लिए कंपनी ने बतौर घूस 50,000 रु. मुगल पदाधिकारियों को दिया था।

इसके बावजूद स्थानीय सीमा शुल्क पदाधिकारियों की माँग रुकी नहीं। इसका कारण यह था कि कंपनी के पदाधिकारी अवैध रूप से निजी व्यापार किया करते थे। स्थानीय अधिकारियों और अंतत: मुगल सरकार से अंग्रेजों का मनमुटाव बढ़ा और परिणामस्वरूप 1686-87 में बंगाल में स्थित अंग्रेजी कारखाने का अस्तित्व संकट में पड़ गया। उनके बंबई के किले को केवल चेतावनी दी गयी और सूरत, मसुलीपट्टम और विशाखापट्टनम स्थित कारखानों को बंद कर दिया गया। अंग्रेजों ने पुन: संधि का रास्ता अख्तियार किया और पुन उन्हें प्रतिवेदन देने पड़े, उन्होंने अपना आक्रामक रवैया बिल्कुल छोड़ दिया। मुगलों ने अंग्रेजों के व्यापार के आर्थिक पहलू के महत्व को समझते हुए उन्हें माफ कर दिया। यह व्यापार केवल भारतीय कारीगरों और व्यापारियों के लिए ही फायदेमंद नहीं था बल्कि इससे राज्य को राजस्व की प्राप्ति भी होती थी। अत:, औरंगजेब ने बतौर मुआवजा 15 लाख रुपये लेकर अंग्रेजों को पुन: व्यापार करने की अनुमति दे दी।

शीघ्र ही अंग्रेजों ने सुतानती में एक कारखाना स्थापित कर लिया और उन्हें इसे किलाबंद करने का एक बहाना भी मिल गया। 1696 में एक जमींदार शोभा सिंह ने बगावत कर दी। 1698 ई. में 1200 रुपये में कंपनी ने जमींदार अर्थात् राजस्व वसूलने का अधिकार खरीद लिया। इससे उन्हें सुतानती, गोबिंदपुर और कलिकत्ता गांव की जमींदारी मिल गई। 1700 ई. में बंगाल के कारखाने प्रेसिडेंट और काउंसिल अधिकार में आ गए, जिनका

FROM THE EAST INDIA COMPANY RECORDS AT FORT ST. GEORGE

8, We shall now proceed to give your Honours an account of the several occurrences and our transactions here since the departure of the *Hardwicke* and *Prince William* under the establish'd heeds, and as we go along shall also reply to your several favours received this year.

FIRST, CONCERNING SHIPPING.

4. The *Prince William* add *Hardwicke* sail'd from Fort St. David' the 9th February. Tbe 2d of that month the Deputy Governour and Council inclosed us a protest of Captain Langworth's, dated the 31st January, for detaining his ship in India beyond the time limited by charterparty. The 16th February we took notice to the Deputy Governour and Council, that we did not observe they bad taken any obligation from Captain Langworth that the surplus tonnage on the *Prince William* should be at half freight only, to which they replied the 28th that the confaaion and hurry they were in upon that ship's dispatch occasion'd them to forget it, for which they were sorry, but hoped your Honours would be no sufferers thereby. Cons. 1741, Feb. 8 & 1[illegible] Lrs. recd., 1741, Nos. 1, 10, 21, 25. Lrs. sent, 1741, No. 21

6. Your Honour's ships arrived here, sail'd from hence, and now bound home, are as follows :—

The *Carat*	...	Captain Robert Cummings.	7th February ...	Loading for England.
Halifax	...	Captain John Blake ...	5th Pane ...	Sail'd for ye Bay, 6th July.
Nottingham	...	Captain Thomas Browne.	13th Do. ...	Bound to England.
Prince of Orange	...	Captain Charles Hudson.	20th Do. ...	Sail'd for ye Bay, 3d July.
London	...	Captain Matthew Bootle.	1st July .	Sail'd for ye Bay, 14th July.
King William	...	Captain James Sanders.	18th July ...	} Sail'd for ye Bay, 23d August.
Beaufort	...	Captain Thomas Stevens.	3rd August ...	
Prince of Wales	...	Captain John Pelly Junior.	19th August ...	Loading for England.

a

6. It was in the evening of the 7th Febr'y that the *Cæsar* arrived here, and as soon as the President knew what ship it was, he sent immediate advice thereof to Mr. Hubbard, but 'the *Hardwicke* and *Prince William* were out of sight before it reached him.

7. A French Jip having some little time before landed her treasure at Pondicherry, Mr. Dumas intercepted a letter from one of hia people advising the Morattae thereof and urging it as an inducement for them to order some of their troops thither. As we were unwilling at that juncture to give any wicked persons an opportunity to write such letters from hence, and beleiving the money very safe on board the *Cæsar* at that season of the year we continued it on board her till the 6th March, when we order'd it on shoar, it being near the approach of the southerly monsoon. Lrs. from Eng. Cons. 1741, Feb. 8 & March 6.

8. Your Honours having advised us in your letter by the *Cæsar* that, in case ehe did not arrive here by the last of August, the Commander was order'd to make the best of hie way to Bengall, we demanded his reasons for coming here, which he deliver'd us the 19th March. [Lrs. from Eng.] 2d Apr. 1740, para. 66. Cons. 1741, Feb. 19, March [illegible]

A DESPATCH SHOWING DEPARTURES OF SHIPS FROM INDIA TO ENGLAND

8. सेंट जार्ज के किले पर ईस्ट इंडिया कंपनी के दस्तावेज

मुख्यालय फोर्ट विलियम नामक किलेबंद बस्ती में था। कालिकत्ता नाम का अंग्रेजीकरण हुआ और इसका नाम कलकत्ता हो गया। इसके बाद यह बस्ती तेजी से विकसित हुई और 1735 ई. तक इसकी जनसंख्या एक लाख तक पहुँच गयी। औरंगजेब की मृत्यु के बाद मुगल साम्राज्य कमजोर हो गया और अंग्रेजों ने इसका फायदा उठाते हुए कई छूटें और विशेषाधिकार प्राप्त किए। 1717 में बादशाह फर्रुखसियर ने एक शाही फरमान जारी किया, जिसके तहत कंपनी को कई विशेषाधिकार प्राप्त हुए।

i) कंपनी को बिना शुल्क दिए बंगाल में मुक्त रूप से व्यापार करने की छूट मिली। इसके बदले में कंपनी को प्रत्येक साल 30,000 रुपये देना था।

ii) कंपनी को कलकत्ता के आसपास के और इलाके राजस्व वसूली के लिए प्राप्त हुए।

iii) कंपनी ने हैदराबाद प्रांत के अपने पुराने विशेषाधिकार को बनाए रखा, जिसके अनुसार उस प्रदेश में उन्हें कर से छूट मिली हुई थी। मद्रास में उन्हें पहले से चली आ रही दर से ही राशि प्रदान करनी थी।

iv) 10,000 रुपये सालाना रकम देने के एवज में सूरत के सभी करों से उन्हें मुक्ति मिल गई।

v) बम्बई में ढाले गए कंपनी के सिक्के को पूरे मुगल साम्राज्य में वैधता प्राप्त हुई।

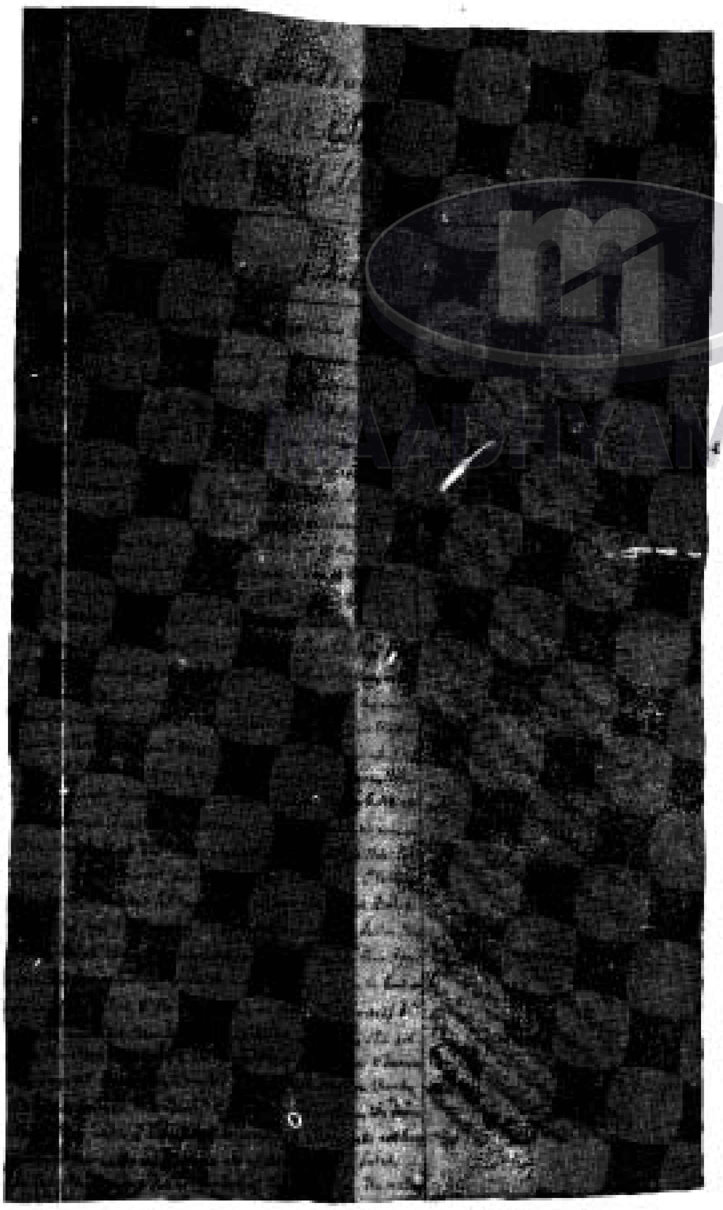

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

9. फर्रुखसियर का फरमान

बोध प्रश्न 1

1) छोटे उत्तर लिखें।

क) पूंजीवादी बाजार का फैलाव क्यों चाहते थे?

ख) यूरोपीय औपनिवेशिक शक्तियों ने बड़ी संख्या में अफ्रीकी वासियों को दास के रूप में क्यों नियुक्त किया?

ग) हिन्दी महासागर में अरब व्यापारियों के एकाधिकार को समाप्त कर सबसे पहले किसने इस क्षेत्र पर अपना अधिकार जमाया?

घ) भारतीय व्यापार में डच व्यापारियों की रुचि क्यों थी?

ङ) मुगल बादशाह फर्रुखसियर से अंग्रेजों ने कौन-कौन से विशेषाधिकार प्राप्त किए?

2) सत्रहवीं शताब्दी के दौरान अंग्रेजी वाणिज्यिक केन्द्रों की स्थापना की प्रक्रिया पर प्रकाश डालें। (100 शब्दों में अपना उत्तर लिखें।)

MAADHYAM IAS
way to achieve your dream

7.8 पुर्तगालियों और डचों के साथ अंग्रेजों की दुश्मनी

अपने को सही ढंग से जमाने के लिए एक तरफ अंग्रेजी कंपनी को मुगल और भारतीय राज्यों से निपटना पड़ रहा था, दूसरी तरफ उन्हें पुर्तगालियों और डचों से भी लोहा लेना पड़ रहा था। हमने इस तथ्य का अध्ययन किया है कि किस प्रकार सत्रहवीं शताब्दी के आरंभिक तीन दशकों में उन्हें पुर्तगालियों का सामना करना पड़ा था। 1630 ई. की मैड्रिड संधि के बाद अंग्रेजों और पुर्तगालियों की दुश्मनी समाप्त हुई। 1634 ई. में सूरत स्थित अंग्रेजी कारखाने के अध्यक्ष और गोवा स्थित पुर्तगाली वायसराय के बीच एक दूसरी संधि हुई, जिसके अनुसार भारत के वाणिज्यिक मामलों में दोनों देशों ने एक दूसरे की सहायता

करने का निश्चय किया। 1654 ई. में पुर्तगालियों ने पूर्व के व्यापार पर अंग्रेजों के अधिकार को स्वीकार कर लिया और 1661 की संधि के तहत भारत में डचों के खिलाफ वे दोनों एक हो गए।

इसी समय डचों ने मसाले के व्यापार से न केवल पुर्तगालियों को निष्कासित कर दिया था, बल्कि दक्षिण-पूर्वी एशिया से अंग्रेजों को भी मार भगाया था। हालाँकि डचों की रुचि मुख्यतः मसाला उत्पादक द्वीपों में थी, पर उन्होंने पुलिकट (1610), सूरत (1616), चिनसुरा (1653), कासिम बाजार, बरंगगोर, पटना, बालासोर, नागपट्टम (1659) और कोचिन (1663) में अपने कारखाने भी खोल रखे थे। डच अंग्रेजों की अपेक्षा सुरक्षित स्थिति में थे। उन्होंने दक्षिण पूर्व एशिया पर अपना अधिकार जमा रखा था, अतः उन पर अंग्रेजों की तरह भारत में राज्य क्षेत्र हासिल करने का दबाव नहीं था। 1653-54 के बाद कई बार डचों और अंग्रेजों की दुश्मनी मुठभेड़ की स्थिति में पहुँच गयी। इसी समय डच जहाजी बेड़े स्वाली के निकट पहुँच गये और अंग्रेजों को सूरत में अपना कारोबार स्थगित करना पड़ा। 1667 में डच भारत में स्थापित अंग्रेजी अड्डों के छोड़ने के लिए राजी हो गए और अंग्रेजों ने इंडोनेशिया पर अपना दबाव छोड़ दिया। इस तरह दोनों प्रतिद्वंद्वी औपनिवेशिक शक्तियों ने आपस में समझौता कर लिया। इसके बावजूद अंग्रेज बराबर डचों को भारत भूमि से बाहर निकालने का प्रयत्न करते रहे और डचों ने देशी व्यापार तक अपने को सीमित कर लिया। डच अधिकारी अंग्रेज अधिकारियों के साथ मिलकर अपना निजी व्यापार करने लगे।

अठारहवीं शताब्दी में डचों का तेजी से पतन हुआ। अंग्रेजों के विशेषाधिकारों में वृद्धि हुई और उन्होंने नील, रेशम, कपड़ा, शोरा आदि के व्यापार पर अपना नियंत्रण सुदृढ़ कर लिया। 1759 में हुगली अभियान की सफलता के बाद डच नौसेना को गहरा आघात पहुँचा। अंततः, डचों ने 1795 में भारत में अपना अधिकार क्षेत्र भी खो दिया, जब अंग्रेजों ने उन्हें यहाँ से निकाल बाहर कर दिया। हालाँकि अठारहवीं शताब्दी के आरंभ से ही अंग्रेज सर्वोच्च शक्ति के रूप में उभर रहे थे, पर उन्हें अभी एक और ताकत से निबटना था। अठारहवीं शताब्दी में फ्रांसीसियों ने अंग्रेजों का कसकर मुकाबला किया, पर अंततः उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ में अंग्रेज ही विजयी हुए।

7.9 फ्रांसीसी औपनिवेशिक महत्वाकांक्षा

MAADHYAM IAS
way to achieve your dream

अन्य यूरोपीय कंपनियों के समान फ्रांसीसी कंपनी भी वाणिज्यिक गतिविधियों और विचारों की उपज थी। पूरब में फ्रांसीसी गतिविधि थोड़ी देर से शुरू हुई। भारतीय व्यापार क्षेत्र में प्रवेश करने के लिए कॉलबर्ट ने 1664 ई. में कैम्पेग्ने डेस इंडेस ओरिएंटल्स (Compagnie des Indes Orientales) की स्थापना की। 1668 ई. में पहला फ्रांसीसी कारखाना सूरत में स्थापित हुआ। 1669 ई. में वे मसूलीपट्टम में भी कारखाना खोलने में सफल हुए। 1673 ई. में उन्हें अनुदान के रूप में पूर्वी तट पर पांडिचेरी गांव प्राप्त हुआ, जिसकी उन्होंने अच्छी तरह किलेबंदी की। 1674 ई. में उन्होंने बंगाल के शासक से कलकत्ता के निकट एक स्थान प्राप्त किया, जहाँ उन्होंने चन्दरनगर (1690-92) नामक शहर बसाया। हालाँकि 1665 ई. और 1695 ई. के बीच फ्रांसीसी कंपनी ने चौहत्तर सुसज्जित जहाज भारत भेजे थे, पर अंग्रेजों और डचों की तुलना में उनकी गतिविधि अभी भी बहुत कम थी। फ्रांसीसी कंपनी की वित्तीय स्थिति बहुत कमजोर थी, पर 1720 में इसके पुनर्गठन के बाद कंपनी की स्थिति बेहतर हुई। 1721 ई. में फ्रांसीसियों ने मॉरीशस पर कब्जा कर लिया। इससे उनकी नौसेना शक्ति में वृद्धि हुई और उन्होंने अंग्रेजों से मुकाबला करने के लिए शक्ति अर्जित की। 1725 में मालाबार तट पर और 1739 में कारिकाल में उन्होंने अपना पैर जमाया।

इसके बावजूद फ्रांसीसी ईस्ट इंडिया कंपनी डचों और अंग्रेजों के मुकाबले अपनी सरकार पर अधिक निर्भर थी। इसके पास मजबूत संगठन और पर्याप्त पूंजी का अभाव था। इसकी वाणिज्यिक गतिविधियों पर सरकार का हद से ज्यादा नियंत्रण था। इससे कंपनी की कार्यक्षमता पर बुरा प्रभाव पड़ा। अंतः इसकी नियति और विकास फ्रांस में हो रही गतिविधियों पर काफी कुछ निर्भर था। इसके अलावा अठारहवीं शताब्दी का फ्रांसीसी समाज अपने समकालीन अंग्रेजी समाज की तुलना में कम सक्रिय था। इसके पहले वाली

इकाई में हम दोनों देशों के ऐतिहासिक विकास को देख चुके हैं।

इसका मतलब यह नहीं कि ईस्ट इंडिया कंपनी को किसी गतिरोध का सामना ही नहीं करना पड़ा। कंपनी को अपनी स्थापना के समय से ही इंग्लैंड में हो रही आलोचना और प्रतिद्वंद्वियों का सामना करना पड़ा था। पूर्व के व्यापार पर एकाधिकार बनाए रखने के लिए इसे लगातार राजा को घूस और कर्ज देना पड़ा था। इसके बावजूद कई व्यापारी और घुसपैठिए (कंपनी के अनुसार) एशिया के साथ व्यापार करते रहे। 1690 ई. में उन्होंने भारत के व्यापार को "मुक्त" करने के लिए संसद में याचिका दायर की। अपने एकाधिकार को सुरक्षित रखने के लिए कंपनी को 90,000 खर्च करने पड़े, जिसमें 10,000 उन्होंने बतौर घूस राजा को दिया। अंततः 1702 में दोनों दलों ने साथ मिलकर काम करने का फैसला किया, जो कार्ल मार्क्स के शब्दों में "ईस्ट इंडिया कंपनी की असली शुरुआत" थी। इसके तहत ब्रिटिश व्यापारियों के व्यापक हितों का प्रतिनिधित्व हुआ, जिसे संसद का समर्थन प्राप्त था।

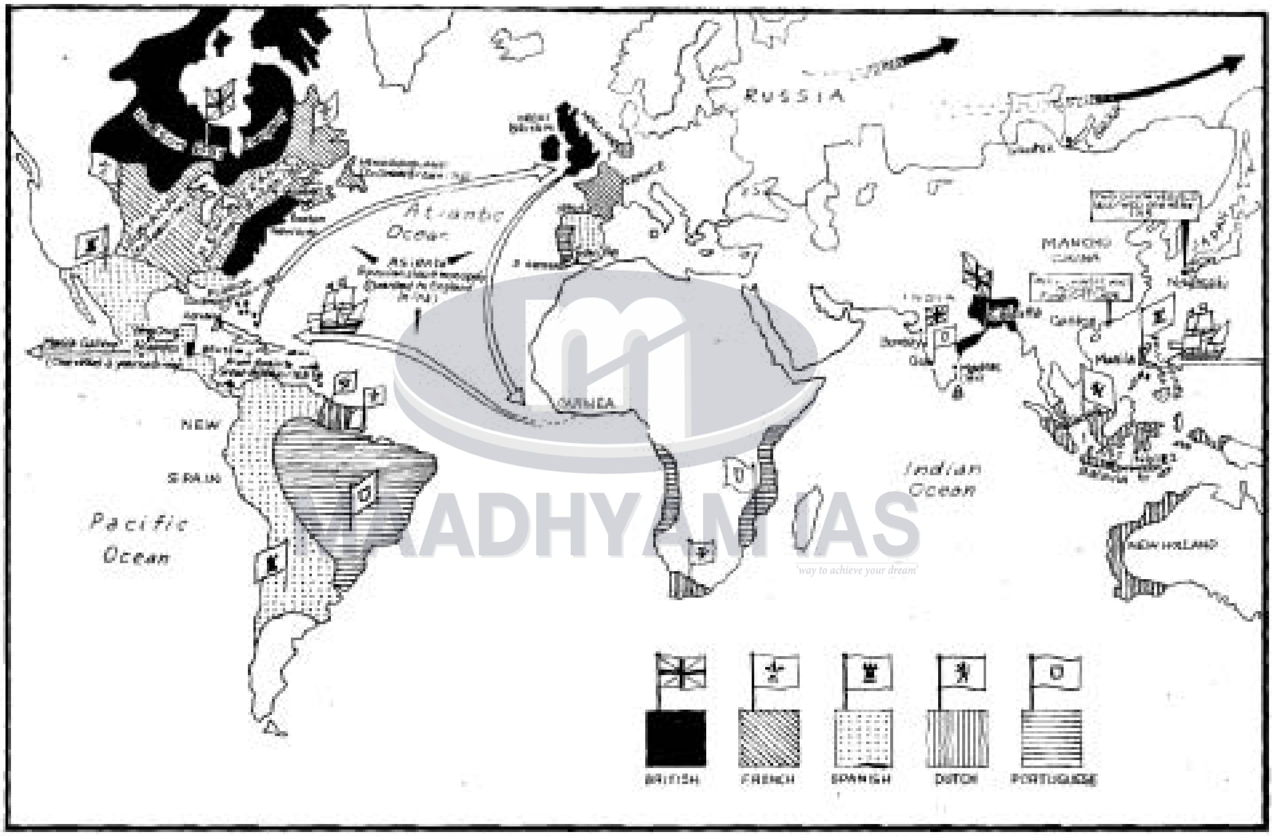

MADHYAM IAS

10. विभिन्न यूरोपीय शक्तियों के अधिकार क्षेत्र (18वीं शताब्दी के आसपास)

7.10 यूरोपिय व्यापार की संरचना और तरीके

जब यूरोपीय औपनिवेशिक शक्तियों ने भारत से व्यापार करना शुरू किया तो उनके सामने एक ही समस्या थी कि भारत से लाए गये सामान के बदले भारत को किस चीज की आपूर्ति की जाए। लगभग तीन शताब्दियों तक उन्हें इस समस्या से जूझना पड़ा और इसमें इन्हें वित्तीय कठिनाइयों का सामना करना पड़ा और व्यापार संतुलन एशिया के पक्ष में बना रहा। यूरोप के जहाज अपने देशों से थोड़ी बहुत मात्रा में शराब और तेल लाते थे। तब सवाल यह है कि उनका कारोबार कैसे चलता था? हम इस बात की जानकारी प्राप्त कर चुके हैं कि सोलहवीं शताब्दी में दक्षिण अमेरिका की खानों से सोना और चाँदी निकालकर यूरोप को समृद्ध किया गया। इसी जमा राशि का उपयोग उन्होंने, थोड़ी हिचक

के साथ ही सही, पूर्व से आयातित वस्तुओं को खरीदने के लिए किया। हालाँकि सटीक आँकड़े उपलब्ध नहीं हैं, पर ईस्ट इंडिया कम्पनी के निर्यात संबंधी विवरणों से इसका अनुमान लगाया जा सकता है। 1660 और 1669 के बीच यूरोप से पूर्व को निर्यातित सामानों में 66% हिस्सा सोने और चाँदी का था। 1680-89 के बीच यह प्रतिशत बढ़कर 87 तक पहुंच गया। अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में अंग्रेजों ने 270 लाख मूल्य का सोना भारत भेजा, जबकि अन्य वस्तुओं की कीमत 70 लाख थी। परन्तु अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में औद्योगिक क्रांति शुरू होने के साथ स्थिति पलटना शुरू हो गयी। 1760 और 1809 के बीच 140 लाख मूल्य की चाँदी निर्यातित की गयी जबकि अन्य वस्तुओं का निर्यात 485 लाख तक बढ़ गया।

वाणिज्यवादी नीति के अनुसार बुलियन का निर्यात किसी देश की अर्थव्यवस्था और समृद्धि के लिए बुरा होता है। यूरोपीय कम्पनी बुलियन का निर्यात कर रही थी, इस कारण से उनकी बहुत आलोचना हो रही थी। अतः इस दौरान यूरोपीय कम्पनियाँ पूरब की वस्तुओ के बदले कुछ दूसरी चीज देने का विकल्प ढूंढ रही थी। अन्तर-एशियाई व्यापार पर कब्जा करके इस समस्या का आंशिक समाधान किया गया। यूरोपीय व्यापारी मसालों के द्वीप से लौंग और जापान से तांबा भारत और चीन तक पहुंचाते थे। भारतीय सूती वस्त्र दक्षिण-पूर्व एशिया पहुंचाते थे और फारसी कालीन भारत तक पहुंचाते थे। इस प्रकार भारत की वस्तुओं से विनिमय के लिए कम्पनी को कुछ वस्तुएँ प्राप्त हो गयीं। इसके बावजूद, अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में ही अंग्रेजी व्यापारी घाटे की समस्या का समाधान कर सके। यह घाटा उन्होंने बंगाल के राजस्व पर अधिकार करके और चीन को अफीम निर्यात करके पूरा किया।

सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी के दौरान यूरोपीय कम्पनियाँ एशिया से लाई गयी वस्तुओं को यूरोप, अफ्रीका, अमेरिका महाद्वीप और मध्य पूर्व के बाजारों में बेच कर मुनाफा कमाते थे। यूरोप, अमेरिका और अफ्रीका के बीच त्रिकोणीय व्यापार आरंभ हुआ। यूरोपीय औपनिवेशिक शक्तियाँ अमेरिका के बागानों के लिए दासों की नियुक्ति करती थी और ये दास अफ्रीका के पश्चिमी तट से लाये जाते थे। इस पृष्ठभूमि में पूरब के साथ व्यापार आगे बढ़ा।

हमने देखा है कि आरंभ से ही यूरोपीय बाजारों में मसाले की माँग सबसे अधिक थी। सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी में काली मिर्च का व्यापार अपने उत्कर्ष पर था। हालांकि, सत्रहवीं शताब्दी का अंत होते-होते व्यापार में दूसरी वस्तुओं का महत्व भी बढ़ा। मसाले के स्थान पर कपड़ा, रेशम और शोरा का महत्व तेजी से बढ़ा। सत्रहवीं शताब्दी के दूसरे दशक से अंग्रेजी और डच कम्पनियों में भारतीय वस्त्रों की माँग बढ़ गयी।

हमने पहले भी देखा कि एशिया के दूसरे देशों में भारतीय कपड़ों की माँग बहुत थी और इसका उपयोग विनिमय वस्तु के रूप में किया जाता था। भारतीय कपड़े अपनी विविधता, उत्कृष्टता, प्रकार और डिज़ाइन के लिए प्रसिद्ध थे। गुजरात, कोरोमंडल और बंगाल में तरह-तरह के कपड़ों का उत्पादन होता था। यूरोप, अफ्रीका और वेस्ट इंडीज के बाजारों में भारतीय रेशम और मलमल (मोटे और परिष्कृत दोनों प्रकार के) की बहुत माँग थी। 1614 ई. में अंग्रेजी कम्पनी ने सूरत से 12,000 थान की माँग की। 1664 ई. में कम्पनी ने 750,000 थान कपड़े का आयात किया, जो कुल निर्यात की गयी राशि का 73 प्रतिशत था। इस शताब्दी के अंतिम दशक तक यह प्रतिशत बढ़कर 83 हो गया। इस समय यूरोप के उच्च वर्गों के बीच बंगाल के मलमल और कोरोमंडल के कपड़े की माँग काफी अधिक थी। इस बढ़ते हुए आयात से अंग्रेजी उत्पादक घबरा उठे और उन्होंने भारतीय वस्त्रों के आयात पर प्रतिबंध लगाने के लिए राजनीतिक दबाव डाला। इसके परिणामस्वरूप 1700, 1721 और पुनः 1735 में संरक्षणवादी कानून बने। इसके अलावा सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में यूरोपीय बाजार में कच्चे रेशम की माँग भी बढ़ी।

इन वस्तुओं के अलावा फ्रांसीसियों और अंग्रेजों ने शोरे का भी आयात किया। इसका उपयोग बारूद बनाने के लिए किया जाता था। एक महत्वपूर्ण कच्चा माल होने के साथ शोरे का उपयोग जहाज को संतुलित करने के लिए भी किया जाता था। शोरा वजन में भारी होता था, अतः उसका उपयोग इस रूप में कर लिया जाता था। इस समय पटना शोरे के प्रमुख व्यापारिक केंद्र के रूप में उभरा। इसके अतिरिक्त नील का भी आयात किया जाने लगा। कपड़ों को रंगने के लिए इसका उपयोग किया जाता था। यह परंपरागत तरीके (यूरोप में एक प्रकार की लकड़ी का उपयोग कपड़ों को रंगने के लिए किया जाता था) से काफी सस्ता और आसान था।

FROM THE EAST COMPANY RECORDS AT FORT ST. GEORGE

REGISTER OF DIAMONDS, PRECIOUS STONES, &CA.

Licenced by the President and **Council** of Fort **St. George to** be shipped **on the *Prince of Wales*,** Captain John Pelly Junior, by the **following persons in return** for **coral** and on other **accounts** :—

By **Randall Fowke, consign'd** to Judah **Supino** and Son **or** order :—

	£	s.	d.	Pap.	fa.	a.
One **bulse** of **diamonds, value nine** hundred and fifty three **pags., thirty three [sic] fanams,** and **seventy six cash,** or... ... ... In **full returns** for a **box** of **coral beads** imported **anno** 1741, per ***Cæsar.***	871	10	6	958	80	76
[, . .] **bulse** of diamondr, **value two thousand** one hundred and **ninety six pagodas, seven fanams and** forty two cash or ... ... In **full** returns for a **box** of **coral** bead; **imported anno** 1741, per *Cæsar.*	841	17	7	9,196	7	42
By Nicolas Morse **consign'd** to **Judah Supino** & Son or order :—						
One **bulse** of diamondr, **value** eight hundred and **one pagodas,** two **fanams** and twenty **cash,** or ... In **full returns** for a **case** of **coral beads imported** auno 1741, per ***Cæsar.***	807	£	6	801	2	20
By **Nicolas Morse** and **Rawson** Hart **consigned to** David **DeCastro** or order :—						
One **bulse** of diamonds, vdue six hundred and **forty** nine **pagodas, eleven fanams** end twenty cash **or** In **full returns** for ono **case** of **coral beads** imported **anno** 1741, **per *Cæsar.***	248	18	0	649	11	20

A SPECIMEN ORDER OF PRECIOUS STONES TO BE PAID FOR CORAL BEADS.

Letters to Fort St. George, *1684–85*

P.S. In **regard** y^t: before my Invoices may reach yo': hands if the Sloops **should** meet **wth**: a **quick passage, I** thought convenient **to** give yon y^e: **numbers** of the **Cloth as** well **as** the **Sorts Laden** on Each of **them** Viz^t: on Sloop **Royall James 90** Bales.

L. **C.** B. N°: 6 **Bales** 40 Long cloth **blue.**
S. A. **O.** N°: 3 Bales 10: Salampores **ordinary.**
B. **E.** T. N°: 25 Bales 8 }
29 Bales **5** } Betteeloes.
25 **Bales** 7 }
L. C. O. N°: 2 Bales 10 Long cloth ordinary.
P. E. R. **O. N°**: 1 **Bales** 8 **Percullaes** ordinary.
2 **Bales** 7: ditto:
On Sloop William 122 Balee.
L. C. B. N° 6 Bales 52 Long cloth blue.
L. C. O. **N°** 2 Bales ***50*** Long **Cloth ordn^y**:
N° 1 **Bales** 10 ditto.
B. E. T. N° 26 Bales 10 Betteeloes.

Bales... 122 R: **I**:

A SPECIMEN ORDER OF CLOTH EXPORTED FROM INDIA BY AN EAST INDIA COMPANY MERCHANT.

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

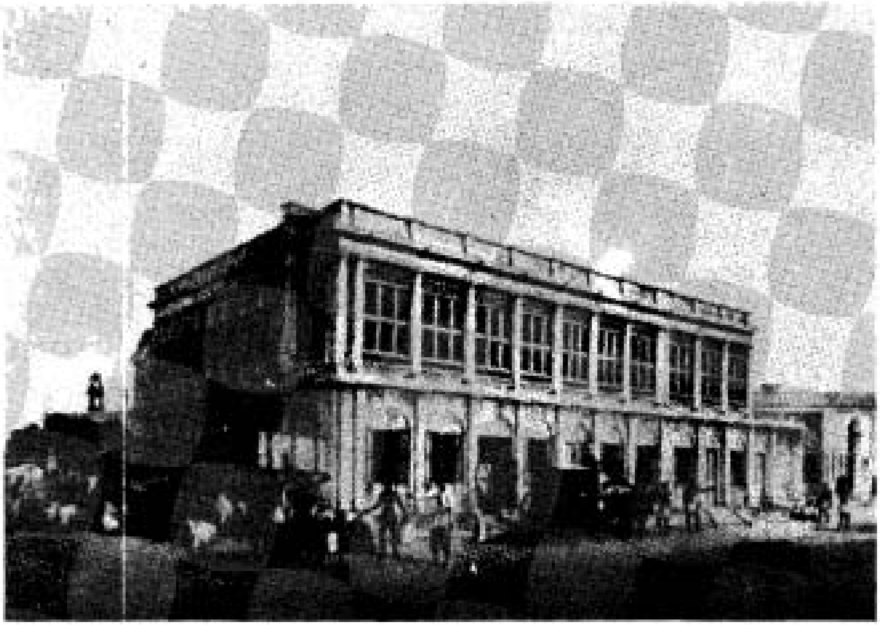

12. व्यापार भवन, मद्रास

7.11 भारत पर कब्जा जमाने का प्रयत्न

अठारहवीं शताब्दी के आरंभ होते-होते अंग्रेज और फ्रांसीसी कम्पनियों ने अपने व्यापार को मुनाफे की स्थिति में पहुंचा दिया था। ब्रिटिश केंद्रों की स्थापना के कारण बम्बई और कलकत्ता समृद्ध शहर बन गये। इन केंद्रों में भारतीय पूंजी, निपुणता और व्यापारियों का जमाव शुरू हुआ। इसके साथ-साथ इन केंद्रों की जनसंख्या में भी वृद्धि हुई।

MAADHYAM IAS

1744 ई. में बम्बई की जनसंख्या 70,000 थी और इस शताब्दी के मध्य में कलकत्ता की जनसंख्या दो लाख और मद्रास की तीन लाख थी। औरंगजेब की मृत्यु के बाद मुगल साम्राज्य का पतन और शक्तियों का विकेंद्रीकरण होने से कई छोटे राज्य निर्मित हुए। अंग्रेजी और फ्रांसीसी कम्पनियों को भारत में अपने लिए एक राजनीतिक और क्षेत्रीय भविष्य नजर आया। यूरोप और उत्तरी अमेरिकी उपनिवेशों में फ्रांस और इंग्लैंड एक दूसरे के दुश्मन और प्रतिद्वंद्वी थे। भारत एक समृद्ध उपनिवेश था। अत: 1740 के दशक में आंग्ल फ्रेंच टक्कर शुरू हुई और अंतत: अंग्रेजों की जीत हुई। अंग्रेजों ने 1757 के प्लासी युद्ध के बाद से भारत पर कब्जा जमाना शुरू किया। अगले भाग में हम इंग्लैंड की अंदरूनी अर्थव्यवस्था में होने वाले परिवर्तन और इसके फलस्वरूप कम विकसित देशों के साथ उनके संबंध पर पड़ने वाले प्रभाव का जिक्र करेंगे। इसके साथ यूरोपीय साम्राज्य के बदलते स्वरूप पर भी हम बातचीत करेंगे।

7.12 औद्योगिक पूंजीवाद और साम्राज्यवाद

18वीं शताब्दी के मध्य से औद्योगिक क्रांति ने न केवल इंग्लैंड की अर्थव्यवस्था को परिवर्तित कर दिया बल्कि उसके विदेश व्यापार के तरीके और उपनिवेशों से संबंधों पर भी असर डाला। इंग्लैंड का उत्पादक उद्योग जैसे-जैसे विकसित होता गया, उत्पादित वस्तुओं की आयात की आवश्यकता वैसे-वैसे कम होती गयी। इसके अतिरिक्त एक समय ऐसा आ गया जब इंग्लैंड के उत्पाद न केवल घरेलू जरूरतों को पूरा करने लगे, बल्कि निर्यात के लिए भी रास्ता ढूंढने लगे। आरंभ में निर्यात यूरोप के बाजारों तक सीमित था, पर जैसे-जैसे यूरोप के अन्य देशों का औद्योगीकरण होता गया, वैसे-वैसे अंग्रेजी वस्तुओं की माँग समाप्त हो गयी। अत: अब कम अविकसित और आधुनिक औद्योगीकरण से रहित उपनिवेशों को बाजार के रूप में विकसित किया गया। अब ये देश कृषीय वस्तुओं का

निर्यात और तैयार औद्योगिक वस्तुओं का आयात करने लगे। इंग्लैंड (और बाद में, पश्चिमी यूरोप के अन्य औद्योगीकृत राष्ट्र) को अठारहवीं शताब्दी के अंत तक बेहतर तकनीक प्राप्त हो गयी, जिसके सहारे वे कम दाम में अधिक उत्पादन करने लगे। उपनिवेशों में सीमा शुल्क न देकर और अधीनस्थ राज्यों की अर्थव्यवस्था को अपनी मुट्ठी में कर इंग्लैंड ने अपने उत्पादों के लिए मार्ग प्रशस्त किया। इसका सबसे अच्छा उदाहरण भारत है। 18वीं शताब्दी का भारत तैयार कपड़े का बहुत बड़ा केंद्र और निर्यातक था, 19वीं शताब्दी आते-आते उसे इंग्लैंड में तैयार कपड़े पर निर्भर बना दिया गया और वह कपड़े का आयात करने लगा। आप इसी पाठ्यक्रम के खंड 4 में इस इतिहास का विस्तार से अध्ययन करेंगे।

औद्योगिक पूंजीवादी के विकास से यूरोपीय अर्थव्यवस्था परिवर्तित हुई, अतः यूरोपीय साम्राज्यवाद के स्वरूप में भी बदलाव आया। व्यापारिक पूंजीवादियों का ध्येय था भारत जैसे देश के माल को यूरोप के बाजारों तक पहुंचाना और मुनाफा कमाना। इस व्यापार में उनकी प्राथमिकता केवल यह थी कि बुलियन कम से कम देना पड़े और वस्तु विनिमय से ही काम चल जाये। औद्योगिक पूंजीवादी भारत जैसे देशों को अपने निर्मित माल का बाजार और अपने उद्योग के लिए कच्चे माल का स्रोत बनाने में रुचि रखते थे। वे चाहते थे कि ये देश उनके तैयार माल की खपत करें और कृषीय वस्तुओं, खासकर उद्योग के लिए कच्चे माल का निर्यात करें। जहाँ तक भारत का संबंध है 19वीं शताब्दी के आरंभिक दशक से ही यह बदलाव दृष्टिगोचर होने लगा था और नयी साम्राज्यवादी नीति स्पष्ट हो गयी थी।

इंग्लैंड और भारत के बीच व्यापार के तरीके (मसलन वस्तुओं के आयात-निर्यात और व्यापार की दिशा) में ही परिवर्तन नहीं हुआ बल्कि उन नीतियों में भी हुआ जिसने इन दोनों देशों के राजनीतिक और आर्थिक संबंधों को निर्धारित किया। अंग्रेजी ईस्ट इंडिया कम्पनी के पास भारत के साथ व्यापार करने का एकाधिकार प्राप्त था। इनमें से कुछ निजी व्यापारी ईस्ट इंडिया कम्पनी के एकाधिकार के बावजूद 18वीं शताब्दी में भी व्यक्तिगत तौर पर व्यापार करते थे पर कम्पनी के एकाधिकार के कारण भारत में अंग्रेजी पूंजी के पूर्ण उपयोग में बाधा पड़ रही थी। एडम स्मिथ (वेल्थ ऑफ नेशन्स, 1776) और अन्य व्यापारिक गुटों ने कम्पनी के एकाधिकार का जमकर विरोध किया और 1813 ई. में भारत के व्यापार से कम्पनी का एकाधिकार समाप्त हो गया। इसके बाद 1833 में चीन के साथ व्यापार में भी ईस्ट इंडिया कम्पनी का एकाधिकार समाप्त हो गया। ईस्ट इंडिया कम्पनी के ये अधिकार चार्टर अधिनियम द्वारा समाप्त किए गये। इसके तहत संसद द्वारा कम्पनी के एकाधिकार चार्टर का समय-समय पर अवलोकन किया जाता था और कानून पारित किया जाता था। एक तरफ इंग्लैंड ने यह अधिनियम पारित किया और दूसरी तरफ भारत में इंग्लैंड का राजनीतिक प्रभुत्व बढ़ रहा था। इन दोनों तत्वों के योग से 19वीं शताब्दी के आरंभ से इंग्लैंड के व्यापार में अभूतपूर्व वृद्धि हुई। कभी ब्रिटिश व्यापार ने ब्रिटिश राजनीति का सहारा लिया और कभी राजनीति ने व्यापार का, पर दोनों ने परस्पर एक दूसरे को सुदृढ़ करते हुए भारत में ब्रिटिश राज्य की स्थापना की।

MAADHYAM IAS

13. भारत में ब्रिटेन के लिए धन की निकासी को दर्शाता हुआ चित्र

1) इस काल के प्रमुख व्यापारिक बंदरगाहों का जिक्र करें।

....

....

....

....

....

2) भारत से अन्य देशों को भेजे जाने वाली प्रमुख वस्तुएँ कौन-कौन सी थीं?

....

....

....

....

....

3) सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी के दौरान यूरोपीय कम्पनी के भारत के साथ होने वाले व्यापार में हुए परिवर्तनों का उल्लेख करें। (उत्तर 100 शब्दों में दें।)

....

....

....

....

....

....

4) व्यापारिक पूंजीवाद और औद्योगिक पूंजीवाद में क्या अंतर था? इससे निर्यात व्यापार में क्या बदलाव आया?

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

....

....

....

....

....

7.13 सारांश

इस इकाई में हमने देखा कि यूरोप में व्यापार और वाणिज्य में वृद्धि होने के फलस्वरूप औपनिवेशिक शक्तियों ने नये बाजारों और कच्चे माल के स्रोतों की खोज आरंभ की। एशिया, अफ्रीका और अमेरिका के विभिन्न देशों के बाजार के रूप में विकसित होने की पूरी संभावना थी। इसके अतिरिक्त इन देशों में कच्चे माल का अगाध स्रोत छिपा पड़ा था। ये देश औपनिवेशिक शक्तियों के लिए बहुत उपयोगी थे। निर्यात व्यापार करने के उद्देश्य से यूरोप में कई व्यापारिक कम्पनियाँ स्थापित हुईं। जल्द ही हितों के टकराव के कारण पुर्तगालियों, डचों, फ्रांसीसियों और अंग्रेजों जैसी यूरोपीय औपनिवेशिक शक्तियों के बीच मुठभेड़ शुरू हो गयी। इस संघर्ष में अंग्रेजी ईस्ट इंडिया कम्पनी विजयी हुई और उसने भारतीय व्यापार पर अपना एकाधिकार स्थापित किया। इंग्लैंड में वाणिज्य के स्थान पर औद्योगिक पूंजीवाद के आ जाने से इंग्लैंड के निर्यात व्यापार के स्वरूप और तरीके में भी बदलाव आया।

7.14 शब्दावली

फरमान : बादशाह द्वारा जारी आदेश।

व्यापार संतुलन : पारसमुद्रीय व्यापार में आयात और निर्यात का अंतर।

7.15 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) क) देखें भाग 7.1
   ख) देखें भाग 7.3
   ग) देखें भाग 7.4
   8) देखें भाग 7.6
   ङ) देखें भाग 7.7

2) अपने उत्तर में इन तथ्यों को शामिल करें : मुगल दरबार में अंग्रेज प्रतिनिधि का आना, व्यापार के लिए फरमान की प्राप्ति, सूरत, मद्रास, बम्बई, उड़ीसा, बंगाल आदि में अंग्रेजी कारखानों की स्थापना। देखें भाग 7.7

बोध प्रश्न 2

1) अपनी जानकारी का इस्तेमाल करते हुए इस प्रश्न का उत्तर दें।

2) देखें भाग 7.6, 7.7, 7.10

3) इस उत्तर में आप मसाले के व्यापार, कपड़ा, रेशम और शोरा, जिसने बाद में मसाले के व्यापार का स्थान ले लिया, आरंभ में यूरोपीय व्यापारी पूरब से सामान खरीदने के लिए सोने और चाँदी का उपयोग करते थे, औद्योगिक क्रांति के बाद व्यापार का ढर्रा बिल्कुल बदल गया। देखें भाग 7.10

4) व्यापारिक उद्योगपतियों ने भारत में उत्पादित वस्तुओं के निर्यात को बढ़ाया, जबकि औद्योगिक पूंजीपतियों ने इंग्लैंड में तैयार माल को भारत में आयातित किया। देखें भाग 7.12

MAADHYAM IAS
way to achieve your dream

इकाई 8 बक्सर के युद्ध तक पूर्वी भारत में ब्रिटिश

इकाई की रूपरेखा

8.0 उद्देश्य
8.1 प्रस्तावना
8.2 ब्रिटिश विजय से पूर्व का बंगाल
8.3 बंगाल की ब्रिटिश विजय: 1757-65
 8.3.1 सिराजउद्दौला और ब्रिटिश
 8.3.2 मीर जाफर और अंग्रेज़
 8.3.3 मीर कासिम और अंग्रेज़
 8.3.4 मीर कासिम के पश्चात्
8.4 राजनीतिक रूपांतरण की व्याख्या
8.5 अंग्रेज़ों की सफलता का महत्त्व
8.6 सारांश
8.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

8.0 उद्देश्य

भारत में अंग्रेजी प्रभुत्व का इतिहास बंगाल का ब्रिटिश साम्राज्यवादी व्यवस्था के अधीन हो जाने के साथ प्रारंभ हुआ। इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आपको ज्ञान हो जाएगा :

- अंग्रेजों के द्वारा की गई बंगाल विजय की पृष्ठभूमि का;
- बंगाल के नवाब से ब्रिटिश प्रभुत्व को राजनैतिक सत्ता के रूपांतरण का; और
- उन कारकों का जिनके कारणवश सत्ता का रूपांतरण हुआ और इसके महत्व का।

8.1 प्रस्तावना

MAADHYAM IAS

यह इकाई बंगाल में 1757 से 1765 तक के दौरान नवाब से अंग्रेजों को हुए राजनैतिक सत्ता के रूपांतरण का परिचय आपसे करायेगी। बंगाल को ब्रिटिश साम्राज्यवादी व्यवस्था के अधीन किस ढंग से किया गया, इसके विषय में कुछ विचार आपको खंड 2 की इकाई 1 से प्राप्त हुआ होगा। इस इकाई में यह स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है कि यह मुख्यतः बंगाल के नवाब एवं अंग्रेजों के बीच वह व्यापारिक प्रतिद्वंद्विता थी जिसने 1750 के दशक में घटनाओं के क्रम का निर्णय किया। इस घटना क्रम के लिए महत्त्वपूर्ण निर्णायक कारण किसी भी नवाब की व्यक्तिगत असफलता न थी जैसा कि कुछ इतिहासकारों ने सिद्ध करने का प्रयास किया है। फिर भी प्रशासन में आयी गिरावट जिसका प्रारंभ 18वीं सदी में हुआ था, ने भी बंगाल की स्वतंत्रता राजनीतिक व्यवस्था के अंतिम रूप से धराशायी होने में निःसंदेह योगदान किया। यहाँ पर हम पहले अंग्रेजों की बंगाल विजय की पृष्ठभूमि और 1757 से 1765 तक के राजनैतिक घटनाचक्र का विवेचन करेंगे। फिर हम इस रूपांतरण और प्लासी तथा बक्सर की लड़ाइयों के महत्व की व्याख्या पर अपना ध्यान केन्द्रित करेंगे क्योंकि ये घटनाएँ भारत में ब्रिटिश साम्राज्यवाद के प्रसार में निर्णायक थीं।

8.2 ब्रिटिश विजय से पूर्व का बंगाल

आप खंड 2 में पढ़ चुके हैं कि यूरोपीय अर्थव्यवस्था में अर्थात् सामंतवाद में पूँजीवाद की ओर एवं फिर व्यापारिक पूँजीवाद से औद्योगिक पूंजीवाद की ओर हुए परिवर्तनों के कारणवश औपनिवेशिक साम्राज्य को स्थापित करने के लिए बहुत सी यूरोपीय शक्तियों के बीच कड़ी प्रतियोगिता हुई। साम्राज्यवाद के प्रसार की इस प्रक्रिया में 17वीं शताब्दी से ही बंगाल, डच, फ्रांसीसी एवं अंग्रेजी कंपनियों के बीच शिकार का मैदान बन गया। यह मुख्यतः बंगाल में अच्छे व्यापार की संभावनाओं तथा संपन्न संसाधनों के कारणवश था और इसलिए कई विदेशी कंपनियाँ आकर्षित हुई थीं। औरंगजेब के शासनकाल के दौरान भारत की यात्रा करने वाले यात्री फ्रांकोयस ने बंगाल के बारे में में लिखा है कि :

> "देश की धन प्रचुरता के कारण .... पुर्तगालियों, अंग्रेजों और डचों के बीच यह कहावत लोकप्रिय हो गई कि बंगाल प्रांत में प्रवेश के लिए सैंकड़ों द्वार हैं परंतु छोड़ने के लिए एक भी नहीं"।

18वीं सदी में बंगाल से यूरोप को निरंतर कच्चे उत्पादों जैसे शोरा, चावल, नील, काली मिर्च, चीनी आदि एवं रेशम, सूती कपड़े, कढ़ाई-बुनाई के सामान आदि का निर्यात होता था। प्रारंभिक 18वीं सदी में ब्रिटेन को एशिया से होने वाले

आयात का 60 प्रतिशत सामान बंगाल से ही जाता था। बंगाल की व्यापारिक क्षमताएँ ही अंग्रेजों के द्वारा इस प्रदेश में ली जाने वाली रुचि का स्वाभाविक कारण थीं।

अंग्रेजों का बंगाल के साथ निरंतर संबंध 1630 के दशक में शुरू हुआ। पूरब में प्रथम अंग्रेजी कंपनी की स्थापना 1633 में उड़ीसा में बालासोर में हुई और फिर हुगली, कासिम बाजार, पटना और ढाका में। 1690 के आस-पास अंग्रेजी कंपनी को सुतानति, कलकत्ता एवं गोविन्दपुर नाम के तीन गाँवों के जमींदारी अधिकार प्राप्त हो गये और कंपनी के द्वारा कलकत्ता की स्थापना के साथ ही बंगाल में अंग्रेजी व्यापारिक बस्ती को बसाने की प्रक्रिया का काम पूरा हो गया। 1680 तक बंगाल में कंपनी का वार्षिक निवेश 150,000 पौंड तक पहुँच गया।

17वीं शताब्दी से ही अंग्रेजी ईस्ट इंडिया कंपनी को बंगाल में स्वतंत्र रूप से व्यापार करने दिया गया। इसके बदले में कंपनी को मुगल सम्राट को 3000 (350 पौंड) रुपए वार्षिक अदा करने पड़ते थे। जिस समय कंपनी मुगल सम्राट को बंगाल में स्वंतत्र व्यापार के लिए एक वर्ष में 350 पौंड अदा करती थी उस समय बंगाल से कंपनी का निर्यात 50,000 पौंड मूल्य से भी अधिक प्रति वर्ष का था।

परंतु प्रांतीय सूबेदार कंपनी को दी जाने वाली इस भांति के विशेषाधिकारों का समर्थन नहीं करते थे क्योंकि इससे उनके राजस्व को भारी नुकसान होता था। इसलिए प्रांतीय प्रशासन की ओर से अंग्रेजी कंपनी पर प्रांत में व्यापार के लिए अधिक अदायगी के लिए सदैव भारी दबाव रहता था। अंग्रजों ने अपनी ओर से बहुत से साधनों के द्वारा व्यापार पर पूर्ण नियंत्रण स्थापित करने की कोशिश की। बंगाल में स्वतंत्र प्रभुत्व को स्थापित करने वाले सूबेदार मुर्शीद कुली खान कंपनी के द्वारा उपयोग किये जाने वाले विशेषाधिकारों को देने के समर्थन में नहीं था क्योंकि इसके कारणवश सरकारी कोष में नुकसान होता था। इसलिए बंगाल में 18वीं सदी के मध्य से पहले ही अंग्रेजों के व्यापारिक हितों एवं प्रांतीय सरकार के बीच झगड़ा पैदा हो गया।

जिस समय अंग्रेजों के उभरते व्यापारिक हित बंगाल की राजनीति के लिए एक गंभीर खतरा बनते जा रहे थे, उसी समय प्रांतीय प्रशासन में स्वयं ही कुछ कमजोरियाँ पैदा हो गई थीं। खंड 1 की इकाई 2 में आप पढ़ चुके हैं कि मुगल साम्राज्य के विभाजन के साथ ही बंगाल में कैसे एक स्वतंत्र प्रभुत्व का उद्भव हुआ।

इस प्रांतीय शक्ति का स्थायित्व निम्नलिखित कुछ निश्चित शर्तों पर निर्भर करता था :

- नवाब का शासन स्थानीय कुलीन वर्ग के एक शक्तिशाली गुट के समर्थन पर निर्भर करता था।
- उसको उन हिन्दू मुत सद्दियों के समर्थन की आवश्यकता पड़ती थी जिनके नियंत्रण में वित्तीय प्रशासन था।
- बड़े जमींदारों का समर्थन भी अति आवश्यक था क्योंकि वे न केवल सरकारी कोष को राजस्व देते थे बल्कि आवश्यकता पड़ने पर नवाब को सैनिक सहायता भी उपलब्ध कराते थे तथा अपने-अपने क्षेत्रों में कानून एवं व्यवस्था को भी बनाये रखते थे।
- बैंकों के मालिकों एवं व्यापारिक घरानों विशेषकर जगत सेठ का घराना जो बंगाल का सबसे बड़ा वित्तीय घराना था, के समर्थन तथा सहयोग की भी नवाबों को आवश्यकता थी।

MAADHYAM IAS

इन विभिन्न प्रकार के गुटों की नवाब से आशाएँ भिन्न-भिन्न थीं। नवाब के शासन का स्थायित्व इन बहुत से हित वाले गुटों के बीच उचित संतुलन बनाये रखने पर निर्भर करता था। शासक एवं विभिन्न हित वाले गुटों के बीच के शक्ति समीकरण में आम आदमी का कोई स्थान न था। वे जमींदारों की बढ़ती मांगों के शिकार थे परंतु प्रशासन की तरफ से कोई सुरक्षा उपलब्ध नहीं करायी जाती थी। शासकों की ओर से साम्राज्यवादी विरोधी संघर्ष में आम जनता को शामिल करने के लिए कोई प्रयास नहीं किया गया।

8.3 बंगाल की ब्रिटिश विजय : 1757-65

1757 से 1765 तक बंगाल का इतिहास नवाब से अंग्रेजों को राजनैतिक सत्ता के क्रमिक हस्तांतरण का इतिहास है। इस संक्षिप्त 8 वर्ष के समय के दौरान बंगाल के ऊपर तीन नवाबों सिराजउद्दौला, मीर जाफर और मीर कासिम ने शासन किया। परंतु वे नवाब की प्रभुसत्ता को कायम रखने में असफल रहे और अंततः शासन का नियंत्रण अंग्रेजों के हाथों में चला गया। अब हम 1757 से 1765 तक बंगाल के राजनैतिक घटना चक्र का विवेचन करेंगे कि अंततः किस ढंग से अंग्रेजों ने बंगाल के ऊपर अपना नियंत्रण कर लिया।

8.3.1 सिराजउद्दौला और ब्रिटिश

सिराजउद्दौला 1956 में अलवर्दी खां के बाद बंगाल का नवाब बना। सिराज के उत्तराधिकार का विरोध उसकी चाची घसीटी बेगम तथा पुर्णिया के सूबेदार उसके चचेरे भाई शौकत जंग ने किया। नवाब के दरबार में जगत सेठ, अमीचन्द, राज बल्लभ, राय दुर्लभ, मीर जाफर एवं कुछ अन्य लोगों का एक शक्तिशाली गुट था और उन्होंने भी सिराज के उत्तराधिकार का विरोध किया। नवाब के दरबार के इस आंतरिक असंतोष के अतिरिक्त नवाब की स्थिति को दूसरा गंभीर खतरा अंग्रेजी कंपनी की बढ़ती व्यापारिक गतिविधियों से था। नवाब एवं कंपनी के बीच व्यापारिक विशेषाधिकारों

को लेकर संघर्ष कोई नया नहीं था। परंतु सिराजुद्दौला के शासन काल में कुछ अन्य निश्चित कारणों को लेकर दोनों के बीच के रिश्ते और तनावपूर्ण हो गये। वे कारण निम्नलिखित हैं :

- नवाब की आज्ञा के बिना अंग्रेजी कंपनी के द्वारा कलकत्ता की किलेबंदी
- कंपनी को दिये गये व्यापार अधिकारों का इसके अधिकारियों के द्वारा अपने व्यक्तिगत व्यापार के लिए दुरुपयोग किया गया।
- कंपनी ने कलकत्ता में राज बल्लभ के पुत्र कृष्णदास को शरण दी और वह नवाब की इच्छा के विरुद्ध विशाल सरकारी धन को लेकर भाग गया।

इन कारणों से नवाब सिराजुद्दौला कंपनी के साथ नाराज था। कंपनी इस बात को लेकर सिराजुद्दौला के बारे में चिंन्तित हो गई थी क्योंकि कंपनी के अधिकारियों को संदेह हुआ कि सिराज बंगाल में फ्रांसीसियों के साथ गठजोड़ करके कंपनी के अधिकारों में कटौती कर देगा। अंग्रेजों के कलकत्ता किले पर सिराज के आक्रमण ने खुले संघर्ष को और तेज कर दिया।

राबर्ट क्लाइव के नेतृत्व में मद्रास से शक्तिशाली अंग्रेज सेना के कलकत्ता पहुँचने से बंगाल में अंग्रेजों की स्थिति और मजबूत हो गई। कंपनी का नवाब के दरबार के षडयंत्रकारियों के साथ गठबंधन हो जाने से कंपनी की स्थिति और मजबूत हो गई। इसलिए अंग्रेजों की विजय प्लासी के लड़ाई के मैदान (जून, 1757) में होने वाले युद्ध में पूर्व ही सुनिश्चित हो गई थी। यह विजय कंपनी की सैनिक शक्ति की श्रेष्ठता के बल पर नहीं अपितु नवाब के अधिकारियों द्वारा षडयंत्र में मदद करने के कारण प्राप्त हुई। निश्चय के साथ यह कहना बड़ा मुश्किल है कि सिराज उचित कार्यवाही करने में क्यों असफल हुआ। अंततः वह स्वयं को भी न बचा सका और मीर जाफर के पुत्र मीरान ने उसका कत्ल कर दिया।

1 अंग्रेजों तथा मीर जाफ़र और उसके पुत्र मीरान के मध्य 1757 की संधि

8.3.2 मीर जाफर और अंग्रेज

प्लासी की लड़ाई से पूर्व ही क्लाइव ने मीर जाफर को नवाब का पद देने का वायदा किया था। यह सिराजुद्दौला के विरुद्ध अंग्रेजों की सहायता का उपहार था।

अंग्रेज अब बंगाल के राजा को बनाने वाले हो गये। मीर जाफर को अपने अंग्रेज मित्रों के द्वारा किये गये समर्थन के लिए भारी रकम को अदा करना पड़ा। परन्तु मुर्शिदाबाद के सरकारी कोष में क्लाइव और उसके अन्य साथियों की मांगों को संतुष्ट करने के लिए पर्याप्त धन न था। मीर जाफर ने अंग्रेजों को नजराने एवं हजनि के रूप में लगभग 1,750,000 रुपये अदा किये।

मीर जाफर जैसे ही सत्तासीन हुआ उसने तुरन्त निम्नलिखित गंभीर समस्याओं का सामना किया :

- मिदनापुर के राजा राम सिन्हा, पूर्णिया के हिज़ीर अली खां जैसे जमींदारों ने उसे अपना शासक मानने से इंकार कर दिया।
- मीर जाफर के कुछ सिपाही जिनको अपना वेतन निरंतर नहीं मिल रहा था वे विद्रोही हो रहे थे।
- उसको अपने कुछ अधिकारियों विशेषकर राय दुर्लभ की वफादारी पर संदेह था। उसे विश्वास था कि राय दुर्लभ ने जमींदारों को उसके विरुद्ध विद्रोह के लिए उकसाया था। परंतु राय दुर्लभ क्लाइव की शरण में था, इसलिए वह उसको छू भी न सका।
- मुगल बादशाह के पुत्र जो बाद में आलम शाह के नाम से जाना गया ने बंगाल के सिंहासन पर अधिकार करने का प्रयास किया।

नवाब की वित्तीय स्थिति भी काफी कमजोर थी और इसका मुख्य कारण कंपनी की बढ़ती मांगें एवं संसाधनों के प्रबंधन की अव्यवस्था थी। इन सभी के कारण मीर जाफर की निर्भरता अंग्रेजी कंपनी पर हो गई परंतु कंपनी कुछ कारणों से नवाब के साथ नाराज थी।

- अंग्रेजी कंपनी का ऐसा विचार था कि मीर जाफर डच कंपनी के सहयोग से बंगाल में अंग्रेजों के बढ़ते प्रभाव में कटौती करने की कोशिश कर रहा था।
- अंग्रेजों की सदैव बढ़ती मांगों को पूरा करने में भी मीर जाफर असफल रहा।

इसी बीच मीर जाफर के पुत्र मीरान की मृत्यु के कारण उत्तराधिकार के प्रश्न को लेकर फिर एक विवाद पैदा हो गया। मीरान के पुत्र और मीर जाफर के दामाद मीर कासिम के बीच इसके लिए संघर्ष हुआ और कलकत्ता के नये गवर्नर वॉन्सिटॉर्ट ने मीर कासिम का पक्ष लिया। वॉन्सिटॉर्ट के साथ एक गुप्त समझौते के द्वारा मीर कासिम कंपनी को आवश्यक धन अदा करने के लिए सहमत हुआ इस शर्त पर कि यदि वे बंगाल के नवाब के लिए उसके दावे का समर्थन करें। मीर जाफर पहले से ही अंग्रेजों के विश्वास को खो चुका था। अपनी देय तनख्वाह के लिए सेना के विद्रोह ने मीर जाफ़र को नवाब के पद से हटाने के लिए अंग्रेजों के दबाव डालने को और सरल बना दिया।

8.3.3 मीर कासिम और अंग्रेज

मीर कासिम भी बंगाल के सिंहासन पर उसी ढंग से पदासीन हुआ था जिस ढंग से मीर जाफर ने इसको प्राप्त किया था। अपने पूर्वाधिकारियों की भाँति ही, मीर कासिम को भी अंग्रेजों को भारी धन की अदायगी करनी पड़ी। इसके अतिरिक्त उसने बर्दवान, मिदनापुर तथा चिटगाँव के तीन जिलों को अंग्रेजी कंपनी को दे दिया। सत्ता को प्राप्त करने के बाद मीर कासिम ने निम्नलिखित दो महत्वपूर्ण कार्यों को किया :

MAADHYAM IAS

- कलकत्ता में स्थित कंपनी से सुरक्षित दूरी को बनाये रखने के लिए मीर कासिम ने अपनी राजधानी को मुर्शिदाबाद से (बिहार) मुंगेर में हस्तांतरित कर दिया और,
- अपनी पसंद के अधिकारियों के साथ उसने नौकरशाही का पुनर्गठन किया और सेना के कौशल तथा क्षमताओं को बढ़ाने के लिए उसका भी सुधार किया।

मीर कासिम के शासन के पहले कुछ महीने ठीक प्रकार से व्यतीत हुए। परंतु धीरे-धीरे अंग्रेजों के साथ रिश्तों में कड़वाहट पैदा होने लगी। इसके कारण थे :

- नवाब की बार-बार प्रार्थना करने पर भी बिहार का उप-सूबेदार राम नारायण अपने लेखा-जोखा को जमा नहीं कर रहा था। पटना स्थित अंग्रेज अधिकारियों के द्वारा राम नारायण का समर्थन किया गया था और वह कभी भी नवाब विरोधी अपनी भावनाओं को नहीं छिपाता था।
- कंपनी के दस्तक या व्यापार अधिकार पत्र का कंपनी के अधिकारियों के द्वारा अपने व्यक्तिगत व्यापार के लिए दुरुपयोग किये जाने के कारण नवाब एवं अंग्रेजों के बीच तनाव और बढ़ा।
- कंपनी के कारिन्दे अपने सामान पर कोई कर नहीं अदा करते थे। जब कि स्थानीय व्यापारियों को कर अदा करना पड़ता था। जहाँ एक ओर नवाब को कर राजस्व की हानि कंपनी के अधिकारियों द्वारा कर अदा न करने पर होती थी, वहीं दूसरी ओर स्थानीय व्यापारियों को कंपनी के व्यापारियों के साथ असमान कड़ी प्रतियोगिता का सामना करना पड़ता था। इससे भी अधिक, कंपनी के अधिकारी नवाबों के अधिकारियों की पूर्ण अवहेलना करते थे। कंपनी के अधिकारी स्थानीय लोगों को अपना सामान कम दामों पर बेचने के लिए मजबूर करते थे। मीर कासिम ने गवर्नर वॉसिंटॉर्ट से इन कार्यों की शिकायत की परन्तु इसका कोई प्रभाव न हुआ। जैसा कि मीर जाफर के केस में घटित हुआ जबकि अंग्रेजों ने यह पाया कि मीर कासिम उनकी आकांक्षाओं की पूर्ति करने में असफल रहा है और उन्होंने मीर कासिम को हटाने के लिए अवसर की तलाश शुरू कर दी। परंतु मीर कासिम भी अपने पूर्वाधिकारी से भिन्न इतनी आसानी के साथ आत्म समर्पण करने वाला न था। उसने मुगल सम्राट शाह आलम एवं अवध के नवाब शुजाउद्दौला की मदद से संयुक्त प्रतिरोध करने की कोशिश की। फिर भी, अंततः मीर कासिम अपने सिंहासन की रक्षा करने में असफल रहा और बक्सर की लड़ाई (1764) में पूर्वी भारत में अंग्रेजों की विजय एवं सर्वोच्चता को प्राप्त किया।

8.3.4 मीर कासिम के पश्चात्

बंगाल के सिंहासन पर मीर जाफर को वापस बैठा दिया गया। अंग्रेजों को उनकी सेना के रख-रखाव के लिए मिदनापुर, बर्दवान, और चिटगाँव के तीन जिले तथा बंगाल में कर उन्मुक्त व्यापार करने के अधिकार-पत्र (सनद) (नमक पर 2% कर के अतिरिक्त) को देने के लिए मीर जाफर सहमत हो गया। परंतु मीर जाफर का स्वास्थय अच्छा न था और इस घटना के समय कुछ समय बाद उसकी मृत्यु हो गई। उसके छोटे से बेटे नजीमुद्दौला को नवाब नियुक्त किया गया। वास्तविक प्रशासन नायब-सूबेदार के द्वारा चलाया जाता था जिसको अंग्रेज अधिकार नियुक्त कर सकते थे और हटा सकते थे।

1765 की गर्मियों में बंगाल के गवर्नर के रूप में क्लाइव वापस आया। क्लाइव ने स्वयं को अपूर्ण कार्य को पूरा करने अर्थात् वह अंग्रेजों को बंगाल में सर्वोच्च राजनैतिक शक्ति बनाने में जुट गया। उसने मुगल सम्राट शाह आलम से संपर्क किया, शाह आलम स्वयं भी एक समझौते के अंतर्गत 1761 से अवध के नवाब शुजाउद्दौला का व्यवहारिक तौर पर बंदी था। अगस्त 1765 में शाह आलम एवं क्लाइव के बीच एक समझौते पर हस्ताक्षर किये गये। इस समझौते के द्वारा शाह आलम को कंपनी ने इलाहाबाद तथा आस-पास के क्षेत्रों को दे दिया, जबकि बादशाह ने एक फरमान के द्वारा ईस्ट इंडिया कंपनी को बंगाल, बिहार एवं उड़ीसा की दीवानी प्रदान कर दिया। अंग्रेजों को दीवानी के अधिकार और बंगाल के राजस्व या वित्तीय प्रशासन पर पूर्ण नियंत्रण प्रदान कर दिया गया।

सुरक्षा, कानून एवं व्यवस्था और न्याय के प्रशासन का उत्तरदायित्व नवाबों के हाथों में था। लेकिन बक्सर के युद्ध के बाद नवाबों को सैनिक शक्ति वास्तव में मृतप्रायः हो गई थी। कंपनी को दीवानी मिल जाने के बाद नवाबों की शक्ति पूर्णतः समाप्त हो गई।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि 1757 से 1765 तक के राजनीतिक घटनाओं के कारण बंगाल के नवाबों से अंग्रेजी ईस्ट इंडिया कंपनी को राजनैतिक सत्ता का हस्तांतरण क्रमिक रूप से हुआ। आगामी भाग में हम उन कारणों को समझने का प्रयास करेंगे जिनसे यह परिवर्तन आया।

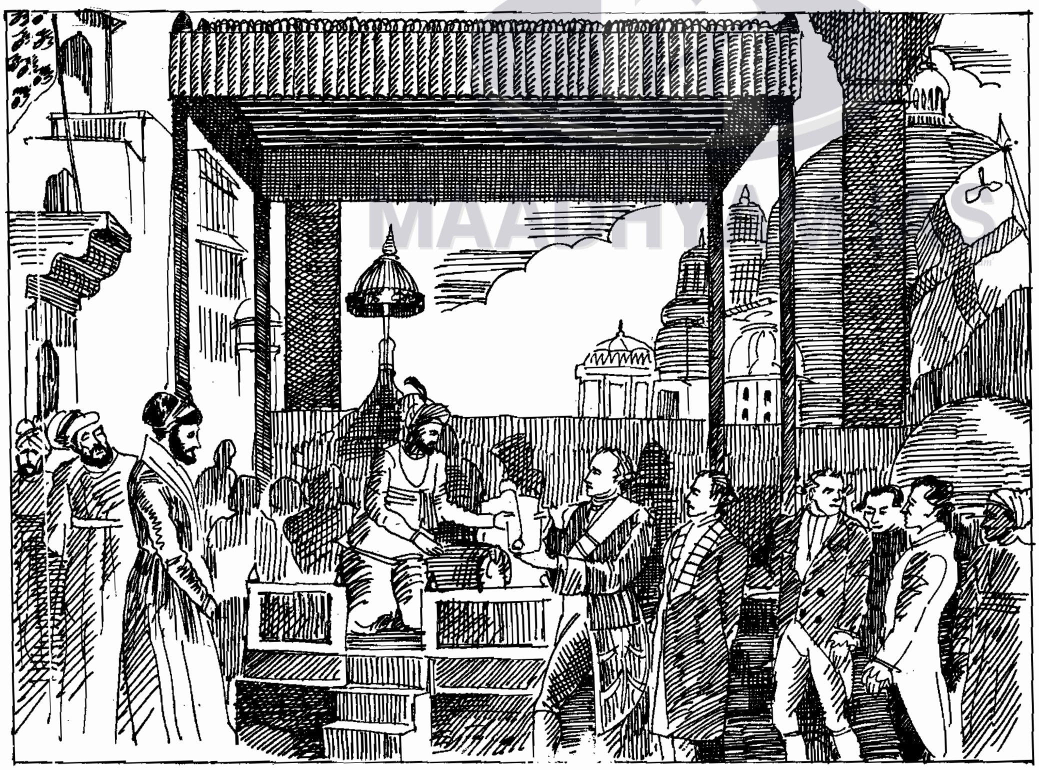

2 मुगल बादशाह शाह आलम से बंगाल की दीवानी प्राप्त करते हुए क्लाइव

बोध प्रश्न 1

1) बंगाल राजनीति की क्या प्रकृति थी ? अपने उत्तर को 100 शब्दों में लिखिये।

....

....

....

....

....

....

....

....

....

....

2) बंगाल के नवाबों तथा अंग्रेजों के रिश्तों में तनाव क्यों उत्पन्न हुआ? 100 शब्दों में उत्तर दें।

....

....

....

....

....

....

....

....

....

....

3) निम्नलिखित कथनों पर सही (√) या गलत (×) के चिन्ह लगाइए।

1) बंगाल में अंग्रेजी कंपनी के उन्मुक्त व्यापार का बंगाल के नवाबों ने विरोध नहीं किया।

2) बंगाल में कंपनी के बढ़ते व्यापार ने बंगाल के शासकों के वित्तीय संसाधनों में वृद्धि की।

3) सिराजुद्दौला ने बंगाल में व्यापार के विशेषाधिकार का कंपनी के अधिकारियों द्वारा किये गये दुरुपयोग का विरोध किया।

4) मीर जाफर की सेना ने उसके विरुद्ध इसलिए विद्रोह किया क्योंकि वह उनका वेतन देने में असफल रहा।

5) अंग्रेज मीर कासिम के आलोचक इसलिए हो गये क्योंकि वह अपना स्वतंत्र प्रभुत्व स्थापित करना चाहता था।

6) दीवानी अधिकार दिये जाने के कारण अंग्रेजी कंपनी को बंगाल के वित्तीय एवं प्रशासकीय मामलों में पूर्ण नियंत्रण कायम हो गया।

8.4 राजनीतिक रूपांतरण की व्याख्या

1757 से 1765 तक की राजनीतिक घटनाओं के संक्षिप्त विवरण से स्पष्ट है कि किस ढंग से अंग्रेजों ने धीरे-धीरे नवाब के आधिपत्य को कम किया और कैसे बंगाल पर अपने नियंत्रण को स्थापित किया। बंगाल में इस समय के दौरान जो कुछ घटित हुआ उसको कुछ इतिहासकारों ने "राजनीतिक क्रांति" का नाम दिया। इस क्रांति के क्या कारण थे, इस प्रश्न पर इतिहासकारों के भिन्न-भिन्न विचार हैं। कुछ इतिहासकारों के द्वारा क्रांति के कारणों को नवाबों की व्यक्तिगत असफलताओं में खोजने का प्रयास मान्य नहीं है। सिराजुद्दौला का अभिमान या मीर जाफर का विश्वासघात या मीर कासिम की व्यक्तिगत सीमाओं को बंगाल की राजनीतिक संरचना में होने वाले इस रूपांतरण का कारण नहीं माना जा सकता। अंग्रेजों तथा नवाबों के बीच के संघर्ष से जो प्रश्न जुड़े थे वे कुछ और ही एवं अधिक महत्वपूर्ण थे।

कुछ इतिहासकारों के द्वारा यह तर्क दिया गया है कि ईस्ट इंडिया कंपनी के अधिकारियों के व्यक्तिगत स्वार्थों ने नवाबों के साथ संघर्षों को पैदा किया। अधिक व्यापार विशेषाधिकारों तथा उपहारों की आकांक्षाओं और उनके द्वारा स्वयं के सौभाग्य को बनाने के प्रयासों के कारण अंग्रेज लोग व्यक्तिगत रूप से नवाबों के प्रभुत्व का उल्लंघन करने लगे। कंपनी के अधिकारियों के द्वारा अपने व्यक्तिगत व्यापार के लिये व्यापार अधिकारों का दुरुपयोग नवाबों तथा ईस्ट इंडिया कंपनी के बीच संघर्ष का मुख्य कारण था। मुगल सम्राट फरूखसियर ने 1717 में एक शाही फरमान के द्वारा केवल कंपनी के आयात एवं निर्यात पर मुक्त छूट प्रदान की थी न कि कंपनी कारिन्दों के व्यक्तिगत व्यापार के लिए। कंपनी

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

के अधिकारियों के द्वारा इस व्यापारिक विशेषाधिकार का दुरुपयोग अपने व्यक्तिगत व्यापार के लिए किये जाने से नवाबों के कोष के लिए काफी नुकसानदायक साबित हो रहा था। सिराजुद्दौला और मीर कासिम दोनों ने कंपनी से इस दुरुपयोग की शिकायत की परंतु स्थिति में कोई परिवर्तन न आया।

यदि अंग्रेजों के व्यक्तिगत स्वार्थ नवाबों के साथ संघर्ष के लिए उत्तरदायी थे, कंपनी भी उसके लिए समान रूप से उत्तरदायी थी। कंपनी और अधिक व्यापारिक विशेषाधिकारों के लिए नवाबों पर दबाव डालती रहती थी। ब्रिटिश बंगाल से डच एवं फ्रांसीसी कंपनियों को बाहर निकाल बंगाल के व्यापार पर अपना इजारेदारी नियंत्रण स्थापित करना चाहते थे। अंग्रेजी कंपनी ने नवाब की इच्छा के विरुद्ध अपनी सैन्य शक्ति को बढ़ाना शुरू कर दिया और कलकत्ता की किलेबंदी की। यह नवाब के आधिपत्य को प्रत्यक्ष चुनौती थी। प्लासी लड़ाई के बाद अधिक छूटों के लिए दबाव बढ़ने लगा और इसने अपनी सेनाओं के खर्चों की पूर्ति करने के लिए नवाब से जमींदारियों की मांग करनी भी शुरू कर दी। सबसे अधिक चेतावनी तो यह थी कि कंपनी के अधिकारीगण नवाब के दरबार की राजनीति में भाग लेने लगे और वे उच्च अधिकारियों की नियुक्ति में भी हस्तक्षेप करते। इस प्रकार कंपनी का बढ़ता प्रभुत्व और इसके स्थानीय राजनीति में उलझनों ने नवाबों की स्वतंत्र स्थिति को गंभीर चुनौती दी। यह समझना कोई मुश्किल नहीं है कि कंपनी और इसके अधिकारियों ने 1757 से 1765 तक बंगाल के राजनीतिक घटनाक्रम को मूर्त देने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। इस सब के साथ-साथ कुछ स्थानीय व्यापारियों अधिकारियों एवं जमींदारों की भूमिका बंगाल में ब्रिटिश राजनीतिक सर्वोच्चता को स्थापित करने में, कम महत्वपूर्ण न थी। बंगाल का सबसे बड़ा बैंकिंग घराना जगत सेठ और अमीचन्द जैसे धनी व्यापारी सिराजुद्दौला के गद्दी पर बैठने से खुश न थे। इन सेठों के संरक्षण में नवाबों का कोष था और उनका प्रशासन पर अच्छा खासा नियंत्रण था। सेठों एवं दूसरे व्यापारियों के अतिरिक्त नवाब के दरबार में जमींदारों एवं सैनिक कुलीनों के गुटों का भी काफी प्रभाव था। यह गुट अपने उन विशेष अधिकारों के खोने से आशंकित हो उठा जिनको ये पहले के नवाबों से भोग रहे थे। सिराजुद्दौला ने नागरिक एवं सैनिक प्रशासन को पुनर्गठित करने के लिए पुराने अधिकारियों को हटाना शुरू कर दिया तब इनकी आशंका को बल मिलने लगा। जिस नये कुलीन गुट को नवाब का संरक्षण प्राप्त हुआ था उसका प्रतिनिधित्व मोहनलाल, मीर मदन और ख्वाजा अब्दुल हादी खान करते थे और इन्होंने पुराने अधिकारियों को नवाब से अलग कर दिया। इस अलगाव और सिराजुद्दौला को उसके ही लोगों के द्वारा हटाकर कंपनी अच्छी प्रकार से सौदेबाजी कर सकती है, इन दोनों कारणों की परिणिति सिराजुद्दौला के विरुद्ध षडयंत्र करने में हुई। अंग्रेज जो अपने लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए सहयोगी की खोज में थे, इस असंतुष्ट गुट में उनको अपना सहयोगी प्राप्त हो गया। ब्रिटिश अधिक व्यापारिक विशेषाधिकारों को प्राप्त करना और बंगाल से संसाधनों का अधिक उपयोग करना चाहते थे। जबकि उनके भारतीय सहयोगी बंगाल में अपनी स्वयं की राजनीतिक सत्ता को स्थापित करने की इच्छा रखते थे। उनका एक समान लक्ष्य वर्तमान नवाब को हटाकर उसके स्थान पर एक समान पसंद के व्यक्ति को नवाब के पद पर बैठना था। इस प्रकार वह षडयंत्र रचा गया जिसने अंग्रेजों के बंगाल नवाबों पर नियंत्रण को स्थापित करने के कार्य को और सरल बना दिया। सारांश में कंपनी एवं उसके अधिकारियों के आर्थिक हित, मुर्शिदाबाद के दरबार में गुटबंदी में वृद्धि तथा दरबार के विभिन्न गुटों के बीच प्रतिद्वंद्वी हित, कुछ ऐसे कारण थे जिन्होंने 1757 से 1765 के बीच बंगाल में राजनीतिक रूपांतरण किया।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

8.5 अंग्रेजों की सफलता का महत्त्व

पहले भाग में हम देख चुके हैं कि अंग्रेजों ने प्लासी (1757) और बक्सर (1765) के दोनों युद्धों में निर्णायक विजय प्राप्त करके किस ढंग से बंगाल में अपनी राजनीतिक सर्वोच्चता को स्थापित किया। कुल मिलाकर अंग्रेजों की इन दोनों लड़ाइयों में विजय के अतिरिक्त उनका अपना कुछ निश्चित महत्व था।

प्लासी की लड़ाई में अंग्रेजों की सफलता का बंगाल के इतिहास पर एक विशेष प्रभाव हुआ।

- अंग्रेजों की इस विजय से बंगाल के नवाब की स्थिति कमजोर पड़ गई भले ही यह विजय विश्वासघात या अन्य किसी साधन से प्राप्त की गई हो।
- बाह्य रूप से सरकार में कोई अधिक परिवर्तन न हुआ था और अभी भी नवाब सर्वोच्च अधिकारी था। लेकिन व्यवहारिक तौर पर कंपनी के प्रभुत्व पर निर्भर था और कंपनी ने नवाब के अधिकारियों की नियुक्ति में हस्तक्षेप करना शुरू कर दिया।
- नवाब के प्रशासन की आंतरिक कलह स्पष्ट रूप से प्रकट होने लगी और अंग्रेजों के साथ मिलकर विरोधियों के द्वारा किये गये षडयंत्र ने अंततः प्रशासन की ताकत को कमजोर किया।
- वित्तीय उपलब्धि के अतिरिक्त अंग्रेजी ईस्ट इंडिया कंपनी ने फ्रांसीसी और डच कंपनियों को कमजोर बनाकर बंगाल के व्यापार पर सफलतापूर्वक अपनी इजारेदारी को स्थापित कर लिया।

बक्सर की लड़ाई के द्वारा उन्होंने बंगाल के ऊपर अपना पूर्ण राजनीतिक नियंत्रण स्थापित कर लिया। वास्तव में, हस्तांतरण की इस प्रक्रिया का प्रारंभ प्लासी की लड़ाई से हुआ था और इसकी चरम परणिति बक्सर के युद्ध में हुई।

- बक्सर की लड़ाई ने बंगाल नवाब के भाग्य के सूर्य को अस्त कर दिया और अंग्रेजों का बंगाल में एक शासक शक्ति के रूप में उदय हुआ।

- मीर कासिम ने बादशाह शाह आलम और अवध के नवाब शुजाउद्दौला के साथ मिलकर अंग्रेजों के विरुद्ध सफलतापूर्वक एक संघ का गठन किया। यह संघ अंग्रेजों के सम्मुख असफल हुआ। इस लड़ाई में अंग्रेजों की विजय ने ब्रिटिश शक्ति की सर्वोच्चता को सिद्ध कर दिया और उनके विश्वास को और मजबूत किया। यह विजय केवल अकेले मीर कासिम के विरुद्ध न थी बल्कि मुगल बादशाह एवं अवध के नवाब के विरुद्ध भी। अंग्रेजों की इस युद्ध में सफलता ने यह स्पष्ट कर दिया कि भारत के अन्य भागों में ब्रिटिश शासन की स्थापना बहुत दूर न थी।

बोध प्रश्न 2

1) क्या आप यह सोचते हैं कि नवाबों की व्यक्तिगत असफलता के कारण बंगाल में राजनीतिक रूपांतरण हुआ? अपना उत्तर 100 शब्दों में दें।

....
....
....
....
....
....
....
....
....
....

2) बक्सर की लड़ाई के महत्व पर 60 शब्द लिखिए।

....
....
....
....
....

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

8.6 सारांश

इस इकाई में हमने उस राजनीतिक प्रक्रिया के घटनाचक्र का विवरण किया जो बंगाल में 1757 से 1765 तक घटित हुआ। आशा करते हैं आप समझ गये होंगे कि प्रारंभिक स्तर पर अंग्रेजों की रुचि बंगाल के संसाधनों का और बंगाल की व्यापारिक क्षमताओं का उपयोग करके एशिया के व्यापार पर अपनी इजारेदारी कायम करना था। ईस्ट इंडिया कंपनी और उसके अधिकारियों की बढ़ती वह व्यापारिक रुचि थी जिसके कारण नवाबों के साथ संघर्ष ने जन्म लिया। बंगाल की राजनीति में अंतर्निहित कमजोरी ने अंग्रेजों को नवाब के विरुद्ध युद्ध में विजय प्राप्त करने में बड़ी मदद की। विभिन्न गुटों के शासकों से अलगाव ने बाह्य शक्तियों के लिए व्यवस्था को तोड़ने के लिए प्रेरित किया।

8.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) आपका उत्तर नवाबों की बहुत से गुटों पर निर्भरता और उसकी सीमित सीमायें, प्रशासन में एकरूपता का अभाव आदि पर केंद्रित होना चाहिए। देखे भाग 8.2।

2) आप अपने उत्तर में अंग्रेजों एवं नवाबों के बीच हितों को लेकर टकराव, बंगाल के आंतरिक राजनीति मामलों में अंग्रेजों का बढ़ता हस्तक्षेप आदि को शामिल करें। देखें भाग 8.3।

3) i) × ii) × iii) √ iv) √ v) √ vi) ×

बोध प्रश्न 2

1) भाग 8.4 में दी गई व्याख्याओं के प्रकाश में आप अपना उत्तर लिखें।

2) आप अपने उत्तर में बंगाल एवं भारत के अन्य भागों पर हुए प्रभावों, विशेषकर इसने भारत में अंग्रेजों को विजय प्राप्त करने में मदद की आदि को शामिल करें। देखें भाग 8.5।

इकाई 9 दक्षिण भारत में संघर्ष और विस्तार

इकाई की रूपरेखा

9.0 उद्देश्य
9.1 प्रस्तावना
9.2 भारत में अंग्रेज़ और फ्रांसीसियों की शक्ति और कमजोरियां
9.3 प्रथम कर्नाटक युद्ध (1740-48)
- 9.3.1 कर्नाटक के नवाब की भूमिका
- 9.3.2 फ्रांसीसी एडमिरल द्वारा डुप्ले को चुनौती
- 9.3.3 प्रथम कर्नाटक युद्ध में फ्रांस की बेहतर स्थिति

9.4 द्वितीय कर्नाटक युद्ध (1751-55)
- 9.4.1 कर्नाटक और हैदराबाद में गद्दी के लिए संघर्ष
- 9.4.2 डुप्ले का हस्तक्षेप
- 9.4.3 अंग्रेज़ों का प्रवेश
- 9.4.4 डुप्ले की वापसी
- 9.4.5 फ्रांसीसी प्रभाव हैदराबाद तक सीमित

9.5 तृतीय कर्नाटक युद्ध (1758-63)
- 9.5.1 कर्नाटक में फ्रांसीसी आक्रमण
- 9.5.2 फ्रांसीसी सेना की समस्याएं
- 9.5.3 नौसेना पराजय
- 9.5.4 वांडीवाश का युद्ध

9.6 फ्रांसीसी असफलता के कारण
9.7 बाद की स्थिति
9.8 सारांश
9.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

9.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- 18वीं शताब्दी के दौरान दक्षिण भारत में स्थापित दो विदेशी कंपनियों, खासकर ब्रिटिश और फ्रांसीसी, की तुलनात्मक शक्ति और कमजोरियों का उल्लेख कर सकेंगे;
- देशी शक्तियों द्वारा विदेशी हस्तक्षेप या आक्रमण को रोकने की क्षमता और इच्छा शक्ति की सीमा का वर्णन कर सकेंगे;
- 1740 के बाद ब्रिटिश और फ्रांसीसी कम्पनियों के बीच संघर्ष के स्वरूप को रेखांकित कर सकेंगे; और
- इस संघर्ष को एक परिणाम तक पहुंचाने में कार्यरत आर्थिक, राजनीतिक और सैनिक तत्वों पर प्रकाश डाल सकेंगे।

9.1 प्रस्तावना

इस खंड में हम यह जानने जा रहे हैं कि किस प्रकार अंग्रेजों ने अपने आक्रमणों और युद्धों से अपनी स्थिति मज़बूत की और उपमहाद्वीप के विभिन्न भागों से अपने प्रतिद्वंद्वियों को मार भगाया। इस इकाई में हम दक्षिण भारत पर अपना ध्यान केंद्रित करेंगे।

अंग्रेजों और फ्रांसीसी ईस्ट इंडिया कम्पनी में हुए संघर्ष के फलस्वरूप अंग्रेजों का दक्षिण में फैलाव हुआ। दक्षिण भारत फ्रांसीसी गतिविधियों का प्रमुख केंद्र था। पांडिचेरी उनकी राजधानी थी और हैदराबाद तथा मैसूर जैसे राज्यों पर उनका अच्छा खासा प्रभाव था। अधिक से अधिक मुनाफा कमाने के लिए एक व्यापारिक कम्पनी के लिए यह जरूरी हो जाता है कि वह अपने प्रतिद्वंद्वियों का सफाया कर दे और अपना एकछत्र अधिकार स्थापित करे। अतः अंग्रेजों के लिए इस क्षेत्र से फ्रांसीसियों को हटाना जरूरी था। 1761 तक अंग्रेजों को इसमें सफलता मिल भी गई। हम इस इकाई में इस प्रक्रिया का अध्ययन करेंगे।

9.2 भारत में अंग्रेज़ और फ्रांसीसियों की शक्ति और कमजोरियां

फ्रांसीसी और ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कम्पनी यूरोप में विकसित हो रहे व्यापारिक पूंजीवाद का प्रतिफलन थी। पूंजीवाद के

इस दौर को तैयारी का काल माना गया है, जिसमें एशिया और लैटिन अमेरिका से व्यापार कर पूंजी इकट्ठी की गई। भारत में बने माल की यूरोप में बहुत मांग थी और ये कम्पनियां भारत का माल यूरोप में बेचती थीं।

दोनों कंपनियों ने पूर्व के व्यापार से फायदा उठाया, परन्तु दोनों के फायदे में काफी अंतर था। ब्रिटिश कंपनी के पास तो बड़े जहाजी बेड़े थे; परन्तु फ्रांसीसियों के पास वाणिज्य का ज्ञान भी सीमित ही था। ब्रिटिश कंपनी के पास धन भी ज्यादा था और उसके जहाज़ शीघ्रता से आते-जाते थे। परन्तु दोनों कंपनियों की गुणवत्ता का तुलनात्मक अध्ययन करने के पूर्व उनके उद्भव की कहानी जानना जरूरी है। फ्रांसीसी कंपनी फ्रांसीसी राज्य संरक्षण की उपज थी, जिसका राजस्व मुख्य रूप से तंबाकू के व्यापार से आता था। तंबाकू के व्यापार पर उनकी सरकार का एकाधिकार था। दूसरी तरफ, ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी एक बड़ी निजी निगम थी, जो व्यक्तिगत उद्यम पर आधारित थी और किसी भी तरह से राज्य पर निर्भर नहीं थी। वस्तुतः ब्रिटिश सरकार कंपनी की ऋणग्रस्त थी। इस प्रकार के अंतर काफी महत्वपूर्ण थे; आगे हम इनका उल्लेख करेंगे।

फ्रांसीसी ईस्ट इंडिया कंपनी की स्थापना 1664 ई. में हुई। ब्रिटिश कंपनी की स्थापना इससे पहले 1600 ई. में हो चुकी थी। 1613 ई. में बादशाह जहांगीर से उन्हें एक फरमान भी मिल गया था। इस फरमान के अनुसार, उन्हें भारत के साथ कपड़े और धागे का व्यापार करने की अनुमति दी गई। इसके अंतर्गत, उन्हें सूरत, अहमदाबाद, कैंवे तथा गोआ के पश्चिमी तटों पर व्यापार करने की अनुमति मिली। फ्रांसीसी कंपनी ने भी अपना पहला कारखाना 1668 ई. में सूरत में स्थापित किया। परन्तु इससे ब्रिटिश कंपनी को किसी गंभीर खतरे का सामना नहीं करना पड़ा। फ्रांसीसी कंपनी कम दाम की खरीद और अधिक दामों की बिक्री का रास्ता अख्तियार न कर सकी। इसके विपरीत, उन्होंने यूरोपीय सामान सस्ते में बेचा और भारतीय सामान मंहगे में खरीदा।

1669 ई. में फ्रांसीसियों ने दूसरा कारखाना मसलिपट्टनम में स्थापित किया। इसके बाद 1674 में फ्रैंक्वाइस मार्टिन ने पांडिचेरी में कारखाना खोला, जो भविष्य में भारत में फ्रांसीसियों की राजधानी बनी। यह क्षेत्र मद्रास के प्रतिद्वंद्वी क्षेत्र के रूप में सामने आया। इसकी शक्ति और आकार में वृद्धि हुई तथा यह मद्रास में स्थापित अंग्रेजी अड्डे के समतुल्य हो गया। परन्तु पांडिचेरी वाणिज्य के मामले में मद्रास से हरदम पीछे ही रहा। 1690 और 1692 के बीच पूर्व में चंदर नगर में एक कारखाना खोला गया। परन्तु इसने कलकत्ता में स्थापित अंग्रेजों के अड्डे को कभी चुनौती नहीं दी।

18वीं शताब्दी के आरंभ में फ्रांसीसी ईस्ट इंडिया का सितारा गर्दिश में डूबने लगा था और सूरत, बंटम मसलिपट्टम स्थित अपने कारखानों को उन्हें छोड़ना पड़ा था। पर यह अस्थाई धक्का था और 1720 के दशक के आते-आते फ्रांसीसी कंपनी ने पुनः अपना अधिकार स्थापित किया। वस्तुतः कंपनी में फ्रांसीसी व्यापारिक बुर्जुआ वर्ग के बढ़ते स्वार्थों के कारण यह प्रयत्न किया गया। कंपनी का पुनर्गठन किया गया और इसे एक नया नाम दिया गया "परपेच्युअल कंपनी ऑफ द इंडिज़"। फ्रांसीसी नौसेना की शक्ति में काफी वृद्धि हुई और इसने मॉरीशस को अपना अड्डा बनाया। इस बात की भी सूचना मिलती है कि फ्रांसीसी कंपनी ने अपने लिए 10-12 जहाज़ों का निर्माण इंग्लैंड में कराया था। फ्रांसीसियों ने 1725 में मालाबार तट पर माहे में और 1739 में पूर्वी तट पर कारिकल में अपने पैर जमाए।

MAADHYAM IAS

9.3 प्रथम कर्नाटक युद्ध (1740-48)

इस प्रकार दोनों शक्तियों के बीच मुठभेड़ की पृष्ठभूमि तैयार हो गई। ऑस्ट्रिया के उत्तराधिकार के प्रश्न पर छिड़ी लड़ाई से स्थिति पूरी तरह स्पष्ट हो गई। अंग्रेज़ और फ्रांसीसी सेना इस युद्ध में एक-दूसरे के खिलाफ लड़ रही थीं। इससे भारत में भी दोनों के बीच मुठभेड़ होने की संभावना बढ़ गई; परन्तु फ्रांसीसी इस मुठभेड़ से कतरा रहे थे।

9.3.1 कर्नाटक के नवाब की भूमिका

अंग्रेज़ों ने कर्नाटक के नवाब अनवर उद्दीन से संरक्षण और सहायता की मांग की। इस सिलसिले में नवाब ने फ्रांसीसी गर्वनर डुप्ले से मद्रास का घेरा उठा लेने का आग्रह किया। परन्तु जिस तरह पहले अंग्रेज नवाब की बात नहीं सुनते थे, उसी प्रकार अब फ्रांसीसी नवाब के आग्रह पर गंभीरता से विचार नहीं करना चाहते थे। नौसैनिक बेड़े के अभाव में नवाब उनपर दबाव डालने में भी असमर्थ था। नवाब ने फ्रांसीसियों को पाठ पढ़ाने का निश्चय किया और मद्रास को फ्रांसीसियों से मुक्त कराने के लिए अपनी सेना भेजी। नवाब की सेना काफी बड़ी थी, फिर भी उसे हार का सामना करना पड़ा। इस लड़ाई से यूरोपवासियों के सामने एक बात स्पष्ट हो गई कि छोटी-सी अनुशासित यूरोपीय सेना भी काफी बड़ी भारतीय सेना को आसानी से हरा सकती है। यह ज्ञान उनके लिए लाभदायक रहा। इससे भविष्य में उन्हें देशी राजाओं से निपटने में सुविधा हुई।

9.3.2 फ्रांसीसी एडमिरल द्वारा डुप्ले को चुनौती

पहली बार मद्रास पर फ्रांसीसियों के अधिकार स्थापित करने में एडमिरल ला बॉरडाउनेअर्स के सैनिक बेड़े का बड़ा हाथ था। यह बेड़ा मॉरिशस से आया था। इस बार एडमिरल ने डुप्ले के साथ सहयोग करने से इंकार कर दिया, क्योंकि उसका मानना था कि वह सीधे फ्रांसीसी सरकार के अधीन है और डुप्ले की आज्ञा मानना उसके लिए जरूरी नहीं है। उसने फ्रांसीसी गवर्नर डुप्ले से परामर्श किए बिना अंग्रेज़ों से एक संधि कर ली, जिसके अनुसार 4,00,000

पाउंड की रकम लेकर मद्रास अंग्रेज़ों को लौटा दिया जाएगा। डुप्ले किसी भी कीमत पर मद्रास का कब्जा नहीं छोड़ना चाहता था। ला बॉरडाउनेअर्स भारत में अपने काम को पूरा कर मॉरिशस लौट गया। अब डुप्ले कोई कदम उठाने के लिए स्वतंत्र हो गया। उसने सितम्बर, 1746 में मद्रास पर पुनः आक्रमण किया और पहली बार की तरह इस बार भी आसानी से कब्जा जमा लिया। अंग्रेज़ कैदियों को पांडिचेरी ले जाया गया और वहां उन्हें बंदी बनाकर रखा गया।

इस विजय के बाद फ्रांसीसियों ने सेंट डेविड किले पर आक्रमण किया। यह पांडिचेरी के दक्षिण में स्थित था और अंग्रेज़ों के नियंत्रण में था। परन्तु इस बार अपने अड्डे की सुरक्षा के लिए अंग्रेज़ अधिक सचेत और तैयार थे। उन्होंने अपने बेड़े को पांडिचेरी के तट से अलग जमाया और इस प्रकार फ्रांसीसी आक्रमण का डटकर मुकाबला किया। सेंट डेविड किले पर 18 महीने तक फ्रांसीसियों का कब्जा बना रहा। यह कब्जा 1848 ई. में यूरोप में हुई एक्स-ला-चैपेल की संधि के बाद ही समाप्त हो सका। अंग्रेज़ों को उनका अधिकार वापस कर दिया गया। उत्तरी अमेरिका में फ्रांसीसियों का अधिकार जिन इलाकों पर था, वे इलाके भी अंग्रेज़ों को लौटा दिए गए।

9.3.3 प्रथम कर्नाटक युद्ध में फ्रांस की बेहतर स्थिति

नौसेना के मोर्चे पर कमज़ोर होने के बावजूद प्रथम कर्नाटक युद्ध में फ्रांसीसियों की स्थिति मज़बूत बनी रही। अगर डुप्ले और ला बॉरडाउनेअर्स के बीच मन-मुटाव न हुआ होता तो भारत से अंग्रेज़ों का डंडा उखड़ जाता। परन्तु ब्रिटिश सरकारी इतिहासकार पी.ई. राबर्ट्स का मानना है कि यह स्थिति को बढ़ा-चढ़ाकर चित्रित करने का प्रयास है। उसके अनुसार, इस युद्ध से केवल कोरोमंडल तट पर स्थित इंग्लिश प्रेसिडेंसी को धक्का पहुंचा था और यह सबसे कमज़ोर प्रेसिडेंसी थी।

फ्रांसीसी सैन्य शक्ति का अभास न केवल अंग्रेज़ों को हो गया, बल्कि भारतीय शक्तियां भी इससे परिचित हो गईं। भारतीय शक्तियों का समुद्री युद्ध में कोई दखल नहीं था, अतः भारत में हुए यूरोपीय संघर्ष में उनकी कोई भूमिका नहीं हो सकती थी। यहां तक कि उनकी विशाल थल सेना यूरोपीय सेना का सामना नहीं कर.पा रही थीं। मुगल साम्राज्य के उत्कर्ष के दिनों में भारतीय राजा केंद्र से सहायता की आशा कर सकते थे, परन्तु केन्द्र में मुगल साम्राज्य के पतन के बाद सहायता का वह रास्ता भी बंद हो गया।

प्रथम कर्नाटक युद्ध से डुप्ले के सामने कुछ चीजें स्पष्ट हुईं। वह समझ गया था कि दो देशी राजाओं के युद्ध में उसकी सेना अच्छी भूमिका निभा सकती है। राजनीतिक अव्यवस्था और अस्थिरता के उस परिवेश में अनेक देशी राजा डुप्ले के समर्थन के लिए लालायित थे।

बोध प्रश्न 1

1) फ्रांसीसी ईस्ट इंडिया कंपनी की तुलना में ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी की स्थिति बेहतर कैसे थी ? दस पंक्तियों में उत्तर दीजिए।

....

....

....

....

....

....

....

....

....

....

MAADHYAM IAS

2) निम्नलिखित वक्तव्यों को पढ़कर सही (√) और गलत (×) का निशान लगाइए :

i) ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कम्पनी की स्थापना 1664 ई. में हुई थी।

ii) प्रथम फ्रांसीसी कारखाना सूरत में स्थापित हुआ था।

iii) 18वीं शताब्दी के प्रथम दशक में फ्रांसीसी कंपनी की अवनति हुई।

iv) ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कम्पनी का तंबाकू के व्यापार पर एकाधिकार था।

v) फ्रांसीसी अंग्रेज़ों की तुलना में सामान सस्ते में खरीदते थे और महंगा बेचते थे।

vi) प्रथम कर्नाटक युद्ध में पहले आक्रमण अंग्रेज़ों ने किया।

vii) पांडिचेरी के दक्षिण में स्थित सेंट डेविड फोर्ट छोटा फ्रांसीसी अड्डा था।

3) कर्नाटक युद्ध में कर्नाटक के प्रथम नवाब के भाग लेने के महत्व का उल्लेख कीजिए। उत्तर पांच पंक्तियों में दीजिए।

....

....

....

....

....

9.4 द्वितीय कर्नाटक युद्ध (1751-55)

प्रथम कर्नाटक युद्ध के विपरीत, द्वितीय कर्नाटक युद्ध में यूरोपीय युद्ध की कोई भूमिका नहीं थी। इसके लिए भारतीय परिस्थितियां ही उत्तरदायी थीं। भारत में अंग्रेज़ों और फ्रांसीसियों के हितों को लेकर ही यह युद्ध हुआ। यह युद्ध भारत में फ्रांसीसी और ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी के जीवन-मरण से सम्बद्ध था।

9.4.1 कर्नाटक और हैदराबाद में गद्दी के लिए संघर्ष

कर्नाटक प्रांत हैदराबाद के निजाम के अधीन था, जो दक्कन का सूबेदार था। कर्नाटक पर गवर्नर या नवाब का शासन था। इस प्रांत की राजधानी आरकोट थी। दक्कन का सूबेदार इस समय अपनी समस्याओं से घिरा था। उसे एक तरफ मराठों का सामना करना पड़ रहा था, दूसरी तरफ उत्तरी भारत की शक्तियों को भी संभालना पड़ रहा था। अतः नवाब लगभग स्वतंत्र रूप से शासन कर रहा था।

प्रथम कर्नाटक युद्ध के पहले 1740 में मराठों ने कर्नाटक पर हमला किया और इसके नवाब दोस्त अली को मार डाला। वे उसके दामाद चंदा साहब को बंदी बनाकर सतारा ले गए। इस स्थिति को संभालने के लिए 1743 में निजाम कर्नाटक आया और अपने विश्वस्त अधिकारी अनवरउद्दीन खां को कर्नाटक का नवाब बनाया। इस नियुक्ति से स्थिति और बिगड़ गई। सात वर्ष मराठों की कैद में रहने के बाद 1748 ई. में चंदा साहब मुक्त हुआ। इसी वर्ष अर्थात् 1748 ई. में हैदराबाद के नवाब आसफ-जन-निजाम उल मुल्क का देहांत हो गया। उसके बाद उसके बेटे नासिर जंग ने गद्दी संभाली। परन्तु उसके पोते मुजफ्फर जंग ने उसके उत्तराधिकार को यह कहकर चुनौती दी कि मुगल बादशाह ने उसे कर्नाटक का गवर्नर नियुक्त किया है। मुजफ्फर जंग और चंदा साहब ने मिलकर क्रमशः हैदराबाद और कर्नाटक की गद्दी हासिल करने के लिए संघर्ष करने की योजना बनाई।

MAADHYAM IAS

9.4.2 डुप्ले का हस्तक्षेप

विदेशी व्यापारिक कंपनियों को अपना हित साधने का यह सुनहरा मौका हाथ लगा। डुप्ले ने चंदा साहब और मुजफ्फर जंग के साथ गुप्त संधियां कीं और उन्हें कर्नाटक तथा दक्कन की गद्दी दिलाने का वचन दिया।

अगस्त 1749 में इन तीनों ने मिलकर वेल्लुर के दक्षिण पूर्व में अंबर के युद्ध में अनवरउद्दीन को मार डाला। उसका पुत्र मोहम्मद अली भाग कर त्रिचुनापल्ली चला गया, फ्रांसीसी सेना ने त्रिचुनापल्ली तक उसका पीछा किया। चंदा साहब को कर्नाटक का नवाब बनाया गया।

9.4.3 अंग्रेज़ों का प्रवेश

अंग्रेज़ों ने महसूस किया कि मामला उनके हाथ से निकलता जा रहा है। उन्होंने हैदराबाद के निजाम नासिर जंग से दोस्ती कायम की और उससे कर्नाटक में स्थित अपने दुश्मनों का सफाया करने तथा त्रिचुनापल्ली में मोहम्मद अली को सहायता भेजने का अनुरोध किया। परन्तु अपने दुश्मनों को दबाने के क्रम में 1750 में नासिर जंग की मृत्यु हो गई। मुजफ्फर जंग को कैद से मुक्त किया गया और उसे दक्कन का सूबेदार बना दिया गया।

इस सहायता के एवज में नए सूबेदार ने फ्रांसीसियों को कई तोहफे दिए। डुप्ले को कृष्णा नदी के दक्षिण में मुगल राज्य का गवर्नर नियुक्त किया गया। पांडिचेरी के आसपास के इलाके और उड़ीसा तट के कुछ इलाके, खासकर मशहूर व्यापारिक केंद्र और शहर मसुलिपट्टम फ्रांसीसियों को दे दिए गए। इसके बदले में मुजफ्फर जंग के निवेदन पर डुप्ले ने अपने श्रेष्ठ अधिकारी बूसी के नेतृत्व में फ्रांसीसी सेना नवाब को सौंप दी। डुप्ले जानता था कि हैदराबाद के दरबार में दबदबा बनाए रखने का यह सरल तरीका है और इस प्रकार वह संपूर्ण दक्कन पर अपना प्रभाव जमा सकता है।

ऐसा प्रतीत हो रहा था कि मद्रास पर अंग्रेज़ों का प्रभुत्व समाप्त हो जाएगा। परन्तु सितम्बर, 1750 में सौउंडर्स नामक एक कुशल व्यक्ति के मद्रास के गवर्नर बनने के बाद स्थिति में परिवर्तन आया। उसने 1751 में मोहम्मद अली की सहायता करने का निश्चय किया। इसी समय फ्रांसीसियों ने महसूस किया कि त्रिचनापल्ली पर कब्जा किए रहने का कोई फायदा नहीं है। इस ध्येय से उन्होंने अपनी नीति बदल दी और मोहम्मद अली की खुशामद में लग गए। मोहम्मद

अली कोई निर्णय लेने की स्थिति में नहीं था। वह कर्नाटक के नवाब की गद्दी छोड़ने को भी तैयार था। वह केवल यह चाहता था की फ्रांसीसी हैदराबाद के निजाम से कहकर उसे दक्कन के किसी दूसरे भाग की नवाबी दिला दें। लेकिन अंग्रेज़ बेहतर कूटनीतिज्ञ साबित हुए। उन्होंने मोहम्मद अली से कहा कि वह अपना दावा न छोड़े, केवल किसी तरह मुद्दे को टालता रहे। इसके अलावा, उसे यह भी सलाह दी गई कि वह फ्रांसीसियों से संधि का ढोंग रचाता रहे ताकि उन्हें ठीक से मूर्ख बनाया जा सके। युद्ध के लिए पूरी तरह तैयार होने के बाद अंग्रेज़ों ने मई 1751 में सेना की एक टुकड़ी त्रिचनापल्ली भेजी। यह टुकड़ी फ्रांसीसियों से मोहम्मद अली की रक्षा के ख्याल से भेजी गई थी। बाद में इसी तर्ज मैसूर और तंजौर के शासकों तथा मराठा सरदार मोरारी राव ने मोहम्मद अली और अंग्रेजों को सहायता देने का वचन दिया। त्रिचनापल्ली को बचाने के लिए, इसी समय क्लाइव ने आर्कोट पर आक्रमण करने की योजना बनाई। चंदा साहब को अपनी राजधानी बचाने के लिए अधिकांश सेना इधर लगानी पड़ी। क्लाइव ने छोटी-सी ब्रिटिश सेना (इसमें 200 यूरोपीय और 300 भारतीय सैनिक थे) की सहायता से आर्कोट पर सफलतापूर्वक कब्जा कर लिया। नवाब को त्रिचनापल्ली से अतिरिक्त सेना भेजनी पड़ी और 53 दिनों के युद्ध के बाद वह आर्कोट को वापस जीतने में सफल हुआ। आर्कोट हाथ से निकल जाने से फ्रांसीसियों को बेहद निराशा हुई और इसके फलस्वरूप त्रिचनापल्ली स्थित फ्रांसीसी जनरल जैक्वेर फ्राक्वाइस लॉ ने अपना पद त्याग दिया और श्रीरंगम भाग गया। अंग्रेज़ों ने उसका पीछा किया और लॉ ने अंततः 9 जून, 1752 को आत्म-समर्पण कर दिया। इसके बाद, जल्द ही हताश चंदा साहब ने अंग्रेज़ों के समक्ष आत्म-समर्पण कर दिया। तंजौर के सेनानायकों के आदेश पर उसका सिर कलम कर दिया।

इस घटना से अंग्रेज़ों की स्थिति मज़बूत हुई और फ्रांसीसियों को अपमानजनक पराजय का सामना करना पड़ा। परन्तु वे इतनी आसानी से हार मानने वाले नहीं थे और डुप्ले नई रणनीति तैयार कर रहा था। उसने मराठा सरदार मुरारी राव और मैसूर के शासक को अपनी ओर मिला लिया तथा तंजौर के राजा से निष्पक्ष रहने का वचन ले लिया। दिसम्बर, 1752 में त्रिचुनापल्ली पर उनका कब्ज़ा फिर से स्थापित हुआ और यह स्थिति एक साल से अधिक समय तक बनी रही। इस प्रकार, दोनों पक्षों को एक-एक बार सफलता मिली।

9.4.4 डुप्ले की वापसी

भारत में फ्रांसीसी स्थिति मज़बूत करने के डुप्ले के साहसी प्रयासों को फ्रांसीसी सरकार ने बहुत नहीं सराहा। डुप्ले की नीति से होने वाले वित्तीय घाटे से फ्रांसीसी अधिकारी नाराज़ थे और उन्होंने उसे वापस बुलाने का निश्चय किया। पहली अगस्त 1754 को डुप्ले के स्थान पर गोडेहयू भारत का नया गवर्नर जनरल बना। डुप्ले नीति के बिल्कुल विपरीत उसने अंग्रेज़ों के साथ समझौते की नीति अपनाई और एक संधि की। अंग्रेज़ों और फ्रांसीसियों ने देशी राजाओं के आपसी झगड़े में हाथ न डालने का वादा किया। यह भी तय किया गया कि उस समय (संधि के कारण) जिस क्षेत्र पर जिसका वास्तविक अधिकार है, उसका अधिकार बना रहेगा।

अब सवाल यह उठता है कि सारा माहौल डुप्ले के खिलाफ कैसे हो गया? भारत में डुप्ले की नीति से उत्पन्न अप्रसन्नता सम्पूर्ण कारण का एक छोटा-सा हिस्सा है। आपको याद रखना चाहिए कि फ्रांसीसी ईस्ट इंडिया कम्पनी सीधे फ्रांसीसी सरकार के नियंत्रण में थी, जिसे समूचे राजनीतिक परिदृश्य को देखकर चलना पड़ता था। भारत में होने वाली मुठभेड़ से अमेरिका में उनकी स्थिति पर गंभीर प्रभाव पड़ सकता था। इसी कारण, फ्रांसीसियों ने भारत में अंग्रेज़ों से संघर्ष की नीति छोड़ दी।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

जब अंग्रेज़ों को यह महसूस हुआ कि डुप्ले को वापस बुलाया जा रहा है और उनकी स्थिति मज़बूत है तो उन्होंने अपनी स्थिति और दृढ़ करनी चाही। समझौते के दौरान भी उन्होंने डुप्ले के खिलाफ फैली आग को हवा दी और बार-बार इस बात पर बल दिया कि डुप्ले की महत्वाकांक्षा के कारण कोई भी समझौता विफल हो सकता है। उन्होंने बार-बार डुप्ले की जगह दूसरे किसी व्यक्ति को नियुक्त करने की बात की। इस प्रकार, अंग्रेजों ने भी डुप्ले के पतन में भूमिका अदा की। डुप्ले के पतन से अंग्रेज़ों को काफी लाभ हुआ और फ्रांसीसियों पर उनका वर्चस्व कायम हुआ।

9.4.5 फ्रांसीसी प्रभाव हैदराबाद तक सीमित

डुप्ले का कार्य अधिकांश मामलों में फलीभूत नहीं हुआ। परन्तु हैदराबाद में उसकी नीति सफल रही। वहां बुसी ने स्थानीय सरदारों के विरोध के बावजूद अपना प्रभाव जमा रखा था। अधिकतर स्थानीय सरदारों का झुकाव अंग्रेज़ों की तरफ था। यहां तक कि बुसी ने नवाब को प्रभावित कर उत्तरी सरकार के मुस्तफा नगर, एल्लौर, राजमुंदरी और चिकाकौल ज़िले हस्तगत कर लिए थे। इन ज़िलों का सालाना राजस्व तीस लाख रुपए से ज्यादा था। इन पैसों से हैदराबाद स्थित फ्रांसीसी सेना की देख-रेख की जानी थी। कुछ समय के लिए ही सही, परन्तु हैदराबाद में बुसी की स्थिति मज़बूत थी। स्थानीय सरदारों के जोरदार विरोध के बावजूद वह निजाम के राज्य क्षेत्र में फ्रांसीसी सेना रखने में कामयाब रहा (हालांकि 1756 में, थोड़े समय के लिए, स्थानीय सरदार फ्रांसीसी सेना को हटवाने में सफल हो गए थे)।

इस बात में कोई संदेह नहीं है कि द्वितीय कर्नाटक युद्ध में डुप्ले की रणनीति और कूटनीति के कारण भारत में फ्रांसीसी प्रतिष्ठा बढ़ी। यह विडंबना ही थी कि अपने वाणिज्यिक हितों के लिए फ्रांसीसी सरकार ने डुप्ले को अपमानजनक ढंग से वापस बुला लिया और उसकी नीतियों को बिल्कुल उलट दिया। डुप्ले को कमज़ोर और अयोग्य फ्रांसीसी सेनानायकों के साथ काम करना पड़ा था। एक तरफ डुप्ले के साथ लॉ जैसे अधिकारी थे, जो अपनी मनमानी करते थे, उसके सहकर्मियों में इच्छा शक्ति का अभाव था, वे कायर थे; दूसरी तरफ अंग्रेज़ों के साथ क्लाइव जैसा सेनानायक था, जो प्रतिभा-सम्पन्न और साहसी था।

बोध प्रश्न 2

1) निम्नलिखित का सही मिलान कीजिए :

i)	क. चंदा साहब	क. हैदराबाद
ii)	ख. मुजफ्फर जंग	ख. मद्रास
iii)	ग. मोहम्मद अली	ग. कर्नाटक
iv)	घ. सौंउंडर्स	घ. त्रिचनापल्ली

2) द्वितीय कर्नाटक युद्ध में फ्रांसीसियों की तुलना में अंग्रेज़ों की स्थिति कैसे बेहतर हो गई? 100 शब्दों में उत्तर दीजिए।

....

....

....

....

....

....

....

....

....

....

9.5 तृतीय कर्नाटक युद्ध (1758-63)

क्लाइव की कूटनीतिक चालों से अंग्रेज़ों का भविष्य सुधरने लगा और इसके नतीजे सामने आने लगे। 1750 का दशक इस दृष्टि से अंग्रेज़ों के लिए उत्कर्ष का काल था, जब उन्होंने बंगाल पर प्रभुत्व स्थापित कर लिया। उधर 1756 ई. में यूरोप में फ्रांसीसियों के बीच युद्ध छिड़ा और इधर अंग्रेज़ों ने चंदरनगर पर कब्जा जमा लिया। यह मात्र एक संयोग नहीं था। बंगाल का नवाब सिराजुद्दौला कंपनी की इस कार्रवाई से सख्त नाराज़ हुआ। उसने पहले से ही चेतावनी दे रखी थी कि किसी भी यूरोपीय शक्ति की ऐसी हरकतों को वह बर्दाश्त नहीं करेगा। चंदरनगर पर अंग्रेज़ों का कब्जा हो जाने के बाद नवाब ने साहसपूर्वक फ्रांसीसी शरणार्थियों को अपने दरबार में शरण दी और उन्हें निकाल बाहर करने से इन्कार कर दिया। यहां तक कि अंग्रेज़ों ने भावी मुगल उत्तराधिकारी द्वारा बंगाल पर आक्रमण की स्थिति में सहायता देने का भी वचन दिया, परन्तु नवाब टस से मस नहीं हुआ। नवाब द्वारा फ्रांसीसियों को न सौंपा जाना अंग्रेज़ों और नवाब के बीच युद्ध का एक कारण बना।

दक्षिण भारत में अंग्रेज़ और फ्रांसीसी दोनों ही युद्ध करने की मनःस्थिति में नहीं थे। दोनों के पास साधनों की कमी थी। मद्रास की थल और जल, दोनों ही सेनाएं बंगाल के नवाब के कब्जे से कलकत्ता को मुक्त कराने में व्यस्त थीं। फ्रांसीसी सरकार ने इस बार अंग्रेज़ों को गंभीर रूप से आहत करने की योजना बनाई थी और इसके लिए पूरी तैयारी की थी। काउंट डे लैली के नेतृत्व में एक सक्षम फ्रांसीसी सेना भारत के लिए रवाना की गई, परन्तु रास्ते में इसे कई कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। अतः 1758 के पहले छह महीने तक फ्रांसीसी सेना भारत नहीं पहुंच सकी। दक्षिण भारत में अपने हितों की रक्षा करने के लिए जब तक फ्रांसीसी सेना पहुंची, तब तक अंग्रेज़ी बेड़ा बंगाल से विजयी होकर वापस आ चुका था और फ्रांसीसियों का मुकाबला करने को तैयार था। वे अपने साथ काफी मात्रा में धन और बाहुबल साथ लेकर आए थे।

9.5.1 कर्नाटक में फ्रांसीसी आक्रमण

इस प्रकार तृतीय कर्नाटक युद्ध की पूरी तैयार हो गई। इस बार फ्रांसीसियों ने पहले आक्रमण किया। तेज गति से आक्रमण कर उन्होंने सेंट डेविड किले पर कब्जा कर लिया। यह 2 जून 1758 की घटना है। इसी समय, हैदराबाद से बुसी उत्तरी भाग में स्थित अंग्रेज़ों के इलाकों पर आक्रमण कर रहा था। उसने इन सभी इलाकों पर अधिकार करने के साथ-साथ 24 जून 1758 को विजय नगरम के किले पर भी कब्जा जमा लिया।

इस अप्रत्याशित आक्रमण और धक्के से अंग्रेज़ स्वाभाविक रूप से चिंतित हो गए। उन्हें लगा कि कहीं भारत से उनका अस्तित्व ही न समाप्त हो जाए। जेम्स मिल के अनुसार, "अगर दुश्मन के पास डुप्ले का नेतृत्व और संचालन होता तो इस बात की पूरी संभावना थी कि उनका अनुमान यथार्थ में परिवर्तित हो जाता"।

9.5.2 फ्रांसीसी सेना की समस्याएं

परन्तु फ्रांसीसी अपने इस अभियान को जारी नहीं रख सके। उन्हें अनेक प्रकार की समस्याओं का सामना करना पड़ा। पहली समस्या वित्त से संबंधित थी। कंपनी के पास वित्त की कमी थी और उसे प्रत्येक सैनिक कार्रवाई के लिए अर्थ जुटाने में मुश्किल का सामना करना पड़ता था। सेना को वेतन देने के लिए अर्थ का अभाव था। इसके अतिरिक्त, सेना के जवानों के प्रति फ्रांसीसी सेनानायकों का व्यवहार कठोर और शुष्क था। वे उनके परामर्श को नज़रअंदाज कर उन्हें अलग-थलग कर देते थे। लैली ने मद्रास को ध्वस्त कर कर्नाटक में ब्रिटिश शक्ति के आधार पर चोट करने की सही योजना बनाई, परन्तु नौसेना के असहयोग के कारण उसे असफलता मिली। फ्रांसीसी नौसेना की कमान एडमिरल डी एके के हाथ में थी जो अप्रैल 1758 में अंग्रेज़ों के हाथ पराजित हो चुका था। उसने मद्रास जाने के प्रस्ताव को ठुकरा दिया। परिणामस्वरूप लैली को मद्रास पर कब्जा करने की अपनी योजना स्थगित करनी पड़ी। इस प्रकार, उसने एक बहुमूल्य अवसर गंवा दिया; भविष्य में फिर ऐसा मौका न मिल सका।

लैली ने सोचा था कि वह तंजौर के राजा से 70 लाख रुपए लेने में सफल हो जाएगा और इस प्रकार वह कंपनी की वित्तीय समस्या हल कर सकेगा। यह राशि डुप्ले के समय से ही बकाया थी। 18 जुलाई 1758 को तंजौर पर कब्जा कर लिया गया। हालांकि राजा प्रतिरोध करने की स्थिति में बिल्कुल नहीं था, फिर भी फ्रांसीसी इसका कोई फायदा नहीं उठा सके। फ्रांसीसी सेना की अंदरूनी समस्याएं पुनः मुखर हो उठीं। उनके पास गोले-बारूद की कमी थी, लैली और उसके जवानों के बीच परस्पर विश्वास का अभाव था, फ्रांसीसी सेना बुरी तरह हतोत्साहित थी।

9.5.3 नौसेना पराजय

इसी के साथ-साथ अगस्त 1758 में अंग्रेज़ी बेड़े ने फ्रांसीसी बेड़े को भारी हानि पहुंचाई। हतोत्साहित डी एके ने फ्रांसीसी नौसेना के प्रयत्नों को गहरा धक्का पहुंचाया और उसने उसी महीने हिंद महासागर के इलाके को छोड़ दिया। इस कारण से लैली तंजौर छोड़ने को मजबूर हो गया। इससे लैली और फ्रांस की प्रतिष्ठा को गहरा धक्का लगा।

इसके बावजूद, लैली ने लगातार कोरोमंडल तट पर स्थित अंग्रेज़ों के अड्डे पर अधिकार जमाने का प्रयत्न किया और एक स्थिति ऐसी भी आ गई जब अंग्रेज़ों के पास कर्नाटक में केवल मद्रास, त्रिचनापल्ली और चिंगलपेट रह गया। 1758 तक मानसून के आगमन के कारण अंग्रेज़ी बेड़े को मद्रास छोड़ना पड़ा और लैली को मद्रास पर कब्जा जमाने का सुनहरा अवसर प्राप्त हुआ। परन्तु फ्रांसीसी सेना की समस्याएं ठीक से सुलझाई न जा सकीं और मद्रास पर तीन महीनों तक ही कब्जा जमाकर रखा जा सका 1 फरवरी 1759 में अंग्रेज़ी बेड़ा लौट आया और फ्रांसीसी सेना को पीछे हटना पड़ा।

इसके बाद भारत में फ्रांस का सितारा गर्दिश में डूबने लगा और फिर इसे उबारा न जा सका। अगले बारह महीनों में यह विनाशपूर्ण हो गया। दक्कन में गलत निर्णय और अनुमान उन पर भारी पड़े। लैली ने बुसी को हैदराबाद छोड़ने का आदेश दिया। यह उसका गलत निर्णय था। वहां फ्रांसीसी सेना अयोग्य सेनानायकों के नेतृत्व में रह गई। बुसी ने हैदराबाद लौटने के लिए बार-बार आग्रह किया, परन्तु उसकी एक न चली। इस स्थिति का जायजा लेते हुए अंग्रेज़ों ने बंगाल से अपनी सेना उत्तरी सरकार की ओर भेजी। उन्होंने राजमुंदरी और मसुलिपट्टम पर अधिकार जमा लिया और निजाम सलाबत जंग के साथ संधि की। इस प्रकार, दक्कन में फ्रांसीसी प्रभाव का खात्मा हो गया। फ्रांसीसियों के लिहाज से यह और खराब बात हुई कि हैदराबाद के दरबार में फ्रांसीसियों की जगह अंग्रेज़ों का दबदबा कायम हो गया।

9.5.4 वांडीवाश का युद्ध

तृतीय कर्नाटक युद्ध की निर्णायक लड़ाई वांडीवाश में 22 जनवरी 1760 को लड़ी गई। जनरल आयर कूट की सेना ने लैली के नेतृत्व वाली फ्रांसीसी सेना को पूरी तरह ध्वसत कर दिया। अगले तीन महीनों में कूट ने कर्नाटक में स्थित फ्रांस के सभी अधिकार क्षेत्रों पर प्रभुत्व जमा लिया। फ्रांसीसियों के पास जिंजे और पांडिचेरी को छोड़कर और कोई क्षेत्र कर्नाटक में न बचा। अंततः 10 मई 1760 में अंग्रेज़ों ने पांडिचेरी पर भी घेरा डाल दिया।

इस कठिन परिस्थिति में लैली ने मैसूर के नवाब हैदरअली के साथ संधि करके अपनी हालत पुनः सुधारनी चाही। हैदर अली ने फ्रांसीसियों की सहायता के लिए सेना भी भेजी। परन्तु युद्धनीति के संबंध में फ्रांसीसी सेना और हैदरअली की सेना के बीच समझौता न हो सका और हैदरअली की सेना बिना एक भी युद्ध लड़े मैसूर वापस लौट आई।

छह महीने की घेराबंदी के बाद अंततः 16 जनवरी 1761 को फ्रांसीसी राजधानी पांडिचेरी ने हथियार डाल दिए। विजयी सेना ने शहर को पूरी तरह बरबाद कर दिया और इसकी किलेबंदी को ध्वस्त कर दिया। एक समकालीन विवरण में लिखा है कि "एक समय फले-फूले और भरे-पूरे इस शहर में एक भी छत सही सलामत नहीं रह गई।" इसके तुरंत बाद मालाबार तट पर स्थित फ्रांसीसी अड्डे जिंजे और माहे भी उनके हाथ से निकल गए। अब भारत में उनके लिए पांव रखने की भी जगह नहीं बची थी।

फ्रांसीसी जनरल काउंट डे डैली की हालत और भी दुर्भाग्यपूर्ण रही। वह दो साल तक अंग्रेज़ों का बंदी रहा और उसे सप्तवर्षीय युद्ध की समाप्ति के बाद ही छोड़ा गया। फ्रांस में भी उसका सम्मान नहीं हुआ, बल्कि उसे दो साल तक हैदराबाद में बंदी बना कर रखा गया और उसके बाद उसे मृत्यु दंड दे दिया गया।

पेरिस की संधि के बाद भारत में स्थित फ्रांसीसी कारखाने फ्रांसीसी कंपनी को सौंप दिए गए। परन्तु 1769 में फ्रांसीसी ईस्ट इंडिया कंपनी को औपचारिक रूप से समाप्त कर दिया गया। इसके बाद, फ्रांसीसी सरकार ने निजी व्यापारियों के लाभ के लिए कारखानों को अपने नियंत्रण में ले लिया। यह फ्रांसीसियों का एक कमजोर प्रयास था और भारत में अपने पुर्तगाली तथा डच सहकर्मियों के समान उन्होंने अपने को "देशी व्यापार" तक ही सीमित रखा। यूरोप और भारत, दोनों जगहों पर फ्रांसीसी व्यापारी अंग्रेज़ व्यापारियों पर पूरी तरह निर्भर हो गए। अपने व्यापारिक मामलों में या तो वे प्रत्यक्ष रूप में ब्रिटिश कम्पनी पर आधारित थे या भारत में स्थित इसके अधिकारियों की सहायता लेते थे। इसके अतिरिक्त, वे भारत में रह रहे निजी अंग्रेज़ व्यापारियों की भी सहायता लेते थे।

9.6 फ्रांसीसी असफलता के कारण

सवाल यह उठता है कि भारत में फ्रांसीसी असफलता के क्या कारण थे? क्या फ्रांसीसी सरकार द्वारा डुप्ले को वापस बुलाना एक भूल थी? संभवतः भारत से डुप्ले की वापसी के बाद ही भारत में फ्रांसीसियों का पतन आरंभ हुआ या फ्रांसीसी नौसेना का कमजोर होना प्रमुख कारण था। वस्तुतः फ्रांसीसियों के पास स्थाई नौसेना नहीं थी, जबकि अंग्रेज़ों के पास एक मज़बूत और स्थाई नौसेना थी। जब मॉरिशश से फ्रांसीसी नौसेना भारत में अपने सहकर्मियों की सहायता के लिए आई तो उसने समस्याएं ही पैदा कीं।

इसके अलावा, कुछ अन्य कारण भी थे जिसके कारण अंग्रेज़ों की स्थिति मज़बूत हो गई। इसमें अंग्रेज़ों का बंगाल पर अधिकार होना प्रमुख कारण था। इससे उन्हें एक आधार प्राप्त हुआ, जहां से वे लगातार रकम और आदमी मद्रास भेज सकते थे और इधर-उधर आक्रमण कर फ्रांसीसियों का ध्यान बंटा सकते थे। ऐसा उन्होंने उत्तरी सरकार पर आक्रमण करके किया।

9.7 बाद की स्थिति

तृतीय कर्नाटक युद्ध के बाद भारत में अंग्रेज़ों का वर्चस्व कायम हो गया। उनके यूरोपीय प्रतिद्वंद्वी समाप्त हो गए, अब उन्हें केवल भारतीय राजाओं को कुचलना था। दक्षिण भारत में मैसूर राज्य और मराठे अंग्रेज़ों की राह के सबसे बड़े रोड़े थे। अठारहवीं शताब्दी के अंतिम दशकों में ईस्ट इंडिया कंपनी का मुख्य सरदर्द यही दोनों शक्तियां थीं और इस समय उन्हें इन शक्तियों से लड़ाई करने में अपना ज्यादा समय लगाना पड़ा। परन्तु उन्नीसवीं शताब्दी के दूसरे दशक तक दक्षिण भारत में उन्होंने अपनी स्थिति अपेक्षाकृत मज़बूत कर ली। अब उनका अगला कदम भारत की सीमाओं की किलेबंदी करना था, खासकर उत्तरी-पश्चिमी सीमांत पर उन्हें कड़ा पहरा बैठाना था, जिधर से रूस के आक्रमण का खतरा था।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

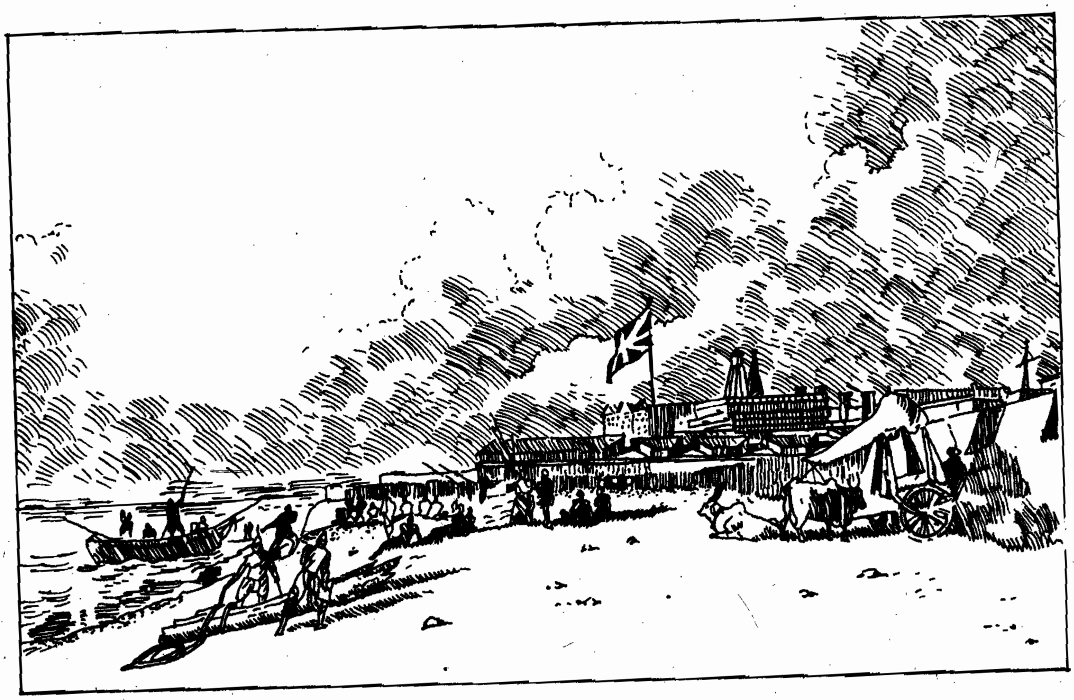

3 सेंट फोर्ट के किले का दृश्य

बोध प्रश्न 3

1) निम्नलिखित वक्तव्यों को पढ़िए और सही (√) तथा गलत (×) का निशान लगाइए :

   i) तृतीय कर्नाटक युद्ध की शुरुआत अंग्रेज़ों द्वारा पांडिचेरी पर कब्जा जमाने के साथ हुई।

   ii) तृतीय कर्नाटक युद्ध में फ्रांसीसी नौसेना का नेतृत्व एडमिरल डी आर्क ने किया।

   iii) इस युद्ध में अंग्रेज़ों ने तंजौर पर आक्रमण किया।

   iv) इस युद्ध के अंत में फ्रांसीसियों ने हैदराबाद पर अपना प्रभाव बनाए रखा।

2) तृतीय कर्नाटक युद्ध में फ्रांसीसी असफलता के कारणों का उल्लेख कीजिए। पांच पक्तियों में उत्तर दीजिए।

....

....

....

....

....

9.8 सारांश

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप जान गए होंगे कि आंग्लफ्रांसीसी संघर्ष के परिणामस्वरूप तीन कर्नाटक युद्ध हुए। अठारहवीं शताब्दी के दौरान दक्षिण भारत में ये युद्ध ब्रिटिश विजय के इतिहास के प्रमुख चरण थे। अपना वर्चस्व क़ायम करने के लिए ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी के लिए फ्रांसीसियों को निकाल बाहर करना जरूरी था। यूरोप में छिड़े लगातार दो युद्धों से आंग्ल-फ्रांसीसी संघर्ष की पृष्ठभूमि तैयार हो गई थी। हैदराबाद और कर्नाटक में फैली अव्यवस्था के कारण दोनों विदेशी कम्पनियों को भारतीय राजाओं के अंदरूनी मामलों में हस्तक्षेप करने का मौका मिला और इस क्रम में ये विदेशी कम्पनियां एक-दूसरे से उलझ पड़ीं। इस संघर्ष में ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी की जीत हुई। इसका कारण स्पष्ट है। उनके पास भारत में मज़बूत नौसेना थी, अच्छी सेना और कुशल नेतृत्व था, उन्हें इंग्लैंड की सरकार का भी बढ़िया समर्थन प्राप्त था और बंगाल पर अधिकार होने के कारण उनके पास साधनों की कमी भी नहीं थी। कर्नाटक के इन युद्धों के कारण भारतीय शक्तियों की कमजोरियां उभर कर सामने आईं। वे नौसेना के क्षेत्र में विदेशी शक्तियों को चुनौती नहीं दे सकते थे, उनकी बड़ी सेना विदेशियों की छोटी सेना के सामने भी लाचार थी। इससे अठारहवीं शताब्दी के राजनीतिक इतिहास पर गहरा प्रभाव पड़ा।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

9.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) भाग 9.2 देखिए।

2) उपभाग 9.3.1 देखिए।

3) i) × ii) √ iii) √ iv) × v) × vi) √ vii) √

बोध प्रश्न 2

1) i) क - ग ii) ख - घ iii) ग - क iv) घ - ख

2) उपभाग 9.4.3 देखिए।

बोध प्रश्न 3

1) i) × ii) √ iii) √ iv) ×

2) इस प्रश्न का उत्तर देते समय अंग्रेज़ों के स्थाई नौसैनिक अड्डे और वित्तीय साधनों का उल्लेख करें। भाग 9.6 देखिए।

इकाई 10 आंग्ल-मराठा और मैसूर युद्ध

इकाई की रूपरेखा

10.0 उद्देश्य
10.1 प्रस्तावना
10.2 भारतीय राज्यों और ब्रिटिश शक्ति के बीच सर्वोच्चता के लिए संघर्ष
10.3 मैसूर युद्ध
10.4 मराठा युद्ध
10.5 भारतीय राज्यों की असफलता के कारण
10.6 सारांश
10.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

10.0 उद्देश्य

इस इकाई में मैसूर और मराठा राज्य में ब्रिटिश साम्राज्य के विस्तार पर प्रकाश डाला जा रहा है। इसे पढ़ने के बाद आप :

- मैसूर और मराठा राज्य पर आधिपत्य के लिए होने वाले संघर्ष के स्वरूप को रेखांकित कर सकेंगे;
- मैसूर और मराठा राज्य के ब्रिटिश साम्राज्य के अंग में परिवर्तित होने की प्रक्रिया का वर्णन कर सकेंगे; और
- ब्रिटिश सत्ता के खिलाफ भारतीय राज्यों की विफलता के आधारभूत तत्वों पर प्रकाश डाल सकेंगे।

10.1 प्रस्तावना

खंड 1 में आपने 18वीं शताब्दी के दौरान मुगल साम्राज्य के पतन के बाद मराठा और मैसूर राज्य के उदय का अध्ययन किया। इसी काल के दौरान भारतीय उप-महाद्वीप में यूरोपीय औपनिवेशिक शक्तियों का भी प्रवेश हुआ। इसके परिणामस्वरूप अठारहवीं शताब्दी के अंत और उन्नीसवीं शती की शुरुआत में यूरोपीय शक्तियों और भारतीय राज्यों के बीच राजनीतिक सर्वोच्चता हासिल करने के लिए संघर्ष हुआ। इस इकाई में हम मैसूर और मराठा राज्य के साथ ब्रिटिश शक्ति के संघर्ष का आलोचनात्मक मूल्यांकन करेंगे।

10.2 भारतीय राज्यों और ब्रिटिश शक्ति के बीच सर्वोच्चता के लिए संघर्ष

अठारहवीं शताब्दी के दौरान भारत में विभिन्न शक्तियों के बीच संघर्ष हुआ। यह संघर्ष केवल यूरोपीय औपनिवेशिक शक्ति और भारतीय राज्यों के बीच नहीं हुआ, बल्कि विभिन्न भारतीय राज्यों के बीच भी राजनीतिक सर्वोच्चता के लिए आपसी संघर्ष हुआ। यहाँ हम उन मुद्दों पर प्रकाश डालेंगे, जिनके कारण विभिन्न शक्तियों के बीच संघर्ष हुआ।

क्षेत्रीय विस्तार की आकांक्षा के कारण भारतीय शक्तियों के बीच अक्सर युद्ध होते थे। इस विस्तारवादी नीति के लिए व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा अधिक से अधिक क्षेत्र पर अधिकार जमाने की लालसा या धार्मिक उन्माद आदि का कारण माना जाता रहा है। पर ऐसा मानना समूचे ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य का अतिसाधारणीकरण होगा। क्षेत्रीय विस्तार और ज्यादा आय के स्रोत प्राप्त करने का एक तरीका था। जब किसी राज्य को अपने कोष में वृद्धि करनी होती थी या राजस्व बढ़ाना होता था तो नये स्रोतों की खोज में वह नये क्षेत्रों पर अधिकार जमाता था। मसलन, मराठों की आय अधिकांशतः चौथ और सरदेशमुखी पर निर्भर थी। अतः स्रोतों को बढ़ाने के लिए क्षेत्रीय विस्तार किया जाता था और पड़ोसी राज्य एक-दूसरे से युद्ध किया करते थे।

इसके अतिरिक्त मैसूर के संदर्भ में एक खास स्थिति उत्पन्न हो गई। मैसूर के उदय से मराठों, कर्नाटक के नवाब और हैदराबाद के निजाम को खतरा उत्पन्न हो गया। मैसूर का उदय पड़ोसी राज्य की आँखों का काँटा बन गया। ये सभी राज्य अपनी स्थिति सुदृढ़ करने और अपनी सीमा के विस्तार की प्रक्रिया में थे। मैसूर के उदय से उनकी इस प्रक्रिया में निश्चित रूप से बाधा पड़ी। मराठा और निजाम ने मैसूर के खिलाफ एक मोर्चा बनाया और उसे दबाने के लिए अंग्रेजों की भी सहायता ली। पर निजाम दक्षिण में मराठों के विस्तार से भी चिंतित था, अतः उसने मराठों के खिलाफ

अंग्रेजों की सहायता की। सभी एक-दूसरे के ऊपर वर्चस्व स्थापित करने की कोशिश में लगे थे। अतः इस समय का राजनीतिक दृश्य विभिन्न राज्यों के आपसी कलह से भरा पड़ा था और विस्तारवादी नीति का बोलबाला था। देशी शक्तियों की आपसी प्रतिस्पर्द्धा, मनमुटाव और संघर्ष के कारण अंग्रेजों ने देश के आंतरिक मामले में हस्तक्षेप किया और उन्हें खुलकर खेलने का मौका मिला।

मैसूर राज्य मराठा राज्य में अंग्रेजों के हस्तक्षेप का आरंभिक कारण वाणिज्य से संबद्ध था। मालाबार तट पर हैदर और टीपू का अधिकार था, जहाँ से काली मिर्च और इलाइची का व्यापार होता था। अंग्रेजों को अपने व्यापार के लिए यह खतरनाक स्थिति लगती थी। मैसूर से मद्रास की उपजाऊ भूमि और व्यापार पर उनकी पकड़ को भी खतरा था। 1784 के बाद पश्चिमी भारतीय तट पर कंपनी का सूती कपड़े का व्यापार तेजी से बढ़ा। गुजरात से बंबई होकर सूती कपड़ा चीन भेजा जाता था। अतः ब्रिटिश सत्ता ने इस प्रदेश में अधिक से अधिक हस्तक्षेप किया। ब्रिटिश शक्ति अपने लाभदायक व्यापार को निर्विघ्न रूप में चलाते रहने के लिए मराठों को अपने रास्ते से हटाना चाहती थी। इसके अलावा, इन दोनों राज्यों (मैसूर और मराठा) के अस्त्रों, बंदूकों और आधुनिक आयुधों के विस्तार से कम्पनी के सैन्य शक्ति को खतरा उत्पन्न हो गया। इन दोनों राज्यों में अंग्रेजों के हस्तक्षेप के और भी कई कारण थे। मैसूर के शासकों ने फ्रांसीसियों के साथ संधि की थी, यह स्थिति अंग्रेजों के लिए खतरनाक थी। ब्रिटेन की सरकार को नेपोलियन युद्ध में बढ़ते खर्चे के कारण अधिक राशि की आवश्यकता थी और ब्रिटिश व्यापारी अपने वाणिज्यिक हितों के कारण प्रत्यक्ष राजनीतिक हस्तक्षेप के पक्ष में थे। इससे इस क्षेत्र में ब्रिटिश विस्तारवादी नीति को बढ़ावा मिला। ब्रिटिश उपनिवेशवादी सैन्य शक्ति के उपयोग का समर्थन करते हुए तर्क देते हैं कि "......लगभग सभी समकालीन भारतीय शासकों ने अपने पूर्ववर्ती राजवंशों और अधिकारों का हनन किया है, अतः पुरातन और योग्य व्यक्तियों के शासन को पुनः स्थापित किया जा सकता है और उनके धार्मिक और नागरिक अधिकारों को पूर्व प्रतिष्ठा दिलाई जा सकती है।" मसलन, मैसूर के संदर्भ में ब्रिटिश नीति का मूल उद्देश्य हैदर अली को हटाकर हिंदू बोडयार घराने का राज्य स्थापित करना था। इस प्रकार का तर्क केवल राजनीतिक-आर्थिक परिस्थिति की उपज नहीं थी बल्कि पश्चिमी विचारकों और प्रशासकों के एक समुदाय द्वारा उनके राजनीतिक कार्यकलापों को वैध स्थापित करने का एक प्रयास था।

जैसा कि हमने ऊपर देखा, भारतीय राज्यों के बीच वर्चस्वता के लिए संघर्ष हुआ और इस कारण से भारतीय राजनीतिक माहौल में एक प्रकार की अनिश्चितता आ गई। इस अनिश्चितता के माहौल में अंग्रेजों को अपना मुनाफा बढ़ाने और भारतीय राज्यों के अंदरुनी मामलों में हस्तक्षेप करने, और अपनी सीमा बढ़ाने का मौका मिला। अगले भाग में हम इस बात का जिक्र करने जा रहे हैं कि किस प्रकार अंग्रेजों ने विभिन्न देशी शक्तियों को आपस में लड़ाया और उनकी शक्ति क्षीण की। इसके अलावा आंग्ल-मैसूर और आंग्ल-मराठा युद्ध पर भी विचार विमर्श किया जाएगा।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

10.3 मैसूर युद्ध

अंग्रेजों के समक्ष मैसूर राज्य के समर्पण के पूर्व हैदरअली और टीपू सुल्तान ने अंग्रेजों के साथ चार बार युद्ध किया। इन सारे युद्धों का एक ही कारण था। अंग्रेज मैसूर शासकों के स्वतंत्र अस्तित्व को समाप्त करना चाहते थे। मराठों, कर्नाटक के नवाब और हैदराबाद के निजाम ने मैसूर शासक की शक्ति को कुचलने के लिए समय-समय पर अंग्रेजों के साथ गठबंधन किया। 1766 में मराठों और निजाम के बीच संधि हुई और अंग्रेजों की सहायता से उन्होंने हैदर-अली पर आक्रमण किया। लेकिन हैदरअली ने कुशलतापूर्वक निजाम और मराठों को अपनी तरफ मिला लिया और उन्हें अंग्रेजों के खिलाफ कर दिया। इस प्रकार उसने अंग्रेजों पर आक्रमण किया और वह मद्रास तक पहुंच गया। 1769 ई. में उसने मद्रास काउंसिल को अपनी मर्जी की संधि पर दस्तखत करने को विवश किया। यह एक प्रकार की प्रतिरक्षात्मक संधि थी। इसके तहत दोनों ने किसी तीसरी शक्ति द्वारा आक्रमण करने की स्थिति में एक-दूसरे की सहायता करने का संकल्प किया।

लेकिन अंग्रेज इस संधि के प्रति निष्ठावान नहीं थे। जब 1771 में मराठों ने हैदरअली के राज्य पर आक्रमण किया, तो अंग्रेज सहायता के लिए आगे नहीं आये। इसके बाद फिर अंग्रेजों और मैसूर के बीच युद्ध का माहौल तैयार होने लगा, केवल समय और संदर्भ की तलाश थी। अंग्रेजों ने फ्रांसीसी बस्ती माहे पर कब्जा कर लिया, जो हैदर अली के राज्य क्षेत्र में पड़ता था। यह दूसरे मैसूर युद्ध का तात्कालिक कारण बना। मराठा और निजाम को अपनी ओर मिलाकर अंग्रेजों ने हैदरअली की स्थिति कमजोर कर दी और 1781 ई. में पोर्ट नोबो में हैदरअली को पराजित कर दिया। मैसूर की सेना अंग्रेजों पर यदाकदा आक्रमण करती रही पर द्वितीय आंग्ल-मैसूर के दौरान ही 1782 में बीमारी से हैदर अली की मृत्यु हो गई।

हैदरअली के पुत्र और उत्तराधिकारी टीपू ने अंग्रेजों के खिलाफ जंग जारी रखी। पर, स्रोतों की कमी, मराठों के रवैये की अनिश्चितता, कोरोमंडल तट पर फ्रांसीसी बेड़े की उपस्थिति और अन्य कई कारणों से मद्रास सरकार का दृष्टिकोण बदल गया और उन्होंने संधि की इच्छा जाहिर की। टीपू भी अंग्रेजों से युद्ध जारी नहीं रखना चाहता था, क्योंकि अपने सिंहासन-रोहण के बाद वह अपने प्रशासन को मजबूत करना चाहता था। अतः 1784 में मंगलोर की संधि के तहत अंग्रेजों के साथ युद्ध की समाप्ति हुई।

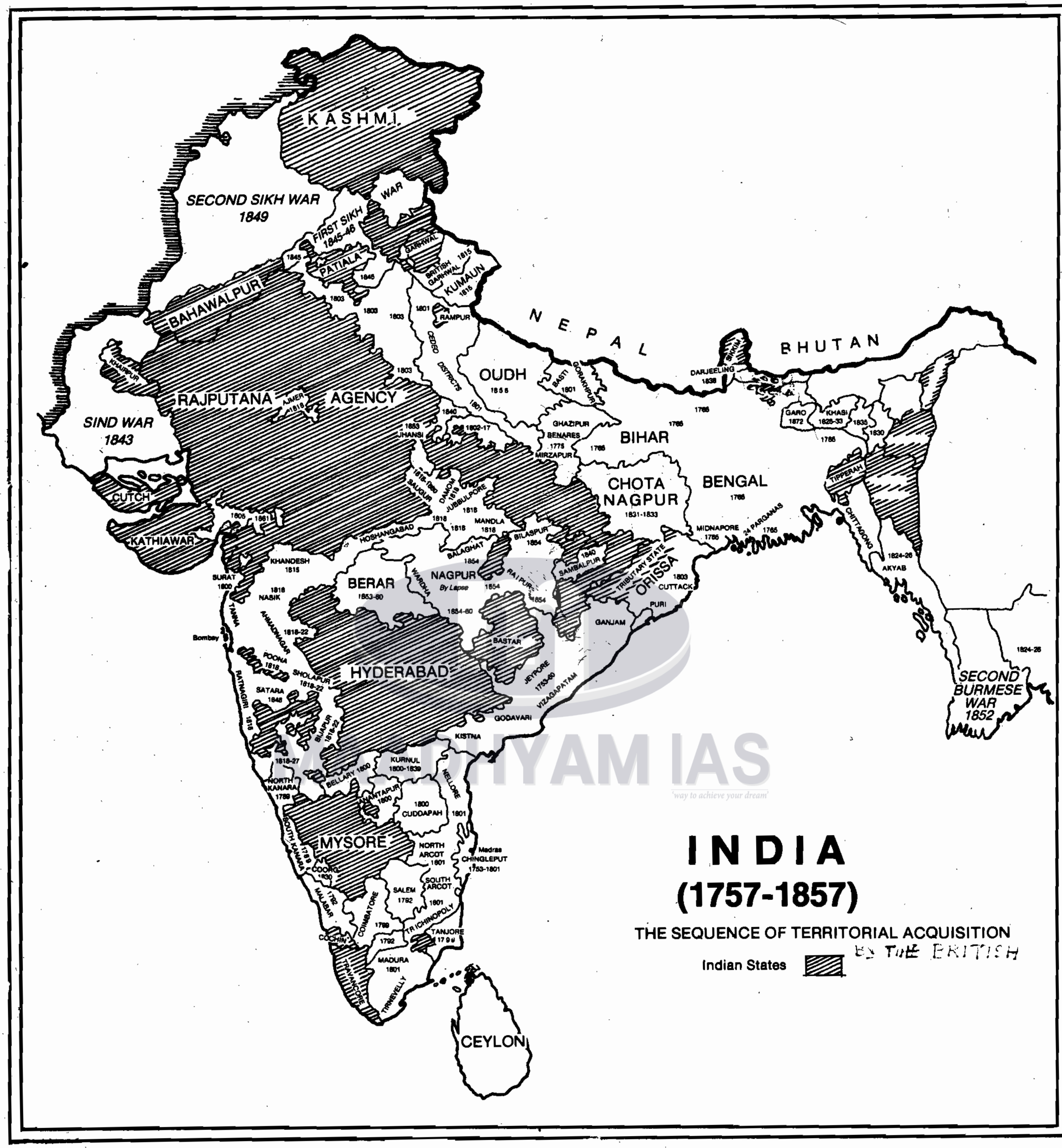

मानचित्र 1 भारत (1757-1857)

पर दक्कन में वर्चस्व स्थापित करने की प्रतिस्पर्द्धा का यह कोई अंतिम हल नहीं था। यह अंतिम प्रहार के पहले की शांति थी। युद्ध का होना अपरिहार्य था। 1786 में लार्ड कार्नवालिस भारत का गवर्नर जनरल बनकर भारत आया और उसने अपनी कूटनीतिक क्षमता के बल पर मराठों और निजाम को अपने पक्ष में कर लिया। टीपू ने अंग्रेजों के मित्र त्रावणकोर पर हमला किया, अब अंग्रेजों के साथ युद्ध अपरिहार्य हो गया। युद्ध 1790 में शुरू हुआ और यह दो वर्षों तक चला। तृतीय मैसूर युद्ध में टीपू को हार का सामना करना पड़ा और उसने संधि का प्रयत्न किया। 1792 में श्रीरंगपट्टनम की संधि पर हस्ताक्षर किया गया और इसके तहत टीपू को अपने राज्य का आधा हिस्सा अंग्रेजों और उसके सहयोगियों को दे देना पड़ा। टीपू अंग्रेजों के सामने समर्पण करने के लिए तैयार नहीं था, पर तृतीय मैसूर युद्ध ने उसकी कमर तोड़ दी और दक्कन पर उसकी पकड़ कमजोर हो गयी।

4 श्री रंगपट्टनम को बचाने का टीपू का अंतिम प्रयास

1798 में लार्ड वेलेस्ली भारत का गवर्नर जनरल बनकर आया। उसने ब्रिटिश विस्तारवादी नीति को एक बार फिर हवा दी। वेलेस्ली ने अपनी "सहायक संधि" में मैसूर राज्य को भी शामिल करना चाहा। पर टीपू ब्रिटिश साम्राज्यवाद के समक्ष अपनी स्वतंत्रता को समर्पण करने का कतई इच्छुक नहीं था। गवर्नर जनरल ने 1799 में मैसूर शासक के खिलाफ एक सेना भेजी जिसके साथ टीपू का संक्षिप्त पर भयंकर युद्ध हुआ। टीपू की हार हुई। इसीं वर्ष टीपू युद्ध करता हुआ मारा गया।

श्रीरंगपट्टनम को लूट लिया गया और टीपू का राज्य अंग्रेजों और निजाम ने आधा-आधा बाँट लिया। टीपू वंश का राज्य समाप्त हुआ और मैसूर का राज्य वोड्यार राजवंश को दे दिया गया, जिससे हैदरअली ने राज्य छीना था। अब मैसूर ब्रिटिश साम्राज्य का गुलाम हो गया।

बोध प्रश्न 1

1) भारतीय राज्य और अंग्रेजों के बीच हुए संघर्ष के कारणों का 100 शब्दों में उल्लेख करें।

....

....

....

....

....

....

....

....

....

....

....

2) निम्नलिखित वाक्यों को पढ़ें और सही कथन पर सही (√) का निशान लगाएँ।

i) विभिन्न राज्यों के बीच निम्नलिखित कारणों से दुश्मनी थी —

(क) शासकों का धर्म अलग था

(ख) शासक एक जाति के नहीं थे

(ग) शासकों ने राज्य विस्तार की नीति को बढ़ावा दिया।

ii) भारत में सहायक संधि को किसने लागू किया ?

(क) लार्ड कार्नवालिस

(ख) लार्ड वेलेस्ली

(ग) लार्ड हेस्टिंग्स

iii) 1799 में टीपू सुल्तान की मृत्यु के बाद अंग्रेजों ने --

(क) टीपू के उत्तराधिकारियों को गद्दी सौंप दी

(ख) ब्रिटिश साम्राज्य में मैसूर को मिला लिया।

(ग) टीपू के राज्य का एक छोटा हिस्सा मैसूर राज्य के रूप में वाड्यर वंश को सौंपा दिया गया।

5 श्री रंगपट्टनम पर कब्ज़ा करते हुए अंग्रेज़

10.4 मराठा युद्ध

नारायण राव की मृत्यु के बाद मराठा सरदारों के बीच पेशवा की गद्दी को लेकर मतभेद उत्पन्न हो गया। इस मतभेद के कारण अंग्रेजों को उनके अंदरूनी मामले में हस्तक्षेप करने का मौका मिल गया। रघुनाथ राव उर्फ राघोबा पेशवा की गद्दी प्राप्त करना चाहता था। नाना फड़नवीस के नेतृत्व में पूना के मराठा सरदारों ने इसका विरोध किया। गद्दी

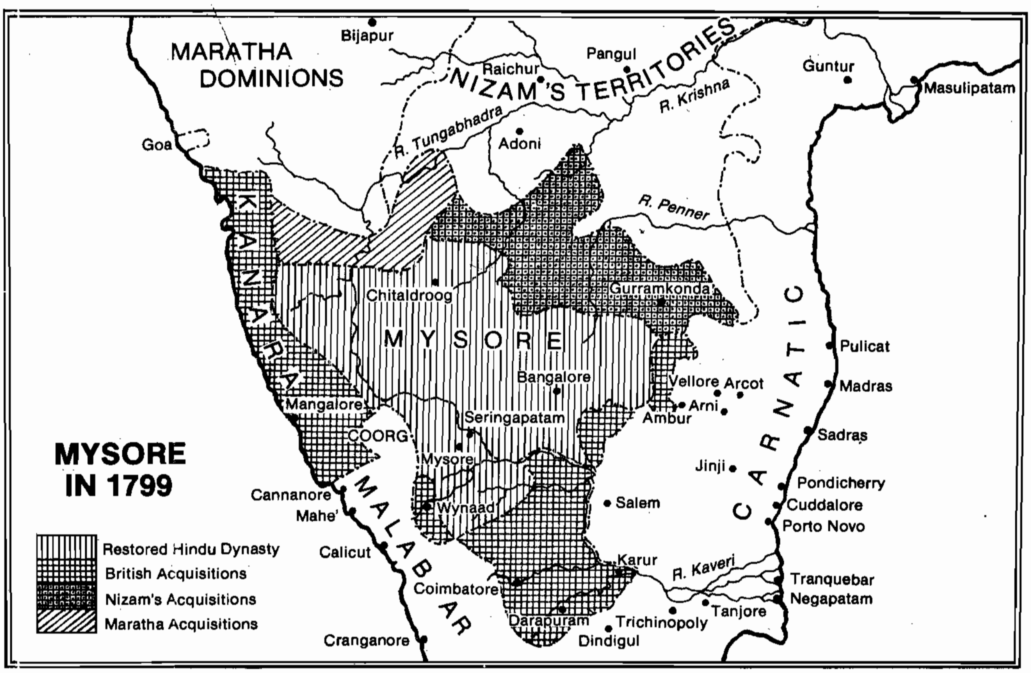

मानचित्र 2 मैसूर (1799 में)

प्राप्त करने में असफल होकर रघुनाथ राव ने अंग्रेजों से सहायता माँगी। प्रथम मराठा युद्ध (1775-82) की यह तात्कालिक पृष्ठभूमि थी। महादाजी सिंधिया, जिसकी नजर मराठा राज्य संघ के सर्वोच्च पद पर थी, अभी अंग्रेजों से उलझना नहीं चाहता था, अंग्रेज भी इस स्थिति में संघर्ष से दूर रहना चाहते थे। परिणामस्वरूप सलभई की संधि पर 1782 में हस्ताक्षर हुए और एक वर्ष बाद नाना फड़नवीस ने इसे पुनः स्वीकृति दे दी। सैलसेट पर अँग्रेजों के अधिकार को मान्यता दे दी गयी और माधव राव नारायण को पेशवा घोषित किया गया।

यह व्यवस्था बीस वर्षों तक कायम रही। अंग्रेजों ने इस समय का उपयोग दूसरे मोर्चों (खासकर मैसूर) को संभालने में किया। इन वर्षों में मराठा राज्य की स्थिति काफी खराब रही। मराठा सरदार अपने स्वतंत्र गण राज्यो जैसे बड़ौदा के गायकवाड़, नागपुर के भोंसले, इंदौर के होल्कर और ग्वालियर के सिंधिया की स्वतंत्रता को समाप्त करने में लगे रहे। पेशवा के उत्तराधिकार संबंधी प्रश्न को लेकर भी काफी असंतोष व्याप्त था और मराठा राज्य का केन्द्रीय नियंत्रण नाना फड़नवीस के हाथ में था। इसी समय मराठों पर ब्रिटिश साम्राज्य का पूर्ण नियंत्रण स्थापित करने के उद्देश्य से लार्ड वेलेस्ली ने उन्हें "सहायक संधि" करने के लिए आमंत्रित किया। मराठों ने अंग्रेजों के इस "मित्रता पूर्ण" अनुरोध को ठुकरा दिया, जो वस्तुतः उनकी परतंत्रता का दस्तावेज था।

इसी समय नाना फड़नवीस की मृत्यु हो जाने से अंग्रेजों को अतिरिक्त फायदा मिल गया। एक शक्तिशाली मराठा सरदार जसवंत राव होलकर ने 1800 ई. में पूना में सिंधिया और पेशवा की संयुक्त सेना को पराजित कर दिया और शहर पर कब्जा कर लिया। पेशवा ने वेलेस्ली से सहायता माँगी। इस प्रकार वेलेस्ली को मराठा राज्य के मामले में दखल देने का सुनहरा अवसर मिल गया। इस प्रकार द्वितीय मराठा युद्ध (1803-05) की शुरुआत हुई। पेशवा बाजीराव II ने सहायक संधि स्वीकार कर ली और 1802 में बेसिन के संधि पत्र पर हस्ताक्षर किया। पेशवा अब स्वतंत्र रूप से और बिना ब्रिटिश शक्ति की मंजूरी के किसी भी अन्य राज्य से संबंध स्थापित नहीं कर सकता था और उसे अब हर साल मुआवजे के रूप में बड़ी रकम अंग्रेजों को देनी थी। सिंधिया और भोसले ने मराठा स्वतंत्रता की रक्षा करने की एक कोशिश की। पर वे सुनियोजित ब्रिटिश सेना के सामने टिक न सके। ब्रिटिश सेना ने सिंधिया और भोसले की सेना को पराजित किया और दोनों ने अंग्रेजों से अलग-अलग संधि की। जिस समय अंग्रेजों ने सिंधिया और भोंसले को पराजित किया था, उस समय यशवंत राव होल्कर मूक दर्शक बना बैठा था। 1804 ई. में उसने ब्रिटिश सत्ता के खिलाफ भारतीय राजाओं को एकजुट करने की कोशिश की। पर वह अपने उद्देश्य में कामयाब नहीं हो सका। इसी समय लार्ड वेलेस्ली का इंग्लैंड से बुलावा आ गया और इस क्षेत्र में अस्थाई शांति कायम हुई।

इसके बावजूद मराठा गणराज्य के अंदरूनी मामले में कोई सुधार नहीं हुआ। मराठों की शक्ति और स्रोत का क्षय हो चुका था। सभी मराठा सरदारों के राज्य में अव्यस्था और कमजोरी का साम्राज्य था। हालांकि तृतीय मराठा युद्ध (1817-19) के दौरान पेशवा बाजीराव द्वितीय ने मराठा सरदारों को अंग्रेजों के खिलाफ एकजुट करने की कोशिश की। पर ब्रिटिश सत्ता पेशवा का एक बार फिर मराठा गणराज्य पर नियंत्रण स्थापि नहीं होने देना चाहती थी। परिणामस्वरूप युद्ध हुआ और पेशवा की शक्ति और सम्मान को गहरा धक्का लगा।

मराठा गणराज्य भंग कर दिया गया और पेशवा का पद समाप्त कर दिया गया। अंग्रेजों ने पेशवा बाजीराव के सभी अधिकार छीन लिए और वह अंग्रेजों का गुलाम बन गया। नर्मदा के उत्तर स्थित भोसले के राज्य क्षेत्र को ब्रिटिश राज्य

में मिला लिया गया और शेष क्षेत्र पर उसे अंग्रेजों के नियंत्रण में राज्य करने की छूट दी गयी। इसी प्रकार होल्कर ने भी ब्रिटिश सत्ता को अपने राज्य का कुछ हिस्सा सौंप दिया और अंग्रेजों का मातहता हो गया। शिवाजी के एक वंशज प्रताप सिंह को सतारा का राजा बनाया गया। सतारा राज्य पहले पेशवा राज्य क्षेत्र का एक हिस्सा था।

10.5 भारतीथ राज्यों की असफलता के कारण

मैसूर और मराठा राज्य के के स्वरूप, संगठन और काम करने के ढंग में अंतर था (देखें इकाई 3.4)। लेकिन दोनों की कमजोरियाँ समान थीं। वस्तुतः यह कमजोरी अठारहवीं शताब्दी की राजनीतिक व्यवस्था की कमजोरी थी। इन कमजोरियों के कारण भारतीय राज्य साम्राज्यवादी आक्रमण के सामने टिक न सके।

18वीं शताब्दी के दौरान भारतीय राज्य एक-दूसरे से लड़ते रहे थे, यह उस शताब्दी के राजनीतिक परिदृश्य की सबसे बड़ी कमजोरी थी। आपसी संघर्ष और युद्ध ने देशी राजाओं और राज्यों को कमजोर बना दिया और साम्राज्यवादी आक्रमण झेलने की क्षमता उनमें नहीं रही। मैसूर और मराठा राज्य का संघर्ष आपके सामने है। इन दोनों राज्यों के अंग्रेजों ने एक-दूसरे के खिलाफ लड़ाया और इन दोनों राज्यों पर ब्रिटिश राज्य का नियंत्रण स्थापित हो गया।

दूसरा महत्वपूर्ण कारण था, प्रशासन में लयबद्धता का अभाव और विभिन्न गुटबंदी। प्रशासन में व्यक्ति निष्ठा, जाति और अन्य सामाजिक विभाजनों का प्रभाव था। इससे प्रशासन में विभिन्न हितों से जुड़े विभिन्न गुट कायम हुए, जो एक दूसरे का विरोध करते थे। बाहरी आक्रमण के दौरान यह स्थिति घातक सिद्ध हुई। मसलन 1780 के दशक में मराठों की राजनीतिक व्यवस्था में महत्वपूर्ण बदलाव आया। सिंधियां, भोंसले, गायकवाड़ और होल्कर पेशवा ने नाममात्र का संबंध रखकर अपना स्वतंत्र अस्तित्व कायम करने की होड़ में लगे रहे। इन स्थानीय केन्द्रों के उभरने से केंद्रीय मराठा शक्ति निश्चित रूप से कमजोर हुई। इसके अतिरिक्त उत्तराधिकार के प्रश्न को लेकर विभिन्न गुटों के बीच मतभेद हुए। इन सब कारणों से एक प्रकार का राजनीतिक अस्थायित्व छा गया, जिसका अपने लिए अंग्रेजों ने खूब उपयोग किया।

भारतीय राज्यों के आय के स्रोत भी सीमित थे। मसलन मराठा राज्य मुख्य रूप से चौथ और सरदेशमुखी पर निर्भर था, क्योंकि उसके पास आय का कोई अन्य स्रोत नहीं था। हालाँकि हैदर और टीपू ने अपने राज्य की आय बढ़ाने का समुचित प्रबंध किया था, पर वे भी देहाती इलाकों के संपूर्ण स्रोत का इस्तेमाल नहीं कर सके थे। आय स्रोत की इस कमी का भी प्रभाव भारतीय राज्यों पर पड़ा। उनके खिलाफ ब्रिटिश शक्ति के रूप में एक ऐसा दुश्मन खड़ा था, जिसका बंगाल जैसे उत्पादक क्षेत्र पर अधिकार था और जिसे अपने राष्ट्र का समर्थन प्राप्त था।

कई इतिहासकारों ने शासकों की व्यक्तिगत अयोग्यता और सैन्य संगठन की अकुशलता को भी भारतीय राज्यों के पतन का कारण माना है। ऐसा कहा गया है "मैसूर हिंदू योद्धाओं और तमिल ब्राह्मण प्रशासकों पर ज्यादा निर्भर था" और इस स्थिति में जब टीपू ने मैसूर को इस्लाम राज्य बनाना चाहा तो उसे मुँह की खानी पड़ी। (सी.ए. बेली, द न्यू कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इंडिया, वाल.-11.1) इस प्रकार के तर्क स्थिति को तोड़-मरोड़कर प्रस्तुत करने के प्रयास हैं। जैसा कि हमने अवलोकन किया, भारतीय राज्यों की असफलता का कारण शासक और जनता का भिन्न धर्म का होना नहीं था, बल्कि इसके कई अन्य कारण थे। भारतीय सैन्य संगठन को भी एक हद तक ही जिम्मेदार ठहराया जा सकता है। मैसूर के शासकों ने अपनी सेना को यूरोपीय पद्धति पर संगठित किया था, पर उन्हें भी हारना पड़ा। मराठों ने भी अपनी सेना में यूरोपीय आयुधों को शामिल किया था।

बोध प्रश्न 2

1) निम्नलिखित वक्तव्यों को पढ़ें और सही (✓) तथा गलत (×) का निशान लगाएँ।

   i) सलभई की संधि से सेलसेट पर ब्रिटिश अधिकार पुष्ट हुआ।

   ii) पेशवा ने सहायक संधि व्यवस्था स्वीकार नहीं की।

   iii) विभिन्न मराठा सरदार अपनी स्वतंत्र सत्ता स्थापित करने की कोशिश कर रहे थे।

   iv) मुख्यतः अपनी अंदरूनी कमजोरियों की वजह से भारतीय राज्यों का पतन हुआ।

2) भारतीय राज्यों के खिलाफ ब्रिटिश शक्ति की सफलता की व्याख्या आप कैसे करेंगे? 100 शब्दों में उत्तर दें।

....

....

....

....

....

....

....

10.6 सारांश

इस इकाई में हमने मैसूर और मराठा राज्य पर ब्रिटिश सत्ता के आक्रमण और आधिपत्य की प्रक्रिया की जानकारी प्राप्त की। वस्तुतः अपने वाणिज्यिक हितों के कारण अंग्रेज इन इलाकों की ओर आकृष्ट हुए थे। विभिन्न राज्यों के आपसी संघर्ष और अस्थिर राजनीतिक व्यवस्था के कारण अंग्रेजों को देशी शक्तियों के मामलों में हस्तक्षेप करने का मौका मिला। इन इलाकों पर नियंत्रण स्थापित करने में अंग्रेजों को कई वर्ष लगे और स्थानीय शासकों को दबाने के लिए उन्हें कई युद्ध लड़ने पड़े। भारतीय राज्यों की अंदरूनी कमजोरी के कारण ब्रिटिश शक्ति की विजय हुई। मराठा और मैसूर राज्य के पतन से भारतीय राज्य के प्रमुख स्तंभ ढह गये और भारत में ब्रिटिश राज्य की नींव रखी गयी।

10.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) इस प्रश्न का उत्तर देते समय अंग्रेजों के वाणिज्यिक हितों, क्षेत्रीय विस्तार और राजनीतिक वर्चस्व की आकांक्षा आदि का उल्लेख करें। देखें भाग 10.2।

2) i) ग ii) ख iii) ग

बोध प्रश्न 2

1) i) √ ii) × iii) √ iv) √

2) इस उत्तर में भारतीय राजाओं के बीच तालमेल के अभाव, भारतीय राज्यों की प्रशासनिक कमजोरियों और स्रोत जुटाने की अक्षमता का उल्लेख करें। देखें भाग 10.5।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

इकाई 11 उत्तर भारत में ब्रिटिश विस्तार

इकाई की रूपरेखा

11.0 उद्देश्य
11.1 प्रस्तावना
11.2 मुगल साम्राज्य का पतन और उत्तर भारत में विभिन्न राज्यों का उदय
11.3 अवध : सहायक संधि से विलय तक
11.4 ईस्ट इंडिया कंपनी को सहायक संधि से लाभ
11.5 कंपनी द्वारा कब्जा और अवध राज्य का प्रतिरोध : 1765-1775
11.5.1 अवध प्रतिरक्षा का दुर्बल होना : 1775-1801
11.5.2 1801 की संधि
11.5.3 अवध राज्य की अवनति और पतन : 1801-1856
11.6 उत्तर भारत के अन्य क्षेत्रों में विस्तार
11.6.1 पंजाब पर अंग्रेजों की निगाह
11.6.2 पंजाब पर कब्जा करने का तरीका
11.7 सारांश
11.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

11.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- बता सकेंगे कि किस प्रकार उत्तर भारत, मुख्य रूप से अवध और पंजाब ब्रिटिश शासन के अधीन आये,
- विभिन्न राज्यों पर कब्जा करने की ब्रिटिश नीति में होने वाले परिवर्तनों का उल्लेख कर सकेंगे,
- उत्तर भारत में ब्रिटिश साम्राज्य के विस्तार में सहायक परिस्थितियों पर प्रकाश डाल सकेंगे।

11.1 प्रस्तावना

MAADHYAM IAS

उत्तर भारत, खासकर अवध राज्य में ब्रिटिश सत्ता की स्थापना मुगल साम्राज्य और अवध राज्य के अस्तित्व के लिए एक चुनौती थी। यहाँ मुगल या अवध राज्य के शासकों के स्थान पर ब्रिटिश साम्राज्य की प्रभुता स्थापित हुई। 1764 में हुए बक्सर के युद्ध के बाद ईस्ट इंडिया कंपनी को किसी गंभीर युद्ध का सामना नहीं करना पड़ा। 1856 में अवध राज्य को ब्रिटिश साम्राज्य में मिला लिया गया, अवध राज्य के ब्रिटिश सत्ता में विलय के पहले अंग्रेजों को किसी गंभीर चुनौती का सामना नहीं करना पड़ा।

11.2 मुगल साम्राज्य का पतन और उत्तर भारत में विभिन्न राज्यों का उदय

जैसा कि आपने पहले की इकाइयों में पढ़ा है, मुगल साम्राज्य के पतन की प्रक्रिया 18वीं शताब्दी के आरंभ में हो चुकी थी और 1739 में हुए नादिरशाह के आक्रमण ने रही सही कसर भी पूरी कर दी।

केंद्रीय सत्ता की इस कमजोरी का फायदा उठाते हुए कई स्वतंत्र और अर्द्धस्वतंत्र राज्य उभर कर सामने आये। इनमें से कुछ राज्य ऐसे थे, जिनमें मुगल साम्राज्य के सूबेदारों ने स्वायत्तता की घोषणा कर दी थी और कुछ राज्य ऐसे थे जहां मुगल सत्ता के खिलाफ बगावत कर दी गयी थी। उत्तर भारत में ऐसे राज्यों में अवध, रोहिल्ला, जाट और सिक्ख उल्लेखनीय हैं। इन राज्यों ने अपने राज्य को मजबूत बनाने और उसका विस्तार करने के लिए कभी आपस में समझौता किया, कभी संघर्ष और कभी ब्रिटिश सत्ता की सहायता ली।

हालाँकि अपने अधीनस्थ राज्यों पर मुगल सत्ता का प्रभाव कम हुआ, पर मुगल सत्ता की संप्रभुता कायम रही। 18वीं शताब्दी के दौरान जिन शक्तियों ने अपनी स्वतंत्रता कायम की, उन्हें राजकीय उपाधियों और अधिकारों की जरूरत पड़ी। इसका कारण, आश्रयी राज्यों के लिए मात्र परम्परागत अधिकार प्राप्त करना नहीं था, बल्कि यह अन्य भौतिक कारणों से भी प्रेरित था। दूसरे मुगल प्रशासन के पास प्रशिक्षित कार्यकारी और वित्तीय पदाधिकारी थे, जो प्रांतीय शासकों के पास उपलब्ध नहीं थे। तीसरा कारण, जो खासकर अवध के सन्दर्भ में महत्वपूर्ण था, यह था कि आरंभ में स्थानीय शासन मुगल सत्ता के नाम से ही स्थापित किए गये। मुगल साम्राज्य से संबंध विच्छेद की औपचारिक घोषणा से ताल्लुकदार अपनी स्वतंत्रता स्थापित करने के लिए प्रेरित हो सकते थे।

11.3 अवध : सहायक संधि से विलय तक

1757 के प्लासी के युद्ध में प्रभावकारी व्यापारियों और सामंतों की मदद से क्लाइव ने बंगाल के नवाब को परास्त किया और उसके स्थान पर कठपुतली नवाब, मीर जाफर को गद्दी पर बैठाया। इससे कम्पनी के भाग्य में नाटकीय परिवर्तन आया। बंगाल भारत का एक प्रमुख समृद्ध प्रांत था, इस पर अधिकार जमाने से ब्रिटिश सत्ता को अभूतपूर्व लाभ हुए। इस सिंचित इलाके से अंग्रेजों को भू-राजस्व के रूप में तीन करोड़ रुपये प्राप्त होते थे। इसका उपयोग उन्होंने बंबई और मद्रास प्रेसिडेंसी के पोषण और अधिक सेना की नियुक्ति और अपने कर्मचारियों की समृद्धि के लिए किया। इसका परिणाम तब सामने आया जब कम्पनी की सेना ने मीर कासिम, शुजाउद्दौला (अवध के नवाब) और मुगल बादशाह, शाह आलम द्वितीय की संयुक्त सेना को हरा दिया। इसके बाद से इस उपमहाद्वीप में कम्पनी सर्वशक्तिमान शक्ति के रूप में स्थापित हो गई। कम्पनी ने बादशाह से दीवानी हासिल की और बंगाल, बिहार तथा उड़ीसा से राजस्व वसूल करने का अधिकार प्राप्त किया तथा अवध के नवाब को सहायक संधि करने के लिए मजबूर किया। अपने इन कार्यों से कम्पनी ने भारत में अपनी स्थिति को एक बार फिर वैध बना दिया। इसके अतिरिक्त उन्होंने एक ऐसा क्षेत्र भी निर्मित किया जो उसके अधीनस्थ क्षेत्रों और पश्चिमी भारत के अपेक्षाकृत अशांत इलाकों के बीच "बफर" का कार्य कर सके।

अक्तूबर 1764 में हुए बक्सर के युद्ध में जिस सेना ने ब्रिटिश फौज के साथ युद्ध किया था उसमें अवध सेना की भूमिका सबसे ज्यादा थी। इसमें मुगल, दुर्रानी और स्थानीय अवध की सेना शामिल थी। इस सेना में केंद्रीय नेतृत्व का अभाव था। इसमें ज्यादातर भाड़े के सैनिक थे जो लूटपाट में अधिक रुचि रखते थे। इन्होंने युद्ध के बीच में ही कम्पनी और नवाब के सामानों को लूटना शुरू कर दिया। वस्तुतः यह सेना समग्र रूप में अवध समाज का प्रतिनिधित्व करती थी।

अवध के कुलीन वर्ग में तीन तरह के लोग थे, इनकी परम्परा और संस्कृति एक दूसरे से भिन्न थी —

i) अवध राज्य और इसके बड़े पदाधिकारियों में शिया मुसलमानों की अच्छी खासी संख्या थी, इनकी जनसंख्या काफी कम थी और ये अपने आपको राजकीय कुलीन वर्ग का सदस्य मानते थे।

ii) मुंशियों की जाति में कायस्थ और खत्री थे, जिनका अवध के प्रशासन में बाहुल्य था।

iii) राजपूत और ब्राह्मण भूमिपति जो अधिकतर जमींदार थे, पर प्रांतीय प्रशासन में उनका कोई दखल नहीं था।

केवल स्थानीय और केंद्रीय शक्ति के बीच ही तनाव नहीं था, बल्कि जमींदारों द्वारा स्वतंत्र होने के प्रयत्नों के कारण भी शासन दुर्बल हुआ। लगभग अस्सी प्रतिशत हिंदू और मुसलमान जमींदारों ने यह दावा किया कि अवध राज्य के संस्थापक सआदत खाँ के आने के पहले से ही वे जमींदार थे। अतः अधिकांश भूमिपति अपने को अवध के प्रांतीय शासकों से पुराना और स्वतंत्र मानते थे।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

इस स्थिति में यह आश्चर्यजनक नहीं है कि अवध का सूबेदार नियुक्त होने के बाद सआदत खाँ ने हमेशा मुगल बादशाह के प्रतिनिधि के रूप में कार्य किया और अपने नये प्रांत का दौरा सैनिक अभियान के रूप में किया ताकि बागियों को दबाया जा सके। इस प्रकार अवध राज्य ने मुगलों के माध्यम से वैधता प्राप्त की और अपनी सत्ता को स्थानीय तौर पर बल प्रदर्शन के सहारे स्थापित किया। 1764 में अंग्रेजों के हाथों हारने और अधीनस्थ होने के बाद और 1819 में मुगल सत्ता से संबंध विच्छेद करने के बाद उनके लिए अपने मातहतों का सहयोग और समर्थन प्राप्त करना आवश्यक हो गया। यहाँ तक कि 1857 के विद्रोह में जब उन्होंने विद्रोह का नेतृत्व किया तब भी उन्हें मुगलों के नाम से ही काम करना पड़ा।

11.4 ईस्ट इंडिया कम्पनी को सहायक संधि से लाभ

हालाँकि अवध में शुजाउद्दौल को पुनः पदस्थापित कर दिया गया, पर एक संधि के माध्यम से वह कम्पनी की शर्तों में जकड़ गया, जिसके तहत उसे आपसी प्रतिरक्षा (जिसका भुगतान नवाब को करना था) अवध क्षेत्र में कम्पनी के लिए कर मुक्त व्यापार की छूट और युद्ध हर्जाने के तौर पर पचास लाख रुपये देने थे। इस संधि का प्रभाव केवल इसमें सम्मिलित सदस्यों पर ही नहीं पड़ा, बल्कि उत्तर भारत के इतिहास पर भी इसके दूरगामी प्रभाव पड़े।

सहायक संधि के तहत नवाब ने अवध में स्थाई तौर पर ब्रिटिश सेना की मौजूदगी की मंजूरी दे दी और इसके लिए प्रति ब्रिगेड दो लाख दस हजार रुपये देना भी मंजूर किया। उसने अपने दरबार में ब्रिटिश रेजिडेंट की नियुक्ति की भी मंजूरी दी और यह भी वादा किया कि अंग्रेजों की सहमति के बिना वे किसी भी यूरोपीय की नियुक्ति नहीं करेंगे या सहायता नहीं लेंगे। आने वाले वर्षों में रेजिडेंसी की व्यवस्था काफी निर्णायक सिद्ध हुई। राज्य क्षेत्रातीत संरक्षण देकर, पेंशन की सुविधा मुहैय्या करवा कर और सम्मान तथा तरक्की का अवसर देकर रेजिडेंट ने काफी महत्वपूर्ण लोगों को अपनी ओर आकृष्ट किया और इस प्रकार रेजिडेंट अवध राजधानी में एक नयी शक्ति के रूप में सामने आया।

अवध में राज्य क्षेत्रातीत अधिकारों, मानव शक्ति और अर्थ का जो लाभ अंग्रेजों को मिला उसने भारत का राजनीतिक

नक्शा बदलने में निर्णायक भूमिका अदा की। अवध और बिहार से सैन्य बल की प्राप्ति और बंगाल के लोगों तक अवध के शासकों से धन की प्राप्ति के कारण कम्पनी को मराठों और सिक्खों पर लगातार विजय प्राप्त करने में सहूलियत हुई और इस प्रकार ब्रिटिश भारत में एक सर्वोच्च शक्ति के रूप में उभर कर सामने आये। कम्पनी ने अवध राज्य के बागियों को राज्य क्षेत्रतीत संरक्षण प्रदान किया और इस प्रकार अवध पर अंकुश लगाया जा सका तथा साथ ही साथ ऐसे लोगों का एक दल कायम किया जो कम्पनी के प्रति निष्ठावान हों।

कम्पनी ने अवध की राजधानी में पदस्थापित अपने रेजिडेंट के माध्यम से लगातार शासकों की शक्तियों का हनन किया और उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ तक यह स्थिति आ गयी कि राज्य के अधिकांश पदाधिकारी, दरबारी और बड़े भूमिपति कम्पनी के प्रति निष्ठावान हो गये और उसे ही प्रमुख शक्ति मानने लगे। यहां तक कि आसफुद्दौला और सआदत अली खाँ जैसे नवीन परिवार के लोगों ने भी गद्दी प्राप्त करने के लिए कम्पनी का सहारा लिया। इस प्रकार, अपनी कूटनीतिक चालबाजियों और शक्ति प्रदर्शन के बल पर कम्पनी ने इतने ज्यादा अधिकार प्राप्त कर लिए कि 1856 में अवध का अंग्रेजी राज्य में विलय स्वाभाविक सा प्रतीत होने लगा।

11.5 कंपनी द्वारा कब्जा और अवध राज्य का प्रतिरोध : 1765-1775

सहायक संधि के तहत अधीनस्थ की स्थिति में आने के बावजूद अवध शासकों ने विभिन्न प्रकार से स्वतंत्र रूप में कार्य करने का प्रयास किया। कम्पनी के विरोध के बावजूद शुजाउद्दौला ने 1 लाख सैनिकों की प्रशिक्षित सेना गठित की थी। उसने 150 के लगभग फ्रेंच पदाधिकारियों की भी सेवा प्राप्त की, जो एक उच्चस्तरीय तोपखाने का नेतृत्व कर रहे थे। इसके अतिरिक्त उसने कम्पनी की सहायता से 1774 में रोहिलखंड और इटावा को अपने कब्जे में ले लिया। उसने प्रतिरोध स्वरूप अवध राज्य में कम्पनी और अन्य यूरोपियों के व्यापार करने पर कुछ बंदिश लगाई। यहां तक कि 1765 में नवाब और अंग्रेजों के बीच हुई इलाहाबाद की संधि के अनुच्छेद 8 का शुजाउद्दौला ने कसकर विरोध किया, जिसमें अंग्रेज व्यापारियों और उनके दलालों को अवध में कर मुक्त व्यापार करने का प्रावधान था। पर उसे कम्पनी द्वारा दस्तक प्राप्त व्यापारियों और एजेंटों को व्यापार करने देने की बात माननी पड़ी पर शुजाउद्दौला को जिस बात का डर था, वही हुआ। ये व्यापारी चुंगी मुक्त व्यापार करने के अधिकारी थे पर वे बिक्री कर और पारगमन शुल्क देने से भी इन्कार करने लगे, घरेलू बाजार में हस्तक्षेप करने लगे और इस प्रकार व्यवहार करने लगे मानो वे नवाब के कानून के दायरे से बाहर हों।

नवाब ने इन कार्यकलापों का कसकर विरोध किया। नवाब के विरोध को देखते हुए कम्पनी ने मई 1768 में अपने सभी व्यापारियों और एजेंटों पर प्रतिबंध लगा दिया और अवध तथा बनारस में मुक्त व्यापार करने का प्रावधान वापस ले लिया।

MAADHYAM IAS

इस व्यापार से अंग्रेज व्यापारियों को इतना ज्यादा लाभ होता था कि कुछ व्यापारी इस प्रतिबंध से खिसिया कर वापस इंग्लैंड चले गये। उन्होंने लंदन में कोर्ट ऑफ डाइरेक्टर्स पर प्रतिबंध हटाने के लिए दबाव डाला। उनके दबाव के कारण कोर्ट ऑफ डाइरेक्टर्स ने 1771 में यह प्रतिबंध हटा दिया। शुजा ने इसका विरोध किया और संधि तोड़ने की धमकी दी। कोई विकल्प न रहने पर वारेन हेस्टिंग्स ने वायदा किया कि "कोई अंग्रेज उनके राज्य में नहीं रहेगा और मैं कभी भी अंग्रेजी गुमाश्तों और उनके लोगों के बीच हुए मतभेद में टांग नहीं अड़ाऊंगा।"

11.5.1 अवध प्रतिरक्षा का दुर्बल होना : 1775-1801

1775 में शुजाउद्दौला की मृत्यु के बाद उसके पुत्र आसफुद्दौला ने अवध का शासन अपने हाथ में लेने की कोशिश की। मुगल परम्परा में प्रांतीय स्तर पर वंशानुगत अधिकार का कोई बना बनाया नियम नहीं था, अतः आसफुद्दौला को गद्दी के अन्य दावेदारों का भी सामना करना पड़ा। इस प्रक्रिया में उसने ईस्ट इंडिया कम्पनी के साथ एक समझौता किया, जिसके कारण उसे नवाबी तो मिल गई, पर राज्य को काफी नुकसान उठाना पड़ा।

अपनी स्थिति मजबूत करने के लिए आसफुद्दौला ने कम्पनी से नई संधि की और इसके तहत उन्हें नई छूटें दीं। उसने अंग्रेजों को बनारस राज्य दे दिया, 50,000 रुपये और अधिक देने का वादा किया, यह रकम पहले निर्धारित रकम की एक तिहाई थी। इस रकम का उपयोग अवध में कम्पनी की सेना के रखरखाव के लिए किया जाता था। उसने राज्य की सेवा में कार्य कर रहे या राज्य में रह रहे सभी यूरोपीयों को निष्कासित करने का वचन दिया, कम्पनी के अनुमोदन पर ही वह किसी यूरोपीय नागरिक को रख सकता था। उसे कम्पनी के साथ अपने संबंधों को मुगल बादशाह से अपने संबंध की अपेक्षा अधिक तरजीह देनी थी। इस प्रकार अपने शासन के आरंभ से ही आसफुद्दौला ने स्वीकार कर लिया कि वह ईस्ट इंडिया कम्पनी पर पूरी तरह निर्भर है।

इस प्रकार अंग्रेजों ने शासकीय वर्ग के आपसी मनमुटाव का फायदा उठाया और अवध में अपनी स्थिति मजबूत की। बहुत जल्द ही कम्पनी की मांग बेहद बढ़ गयी, जिसे पूरा करने में अवध शासक असमर्थ था। अब कम्पनी को खास जमीन पर तनख्वाह अर्थात् भू राजस्व वसूल किए जाने के बाद उसे सीधे कम्पनी के कोष में जमा कर देना था, इस प्रकार अवध राज्य की उसमें कोई भूमिका नहीं होनी थी। इस व्यवस्था से कम्पनी का अवध प्रशासन पर प्रभाव जबरदस्त

हो गया। कम्पनी ने अपने मनचाहे जिलों का चुनाव किया, इन जिलों में अपने मनमुताबिक राजस्व अधिकारियों की बहाली की, उनके कार्यकलापों और खाताबही को नजरअंदाज किया और कम्पनी की सेना का उपयोग कर अपनी मांगों को जबरदस्ती पूरा किया। 1797 में आसफुद्दौला की मौत के बाद राज्य के मामलों में कम्पनी का दखल और भी बढ़ गया। अपनी कम्पनी विरोधी विचारधारा के कारण आसफुद्दौला का पुत्र और उत्तराधिकारी वजीर अली कम्पनी की दृष्टि में सही उम्मीदवार नहीं था। जनवरी 1798 में कम्पनी और कुछ दरबारियों की सहायता से उसे पदच्युतकर दिया गया। इसके बाद सआदत अली खाँ को गद्दी पर बैठाया गया। इस प्रकार सआदत अली खाँ आसफुद्दौला के बाद ऐसा दूसरा नवाब था, जिसने गद्दी हासिल करने के लिए कम्पनी की सहायता ली। पर वह कम्पनी पर और भी ज्यादा निर्भर था। आरंभ में उसने कम्पनी को काफी बड़ा क्षेत्र देने का वादा किया पर बाद में कम्पनी ने भूमि के बदले नकद राशि को प्रमुखता दी। अवध में रह रही अंग्रेजी सेना के रखरखाव के लिए निर्धारित राशि में 20 लाख रुपये की बढ़ोतरी कर दी गयी और अब नवाब को हर साल कम से कम 76 लाख रुपये कम्पनी को देने थे। इसके अतिरिक्त अपने भतीजे के स्थान पर गद्दी हासिल करने के एवज में उसे कम्पनी को बारह लाख रुपये देने पड़े। अंत में, नवाब ने यह भी स्वीकार किया कि "नवाब सआदत अली खाँ किसी भी विदेशी शक्ति से बातचीत के लिए कम्पनी की अनुमति लेगा और उनकी जानकारी के बगैर कोई भी बातचीत नहीं होगी।" इस प्रकार अवध के शासक को वित्तीय तौर पर कमजोर बनाने के साथ-साथ कूटनीति के स्तर पर भी पंगु बना दिया गया।

11.5.2 1801 की संधि

नया गर्वनर जनरल लार्ड वेलेज़ली इस संधि से संतुष्ट नहीं हुआ और 1801 में नयी संधि पर हस्ताक्षर करने के लिए नवाब को मजबूर किया। इस संधि के तहत उसे दोआब, गोरखपुर और रोहिलखंड के इलाके कम्पनी को दे देने थे।

नवाब के राज्य क्षेत्र को संकुचित करने के साथ इस संधि में तीन महत्वपूर्ण पहलू थे, जिन्होंने अवध राज्य को अंतिम तौर पर निष्क्रिय बना दिया :

i) अवध की सेना की संख्या घटाकर एक दहाई कर दी गयी।

ii) कम्पनी ने सभी विदेशी और घरेलू शत्रुओं से अवध की रक्षा करने का भार अपने ऊपर ले लिया।

iii) अवध के शासक को अपने सुरक्षित क्षेत्र में प्रशासक का काम अपने पदाधिकारियों से सम्पन्न कराना था, जिनका कर्तव्य अपने मातहतों के जीवन और सम्पत्ति की रक्षा करना था, इस प्रशासन को चलाने में तथाकथित सम्मानीय कम्पनी के पदाधिकारियों की काउंसिल के परामर्श पर काम करने की सलाह महामहिम ने दी।

यह तीसरा प्रावधान कई प्रकार की व्याख्याओं की मांग करता है और यह 1856 में अवध के विलय की पूर्वपीठिका था।

MAADHYAM IAS

11.5.3 अवध राज्य की अवनति और पतन : 1801-1856

अवध के शासकों से राज्य क्षेत्र हासिल करने के साथ-साथ कम्पनी ने अवध में सफलतापूर्वक एक नये शक्ति केंद्र का निर्माण किया। राज्य क्षेत्रतीत संरक्षण के अधिकार के माध्यम से रेजिडेंटों ने नीचे से ऊपर तक ऐसे लोगों का दल बनाया जो कम्पनी के प्रति निष्ठावान हों। इसके सबसे निचले स्तर पर अवध के वे सिपाही थे, जो कम्पनी की सेवा में शामिल थे या पदभार से मुक्त हो चुके थे। इसके ऊपर वे ताल्लुकदार थे, जिन्हें अवध के नवाब ने हटा दिया था और जिन्होंने कम्पनी से अपील करके अपनी जमीन वापस ले ली थी। सबसे ऊपर के स्तर में राजकीय घराने के वे लोग थे जो अपदस्थ या गद्दी के असफल दावेदारों के संबंधी थे और जिन्हें कम्पनी ने संरक्षण प्रदान कर रखा था। ब्रिटिश वैधता इस हद तक स्थापित हो गई थी कि उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ में आसफुद्दौला की माँ, बहू बेगम जैसी राजपरिवार की सदस्या ने अपनी वसीयत में लिखा कि उसके मरने के बाद मस्जिद, आश्रितों और कर्बला के पवित्र स्थल के लिए कुछ राशि छोड़कर सारी राशि कम्पनी के नाम कर दी जाए। जब नवाब सआदत अली ने संरक्षण के इस दुरुपयोग का विरोध किया तो रेजिडेंट ने घोषणा की कि "मेरे विचार में, महामहिम का इस मामले में कुछ भी बोलना बिल्कुल अस्वीकार्य है"।

इस प्रकार अवध में एक वैकल्पिक और सर्वोच्च स्थिति बहाल कर कम्पनी ने अपनी स्थिति मजबूत की और अवध के शासकों की वैधता को नजरअंदाज कर दिया। इसके साथ-साथ कम्पनी ने विभिन्न क्षेत्रीय शासकों को अपनी स्वतंत्रता की घोषणा करने के लिये उकसाया और इस प्रकार मुगल साम्राज्य द्वारा प्राप्त अवध राज्य के अधिकार को भी चुनौती दी। इस प्रकार उन्होंने प्रकारान्तर से मुगल साम्राज्य के अस्तित्व को भी चुनौती दी।

हालांकि अवध वास्तविक रूप में कम्पनी पर पूर्णतः निर्भर हो गया था, पर अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए कम्पनी यह चाहती थी कि अवध के नवाब मुगल शासक से स्वतंत्र होने की घोषणा कर दें। कम्पनी के अधिकारियों ने गाजीउद्दीन को स्वतंत्रता की घोषणा करने के लिए प्रोत्साहित किया और उसने 1819 में मुगल बादशाह से अपना संबंध विच्छेद कर लिया। औपचारिक रूप से अपनी स्वतंत्रता की घोषणा कर नवाब ने एक नई परम्परा की शुरुआत की। अनजाने में उसने अखिल भारतीय शक्ति के रूप में और मुगल साम्राज्य के विकल्प के रूप में उभरने के लिए अंग्रेजों का रास्ता साफ कर दिया। इसके बाद कम्पनी ने नवाब बादशाह को अपमानित करना और नीचा दिखाना शुरू किया ताकि वे अपना वर्चस्व स्थापित कर सकें। अब अवध के शासक नाम मात्र के लिए ही शासक रह गये थे और उनके राजकीय मामलों में ब्रिटिश अधिकारी मनमाने हस्तक्षेप करते थे। गाजीउद्दीन ने पादशाहे (विश्वास के लिए लड़ने वालों का

बादशाह) और शाह-जमान (युग का शासक) की पदवी धारण का जबकि उसके उत्तराधिकारी नासिरूद्दीन हैदर को कम्पनी ने अपनी पदवी को सीमाबद्ध करने के लिए मजबूर किया और उसे पादशाहे-अवध (अवध का बादशाह) और शाहे-जहान (विश्व का शासक) की उपाधि रखनी पड़ी, बाद वाली उपाधि पर अंग्रेजों ने आपत्ति की और इस उपाधि का प्रयोग केवल घरेलू कार्यों में करने की अनुमति दी गई। इस प्रकार कंपनी ने अवध के शासकों के भौतिक और नैतिक अधिकारों पर इस हद तक अंकुश लगा दिया कि 1856 में उसका विलय स्वाभाविक परिणति प्रतीत हुई। जैसा कि हमने पहले भी अध्ययन किया है (देखिए 11.5) रेजीडेंट ने अवध का प्रशासन मुख्य सचिव के रूप में संभाल लिया।

बोध प्रश्न 1

1) अवध प्रशासन की कमजोरी के क्या कारण थे? 10 पंक्तियों में उत्तर दीजिए।

....

....

....

....

....

....

....

....

....

....

2) अवध के अधिकांश भूमिपतियों ने

क) अवध राज्य की एकता के लिए काम किया

ख) अवध के स्थायित्व में योगदान दिया

ग) कम्पनी की सेना को परास्त करने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की

घ) अपने को अवध शासक से भी पुराना समझा और अवध के प्रांतीय शासकों से स्वतंत्र रूप में कार्य किया।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

3) ईस्ट इंडिया कम्पनी ने अवध के नवाब पर सहायक संधि क्यों थोपी ? 10 पंक्तियों में उत्तर दीजिए।

....

....

....

....

....

....

....

....

....

....

11.6 उत्तर भारत के अन्य क्षेत्रों में विस्तार

शुजाउद्दौला द्वारा इटावा और रोहिलखंड पर कब्जा करने और 1801 में कम्पनी द्वारा रोहिलखंड हासिल किए जानें के बाद उत्तर भारत में अवध को छोड़कर पंजाब ही एकमात्र बड़ी शक्ति शेष रह गयी थी।

जून 1839 में महाराजा रणजीत सिंह की मृत्यु के बाद पंजाब में एक प्रकार की राजनीतिक अस्थिरता आ गयी और सरकार में लगातार कई बदलाव हुए। एक के बाद खड़क सिंह, नव निहाल सिंह, चांद कौर, शेरसिंह और अंत में

दलीप सिंह गद्दी पर बैठे। षडयंत्र और धोखाधड़ी का बोलबाला था और इन परिवर्तनों में सेना ने प्रमुख भूमिका निभाई थी। किसी व्यक्ति को अपदस्थ करने और दूसरे व्यक्ति को सिंहासन पर बैठाने के दौरान खून की नदियाँ बह जाती थीं।

11.6.1 पंजाब पर अंग्रेजों की निगाह

1830 के दशक से ही अंग्रेज पंजाब पर अपनी निगाहें टिकाने लगे थे। एक बार ब्रिटिश सेना के सेनाध्यक्ष सर हनरी फेन को रणजीत सिंह के पोते की शादी में शामिल होने का न्यौता मिला। उसने इस मौके का लाभ उठाया और यह आंकने की कोशिश की कि पंजाबी सेना को हराने के लिए कितनी सेना की आवश्यकता होगी। इसके बाद गवर्नर जनरल एलेन बौरो ने अक्तूबर 1843 में घरेलू सरकार से पंजाब पर सेना के बल पर अधिकार करने की संभावना पर विचार किया। पर अफगानिस्तान के पंचवर्षीय युद्ध के कारण भारत में ब्रिटिश सेना की स्थिति कमजोर हो गयी थी, अतः पंजाब पर आक्रमण करने का प्रस्ताव उस समय के लिए स्थगित कर दिया गया।

11.6.2 पंजाब पर कब्जा करने का तरीका

अंग्रेजों को जल्द ही सुनहरा अवसर मिल गया। पंजाब में सरकार के लगातार बदलाव, पदाधिकारियों के भ्रष्टाचार, सेना की अनुशासनहीनता, व्यापारी वर्ग और लाहौर की जनता की उदासीनता आदि ने शासक और शासित के मनोबल को गिराया। पर इसके बावजूद पंजाब सरकार के शीर्षस्थ लोगों, जैसे प्रधानमंत्री राजा लाल सिंह, सेनाध्यक्ष मिसर तेज सिंह, लाहौर दरबार के प्रमुख सरदार डोगरा राजा गुलाब सिंह आदि के बीच मतैक्य था।

सेना और सरकार के ऊपरी तबके पर स्थापित यह एकता प्रथम आंग्ल-पंजाब युद्ध में निर्णायक सिद्ध हुई। यह युद्ध 13 दिसंबर 1845 को हुआ। इस युद्ध में कम्पनी की सेना लगभग ध्वस्त कर दी गयी थी, पर लाल सिंह की अकर्मण्यता के कारण उसे पूर्णतः नष्ट न किया जा सका। कनिंघम ने एक जगह लिखा है कि लाल सिंह के कारण सिक्ख सेना एक नाजुक मौके पर चूक गयी। वह लिखता है कि "जब अंग्रेजों का गोला बारूद समाप्त हो चुका था, जब इनकी सेनाएँ फिरोजपुर की ओर लौट रही थीं और जब किसी भी प्रयास से हार को नहीं रोका जा सकता था, तब सिक्ख अपना दबाव कायम रखने में असफल रहे"। नेतृत्व की इस कमी के कारण पंजाब की मजबूत सेना को लगातार हार का सामना करना पड़ा और उसे 8 मार्च 1846 को लाहौर की अपमानजनक संधि स्वीकार करनी पड़ी। ब्रिटिश सत्ता ने जालंधर दोआब को अपने राज्य में मिला लिया और पचास लाख रुपये के एवज में जम्मू और कश्मीर का इलाका राजा गुलाब सिंह को दे दिया। पंजाब की सेना की शक्ति को कम कर दिया गया। अब इसमें 20 हजार पैदल सैनिक और बारह हजार घुड़सवार रह गये और एक मजबूत ब्रिटिश सेना ने लाहौर में अपना अड्डा जमा लिया। 16 दिसम्बर 1846 को एक नयी संधि पर हस्ताक्षर किये गये, जिसके मुताबिक ब्रिटिश रेजिडेंट (रिजेंसी काउंसिल के मार्फत) को राज्य के हर विभाग के हरेक मामले में हस्तक्षेप करने का अधिकार मिल गया। ब्रिटिश सेना पंजाब में जम गई और उसके खर्चे का भार लाहौर सरकार को उठाना पड़ा।

MAADHYAM IAS

पर ब्रिटिश इससे भी संतुष्ट नहीं हुए। उनका अंतिम उद्देश्य पंजाब पर प्रत्यक्ष नियंत्रण स्थापित करना था। अतः, जब मुल्तान के दीवान ने 1848 में लाहौर दरबार के खिलाफ बगावत की तो बगावत की इस आग को अंग्रेजों ने हवा दी। यह ध्यान रखना चाहिए कि मुल्तान के नवाब को अंग्रेजों का संरक्षण प्राप्त था। इस आग को फैलाने में अन्य दीवानों ने भी सहयोग किया और खुद भी बगावत की। गवर्नर जनरल लार्ड डलहौजी ने अपनी गृह सरकार को लिखा "राजा शेर सिंह का ससैन्य विद्रोह, दरबार के सैनिकों का सहारा लेकर हुई सरदार छत्तर सिंह की बगावत से राज्य की सेना और सिख जनता संकट की स्थिति में फंस गयी है, मुझे इस स्थिति का ही इंतजार था, अब हम सिख राष्ट्र और पंजाब राज्य के किनारे खड़े होकर युद्ध नहीं कर रहे हैं, बल्कि सम्मुख आकर युद्ध कर रहे हैं"।

1849 में सिक्ख सेना बुरी तरह पराजित हुई और पंजाब को अंग्रेजी राज में मिला लिया गया। इस प्रकार ब्रिटिश सत्ता ने जिस राज्य की रक्षा का वचन दिया था, उसे ही निगल गये।

बोध प्रश्न 2

1) तनख्वाह पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।

....

....

....

....

....

2) किन तरीकों से ईस्ट इंडिया कम्पनी ने अवध पर राजनीतिक नियंत्रण कायम किया?

....

....

....

....

....

3) पंजाब के अंग्रेजी राज्य के विलय में सहायक प्रमुख तत्वों का उल्लेख कीजिए।

....

....

....

....

....

11.7 सारांश

इस इकाई में हमने उत्तर भारत की दो प्रमुख क्षेत्रीय शक्तियों अवध और पंजाब के अंग्रेजी राज्य में विलय के कारणों पर प्रकाश डाला और इस बात की चर्चा की कि क्यों ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कम्पनी ने इन्हें हड़प लिया हालांकि अवध के शासक ब्रिटिश दबाव के आगे आसानी से झुक गये, लेकिन 1856 में जब अवध राज्य का विलय किया गया, तो जनता शांत नहीं रह सकी और उनका आक्रोश 1857 के विद्रोह के रूप में व्यक्त हुआ। कम्पनी के हस्तक्षेप से पूरे प्रांत में एक प्रकार का उलट पुलट हो गया, और विलय से अवध के लोगों की भावना को एक धक्का लगा। अवध के भूमिपति, किसान और सिपाही कम्पनी के शासन के विरोधी हो गये।

11.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) देखिए उपभाग 11.3
2) घ
3) देखिए भाग 11.4

बोध प्रश्न 2

1) देखिए उपभाग 11.5.1
2) देखिए भाग 11.5 इसके अंतर्गत शक्ति, कूटनीति की भूमिका और वैधता के निर्माण पर प्रकाश डालना होगा।
3) देखिए उपभाग 11.6.2

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

इकाई 12 भारतीय सीमाओं के बाहर ब्रिटिश प्रसार

इकाई की रूपरेखा

12.0 उद्देश्य
12.1 प्रस्तावना
12.2 ईस्ट इंडिया कंपनी का व्यापार
- 12.2.1 भारत के साथ व्यापार
- 12.2.2 चीन के साथ व्यापार
- 12.2.3 प्रसार के सामान्य कारण

12.3 जलडमरूमध्य औपनिवेशिक बस्तियाँ
- 12.3.1 पैनंग
- 12.3.2 सुमात्रा
- 12.3.3 सिंगापुर
- 12.3.4 जलडमरूमध्य की औपनिवेशिक बस्तियाँ : सम्राट के उपनिवेश

12.4 बर्मा
- 12.4.1 प्रथम ऐंग्लो-बर्मा युद्ध
- 12.4.2 द्वितीय ऐंग्लो-बर्मा युद्ध

2.5 छोटे क्षेत्रों का उपनिवेशीकरण
- 12.5.1 बोरनियों और फिलीपिन्स
- 12.5.2 अंडमान तथा निकोबार प्रायद्वीप
- 12.5.3 श्रीलंका
- 12.5.4 मॉरीशस

12.6 नेपाल
12.7 अफगानिस्तान
12.8 सारांश
12.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

12.0 उद्देश्य

MAADHYAM IAS

इस इकाई का उद्देश्य आप लोगों को भारत की सीमाओं से बाहर अंग्रेजी प्रसार के विषय में बताना है। उसके अंतर्गत औपनिवेशीकरण के प्रयासों और इसकी एक व्याख्या—यह कैसे और क्यों हुआ—को शामिल किया गया है। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- भारत से बाहर अंग्रेजी व्यापार और प्रसार के सामान्य कारणों पर प्रकाश डाल सकेंगे;
- कैसे और कहां ईस्ट इंडिया कम्पनी ने अपने प्रभाव का प्रसार किया इसकी खोज के बारे में बता सकेंगे; और
- उन क्षेत्रों की जानकारी दे सकेंगे जिन पर उन्होंने प्रत्यक्ष अधिकार नहीं किया फिर भी उनपर अपना पर्याप्त प्रभाव कायम रख सके।

12.1 प्रस्तावना

इससे पहले की इकाइयों में आप साम्राज्यवाद की प्रकृति के बारे में पढ़ चुके हैं। आप यह भी पढ़ चुके है कि शेष भारत को जीतने में अंग्रेजों ने किस प्रकार से बंगाल के संसाधनों का उपयोग किया और कैसे ईस्ट इंडिया कम्पनी के मालिक धनी हो गये। इस इकाई से ऐसी आशा है कि आप इस तथ्य से भलीभाँति परिचित हो जाएंगे कि उपनिवेशवाद का अपनी विशेषता के अनुरूप सतत् प्रसार होता रहा और एक उपनिवेश की सम्पदा का उपयोग दूसरे उपनिवेश पर प्रसार एवं नियंत्रण को सुदृढ़ीकरण करने में किया गया। ईस्ट इंडिया कम्पनी ने भारत के संसाधनों का उपयोग दक्षिण एवं दक्षिण-पूर्वी एशिया की भूमि पर अपनी स्थिति के सुदृढ़ीकरण में किया। भारत को एक आधार के रूप में प्रयोग करते हुए, अंग्रेजों का नियंत्रण 1757-1857 के दौरान, दक्षिण में श्रीलंका, दक्षिण पश्चिम में मॉरीशस, उत्तर-पश्चिम में अफगानिस्तान, उत्तर में नेपाल, दक्षिण पूर्व में अण्डमान और निकोबार, मलाया और फिलीपिन्स पर नियंत्रण स्थापित हो गया। केवल एशिया की मुख्य भूमि चीन, स्याम, लाओस, कम्बोडिया और वियतनाम को अपेक्षाकृत अछूता छोड़ा गया। परंतु इन क्षेत्रों को भी जैसा कि चीन के केस में हुआ, 1842 के बाद अंग्रेजी प्रभाव ने पर्याप्त मात्रा में जकड़ लिया।

इस प्रसार की कहानी भारत एवं चीन में ईस्ट इंडिया कम्पनी की समृद्धि तथा आकांक्षाओं के साथ घनिष्ठ रूप से संबंधित है। इसलिए कम्पनी के इतिहास के कुछ सुसंगत भागों का संक्षिप्त विवरण करना उपयोगी हो सकता है।

12.2 ईस्ट इंडिया कंपनी का व्यापार

एक ही समय में भारत एवं चीन के साथ सक्रिय व्यापार बनाऐ रखना कम्पनी के लिए बड़ा उपयोगी रहा। भारतीय उत्पादों को चीन के बाजार में बेचे देते थे जिससे कम्पनी का लाभ और अधिक हो जाता। परंतु इससे उनको अन्य लाभ भी होते थे। इसलिए अब हम व्यापार की विस्तृत विवेचना करेंगे।

12.2.1 भारत के साथ व्यापार

आप पहले ही पढ़ चुके हैं कि प्लासी (1757) एवं बक्सर (1764) की लड़ाइयों के द्वारा किस प्रकार से ईस्ट इंडिया कम्पनी ने बंगाल पर नियंत्रण प्राप्त कर लिया और इस प्रकार से एशिया की मुख्य भूमि में प्रथम समृद्ध क्षेत्र अंग्रेजों के नियंत्रण में चला गया।

1770 के दशक तक बंगाल को आर्थिक रूप से निचोड़ा जा चुका था और इसकी अर्थव्यवस्था जर्जर हालत में हो गई। फलस्वरूप ईस्ट इंडिया कम्पनी के लाभ में कमी आयी और कम्पनी को व्यापक नुकसान होने लगा। इस प्रकार की हानि से दोहरी समस्याएं पैदा हुई क्योंकि न केवल इससे इंग्लैंड में रहने वाले कम्पनी के शेयर होल्डर्स के मुनाफे में कमी आयी बल्कि चीन के साथ भरपूर मुनाफे वाला व्यापार भी बरबाद होने लगा। चीनी, चाय, रेशम, रंगीन सूती वस्त्रों को यूरोप में ऊँचे मुनाफे से बेचा जाता था और इस व्याापर पर कम्पनी की इजारेदारी थी। परंतु इस समय चीनी लोग अपने सामान को चांदी के विनिमय के द्वारा ही बेचते थे और इस पर लगभग प्रतिवर्ष कई लाखों मूल्य की चांदी का खर्च आता था और 1767 से इस चाँदी का अधिकतर भाग बंगाल से प्राप्त होता था। इसलिए कम्पनी ने इस नुकसान की पूर्ति करने के लिए ब्रिटिश संसद से कर्ज की मांग की। इसके बदले में संसद ने कम्पनी पर यह दबाव डाला कि इसका प्रशासन चलाने में संसद की भी कुछ भूमिका होनी चाहिए और इसी कारण से 1772 के रेगूलेटिंग एक्ट को स्वीकार करने के लिए बाध्य किया। इसी समय ब्रिटेन में औद्योगिक क्रांति काफी तीव्रता को प्राप्त कर रही थी और औद्योगिक हितों वाले लोग पूरब से कम्पनी की व्यापारिक इजारेदारी को खत्म करने की मांग कर रहे थे। उन्होंने इसके लिए भी दबाव डाला कि कम से कम कम्पनी जिस बाजार का धोबन कर रही है, उसी में ही कुछ हिस्सेदारी दी जाए। भारत में कम्पनी उसी समय भूमि पर अधिकार करने के लिए भारतीय राज्यों के साथ खर्चीले युद्धों को लड़ रही थी और धीरे-धीरे इसका वित्तीय आधार व्यापार एवं वाणिज्य से भू-राजस्व की ओर बढ़ रहा था अर्थात् व्यापारिक व्यवसाय से हटकर सरकार के व्यवसाय करना चाहती थी।

12.2.2 चीन के साथ व्यापार

जिस समय कम्पनी स्वयं को भारत में स्थापित कर रही थी उसी समय चीन के साथ इसके व्यापार में वृद्धि हो रही थी। भारत की तरह ही चीन के व्यापार पर भी कम्पनी की इजारेदारी थी।

MAADHYAM IAS

चीन के साथ कम्पनी का प्रथम व्यापारिक संबंध 1701 में हुआ। आगामी पचास वर्षों में इसको रेशम, रंगीन सूती वस्त्रों, और चाय में मुनाफा होने लगा। परंतु कम्पनी के दृष्टिकोण से यहाँ पर निम्नलिखित ऐसी समस्या थी जिनका कम्पनी ने सामना किया :

- चीनी सरकार ने इसके व्यापार को कैन्टन के बंदरगाह तक सीमित करके इस पर कड़ा नियंत्रण लागू किया पर अधिकतर चीनी व्यापार चांदी के विनिमय के द्वारा होता था तथा उसमें भी चीनी सरकार के चांदी के डालर को ही प्राथमिकता प्रदान करती थी।

  1757 में बंगाल के कोष पर नियंत्रण स्थापित हो जाने से किसी सीमा तक इस समस्या का समाधान हो गया था। लेकिन 1769 के आते-आते बंगाल की समृद्धि काफी क्षीण हो चुकी थी। आगामी वर्षों में चीनी व्यापार की अदायगी के लिए निम्नलिखित कुछ प्रयत्नों के द्वारा कोशिश की गई —

- केन्द्रीय भारत के मालवा क्षेत्र में अफीम का उत्पादन करके चांदी को अलग करने का प्रयास किया गया, और
- दक्षिण-पूर्वी एशिया में प्राप्त होने वाले मसालों को चीन एवं यूरोप में उच्च दामों पर बेचा गया।

12.2.3 प्रसार के सामान्य कारण

अंग्रेजों का भारत से बाहर प्रसार करना सम्भवतः दो कारणों से प्रभावित हो सकता है :

- **बाजार एवं आपूर्ति :** भारत में उत्पादित सामान के लिए नए बाजारों की खोज की आवश्यकता, चीन के साथ होने वाले व्यापार में विनिमय करने के लिए आपूर्ति और जो भी लाभ प्राप्त हो उससे दक्षिण तथा दक्षिण-पूर्वी एशिया में ब्रिटिश सेना को हथियारों से लैस करना तथा भोजन सामग्री की व्यवस्था करना।
- **लक्ष्य :** भारतीय साम्राज्य और चीन तथा भारत के साथ व्यापारिक मार्गों की सुरक्षा करने की आवश्यकता। इसके साथ-साथ दो सूक्ष्म कारणों को भी जोड़ा जा सकता है — प्रथम, ब्रिटिश विदेश नीति की यूरोप में बाध्यताएं और दूसरे, भारत में नौकरशाही के हित एवं नीतियाँ। यद्यपि इन कारणों का सापेक्ष महत्व एक स्थिति से दूसरी स्थिति में भिन्न था और जैसा कि इस इकाई में आगामी विवेचन से स्पष्ट भी होगा।

बोध प्रश्न 1

1) ईस्ट इंडिया कम्पनी को भारत की सीमाओं से बाहर अपना प्रसार करने की क्यों आवश्यकता हुई? पचास शब्दों में अपना उत्तर दें।

....

....

....

....

....

2) चीन के व्यापार में बंगाल का क्यों महत्व था? पचास शब्दों में अपना उत्तर दें।

....

....

....

....

....

12.3 जलडमरूमध्य औपनिवेशिक बस्तियाँ

भारत से बाहर प्रथम अंग्रेजी औपनिवेशिक बस्तियाँ मलक्का के जलडमरूमध्य में थीं। उन्नसवीं सदी में इनको जलडमरूमध्य औपनिवेशिक बस्तियों के नाम से जाना जाता था।

12.3.1 पैनंग

मलक्का के जलडमरूमध्य के पैनंग प्रायद्वीप पर अंग्रेजों का प्रथम जहाज एडवर्ड बोनवेन्यर 1592 में पहुँचा। 1600 ई. के आते-आते मलाय के टापुओं में ईस्ट इंडिया कम्पनी ने किलेबन्दी की और बारह बस्तियों को स्थापित किया। 1625 के आसपास यह महसूस किया जाने लगा कि मलाय के मसालों से कम्पनी को कोई विशेष लाभ नहीं होता और तब अपनी व्यापारिक गतिविधियों को भारत पर केन्द्रित करने का निर्णय किया गया। यद्यपि अंग्रेज व्यापारियों ने व्यक्तिगत स्तर पर इन उपनिवेशों के साथ निरंतर व्यापारिक संबंध बनाए रखे और अधिकतर टिन, हाथी दांत की चीजें तथा काली मिर्च का जलडमरूमध्य के उपनिवेशों से तथा सूती कपड़ों का भारत से व्यापार किया।

चीन के साथ कम्पनी के व्यापार में प्रसार हो जाने से पूर्वी समुद्र में एक ऐसे सुरक्षित बन्दरगाह की आवश्यकता महसूस की जानी लगी जहाँ पर चीन की यात्रा पर जाते समय एवं आते समय कम्पनी के सौदागर रूक सकें। 1782 में पूरब की ओर प्रसार करने पर उस वक्त गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाने लगा जबकि फ्रांसीसी एडमिरल डी सफरिन ने उत्तरी सुमात्रा में आखेहेज बन्दरगाह का प्रयोग करते हुए बंगाल की खाड़ी से अंग्रेजों की सभी प्रकार की व्यापारिक गतिविधियों को बाहर कर दिया। जहाँ पर कम्पनी के जहाजों की मरम्मत की जा सकती थी वह केवल भारत के पश्चिमी तट पर बम्बई का बन्दरगाह था।

इसी कारण ईस्ट इंडिया कम्पनी की ओर से कार्य करते हुए 1784 में फ्रासिया लाइट ने पैनंग प्रायद्वीप में अंग्रेजी बस्ती बनाने की आज्ञा प्राप्त करने के लिये कैदाह के सुल्तान के साथ एक समझौते पर हस्ताक्षर किए। इसके बदले में कम्पनी ने राजा की सैनिक सहायता करने का वायदा किया यदि उसके पड़ोसी उस पर आक्रमण करते हैं।

परन्तु मद्रास की सरकार ने इस समझौते का अनुमोदन कर देने से इंकार इस भय के कारण कर दिया कि पर्याप्त लाभ के बिना ही कम्पनी अनावश्यक युद्धों में सम्मिलित हो जाएगी। इस पर कैदाह के सुल्तान ने ताकत के बल पर पैनंग को वापस लेने का प्रयत्न किया। उसकी सेनाओं को फ्रासिया लाइट की सेनाओं ने पराजित कर दिया। 1791 में एक संधि पर हस्ताक्षर किए गये जिसके अनुसार पैनंग को अंग्रेजों को दे दिया गया तथा इसके बदले में कम्पनी को 6000 पौंड प्रति वर्ष सुल्तान को देने थे। 1800 ई. तक इस राशि की सीमा 10,000 पौंड कर दी गई और इसके बदले में कम्पनी को पैनंग के सम्मुख मलाय की मुख्य भूमि में एक पट्टा दे दिया गया। इस प्रकार से बंगाल की खाड़ी के पूर्वी किनारे पर नौ सेना का अड्डा स्थापित करने में अंग्रेजों ने सफलता प्राप्त कर ली। इससे लाभ यह हुआ कि विश्व की 60% काली मिर्च पैदा करने वाले सुमात्रा की काली मिर्च का व्यापार पैनंग के माध्यम से होने लगा।

मद्रास एवं बम्बई की भाँति पैनंग को भी 1805 में गवर्नर द्वारा शासित प्रेसीडैंसी बना दिया गया। पैनंग में स्थापित बस्तियों को बनाए रखने का खर्च बंगाल ने वहन किया और यहाँ पर कार्यरत 50 से अधिक ब्रिटिश अधिकारियों का

MAADHYAMIAS

वेतन 42,000 पौंड प्रति वर्ष बंगाल के कोष से दिया जाता था। इन वर्षों में पैनंग के घाटे को पूरा करने के लिए 80,000 पौंड प्रति वर्ष बंगाल के द्वारा अदा किया गया।

12.3.2 सुमात्रा

इसी बीच 1783 में अंग्रेजों ने सुमात्रा में रिओ स्थित बुगी शासकों से भी सम्पर्क स्थापित कर लिया। बंगाल की कम्पनी सरकार ने सोचा कि यदि रिओ के साथ समझौता कर लिया जाए तब चीन को जाने वाला व्यापार मार्ग सुरक्षित हो जाएगा और रिओ द्वीप समूहों के व्यापार का आंतरिक बंदरगाह बन जाएगा। परंतु 1784 में डचों ने बुगियों पर आक्रमण कर दिया जिससे ईस्ट इंडिया कम्पनी को इस पर अपना विचार स्थगित करना पड़ा।

इसी समय पर यूरोप में घटित होने वाली घटनाओं ने भी हस्तक्षेप किया। 1787 में इंग्लैंड तथा प्रशा के संयुक्त हस्तक्षेप के कारण हालैण्ड की सरकार का तख्ता उलट दिया गया। इंग्लैण्ड ने नई सरकार से कहा कि वह श्रीलंका में ट्रिंकामाली तथा रिओं पर इंग्लैण्ड के नियंत्रण की स्वीकृति प्रदान करे और इसके बदले में ईस्ट इंडिया कम्पनी हालैण्ड को भारत में वाणिज्य की कुछ सुविधाएँ प्रदान करेगी तथा वह सुमात्रा के पूरब में भी अंग्रेजी नौ सेना के कार्यवाहियों को भी बन्द कर देगी। परंतु डचों ने इसे मानने से इंकार कर दिया।

इसी बीच फ्रांसीसी क्रांति घटित हो गई और फ्रांसीसी सेना ने 1794 में हालैण्ड पर अधिकार कर लिया। हालैण्ड की नई सरकार का इंग्लैण्ड के प्रति शत्रुतापूर्ण रवैया था। इंग्लैण्ड ने इसका बदला भारत में डच अधिकृत क्षेत्रों, श्रीलंका, सुमात्रा के पश्चिम तट, मोलूक्का, सुलावेशी में मेनदो, मलाक्का और रिओ को विजयी करके लिया।

डचों द्वारा अधिकृत जावा के विरुद्ध कोई कार्यवाही नहीं की गई क्योंकि 1790 के दशक उत्तरार्द्ध में भारत का गवर्नर-जनरल वैलेजली था तथा उसने कम्पनी को भारत के अंदर ही खर्चीले युद्धों में संलग्न रखा और पश्चिम में मिस्र की ओर से फ्रांसीसियों ने भारत के लिए खतरा उत्पन्न कर दिया। जिस समय डचों ने यूरोप में नैपोलियन के साथ गठबंधन कर लिया उसी समय कम्पनी के बोर्ड ऑफ कंट्रोल ने अगस्त 1810 में गवर्नर-जनरल मिण्टो को आदेश दिया कि वह जावा से डचों को निष्कासित कर दे जिससे कि फ्रांस को दक्षिण-पूर्वी एशिया में दूसरा सैनिक अड्डा बनाने से रोका जा सके। भारत से सौ से अधिक जहाजों एवं 12000 सैनिकों का उपयोग जावा पर अंग्रेजी अधिकार स्थापित करने के लिए किया गया।

1813 के बाद यूरोप में इंग्लैण्ड के डचों के साथ शांति एवं मित्रतापूर्ण संबंध स्थापित हो जाने पर, दक्षिण-पूर्वी एशिया को विजयी करने के लिए पुनः आदेश दिए गए। सुरक्षा उद्देश्यों के कारण अंग्रेजों ने श्रीलंका एवं पैनंग पर अपने अधिकार को बनाए रखा। परंतु अब द्वीप समूहों में मसालों के उत्पाद की महत्वपूर्ण दो वस्तुओं लौंग एवं जायफल का उत्पादन मोलूक्का से बाहर भी होने लगा। मालवा के क्षेत्र में अफीम के उत्पादन ने चीनी व्यापार में अन्य वस्तुओं का स्थान तेजी से लेना प्रारम्भ कर दिया। इसी कारण से जलडमरूमध्य के उपनिवेशों को फिर से डचों को वापस कर दिया गया।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

12.3.3 सिंगापुर

जावा पर अंग्रेजों के समय में जावा के लेफिट्नेंट गवर्नर स्टामफोर्ड टेफल्स ने अपना भय व्यक्त करते हुए कहा कि अगर सम्पूर्ण दक्षिण-पूर्वी एशिया को डचों के लिए छोड़ दिया गया तब वे सम्पूर्ण ब्रिटिश व्यापार को इस क्षेत्र से निष्कासित कर सकते हैं। उस समय के भारत के गवर्नर-जनरल लार्ड हेस्टिंग्स इससे सहमत था और उसने रेफल्स को आदेश भी दिया कि वह मलाया के द्वीप समूहों में एक उचित समझौता करने का प्रयास करे। जोहोर साम्राज्य की आंतरिक जटिल राजनीति में हस्तक्षेप करते हुए रेफल्स एवं सिंगापुर प्रायद्वीप में अंग्रेज़ी फैक्ट्रियों को खोलने की फरवरी 1891 में सुल्तान से आज्ञा प्राप्त कर ली।

डचों ने सिंगापुर में अंग्रेजों की इस घुसपैठ का कड़ा विरोध किया और युद्ध की चेतावनी दी। कम्पनी के निदेशकों ने भी इस पर विचार किया और इसकी किलेबन्दी करने में रेफल्स को दोषी माना, लेकिन रेफल्स का समर्थन करने के लिए हेस्टिंग्स से कारण जानने की प्रतीक्षा की। परंतु इसका उत्तर तब स्पष्ट हो गया जब कम्पनी ने इस समझौते द्वारा प्रथम वर्ष में ही 3000,000 पौंड प्राप्त किए और 1825 तक प्रायद्वीपों के साथ होने वाले व्यापार में इसकी हिस्सेदारी दो-तिहाई हो गई। 1824 के आस-पास ब्रिटिश सरकार ने डचों पर दबाव डाला कि वे जोहोर के सुल्तान को (जो उस समय डचों के अधीन था) ब्रिटेन को सम्पूर्ण प्रायद्वीप देने के लिए कहें।

12.3.4 जलडमरूमध्य की औपनिवेशिक बस्तियाँ : सम्राट के उपनिवेश

अन्त में, 1867 में तीन बड़े प्रायद्वीप बंदरगाहों, जिनमें पैनंग, कलक्का, एवं सिंगापुर थे, को भारतीय प्रशासन से अलग कर दिया गया और प्रत्यक्ष रूप से ब्रिटिश सम्राट के अधीन कर दिया गया। उस समय जलडमरूमध्य में ब्रिटेन का प्रसार सुरक्षा उद्देश्यों एवं व्यापारिक कारणों से प्रभावित था। प्रसार के लिए भारत ने आदमियों एवं धन को उपलब्ध कराया। पैनंग के मामलें भारत ने व्यर्थ प्रशासन के लिए आर्थिक खर्च वहन किया परन्तु इससे प्राप्त होने वाला मुनाफा कम्पनी ने प्राप्त किया जैसे कि सिंगापुर उपनिवेशों से प्राप्त होने वाले मुनाफे को भारत नहीं लाया गया अपितु उसको इंग्लैण्ड ही ले जाया गया।

12.4 बर्मा

बर्मा के मामले में भी वाणिज्यिकी एवं सुरक्षा उद्देश्य एक दूसरे से आंतरिक रूप से जुड़े हुए थे। बर्मा टीन, काली मिर्च और हाथी दाँत की वस्तुओं जैसी कुछ महंगी चीजों का निर्यात करता था। इससे भी अधिक महत्वपूर्ण यह था कि बर्मा में इमारती लकड़ी की बहुतायत थी और कलकत्ता में स्थापित उद्योगों की मरम्मत तथा जहाज निर्माण के लिए लकड़ी की सप्लाई भी बर्मा से ही होती थी। 18वीं शताब्दी के अंत तक इरावदी नदी का मुहावना दक्षिण-पूर्वी एशिया तथा बंगाल बस्तियों को चावल की पूर्ति कराने वाला महत्वपूर्ण केन्द्र हो गया।

सर्वप्रथम 1753 में ईस्ट इंडिया कम्पनी ने निचले बर्मा के समुद्र तट पर नेगरायस में बस्तियों को स्थापित करने का प्रयास किया। 1758-59 में बर्मा के राजा आलोंगपाय ने कुछ सत्यता के साथ अंग्रेजों के द्वारा बर्मा के विद्रोहियों की सहायता करने का आरोप लगाया और 1759 में नेगरायस में जितने भी अंग्रेज थे उन सबकी हत्या कर दी गई। कम्पनी के निदेशकों ने अपनी ओर से इस घटना पर कोई प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं की क्योंकि उन्होंने निर्णय किया कि नेगरायस इस सबका मूल्य चुकता करने में सक्षम न था। इस घटना के उपरान्त आगामी 20 वर्षों तक कम्पनी ने स्वयं को बर्मा से दूर ही रखा। बर्मा एवं अंग्रेजों के बीच इस दौरान बहुत ही कम सम्पर्क कायम रहा। बर्मा अपने एशियाई पड़ोसियों के प्रति निरंतर आक्रामक बना रहा। 1823-24 में, बर्मा की सेना विद्रोहियों का पीछा करती हुई असम तथा मणिपुर में प्रवेश कर गई तथा इन दोनों को अपने अधिकार में ले लिया और उन्होंने चिटगाँव पर आक्रमण करने की तैयारी की। परंतु असम, मणिपुर एवं चिटगाँव के इन क्षेत्रों पर अंग्रेजों ने अपना दावा प्रस्तुत किया। इसके फलस्वरूप ब्रिटिश सेना ने बर्मा की सेना पर आक्रमण किया और इसको प्रथम ऐंग्लो-बर्मा युद्ध (1824-26) के नाम से जाना जाता है।

12.4.1 प्रथम ऐंग्लो-बर्मा युद्ध

1824 में अंग्रेजों ने बर्मा पर आक्रमण किया, परंतु बंगाल सेना की तीन बटालियनों ने उस समय विद्रोह कर दिया जिस समय उनको बर्मा के अराकन क्षेत्र के पड़ोस में चिटगाँव पर आक्रमण करने को कहा गया। मुख्य आक्रमण समुद्र से किया गया। बर्मा की सेनाएं आसानी से पराजित हो गई। राजा ने उस शांति संधि को स्वीकार कर लिया (24 फरवरी, 1926 की येनदाबो की संधि) जिसके अनुसार असम, मणिपुर, अराकन, तावाय और मेरगुई को अंग्रेजों के अधिकार में दे दिया गया। इस प्रकार राजा ने अपने अधिकतर समुद्र तट को खो दिया तथा उसके पास ऊपरी एवं केन्द्रीय बर्मा, पेगू और इरावदी के मुहाने वाले क्षेत्र शेष रहे। उसको अपनी राजधानी में एक अंग्रेज रेजीडेंट (प्रतिनिधि) को रखने के लिए बाध्य होना पड़ा तथा 1000,000 पौंड का हर्जाना अदा करना पड़ा।

इस युद्ध में अंग्रेज भारतीय सेना के 40,000 लोगों ने भाग लिया जिसमें से 15,000 लोग मारे गये। युद्ध का खर्च इतना अधिक था कि बर्मा युद्ध के दौरान अर्थात् 1824 से 1828 तक भारतीय बजट का घाटा 7,000,000 पौंड पहुंच गया।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

12.4.2 द्वितीय ऐंग्लो-बर्मा युद्ध

बर्मा राजधानी स्थित ब्रिटिश रेजीडेंट ने दावा किया कि बर्मा की सरकार उसके साथ सम्मानजनक व्यवहार नहीं करती तथा 1839 में उसने बर्मा को छोड़ दिया। इसी बीच चीन के साथ व्यापार का प्रसार हुआ, दक्षिण-पूर्वी एशिया में ब्रिटिश उपनिवेशों में भी काफी वृद्धि हुई और इसी कारणवश अंग्रेजी जहाजों की मरम्मत के लिए सरलता से उपलब्ध बर्मा की इमारती लकड़ी तथा अन्य उपनिवेशों में इरावदी नदी के मुहाने पर उत्पादित होने वाले चावल की आपूर्ति करने की भी आवश्यकता हुई। 1852 में भारत के गवर्नर जनरल डलहौजी ने अंग्रेजों के सम्मान की पुनर्स्थापना का बहाना लेकर बर्मा पर आक्रमण कर दिया। द्वितीय ऐंग्लो-बर्मा युद्ध 1852 में प्रारम्भ हुआ तथा अंग्रेजों ने 1853 तक पेगू और टोंगू के क्षेत्रों पर अधिकार कर लिया। बर्मा के राजा मिंदन मिन को अपनी राजधानी माण्डले में ले जाने के लिए बाध्य किया गया। इस प्रकार अंग्रेजों का बंगाल की खाड़ी के संपूर्ण तट पर अधिकार हो गया। इस सदी के अन्त में, 1885 में, यह बहाना करके सम्पूर्ण बर्मा को अपने अधीन कर लिया कि राजा मिदन मिन एक दुराचारी राजा था तथा वियतनात स्थित फ्रांसीसियों के साथ मिलकर एशिया में अंग्रेजों को कमजोर करने के लिए कार्य कर रहा था इस प्रकार बर्मा को भी ब्रिटिश भारत का एक प्रदेश बना दिया गया।

बोध प्रश्न 2

1) ऐंग्लो-बर्मा युद्धों पर पाँच पक्तियाँ लिखिए।

....

....

....

....

....

6 एक भारतीय सिपाही

2) निम्नलिखित वाक्यों को पढ़िए तथा उन पर सही (√) या गलत (×) के चिन्ह लगाइए।

i) 1791 की संधि के द्वारा अंग्रेजों ने कैदाह के सुल्तान को 6000 पौंड प्रति वर्ष अदा किए।

ii) चीन के साथ अपने व्यापार मार्ग को सुरक्षित करने के लिए अंग्रेज सुमात्रा के साथ एक समझौता करना चाहते थे।

iii) डचों को एक सबक सिखाने के लिए अंग्रेज जलडमरूमध्य में बस्तियों को स्थापित करना चाहते थे।

12.5 छोटे क्षेत्रों का उपनिवेशीकरण

लघु बस्तियाँ या सापेक्ष रूप से छोटे उपनिवेश सुरक्षा के उद्देश्यों से कम महत्वपूर्ण थे और उनमें पड़ोसी बोरनियो और फिलीपीन्स, अण्डमान निकोबार प्रायद्वीप, श्रीलंका तथा मॉरीशस के क्षेत्र सम्मिलित थे। इन बस्तियों ने अन्य औपनिवेशिक शक्तियों जैसे कि हालैण्ड, स्पेन, फ्रांस और डेनमार्क का ध्यान भी आकर्षित किया। परन्तु हम केवल ब्रिटिश प्रयासों की ही चर्चा करेंगे।

12.5.1 बोरनियों एवं फिलीपीन्स

1701 में अंग्रेजी ईस्ट इंडिया कम्पनी ने बोरनियों के दक्षिण तट पर मुख्य रूप से काली मिर्च के व्यापार के लिए बन्जेरमेशिन में एक किलेबन्द फैक्ट्री की स्थापना की। लेकिन स्थानीय मामलों में हस्तक्षेप करने के कारण वे शीघ्र ही अलोकप्रिय हो गये और 1707 में उनको निष्कासित कर दिया गया। 1756 में उस समय तक अंग्रेजी जहाजों का इसके साथ अनियमित सम्पर्क बना रहा जब तक कि डचों ने काली मिर्च के व्यापार पर अपनी इजारेदारी स्थापित करने में सफलता प्राप्त न कर ली।

इसके बाद बोरनियों में बसने का दूसरा प्रयास 1762 में उस समय किया गया जबकि यूरोप में सात वर्षों का युद्ध चल रहा था। 1762 में जिस समय स्पेन ने इंग्लैंड के ऊपर युद्ध की घोषणा की, उसी समय बंगाल से एक जहाजी बेड़ा स्पेन के उपनिवेश फिलीपीन्स को भेजा गया। इसने अक्तूबर 1762 में मनीला पर अधिकार कर लिया। मनीला में अंग्रेजों ने सुल्तान सुलू को स्वतंत्र करा दिया जिसको स्पेनियों ने कैद कर रखा था। सुल्तान ने उपहार स्वरूप प्रायद्वीप बालमबांगन अंग्रेजों को दे दिया। यह प्रायद्वीप बोरनियों से उत्तर की ओर था। स्पेन ने 1764 में पेरिस की संधि (1763 में लागू) के द्वारा मनीला को पुनः प्राप्त कर लिया। यह संधि सात वर्षीय युद्ध के समापन पर इस शर्त के साथ की गयी थी कि शाही फिलीपीन्स कम्पनी भारतीय सूती वस्त्रों को केवल अंग्रेजी सौदागरों से ही खरीदेगी।

बालम बांगन में निर्मित किले पर 1775 में स्थानीय लोगों के द्वारा हमला करके उसको नष्ट कर दिया गया। इसी के साथ कम्पनी ने यह निश्चय किया कि बोरनियों एवं फिलीपीन्स इस योग्य न थे कि वहाँ पर पुनः बसने के लिए गंभीर प्रयास किये जाते। इसके बाद से इसका अधिकतर व्यापार केवल जलडमरूमध्य उपनिवेशों तक ही सीमित रह गया।

MAADHYAM IAS
way to achieve your dream

12.5.2 अंडमान तथा निकोबार प्रायद्वीप

हिन्द महासागर में ईस्ट इंडिया कम्पनी के अन्य लघु उपनिवेशों में अंडमान एवं निकोबार प्रायद्वीप, श्रीलंका और मॉरीशस सम्मिलित थे। अंडमान व निकोबार प्रायद्वीप तथा श्रीलंका का अपना महत्व इस में निहित था कि ये दोनों चीन को जाने वाले व्यापारिक मार्गों पर सुरक्षात्मक रूप से महत्वपूर्ण थे। 1789 में अंग्रेजों ने चीन के मार्ग पर जाने वाले जहाजों की मरम्मत के लिए अंडमान तथा निकोबार प्रायद्वीप में पोर्ट ब्लेयर में बन्दरगाह की स्थापना की। परंतु जब कंपनी को पैनंग एवं ट्रिन्कोमाली प्राप्त हो गए, तब इसने 1796 में पोर्ट ब्लेयर को दण्डात्मक उपनिवेश के रूप में दोबारा स्थापित किया। 1756 में डेनमार्क ने निकोबार पर अधिकार कर लिया और यहाँ पर नारियल, सुपारी का व्यापार करने तथा आरामगृह की स्थापना की। कम्पनी ने 1809 में डेनमार्क के आधिपत्य को उस समय समाप्त कर दिया जबकि उसने भारत में स्थापित अन्य डेन फैक्ट्रियों को प्राप्त कर लिया।

12.5.3 श्रीलंका

डच ईस्ट इंडिया कम्पनी ने प्रारम्भ में 17वीं शताब्दी में कोलम्बो को पूरब में डचों की शक्ति का केन्द्र बनाने की योजना बनायी। परन्तु 18वीं सदी में डचों ने स्वयं को जावा एवं श्रीलंका में स्थापित कर लिया तथा स्थानीय स्तर पर महत्वपूर्ण हो गये। तभी अंग्रेजों ने भी निश्चय किया कि उनको भी श्रीलंका पर अधिकार करना चाहिए।

श्रीलंका के बन्दरगाह ट्रिन्कोमाली को हिंद महासागर के लंगर डालने वाले जहाजों के स्थल के रूप में 18वीं सदी में विकसित किया गया। इस पर बंगाल से चावल लाने वाले, मालद्वीप से कौड़ियां, मालाबार से सुपारी, मसाले, इलायची और काली मिर्च जिस पर डचों की इजारेदारी थी, वाले जहाज लंगर डालते थे।

1790 के युद्धों के समय डच सरकार फ्रांसीसी गठबंधन में थी जिससे अंग्रेजों ने डचों को श्रीलंका छोड़ने के लिए बाध्य किया। फरवरी 1796 में, श्रीलंका डचों के हाथ से निकलकर अंग्रेजों के हाथों में आ गया और 1798 में

श्रीलंका को ताज उपनिवेश घोषित कर दिया गया अर्थात् जिसका तात्पर्य यह था कि एक ऐसा उपनिवेश जिसका प्रशासन प्रत्यक्ष रूप से ब्रिटिश सरकार के द्वारा चलाया जाएगा न कि भारत स्थित ईस्ट इंडिया कंपनी के द्वारा।

12.5.4 मॉरीशस

श्रीलंका की ही भाँति मॉरीशस आर्थिक रूप में कम महत्ववाला उपनिवेश था और यह भारत से दक्षिण-पश्चिम की ओर हिंद महासागर में स्थित था। 1721 में फ्रांसीसी ईस्ट इंडिया कम्पनी ने इस पर अधिकार कर लिया और इसका नाम इले-दी-फ्रांस रख दिया। इसको अंग्रेजी ईस्ट इंडिया कम्पनी के जहाजों पर आक्रमण करने के लिए विकसित किया गया। द्वितीय तथा तृतीय ऐंग्लो-फ्रेंच युद्धों के समय फ्रांसीसी जहाज मद्रास तथा कोरीमण्डल तटों पर ब्रिटेन के जहाजों पर आक्रमण करने के लिए इस बन्दरगाह पर आए थे।

1810 में भारत के गवर्नर-जनरल मिण्टो ने मॉरीशस से फ्रांसीसियों को निकालने के लिए एक अभियान को संगठित किया। इले-दी-फ्रांस पर अधिकार करने के बाद इसका पुनः डच नाम मॉरीशस रख दिया गया और पड़ोस के स्थल इले-दी-बोबों का नाम रियूनियन कर दिया गया। फिर भी कम्पनी ने इस प्रायद्वीप के प्रशासन को अपने हाथों में नहीं लिया और इसको ब्रिटिश सरकार को सौंप दिया गया तथा यह ताज उपनिवेश बन गया।

12.6 नेपाल

दक्षिण एशिया में इस काल में अंग्रेजों का मुख्य भूमि पर भारत से बाहर होने वाला प्रसार केवल नेपाल एवं अफगानिस्तान तक ही सीमित था।

ईस्ट इंडिया कंपनी का नेपाल में प्रथम हस्तक्षेप 1767 में उस समय हुआ जब कि कम्पनी की कौंसिल ने कलकत्ता में पटना नेपाल घाटी पर आक्रमण करने का आदेश दिया। घाटी में पहले से ही कुछ अव्यवस्था फैली थी। गोरखा सरदार राजा पृथ्वी नारायण शाह ने नेपाल का राजा बनने की इच्छा से नेपाल पर आक्रमण किया। इससे पटना और नेपाल के बीच होने वाले व्यापार में विघ्न पड़ा और इसलिए कम्पनी ने पटना स्थित कैप्टन किनलोक को पृथ्वी नारायण शाह पर आक्रमण करने का आदेश दिया। परन्तु गोरखों ने आक्रमण को रोक दिया।

आगामी वर्षों में गोरखों ने नेपाल के मल्ल शासकों को पराजित कर दिया और पृथ्वी नारायण शाह नेपाल का राजा हो गया। उसके उत्तराधिकारियों 1792 में पटना में ईस्ट इंडिया कम्पनी के प्रतिनिधि के साथ एक सुदृढ़ व्यापारिक संधि पर हस्ताक्षर किए।

शताब्दी के अंत तक अंग्रेजों को दक्षिण एशिया की एक निर्णायक शक्ति के रूप में माना जाने लगा। गवर्नर-जनरल वेलेजली ने भारत में कम्पनी का क्षेत्रीय प्रसार एवं सुदृढ़ीकरण करने के लिए सहायक संधियों की व्यवस्थाओं का प्रचलन किया। इसी समय 1801 में अंग्रेजों ने नेपाल के साथ संधि करने का प्रयास किया (संधि पर अक्तूबर 1801 में हस्ताक्षर हुए) और इस संधि के अनुसार नेपाल सरकार ने ब्रिटिश रेजीडेन्ट को काठमाँडू में रखने की सहमति प्रदान कर दी। रेजीडेन्ट के पास पहले से ही ये आदेश थे कि वह नेपाल अर्थव्यवस्था का अध्ययन करे तथा विशेषकर तिब्बत से सोने की आपूर्ति एवं नेपाल के जंगलों से प्राप्त होने वाली समृद्ध इमारती लकड़ी एवं देवदार का पता लगाए। परंतु नेपाल के साथ शत्रुता के कारण अंग्रेज रेजीडेन्ट को मार्च 1803 में भारत वापस बुला लिया गया। भारत के साथ लगी 1,100 किलोमीटर लम्बी सीमा पर कुछ गाँवों पर अधिकार को लेकर दोनों के बीच बहुत सी समस्याएं पैदा होती रहीं।

गवर्नर-जनरल हेस्टिंग्स के समय में अक्तूबर 1814 में नेपाल एवं अंगरेजों के बीच युद्ध हुआ। कम्पनी की सेना का नेतृत्व मार्ले, ओश्तेर लोनी, वूड एवं कर्नल निकोल्स के द्वारा नेपाली सेना पर एक कड़ा हमला इस आशा के साथ किया गया कि वे सम्पूर्ण सीमा पर उनका सामना करेगी। परंतु उन्होंने पहाड़ के लोगों के संघर्ष करने की क्षमता को कम करके आंका था। नेपाल को पराजित करने में एक वर्ष से अधिक का समय लग गया तथा सगौल की संधि (दिसंबर 1815) के द्वारा नेपाल सतलुज की पहाड़ियों, गढ़वाल और कुमायूँ के क्षेत्रों को अंग्रेजों को सौंपने के लिए सहमत हो गया तथा पुनः एक अंग्रेज को रेजीडेन्ट के रूप में रखने के लिए भी तैयार हो गया।

तराई के समृद्ध क्षेत्रों को प्राप्त करने के बाद अंग्रेजों ने यह निश्चय किया कि नेपाल की अधिक भूमि को प्राप्त करने से अब कोई विशेष आर्थिक उद्देश्यों की पूर्ति नहीं होगी। इसलिए वे नेपाल के मामलों में कम रुचि लेने लगे।

12.7 अफगानिस्तान

1830 के आस-पास कम्पनी के अधिकारियों ने यह निष्कर्ष निकाला कि अफगानिस्तान पर सीधा नियंत्रण स्थापित करने के स्थान पर उसका नेपोलियन के फ्रांस तथा रूस के जार से भारत की सुरक्षा के लिए एक मध्यवर्ती राज्य के (buffer) रूप में उपयोग किया जाए। 1836 में अफगानिस्तान के तत्कालीन शासक दोस्त मोहम्मद ने अंग्रेजों के साथ मित्रता करने की पेशकश की और इसके बदले में उसने यह आशा की कि जिस पेशावर घाटी को पंजाब के शासक रणजीत सिंह ने अफगानिस्तान से ले लिया था उसे पुनः अफगानिस्तान को वापस कर दिया जाएगा। परंतु गवर्नर-जनरल ऑकलैंड

ने रणजीत सिंह द्वारा अधिकृत क्षेत्र को देने से इंकार कर दिया तथा अफगानिस्तान के रूस, फ्रांस या टर्की के साथ गठबंधन का विरोध किया। दोस्त मोहम्मद ने रूस के साथ मित्रता करने की उत्सुकता दिखायी।

इस स्थिति में ऑकलैंड ने दोस्त मोहम्मद को बल प्रयोग करके सत्ता से हटाने की योजना बनायी। कम्पनी के कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स ने इस योजना पर अपनी सहमति दे दी। इस योजना को कार्यान्वित करने के लिए 26 जून 1838 को त्रिपक्षीय संधि अफगानिस्तान के पुराने शासक शाह शुजा, रणजीत सिंह तथा अंग्रेजों के बीच सम्पन्न हुई। इस संधि के अनुसार अंग्रेजों, रणजीत सिंह तथा शाह शुजा तीनों की संयुक्त सेना काबुल पर आक्रमण करने के लिए दोस्त मोहम्मद को हटाकर शाह शुजा को गद्दी पर बैठाने के लिए एकत्रित हुई।

"सिंधु की सेना" के नाम से पुकारे जाने वाली इस सेना ने अप्रैल 1839 में कंधार पर अधिकार कर लिया, तथा गजनी पर जुलाई में। इन पराजयों से दोस्त मोहम्मद इतना निराश हुआ कि उसने सिंहासन का परित्याग कर दिया और वह काबुल के उत्तर-पश्चिम में स्थित एक नगर बेमिया को भाग गया। शाह शुजा को अफगानिस्तान का शासक बना दिया गया। ब्रिटिश सेनाओं ने भारत वापस लौटने के स्थान पर काबुल, कन्धार, जलालाबाद तथा गजनी में छावनियां बना लीं। इसी बीच दोस्त मोहम्मद को सितम्बर 1840 में खोलूम के वली से सैनिक सहायता प्राप्त हो गई। उसने दिसम्बर में अंग्रेजी सेना पर आक्रमण किया परंतु वह असफल रहा। उसको आत्मसमर्पण करने के लिए बाध्य किया गया। तथा नवम्बर में उसने आत्मसमर्पण कर दिया और उसको गिरफ्तार कर कलकत्ता भेज दिया गया।

1841 के बसन्त में अंग्रेजों के विरुद्ध लोकप्रिय असन्तोष शुरू हुआ। सितम्बर 1841 में कई जगहों पर जन विद्रोह फूट पड़े। काबुल में अनेक अंग्रेजों की हत्या कर दी गई और उनकी सैनिक छावनियों पर कब्जा कर लिया गया। इसी प्रकार की घटना गजनी कंधार तथा जलालाबाद में हुई और कोहिस्तान की संपूर्ण गोरखा सेना को मार डाला गया। अंततः दिसम्बर 1841 में अंग्रेजों ने तीन दिन के अंदर अफगानिस्तान को खाली करने की अपमानजनक शर्त को स्वीकार किया। वापस लौटती सेनाओं पर भी बर्फीली दर्रों पर हमला किया गया और काफी बड़ी संख्या में अंग्रेजी सेना को मार डाला गया।

मई 1842 में अंग्रेज सेना पुनः संगठित हो गई और उसने कंधार तथा जलालाबाद को अपने अधीन कर लिया। भारत से सेना के पहुँचने पर सितम्बर 1842 में काबुल पर भी अधिकार कर लिया गया। इस विजय की अंग्रेजी सेना को बहुत भारी कीमत चुकानी पड़ी। काफी मात्रा में आदमियों तथा धन की कुर्बानी से अफगान युद्ध ने यह सिद्ध कर दिया कि ब्रिटिश भारतीय सेना अजेय नहीं थी और उसको अफगान पर्वत आदिवासियों जैसी युद्ध नीतियों को अपनाकर पराजित किया जा सकता था। इसके बाद अंग्रेजों ने स्वयं को उत्तर-पश्चिम सीमाओं तक सीमित कर लिया तथा सैन्य बल के आधार पर अफगानिस्तान में प्रवेश करने का फिर कभी साहस न किया।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

बोध प्रश्न 3

1) बर्मा में अंग्रेजों की क्यों रुचि थी? 250 शब्दों में उत्तर दें।

....
....
....
....
....
....
....
....
....
....
....
....
....
....
....
....
....

2) कंपनी के अधिकारियों ने किस प्रकार से अफगान युद्ध को न्यायोचित बताया? पाँच पंक्तियों में उत्तर दें।

....

....

....

....

....

3) नेपाल में अंग्रेजों की रुचि क्यों समाप्त हो गई? पाँच पंक्तियों में उत्तर दें।

....

....

....

....

....

12.8 सारांश

इस इकाई में हमने देखा कि अंग्रेजों ने फिलीपीन्स जैसे दूर-दराज के क्षेत्रों पर अपना अधिकार स्थापित करने और अपने व्यापार का प्रसार करने के लिए भारतीय सीमाओं से बाहर के क्षेत्रों में रुचि दिखायी। मॉरीशस तथा श्रीलंका जैसे क्षेत्रों पर अपना नियंत्रण स्थापित करके अंग्रेजों ने अपने भारतीय साम्राज्य तथा व्यापारिक मार्गों को सुरक्षित किया। कुछ अवसरों पर, उदाहरणार्थ नेपाल एवं अफगानिस्तान के मामले में, अंग्रेजों ने स्वयं को दुस्साहसिक कूटनीति एवं युद्ध में उलझाया। इन सभी गतिविधियों पर भारतीय कोष से पैसा खर्च किया गया और भारतीय सिपाहियों ने आवश्यक सुरक्षा चक्र को उपलब्ध कराया। भारत की कीमत पर ही इंग्लैण्ड सम्पूर्ण दक्षिण एशिया तथा हिन्द महासागर की एशियाई भूमि पर एक शक्ति बन सका।

12.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

बोध प्रश्न 1

1) उप-भाग 12.2.3 देखें।
2) उप-भाग 12.2.1 देखें।

बोध प्रश्न 2

1) उप-भाग 12.4.1 एवं 12.4.2 देखें।
2) i) √ ii) √ iii) ×

बोध प्रश्न 3

1) देखें भाग 12.4
2) देखें भाग 12.7
3) देखें भाग 12.6

मानचित्र 3 भारत और पड़ोसी देश

इकाई 13 साम्राज्यवादी विचारधारा : ओरियंटलिस्ट तथा उपयोगितावाद

इकाई की रूपरेखा

13.0 उद्देश्य
13.1 प्रस्तावना
13.2 आरंभिक धारणा
13.3 वारेन हेस्टिंग्स और भारत संबंधी ब्रिटिश धारणा
   13.3.1 विलियम जोन्स
   13.3.2 हेस्टिंग्स की नीति : व्यवहार में
13.4 संस्थानीकरण
13.5 इवैंजेलिकलिज्म और अन्य नयी प्रवत्तियां
   13.5.1 सुधार के प्रयत्न
   13.5.2 संरक्षण और मुनरो
13.6 उपयोगितावादी
   13.6.1 कानून का प्रश्न
   13.6.2 भू राजस्व का प्रश्न
   13.6.3 साम्राज्य का उभरता दृष्टिकोण
13.7 सारांश
13.8 शब्दावली
13.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

13.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- भारत संबंधी ब्रिटिश दृष्टिकोण के पनपने की प्रक्रिया का उल्लेख कर सकेंगे,
- भारत संबंधी ब्रिटिश दृष्टिकोण के बदलते स्वरूप पर प्रकाश डाल सकेंगे, और
- भारत संबंधी दृष्टिकोण के बदलते स्वरूप के कुछ कारणों को रेखांकित कर सकेंगे।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

13.1 प्रस्तावना

अभी तक आपने मुगल साम्राज्य के पतन के बाद नये राज्यों के निर्माण और उसके बाद ब्रिटिश साम्राज्यवाद के उदय और भारत में प्रवेश की जानकारी प्राप्त की। अब हम भारत के संबंध में अंग्रेजों के दृष्टिकोण और विचारों से अवगत होंगे। हम इस बात पर भी विचार विमर्श करेंगे कि किस प्रकार अंग्रेजों ने अपनी आवश्यकता के अनुरूप भारत संबंधी अपने दृष्टिकोण और विचार में परिवर्तन किए।

13.2 आरंभिक धारणा

आरंभ में अंग्रेजों के दिमाग में भारत की एक तस्वीर बनी थी, यह तस्वीर उनके अपने पाश्चात्य अनुभव और खोज के लिए की गयी यात्राओं पर आधारित थी। एडवर्ड टेरी और जॉन ओविंगटन भारत की यात्रा करने वाले आरंभिक यात्रियों में से एक थे, उन्होंने 1659 के मुगल शासन को "मुस्लिम निरंकुशता का एक अन्य उदाहरण" के रूप में वर्जित किया है। आरंभ में आने वाले ब्रिटिश यात्री बर्नियर के लेखन से परिचित थे और उन्हें इसी के माध्यम से ऑटोमन और फारसी साम्राज्यों की जानकारी मिली थी। इस विवरण को "आंखों देखा हाल" समझ मुगल साम्राज्य और भारत के बारे में उन्होंने अपनी धारणा बना ली। क्लासिकल युग के विद्वान सर विलियम टेम्पल का मानना था कि लीकुरगुस और पायथागोरस ने भारतीयों से ही शिक्षा ग्रहण की थी। अंग्रेजों के बीच यह आम धारणा थी कि 17वीं शताब्दी में भारत में परम्परागत शिक्षा लुप्त हो चुकी थी। टेरी का तर्क है कि प्राचीन काल में शिक्षा देने वाले ब्राह्मणों का पतन हो चुका था।

अंग्रेज इस पतन या अवनति के उदाहरण भी सामने रखते हैं। वो भारत के पश्चिमी तट के व्यक्तियों का भी उल्लेख करते हैं जहाँ रहने वाले व्यक्तियों के सम्पर्क में वे आये थे। उनके अनुसार ये "परिश्रमी, दब्बू, कंजूस और कायर लोग

थे उनके दृष्टिकोण और आदतें रूढ़ियों से ग्रस्त थीं" इस रूढ़िवादिता के उदाहरण स्वरूप जाति प्रथा का बार-बार उल्लेख किया जाता था। कुल मिलाकर यह धारणा आगे भी बनी रही। हालाँकि स्थाई रूप से जमने के बाद अंग्रेजों को भारत के यथार्थ का सामना करने का और भी मौका मिला।

13.3 वारेन हेस्टिंग्स और भारत संबंधी ब्रिटिश धारणा

अंग्रेजों के मन में यह अवधारणा बनी हुई थी कि भारतीयों की अवनति हुई है: 18वीं शताब्दी की घटनाओं से यह धारणा और भी पुष्ट हुई। इसी के साथ-साथ आरंभिक प्रशासक भारत के अतीत के गौरव की बात करते थे। उनका मानना था कि भारत के प्रशासन को सही ढंग से नियंत्रित करने के लिए भारत और इसके अतीत का पूर्ण ज्ञान जरूरी है।

वारेन हेस्टिंग्स ने इस कार्य को अपेक्षाकृत गंभीरता पूर्वक लिया। वह जानता था कि इस कार्य को सम्पन्न करने के लिए कुछ ऐसे प्रशासकों की जरूरत है जो अपने स्वार्थों से ऊपर उठे हुए हों। इस उद्देश्य से उसने कुछ ऐसे संगठनों की स्थापना का प्रयत्न किया, जो भारत के स्वर्णिम अतीत संबंधी ज्ञान की खोज करें और फिर उन लोगों को इस ज्ञान से परिचित कराये जिन्हें इस देश का प्रशासन चलाना है।

यह दृष्टिकोण प्राच्यवादियों के दृष्टिकोण के रूप में जाना जाता है और वारेन हेस्टिंग्स के अलावा और लोग भी इसके समर्थक थे।

7 भारत में वारेन हेस्टिंग्स

13.3.1 विलियम जोन्स

इस उद्देश्य से एक अंग्रेज न्यायविद् विलियम जोन्स ने भारत को नये सिरे से जानना शुरू किया। विलियम जोन्स ब्रिटिश राजनीति की विग परम्परा का अनुयायी था और उसने अंग्रेजों को भारत की तस्वीर से परिचित कराने का बीड़ा उठाया। भारत आने पर जोन्स ने महसूस किया कि भारत को जानना एक व्यक्ति के वश की बात नहीं है। उसने अनुभव किया कि इसके लिए एक वैज्ञानिक अध्ययन की जरूरत है, जिसमें मेहनती और विद्वान लोगों की सहायता अपेक्षित है इस उद्देश्य से प्रसिद्ध एशियाटिक सोसाइटी की स्थापना हुई। इस सोसाइटी का उद्देश्य एशिया में रहकर और एशिया से बाहर रहकर दोनों प्रकार से हम महादेश की छिपी वास्तविकता को उजागर करना था।

जोन्स के प्रयासों और वारेन हेस्टंग्स के दृष्टिकोण का मेल इस सोसाइटी में हुआ। सोसाइटी को गवर्नर जनरल का पूरा समर्थन प्राप्त था। इस सोसाइटी ने भारत के सामाजिक धार्मिक, भाषायिक और राजनीतिक पक्षों का गहराई से और नजदीक से अध्ययन किया। वस्तुतः यह अध्ययन गहराई से किया गया, पहले यात्री आते थे, ऊपरी तौर पर भारत को देखकर, उसके प्रति एक धारणा बनाकर लौट जाते थे।

एशियाटिक सोसाइटी ने फारसी और संस्कृत ग्रंथों, पुराणों और कालिदास की रचनाओं को अनुवादित करने का महत्वपूर्ण कार्य किया। दूसरे, एशियाटिक सोसाइटी के सदस्यों ने भारतीय समाज और धर्म पर शोध किया और अनेक आलेख लिखे। इसके परिणाम स्वरूप भारत और उसकी संस्कृति से सम्पूर्ण यूरोप परिचित हो सका। इसमें जोन्स का योगदान उल्लेखनीय है।

13.3.2 हेस्टिंग्स की नीति : व्यवहार में

हेस्टिंग्स ने कुछ व्यावहारिक कारणों से एशियाटिक सोसाइटी को प्रोत्साहन दिया। इस समय तक उसने क्लाइव की "द्वैध नीति" को छोड़ने का मन बना लिया था और वह चाहता था कि बंगाल की ज़िम्मेदारी ईस्ट इंडिया कम्पनी अपने हाथों में ले ले। पर वह भारत में अंग्रेजी कानून और अंग्रेजी तौर तरीके लागू करने के पक्ष में नहीं था। उसका मुख्य विचार था कि "विजितों पर उनके तरीके" से शासन किया जाए। उसने अनुभव किया कि ब्रिटिश शासन के तीव्र विकास के कारण कुछ पूर्वाग्रह उभर कर सामने आये हैं। उसके विचार में इस प्रवृत्ति पर रोक लगनी चाहिए। दूसरे वह भारतीय संस्थाओं के साथ ब्रिटिश शासन का तादात्म्य स्थापित करना चाहता था। इसके लिए इस देश के "आचार और रीति रिवाजों" की गहराई से छानबीन और भारतीय साहित्य और कानून के व्यापक विश्लेषण की जरूरत थी। इस उद्देश्य से हेस्टिंग्स के एक महत्वपूर्ण सहकर्मी हैलहेड ने धार्मिक और रीति रिवाज संबंधी कानूनों की सूची तैयार की जिसे "जेंटू लॉ" के नाम से जाना गया। इस सूची को तैयार करने का उद्देश्य देश की जनता से मेल मिलाप या प्राप्त उपलब्धि को स्थिरता प्रदान करने वाली प्रक्रिया को समझना था। डैलहेड का मानना था कि इससे वाणिज्य और राज्य की स्थापना के अवसरों को और भी मजबूत बनाने में मदद मिलेगी।

13.4 संस्थानीकरण

आरंभ में समृद्ध भारतीय अतीत को खोजने का प्रयत्न किया गया। धीरे-धीरे यह प्रयत्न ब्रिटिश की व्यावहारिक का एक अंग बन गया। आगे आने वाले प्रशासकों को इस दिशा में प्रशिक्षित करने की वारेन हेस्टिंग्स की नीति का पालन वेलेज़ली ने भी किया और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसने 1800 ई. में कलकत्ता में फोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना की।

फोर्ट विलियम कॉलेज में छात्रों को विशेष रूप से भारतीय भाषाओं की जानकारी दी जाती थी ताकि जब वे भविष्य में प्रशासक का पद संभालें तब देशी भाषाओं और बोलियों से परिचित रहें और भारत के अतीत को सटीक ढंग से समझ सकें। मसलन फारसी भाषा का ज्ञान प्राप्त करना व्यावहारिक था। अधिकांश भारतीय राज्यों में सरकारी और काम काज की भाषा फारसी थी। इस प्रकार भारत के अतीत को जानने की ललक और ब्रिटिश प्रशासन की जरूरतें एक दूसरे में घुल मिल गयीं।

8 संपर्क का प्रयास : हुक्के के साथ एक अंग्रेज़

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

तत्कालीन प्रशासकों के भारतीय अतीत संबंधी दृष्टिकोण के बारे में भावी प्रशासकों को प्रशिक्षित करने के लिए उठाए गये कदमों को कम करके नहीं आंकना चाहिए। विभिन्न अधीनस्थ भारतीय शासकों के दरबार में नियुक्त भारत रेजिडेंट फारसी भाषा की जानकारी रखने के साथ उसका उपयोग भी करते थे और दरबार के सांस्कृतिक जीवन पद्धति को भी अपनाते थे। भारतीय दरबारियों से तादात्म्य स्थापित करने के लिए वें भारतीय वस्त्र पहनते थे और दरबार के नियमों का पालन करते थे। वे अधिकांश दरबार के नियमों और कायदों का भी पालन करते थे, जबकि शासक के सभी निर्णयों में उनकी हिस्सेदारी प्रमुख होती थी। इस प्रकार राजनीतिक दृष्टि से ब्रिटिश राज के अधीन होने के बावजूद भारतीय शासकों को एक प्रकार की सांस्कृतिक स्वतंत्रता थी।

पर अपनी स्थिति को मजबूत करने के लिए और एक अधिक सक्षम प्रशासनिक ढाँचा कायम करने के लिए अंग्रेजों के लिए कानून तथा भूमि संबंधी संपत्ति जैसी भारतीय संस्थाओं को जानना जरूरी था। इसी समय ब्रिटेन में औद्योगिक क्रांति हुई और ब्रिटेन से बाहर बाजार और कच्चे माल की खोज शुरू हो गई। वहाँ के उद्योगपतियों की इन जरूरतों का भी ब्रिटेन के नीति निधारकों को ध्यान रखना था।

9 नृत्य देखते हुए भारतीय परिवेश में कर्नल पोलियर

MADE EASY

13.5 इवैंजेलिकलिज्म और अन्य नयी प्रवत्तियाँ

अंग्रेजों की इन नई जरूरतों को ध्यान में रखकर भारतीय संस्थाओं और कानूनों पर पुनर्विचार आवश्यक हो गया। नये उत्पादों की खपत के लिए एक नया माहौल बनाना जरूरी हो गया। इस दृष्टि से, कम से कम, समाज के ऊपरी तबके के रहन-सहन और संस्कृति को बदलना जरूरी हो गया।

आरंभ में भारतीय अतीत को जानने के लिए बनी संस्थाएँ एक प्रकार के समझौते का परिणाम थीं, जो कंपनी के वाणिज्य और प्रशासन के हितों को पूरा करती थीं। इनकी नीति थी "भारतीय समाज़ को जानो पर इस छोड़ों मत"। श्री रामपुर मिशनरियों ने एक तरह से इस समझौते का विरोध किया, जो भारतीय समाज की वर्तमान अवनति में "सुधार" लाना चाहती थी। हालाँकि श्री रामपुर मिशनरियों ने भारतीय परंपरा का सम्मान करते हुए यह काम चुपके-चुपके किया, पर चार्ल्स ग्रांट जैसे बाद के मिशनरियों ने "भारतीय बर्बरता" का खुल कर विरोध किया। चार्ल्स ग्रांट के इस विरोध के साथ इवैंजेलिकलिज्म की एक नई विचारधारा सामने आई जिसके पीछे भारत को "सभ्य" बनाने की इच्छा कार्यरत थी। उसने अपने इस प्रयत्न को ईसाई धर्म के रंग में रंग दिया और भारत को "सभ्य" बनाने का बीड़ा उठाया।

भारत को "सभ्य" बनाने का यह प्रयत्न ब्रिटिश उदारवाद की अभिव्यक्ति थी, जो यहाँ मैकाले के कार्यों के रूप में प्रकट हुई। उदारवादी ब्रिटिश प्रशासकों का उद्देश्य भारतीयों को दबाना नहीं बल्कि "सभ्य" बनाना था। ब्रिटेन के व्यापारी समुदाय ने "सभ्य" बनाने के इस प्रयास का समर्थन किया। इसके तहत जो कानून बनते उनसे उन्हें भारत में

संपत्ति बनाने का अधिकार मिलता और "मुक्त व्यापार" के द्वारा वे भारत में ब्रिटिश माल के खपत की समस्या का समाधान ढूँढ सकते थे। चार्ल्स ग्रांट भौतिक समृद्धि और सभ्यता की प्रक्रिया के तालमेल को अच्छी तरह समझता था। इसी ढर्रे पर 1838 ई. में एक अन्य उदारवादी सी.ई. ट्रेवेलियन ने भारत को "ब्रिटिश सद्भाव का गौरवशाली कीर्तिस्तम्भ" कहकर चित्रित किया।

बोध प्रश्न 1

1) विलियम जोन्स और भारत के बारे में लिखने वाले आरंभिक यात्रियों में क्या अंतर था?

....

....

....

....

....

2) वारेन हेस्टिंग्स भारत के अतीत का अध्ययन क्यों करना चाहता था?

....

....

....

....

....

3) क्या श्री रामपुर मिशनरी और चार्ल्स ग्रांट वारेन हैस्टिंग्स की भारत संबंधी नीति से सहमत थे?

....

....

....

....

....

MAADHYAM IAS

13.5.1 सुधार के प्रयत्न

समृद्धि और सभ्यता के उन्नायक की भूमिका निभाते हुए ब्रिटेन द्वारा 18वीं शताब्दी के अन्त और 19वीं शताब्दी के आरंभ में "सुधार के विचार" को कार्यान्वित किया गया इस उद्देश्य को सामने रखते हुए कार्नवालिस ने बंगाल के जमींदारों के साथ राजस्व संबंधी स्थाई बंदोबस्त किया। कार्नवालिस का यह अनुमान था कि कृषि आय का मुख्य स्रोत है और इस कार्यवाई से कृषि क्षेत्र का पूंजी निर्माण और बाजार के लिए उपयोग किया जा सकता है इससे एक समृद्ध भूमिपति वर्ग तैयार हो गया जो राज्य के प्रति उत्तरदाई होगा। इससे एक ऐसा उद्यमी वर्ग पैदा होगा जो भूमि संबंधी विकास के साथ-साथ व्यापार को बढ़ाने में भी सहयोग देगा। जॉन शोर ने स्थाई बंदोबस्त की इस व्यवस्था को आगे बढ़ाने में महत्वपूर्ण अदा की। उसे देहाती इलाकों का अनुभव था और उसने कार्नवालिस के सुधार संबंधी दृष्टिकोण का समर्थन किया। उसके अनुसार यह सुधार धीरे-धीरे नये प्रयोगों के माध्यम से लाना होगा और नये परिवर्तन के लिए प्रयास करने होंगे।

13.5.2 संरक्षण और मुनरो

दक्षिण में पदस्थ मुनरो और उसके प्रसिद्ध सहकर्मी मालकौम और मेटकाफ कार्नवालिस के आलोचकों में प्रमुख थे। उनके अनुसार कार्नवालिस की व्यवस्था में भारतीय इतिहास या अनुभव के प्रति कोई सम्मान भावना नहीं थी। उन्होंने इस बात का विरोध किया कि विदेशी अंग्रेजी परम्परा के सिद्धांतों के आधार पर एक राजनीतिक समाज का निर्माण किया जा सकता है। इसी कारण से उन्होंने कार्नवालिस द्वारा लागू किये गये अंग्रेजी शासन के कानून का विरोध किया, जिसमें सरकार की न्यायिक और कार्यकारी शक्तियों का कठोर विभाजन किया गया था।

मुनरो मानता था कि राजनीति में प्रयोग भी किए जाने चाहिए और इसे व्यावहारिक भी होना चाहिए। उसके विचार से ब्रिटिश शासन को स्थापित हुए अभी कम समय हुआ है और इतनी जल्दी स्थाई समाधानों की प्रस्तुति प्रासंगिक नहीं है। इसी कारण से उसने रैयतवाड़ी के सावधिक संशोधन का समर्थन किया (देखे खंड iv) उसका यह भी मानना था कि भारत की अक्षुण्ण परंपरा, खासकर ग्राम्य विशेषताओं को संरक्षित किया जाना चाहिए। किसी भी कानून और व्यवस्था की समस्या को सुलझाने के लिए ऐसी व्यवस्था कायम की जानी चाहिए जिसमें न्यायपालिका और कार्यकारी शक्तियाँ एक दूसरे में आबद्ध हों। उसके अनुसार इससे कृषकों के साथ न्याय हो सकेगा और साथ ही साथ ब्रिटिश शासन के उद्देश्यों की पूर्ति भी हो सकेगी।

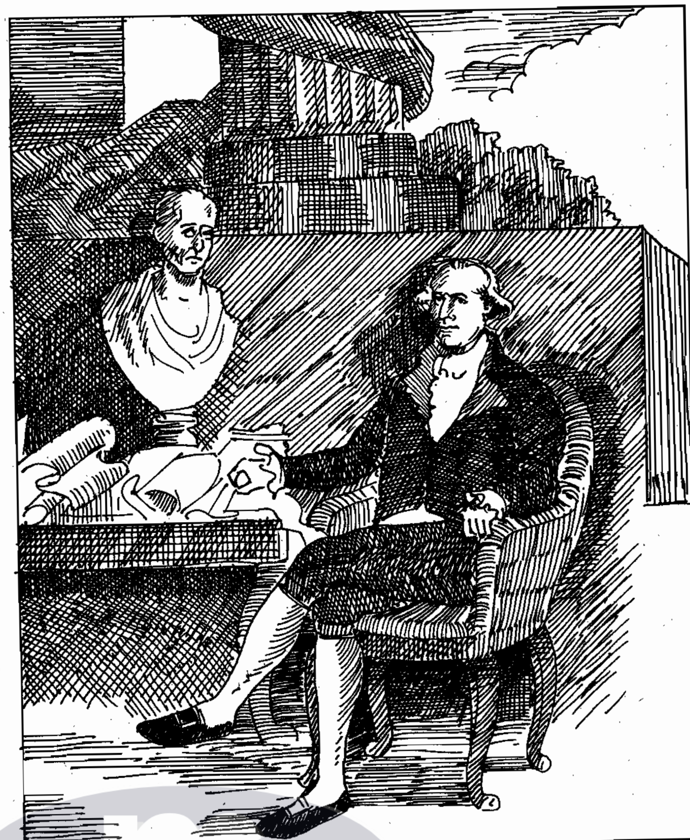

10 एडमंड बर्क की मूर्ति के साथ विलियम हिकी

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

मुनरो और उसके सह-कर्मियों ने भारतीय परम्परा के संरक्षण की बात की और इस उद्देश्य से भारत में केंद्रीय सत्ता लागू किए जाने का विरोध किया और भारतीय सरकार के विकेंद्रीकरण पर बल दिया।

इस संदर्भ में भारतीय मस्तिष्क को बदल पाना एक जटिल कार्य हो गया। इस प्रक्रिया में उदारवादी मैकाले ने कहा कि भारत में शिक्षा का प्रसार ब्रिटिश प्रशासन की प्रमुख जिम्मेदारी है। यह मुद्दा विवाद के घेरे में आ गया। मैकाले की शिक्षा पद्धति का विरोध प्राच्यवादियों और मुनरो जैसे व्यावहारिक आँग्ल—भारतीयों ने किया जो भारतीय संस्था और संस्कृति को संरक्षित रखना चाहते थे। 19वीं शताब्दी के मध्य में पश्चिमी या अंग्रेजी शिक्षा पद्धति को लागू करने का मसला विवादास्पद हो गया।

13.6 उपयोगितावादी

उपयोगितावादी उदारवादियों के शिक्षा संबंधी उद्देश्य, मसलन भारत को सभ्य बनाना और उसका सुधार करना, से बिलकुल सहमत नहीं थे। उनका उद्देश्य यह था कि कानून और भूमि संबंधी नियमों को इस तरह बदला जाये कि बाजार निर्माण का रास्ता प्रशस्त हो। उनका विश्वास था कि प्रसिद्ध दार्शनिक जेर्मी बेंथम के निर्देशन में एक वैज्ञानिक और तर्क संगत दृष्टिकोण विकसित हो सकता है, यह कानून और भूमि संबंधी नियमों का ऐसा समाधान प्रस्तुत कर सकता है, जिससे "अधिक वस्तुएँ अधिक लोगों के लिये" सिद्धांत का पालन किया जा सकता है।

13.6.1 कानून का प्रश्न

उपयोगितावादियों के विचारों का भारत के प्रति ब्रिटिश दृष्टिकोण के निर्माण पर मूलभूत प्रभाव पड़ा। बेंटिंक ने कानून को परिवर्तन का एक माध्यम बनाया। उसका विश्वास था कि सती और बालिका हत्या जैसे भारतीय रीति रिवाजों को कानून द्वारा ही रोका जा सकता है। जेम्स मिल के ईस्ट इंडिया कम्पनी के लंदन स्थित कार्यालय में पदस्थ होने के बाद उपयोगितावादियों ने प्राच्यवादियों (ओरियंट लिस्ट) कार्नवालिस और मुनरो की विरासत पर नपा तुला आघात किया और उनकी नीतियों को स्थगित करने की योजना बनाई। अपने सैद्धांतिक विश्वासों के आधार पर उपयोगितावादियों ने राजनीतिक सुधार को कार्य रूप देने का निश्चय किया। बेंथम के सिद्धांतों को आधार बनाकर कई कानून और दंड संहिताएं लागू की गयीं और एक ऐसी व्यवस्था कायम की गयी जो निचले स्तर तक जाकर लोगों को प्रभावित कर सके। इस उद्देश्य के लिए काम करने का निर्देश दिया गया।

222. *Bentinck's reply to the petition on* sati

14 July 1830

The governor-general has read with attention the petition which has been presented to him: and has some satisfaction in observing that the opinions of the pandits consulted by the petitioners confirm the supposition that widows are not, by the religious writings of the Hindus, commanded to destroy themselves; but that, upon the death of their husbands the choice of a life of strict and severe morality is everywhere expressly offered: that in the books usually considered of the highest authority it is commanded above every other course; and is stated to be adapted to a better state of society; such as, by the Hindus, is believed to have subsisted in former times.

Thus, none of the Hindus are placed in the distressing situation of having to disobey either the ordinances of the government or those of their religion. By a virtuous life a Hindu widow not only complies at once with the laws of the government and with the purest precepts of her own religion, but affords an example to the existing generation of that good conduct which is supposed to have distinguished the earlier and better times of the Hindu people.

The petitioners cannot require the assurance that the British government will continue to allow the most complete toleration in matters of religious belief; and that to the full extent of what it is possible to reconcile with reason and with natural justice they will be undisturbed in the observance of their established usages. But, some of these, which the governor-general is unwilling to recall into notice, his predecessors in council, for the security of human life, and the preservation of social order, have, at different times, found it necessary to prohibit. If there is any one which the common voice of all mankind would except from indulgence it is surely that by which the hand of a son is made the instrument of a terrible death to the mother who has borne him, and from whose heart he has drawn the sustenance of his helpless infancy.

The governor-general has given an attentive consideration to all that has been urged by the numerous and respectable body of petitioners: and has thought fit to make this further statement, in addition to what had been before expressed as the reasons, which, in his mind, have made it an urgent duty of the British government to prevent the usage in support of which the petition has been preferred: but if the petitioners should still be of opinion that the late regulation is not in conformity with the enactments of the imperial parliament, they have an appeal to the king in council, which the governor-general shall be most happy to forward.

MAADHYAM IAS

सती के प्रश्न पर बेंटिक

13.6.2 भू-राजस्व का प्रश्न

मिल ने उपयोगितावादी अर्थशास्त्र के अनुरूप भू राजस्व में बदलाव लाने की नीति का समर्थन किया। इसमें एक तरफ मुनरो के रैयतवाड़ी बंदोबस्त की तरह किसानों से सीधे सम्पर्क स्थापित करने की बात की गयी (देखें खंड iv) और दूसरी तरफ रिकार्डो के सिद्धांत के अनुसार भूमिपतियों पर करारोपण का मसला सामने आया। यह करारोपण इस ढंग से किया गया था कि मात्र भूमि की मिल्कियत प्राप्त कर लेने से भूमिपतियों को उत्पाद और व्यापार के मामले में अतिरिक्त लाभ न पहुँचे। इसका अर्थ यह था कि भूमिपतियों को कुछ उत्पाद का एक हिस्सा देना होगा। इसका मतलब यह हुआ कि कुल उत्पाद में से खेती का खर्च निकालकर बची हुई राशि राज्य को देनी पड़ेगी।

राजस्व की इस नीति को प्रिंगल जैसे पदाधिकारियों ने बंबई में कार्य रूप दिया। भूमि के "कुल उत्पाद" को मापने के लिए व्यापक सर्वेक्षण किए गये। इसके बाद कर की दर निर्धारित की गयी। कर का यह निर्धारण काफी ऊंची दर पर किया और किसी-किसी स्थान पर यह कुल उत्पाद के 50 से 60 प्रतिशत तक भी पहुंच गया। इस कारण से जटिल आकलन पर आधारित राजस्व निर्धारण का इरादा छोड़ दिया गया। 1849 के दशक में परम्परा से चले आ रहे कर निर्धारण की पद्धति को अपनाया गया जिसमें अनुमान और अनुभव के आधार पर कर निर्धारण किया जाता था।

पर सिद्धांततः राजस्व निर्धारण के उपयोगितावादी दृष्टिकोण को नहीं छोड़ा गया। शुद्ध रूप में अनुमान और अनुभव पर आधारित होने के बावजूद राजस्व निर्धारण सिद्धांत में आंकलन का महत्व दर्शाया जाता रहा। इस सिद्धांत के

औचित्यनिर्धारण का कोई व्यावहारिक कारण नहीं था, क्योंकि आगे आने वाले दशकों में कर दे रहे किसानों के अधिकारों और दायित्व की बात पृष्ठभूमि में चली गयी थी। इसके बावजूद उपयोगितावादियों द्वारा मुनरो के समक्ष वैज्ञानिक आकलन (भारतीय परम्परा से संबंधित) प्रस्तुत किए गये। यह एक विरोधाभास सा प्रतीत होता है।

13.6.3 साम्राज्य का उभरता दृष्टिकोण

अँग्रेजी उपयोगितावादी विचार में एक निरंकुशता की प्रवृत्ति देखने को मिलती है जो बाहर के देशों में पूर्ण विकसित तानाशाही के रूप में स्थापित हुई। उदारवादी परम्परा में जन्म लेने के बावजूद उपयोगितावादी भारत में कभी भी प्रजातांत्रिक सरकार को स्वीकार नहीं कर सकें। जेम्स मिल ने तत्कालीन व्यवस्था में या भविष्य में हमेशा भारत में प्रतिनिधि सरकार की स्थापना का विरोध किया।

डलहौज़ी के नेतृत्व में साम्राज्य का दृढ़ीकरण हुआ, इसमें भारत संबंधी ब्रिटिश धारणा के अंतर्विरोध स्पष्ट रूप में उभर कर सामने आये। डलहौज़ी ने जेम्स मिल की धारणा को और आगे बढ़ाया तथा उसने देशी भारतीय राज्यों के प्रति आक्रमणकारी रुख अपनाया। इसके अतिरिक्त बेंथमवादी परम्परा का पोषण करते हुए उसने एक उच्चाधिकारी के नेतृत्व में अखिल भारतीय विभागों, मसलन डाक और तार विभाग, जन कार्य विभाग आदि की स्थापना की। इन विभागों की स्थापना करके वह एकीकृत अखिल भारतीय साम्राज्य के ढाँचे में कुशल प्रशासन की अवधारणा को अंजाम देना चाहता था। यह व्यवस्था मुनरो की भारत संबंधी धारण के बिल्कुल विपरीत थी, जिसमें क्षेत्रीय राज्यों के एक ढीले संघ की बात की गयी थी।

12 जेम्स मिल

MAADHYAM IAS

इसी के साथ-साथ कुल मामलों में डलहौजी ने उदारवादी दृष्टिकोण अपनाने की भी चेष्टा की। मसलन, उसने विधान परिषद को गैर अधिकारी विचारधारा की प्रतिनिधि संस्था के रूप में विकसित करने का प्रयत्न किया। उसने विधान परिषदों में भारतीय सदस्यों को शामिल किए जाने का भी समर्थन किया। उसने मैकाले की अंग्रेजी भाषा में शिक्षा देने की नीति का समर्थन किया। इसके साथ-साथ उसके सहकर्मी थामसन ने व्यापक रूप में देशी भाषाओं के माध्यम से शिक्षा देने का समर्थन किया।

इसके बावजूद यह धारणा धीरे-धीरे लुप्त हो गई कि भारतीय समाज को बदलने के लिए कानून, भूमि संपदा या शिक्षा को बदलना चाहिए। आचार संहिता, राजस्व प्रशासन, शिक्षा और अखिल भारतीय साम्राज्य के सुदृढ़ीकरण के बाद प्रशासन की कुशलता मुख्य मुद्दा बन गया। ब्रिटिश प्रशासन में व्यावहारिकता, तर्कसंगता और कार्यकुशलता को प्रमुखता दी जाने लगी। प्रशासन के लिए अभी भी उपयोगितावादी तर्कों का उपयोग किया जाता रहा, मैकाले के नेतृत्व में हुआ कानून संहिता संबंधी परिवर्तन इसका ज्वलंत उदाहरण है। पर, सम्पूर्ण रूप में सुधार की अवधारणा की बात कम की जाने लगी।

विवेच्य काल के बाद के ब्रिटिश प्रशासकों ने इस बात पर बार-बार जोर दिया कि ब्रिटिश प्रशासन को हमेशा कानून का सहारा लेना चाहिए। इस सन्दर्भ में यह भी तर्क दिया गया कि कशल प्रशासक के लिए बल प्रयोग लाजिमी है

और इसके लिए राजनीतिक बदलाव या सुधार जैसी बातों का कोई महत्त्व नहीं है। इस प्रकार भारत को सुधारने की व्यवहारवादी नीति का स्थान कुशल और अच्छी सरकार के सिद्धांत ने ले लिया और ब्रिटिश प्रशासन द्वारा कड़ा रुख अपनाया गया।

बोध प्रश्न 2

1) मुनरो कार्नवालिस का आलोचक क्यों था ?

....
....
....
....
....

2) बेंटिंक भारत में सामाजिक परिवर्तन कैसे लाना चाहता था ?

....
....
....
....
....

3) क्या जेम्स मिल भारत में प्रजातंत्र की स्थापना का समर्थक था ?

....
....
....
....
....

4) उपयोगितावादियों ने भू राजस्व की समस्या को किस प्रकार सुलझाने का प्रयत्न किया ?

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

....
....
....
....
....

5) क्या डलहौज़ी देशी राज्यों को अपनें गिरफ्त में लेना चाहता था ?

....
....
....
....
....
....
....

13.7 सारांश

प्रत्येक साम्राज्य अपना एक तर्काधार ढूढंता है। हमने इस इकाई में देखा कि अपने विस्तार के क्रम में ब्रिटेन में "सभ्य बनाने की योजना" का सहारा लिया। एक तरफ उसने अपने लोलुप आक्रमणकारी और लूटमार के इतिहास को गौरवान्वित

करने की कोशिश की और दूसरी तरफ एक खास उद्देश्य से विभिन्न सिद्धांतों का प्रतिपादन किया। उद्देश्य सभी व्यक्तियों के लिए एक जैसा नहीं था। जैसा कि हमने देखा विलियम जैसे व्यवहारवादी, चार्ल्स ग्रांट जैसे इवैंजेलिकलिस्ट, जेम्स मिल जैसे उपयोगितावादी और मुनरो और डलहौजी के दिमाग में अलग-अलग बातें थीं। वस्तुतः भारत के निर्माण के संबंध में प्राच्यवादियों इवैंजेलिकलिस्ट और उपयोगितावादियों के विचार अलग-अलग थे। पर कुल मिलाकर इन सभी विचारों का उद्देश्य एक था और यह उद्देश्य तथा भारत में ब्रिटिश साम्राज्य का निर्माण।

13.8 शब्दावली

ईवैंजलिकलिज्म (Evangelicalism) : 18वीं शताब्दी के इंग्लैंड में हुआ प्रोटेस्टैंट क्रिश्चियन आन्दोलन जिसने रूढ़िवादी चर्च के विपरीत व्यक्तिगत अनुभव पर बल दिया, परम्परागत चर्च के विचारों को पढ़ने के बजाय गोस्पेल के विचारों के अध्ययन पर बल दिया।

विरोधाभास : अंतर्विरोधवक्तव्य, विश्वास आदि।

13.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) देखें उपभाग 13.3.1
2) देखें भाग 13.3, उपभाग 13.3.2
3) देखें भाग 13.5

बोध प्रश्न 2

1) देखें उपभाग 13.5.2
2) देखें उपभाग 13.6.1
3) देखें उपभाग 13.6.3
4) देखें उपभाग 13.6.2
5) देखें उपभाग 13.6.3

MAADHYAM IAS
way to achieve your dream

इस खंड के लिये कुछ उपयोगी पुस्तकें

Michael H. Fisher : *A Clash of Cultures : Awadh, the British and the Moghuls,* Manohar, New Delhi.

बिपन चंद्र : **आधुनिक भारत,** एन.सी.ई.आर.टी., नई दिल्ली।

Tarachand : History of Freedom Movement in India, (Vols. 1 and 2), Publication Division, New Delhi.

इकाई 14 कंपनी की वाणिज्यिक नीतियाँ और भारतीय व्यापार

इकाई की रूपरेखा

14.0 उद्देश्य
14.1 प्रस्तावना
14.2 ईस्ट इंडिया कंपनी का ढाँचा
14.3 ईस्ट इंडिया कंपनी का एकाधिकार
14.4 एकाधिकार बनाम उन्मुक्त व्यापार
14.5 कंपनी के व्यापार की प्रकृति
14.6 वाणिज्य व्यवसाय और राजनीतिक शक्ति
14.7 औद्योगिक पूँजीवाद का उदय एवं कंपनी की वाणिज्यिक नीतियाँ
14.8 सारांश
14.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

14.0 उद्देश्य

इस इकाई में आप अध्ययन करेंगे :

- बहुत से निवेशकों की सामूहिक पूँजी उद्यम के रूप में किस प्रकार से ईस्ट इंडिया कंपनी की संरचना की गई,
- ईस्ट इंडिया कंपनी के नाम से विख्यात इन पूँजीवादी सौदागरों को किस प्रकार तथा क्यों उनके क्रमशः अपने-अपने देशों की सरकारों के द्वारा व्यापार के विशेषाधिकारों पर एकाधिपत्य प्रदान किया गया,
- ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी के एकाधिकार व्यापार एवं अंग्रेजी उन्मुक्त व्यापारियों के बीच संघर्ष कैसा था जिसके कारण व्यापार के विशेषाधिकारों पर एकाधिपत्य को वापस लिया गया,
- भारत में सामूहिक एकाधिकार के रूप में ब्रिटिश कंपनी के व्यापार एवं कंपनी के नौकरों के व्यक्तिगत व्यापार की प्रकृति,
- उन कारणों के विषय में जिनसे कि पूँजीवादी उद्यमी सौदागर क्षेत्रों तथा राजनीतिक शक्ति को प्राप्त करने की ओर अग्रसर हुए, और
- औद्योगिक पूँजीवाद के उदय ने किस प्रकार से भारतीय ब्रिटिश आर्थिक संबंधों की प्रकृति को परिवर्तित किया और इसके फलस्वरूप कंपनी की वाणिज्य नीतियों में कैसे परिवर्तन हुए।

14.1 प्रस्तावना

आप पहले ही उन परिस्थितियों को जान चुके हैं जिनके कारण ईस्ट इंडिया कंपनी अस्तित्व में आयी। यह यूरोप में सौदागर पूंजीवादी के लम्बे विकास का परिणाम थी (खंड 2)। आप यूरोपीय ईस्ट इंडिया कंपनियों विशेषकर ब्रिटिश कंपनी के द्वारा अदा की गई उस भूमिका के विषय में भी जानते हैं जो उन्होंने 18वीं सदी के अन्तिम दशकों तथा 19वीं सदी के प्रारंभिक वर्षों में भारत के राजनीतिक इतिहास में निभायी (खंड 3)। इस इकाई में भारत में ईस्ट इंडिया कंपनी के व्यापार एवं इसके पास एकाधिकार की संरचना एवं प्रवृत्ति से आपका परिचय कराया जायेगा। कंपनी के द्वारा क्षेत्रों तथा राजनीतिक शक्ति को प्राप्त करने के पीछे उद्देश्यों, इंग्लैंड में औद्योगिक पूंजीवादी का उद्भव और कम्पनी की वाणिज्य नीतियों में इसका प्रभाव, इन सबका इस इकाई में विवेचन किया गया है।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

14.2 ईस्ट इंडिया कंपनी का ढाँचा

आपको यह भली भांति समझ लेना चाहिये कि आजकल व्यावसायिक उद्यमों में उन कंपनियों का प्रभुत्व है जो स्टॉकों एवं शेयर्स की बिक्री इसलिये करती हैं जिससे कि व्यवसाय में जरूरत पड़ने वाली पूँजी को एकत्रित कर सकें। ये संयुक्त स्टॉक कम्पनियाँ उनसे भिन्न हैं जिनमें व्यवसाय पर एक स्वामी या हिस्सेदारी में कुछ स्वामियों का अधिकार होता था। यूरोप की ईस्ट इंडिया कंपनियाँ विश्व में प्रारंभिक संयुक्त स्टॉक कंपनियों में से कुछ थीं।

इन कंपनियों की क्या विशेषता थी और इन्होंने अपने संयुक्त स्टॉक संगठन स्वरूप से कैसे लाभ प्राप्त किया? संयुक्त स्टॉक संरचना के विषय में ऐसा कहा जाता है कि इसके अनुसार विभिन्न स्रोतों या शेयर धारकों से पूँजी को एकत्रित किया जाता है। ये कंपनियाँ फिर इस योग्य हो जाती हैं कि किसी एक मालिक या कुछ को हिस्सेदारी उपलब्ध कराके काफी बड़ी मात्रा में पूँजी को इकट्ठा कर सकती है। इन सबसे भी महत्वपूर्ण बात यह है कि ये संयुक्त स्ट्राक कंपनियाँ व्यावसायिक गतिविधियों और नीतियों को काफी लंबे समय तक, कभी-कभी सदियों तक अनवरत रूप से चलाने को सुनिश्चित कर सकती हैं जबकि एक मालिक के अधीन व्यवसाय का जीवन काफी कम होता था। इसको भी स्वीकार किया जाना चाहिए कि संयुक्त स्ट्राक कंपनी में पूँजी की गतिशीलता बनाए रखने की पर्याप्त संभावना होती है, दूसरे शब्दों में कंपनी के शेयर धारकों के रूप में निवेश किए गए धन को शेयर का मालिक वापस ले सकता है (अपने शेयर को दूसरे को बेचकर) दूसरी कंपनी में निवेश करने सहित वह उसको कहीं अन्य उपयोग में लगा सकता है इस प्रकार से पूँजी किसी एक ही उद्यम में बंधी नहीं रहती बल्कि वह अधिक लाभ देने वाले उद्यमों की ओर गतिशील होती रहती है। इस प्रकार पूँजी का अच्छी प्रकार से उपयोग सुनिश्चित होता जाता है।

इन सभी कारणों से ईस्ट इंडिया व्यापार के लिए संयुक्त स्टॉक कंपनियों का स्वरूप पहले अन्य स्वरूपों की अपेक्षा अधिक सक्षम एवं उच्चतर था। विशेषकर भारत के साथ व्यापार के लिए यूरोपीय देशों को इस प्रकार संगठन के नए स्वरूप की आवश्यकता थी क्योंकि निवेश करने के लिए काफी बड़ी पूँजी की जरूरत पड़ती थी। ऐसा इस कारण से था कि व्यापार की अनिश्चितता बनी रहती थी (जहाज डूबने, युद्ध आदि के कारण) और पूँजी निवेश करने तथा लाभांश प्राप्त होने के बीच भी काफी लंबे समय की प्रतीक्षा करनी होती थी। क्योंकि व्यापारिक जहाजों को भारत तक आने के लिए संपूर्ण अफ्रीका महाद्वीप का चक्कर लगाना पड़ता था। इन्हीं कारणों से प्रारंभिक दिनों में अंग्रेज सौदागरों को अपना धन भारत की यात्रा पर जाने के लिए, जहाजों को किराये पर लेने और सुसज्जित करने पर लगाना पड़ता था। इसकी तर्क पूर्ण परिणति संयुक्त स्टॉक उद्यम के रूप में ईस्ट इंडिया कंपनी की स्थापना में हुई (1600)। प्रारंभ में लंदन के कुछ बहुत धनी सौदागर ईस्ट इंडिया कंपनी के शेयर धारक थे। लेकिन 18वीं सदी के दौरान तुलनात्मक रूप से कुछ छोटे शेयर धारकों ने इसमें भाग लेना शुरू किया और नयी यूनाइटेड कंपनी ऑफ दि मर्चेंट ऑफ ट्रेडिंग टू दी ईस्ट इंडिज (1708 में स्थापित) के मालिक बन गए। इसको उसी पुराने नाम ईस्ट इंडिया कंपनी के नाम से पुकारा जाता था।

14.3 ईस्ट इंडिया कंपनी का एकाधिकार

ईस्ट इंडिया कंपनी की दूसरी संरचनात्मक विशेषता यह थी कि इंग्लैंड की सरकार के द्वारा इसको एकाधिकार प्रदान किया गया था। इस एकाधिकार का क्या तात्पर्य था और इसको क्यों प्रदान किया गया था? सामान्यत: एकाधिकार से तात्पर्य यह है कि भारत तथा हिंद महासागर के अन्य देशों और इससे आगे पूरब की ओर चीन के साथ होने वाले व्यापार पर पूर्ण रूपेण नियंत्रण को कायम करना। इसके फलस्वरूप उपरोक्त बताए गए देशों के साथ केवल ईस्ट इंडिया कंपनी (किसी अन्य व्यक्ति या व्यावसायिक फर्म की तुलना में) वैधानिक रूप से व्यापार करने के लिए अधिकृत थी। यह कंपनी का वैध अधिकार था जिसको प्रथम बार महारानी ऐलिजाबेथ ने प्रदान किया और बाद में अन्य राजा प्रदान करते रहे। 17वीं

एवं 18वीं सदी में राजाओं या सरकारों ने ऐसा क्यों किया? उन्होंने ईस्ट इंडिया कंपनी को इस अधिकार को इसलिए प्रदान किया क्योंकि वाणिज्यवादियों के विचारों के प्रभाव के अंतर्गत सामान्यतः यह विश्वास किया जाता था कि विदेशी व्यापार से धन देश के अंदर लाने के लिए राज्य को बाह्य व्यापार को प्रोत्साहन देना चाहिए। इससे देशों के साथ व्यापार में जोखिम होने से विशेषकर एकाधिकार व्यवस्था को अनिवार्य माना जाने लगा जिससे कि निवेशकर्ताओं के एकाधिकार लाभों को सुनिश्चित किया जा सके और इस प्रकार इस तरह के निवेश को प्रोत्साहित भी किया गया। दूसरे, भारतीय व्यापार में अपेक्षाकृत धनी सौदागर ब्रिटिश राजा के दरबार एवं सरकार में काफी प्रभावशाली भी थे।

1. ईस्ट इंडिया हाउस

इस सबका परिणाम यह हुआ कि इंग्लैंड की सरकार ने ईस्ट इंडिया कंपनी को व्यापार का एकाधिकार प्रदान कर दिया। यह कंपनी को एक चार्टर के द्वारा दिया गया। दूसरे शब्दों में एकाधिकार के अधिकार को एक लिखित अनुदान के रूप में दिया गया और समय-समय पर इसका सरकार के द्वारा नवीनीकरण किया जाता था। जिस एक्ट के अंतर्गत कंपनी को यह अधिकार प्रदान किया गया था उसको 18वीं सदी के अंत तथा 19वीं सदी के प्रारंभ में ''चार्टर एक्ट'' के नाम से जाना गया और ब्रिटिश संसद के द्वारा पारित किया गया। (फ्रांसीसी तथा डच ईस्ट इंडिया कंपनियों को भी एकाधिकार प्राप्त थे और इनको उनकी सरकारों के द्वारा प्रदान किया गया था)।

सरकार द्वारा अनुदानित एकाधिकार की घोषणा एक बात है और वास्तव में एकाधिकार (अर्थात् दूसरों को पूर्णरूपेण अलग कर देना) को प्रभावी बनाना बिल्कुल एक दूसरी बात है। वास्तविक कार्य रूप में इस वैध एकाधिकार का क्या तात्पर्य था?

14.4 एकाधिकार बनाम उन्मुक्त व्यापार

ईस्ट इंडिया कंपनी के सर्वोच्च प्रबंधकों को निदेशक मंडल (कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स) कहा जाता था और उनको 18वीं सदी के उत्तरार्द्ध से 1813 तक कंपनी को एकाधिकार अधिकार को प्रभावी बनाने के लिए अर्थात् दूसरों को व्यापार में प्रवेश करने से रोकने के लिए कड़ा संघर्ष करना पड़ा। यह कोई आसान कार्य न था। एक अन्य बात यह है कि ईस्ट इंडिया कंपनी के कर्मचारी अपने औपचारिक व्यवसाय अर्थात् कंपनी के व्यवसाय के साथ-साथ अपना व्यक्तिगत व्यवसाय स्थापित कर सकते थे, लेकिन उनका यह व्यवसाय कंपनी के हितों से ऊपर नहीं होता था। एक अन्य तथ्य यह भी था कि वहाँ पर सदैव ऐसे सौदागर एवं साहसी लोग थे जो व्यापार के लिए भारत आते तथा अपनी स्वयं की व्यवसाय फर्मों को स्थापित करने में सफल हो जाते, इनको ''उन्मुक्त'' सौदागर या ''बिना अधिकार के

व्यापार करने वाले," (अर्थात् बिना अधिकार के प्रवेश करने वाले अनाधिकृत व्यवसाय में व्यस्त) कहा जाता था। इन दोनों प्रकार की गतिविधियों ने कंपनी के एकाधिकार के रास्ते में अवरोध पैदा किये।

ईस्ट इंडिया कंपनी के सेवकों या कर्मचारियों के व्यक्तिगत व्यवसाय के विषय में समस्या यह थी कि भारत में स्थित सर्वोच्च अधिकारियों सहित कंपनी के कर्मचारियों के स्वयं के हित इस बात की आज्ञा प्रदान नहीं करते थे कि कंपनी के निदेशकों द्वारा व्यक्तिगत व्यापार को रोकने के लिए दिए गए निर्देशों को कठोरता से लागू किया जाए। कंपनी के कर्मचारियों का वेतन 19वीं सदी तक काफी कम था तथा व्यक्तिगत व्यापार के लाभ से वेतन में वृद्धि करने की परंपरा का व्यापक प्रचलन था। इससे भी अधिक आश्चर्यजनक बात यह थी कि कंपनी के सेवक आदतन अपने व्यक्तिगत व्यापार की वस्तुओं को कंपनी निर्यात की वस्तुओं के साथ रख देते थे जिससे कि बंगाल में आंतरिक करों से उनको छूट मिल जाती थी। इसको दस्तक (कर मुक्त व्यापार के लिए लाइसेंस) का दुरुपयोग कहा जाता था और यह बंगाल के नवाब एवं अंग्रेजों के बीच विवाद और संघर्ष के कारणों का मुख्य विषय हो गया था (देखें खंड 3)। वास्तव में 18वीं सदी के उत्तरार्द्ध में कंपनी के कर्मचारियों के व्यक्तिगत व्यापार हित और कंपनी का औपचारिक व्यापार व्यवहारिक तौर पर एक दूसरे के लिए अविभाज्य हो गए थे।

जहाँ तक ''उन्मुक्त सौदागरों'' का प्रश्न है, उनका उद्देश्य अपने व्यापार का प्रसार कंपनी के व्यापार के कीमत पर करना था। यद्यपि उनको इसलिए सहन किया गया क्योंकि कंपनी के कर्मचारियों के लिए वे काफी उपयोगी होते जा रहे थे जिससे कंपनी के कर्मचारी अपने संचित धन का निवेश उनके व्यापार में कर देते और दूसरे उनको लूट का भी भय नहीं रहता था। धन को उन्मुक्त सौदागरों के माध्यम से इंग्लैंड भेजने की सुविधा भी थी। कंपनी के निदेशकों एवं लॉर्ड कार्नवालिस जैसे विवेकशील गवर्नरों ने कंपनी के कर्मचारियों पर व्यक्तिगत व्यापार छोड़ने के लिए दबाव डाला, इस कारण से ''उन्मुक्त सौदागरों'' को कंपनी के कर्मचारियों से अधिक पूँजी प्राप्त हुई। वे ऐसे कार्य करते कि उनको कंपनी के कर्मचारियों का एजेंट कहा जाता। इसी के साथ उन एजेंसी संगठनों का विकास हुआ जिनको 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में प्रबंधक एजेंसीज के नाम से पुकारा जाने लगा।

इसी बीच इंग्लैंड में ईस्ट इंडिया कंपनी के विशेषाधिकार पर एकाधिपत्य की आलोचना होने लगी। उन्मुक्त व्यापार के जिसको कि एडम स्मिथ (वेल्थ ऑफ नेशंस, 1976) ने प्रचारित किया था, एकाधिकारवादी विरोधी थे। भारतीय व्यापार से ईस्ट इंडिया कंपनी द्वारा अलग किए गए पूँजीपतियों ने स्वाभाविक रूप से उन्मुक्त व्यापार के अभियान का समर्थन किया। इंग्लैंड में पूँजी संचयन निवेश पर लगे प्रतिबंधों से स्वतंत्रता चाहते थे। इससे भी अधिक औद्योगिक क्रांति के जारी रहने से 18वीं सदी के उत्तरार्द्ध में औद्योगिक पूँजीपतियों के हित और भी महत्वपूर्ण हो गये । इंग्लैंड की संसद में एक ऐसी शक्तिशाली लॉबी थी जो कंपनी के एकाधिकार को समाप्त करने के लिए दबाव बनाए हुए थी। इन परिस्थितियों में 1813 में चार्टर अधिनियम को पारित कर दिया गया जिससे कि भारतीय व्यापार में एकाधिकार समाप्त हो गया। 1833 के दूसरे चार्टर अधिनियम ने चीन के व्यापार में कंपनी के शेष विशेषाधिकार पर एकाधिपत्य को भी समाप्त कर दिया। इस प्रकार, दो सौ वर्षों से भी अधिक के बाद ईस्ट इंडिया कंपनी को प्रदान किए गए एकाधिपत्य को सरकार ने वापस ले लिया।

बोध प्रश्न 1

1) संयुक्त स्टॉक कंपनियों के क्या लाभ हैं? पाँच पंक्तियों में उत्तर दें।

....

....

....

....

....

2) ''व्यापार के एकाधिपत्य'' से आप क्या समझते हैं?

....

....

....

....

....

3) भारतीय व्यापार पर अपने एकाधिपत्य को कायम रखने के लिए ईस्ट इंडिया कंपनी ने किन-किन चुनौतियों का सामना किया? 100 शब्दों में उत्तर दें।

....

....

....

....

....

....

....

....

....

....

14.5 कंपनी के व्यापार की प्रकृति

हमने अभी तक अंग्रेजी सरकार द्वारा प्रदान किए गए वैध एकाधिपत्य का विवेचन किया। वास्तव में एकाधिपत्य को समाप्त कर दिया गया था, जैसा कि हमने ऊपर देखा। फिर भी, भारत के कुछ भागों में कंपनी और व्यक्तिगत अंग्रेज व्यापारियों को सामूहिक रूप से वास्तव में एकाधिपत्य प्राप्त था। 18वीं सदी के अंतिम दशक से यह बंगाल के बारे में पूर्णरूपेण सत्य था। (इस खंड की इकाई 18 में हम इस इतिहास का विस्तृत विवेचन करेंगे)।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

जबकि वाणिज्य पूँजीवादी व्यवसाय का सार सस्ता खरीदना एवं महँगा बेचना है, तब प्रतिस्पर्धा को कम करना व्यापार का स्वाभाविक लक्ष्य होगा। यदि आपका लक्ष्य सस्ता खरीदना है, तब बाजार में खरीदारों का कम होना आपके लिए लाभदायक सिद्ध होगा। निश्चय ही यह सस्ता खरीदने में सहायता करता है। इसी प्रकार आप अपने सामान को तभी महँगा बेच पाएँगे जब कम से कम विक्रेता हों। लेकिन वास्तविक जीवन में, पुस्तकों में दी गई एकाधिकारवाद की परिभाषा कि बाजार में एकमात्र खरीददार हो, कार्यरूप में कदाचित् ही सत्य होती हो। अत: परिस्थितियों को अपने अनुकूल बनाने के लिए शक्ति का प्रयोग, वैधानिकता या प्रतियोगियों को हटाने के लिए युद्ध जैसे साधनों को अपनाया जाता है। भारत में ईस्ट इंडिया कंपनी ने इन सभी साधनों का भरपूर उपयोग किया।

जैसा कि आप पहले से ही जानते हैं (खंड 2) कि ईस्ट इंडिया कंपनी का मुख्य व्यवसाय मसालों, नील, सूती कपड़ों आदि उपभोग की वस्तुओं का उपार्जन करना एवं उनका यूरोप को निर्यात करना था। प्रारंभ में इन वस्तुओं का भारत में उपार्जन काफी प्रतियोगी परिस्थितियों के अंतर्गत किया गया। सत्रहवीं सदी की एक फैक्ट्री की सामान्यत: प्रतियोगिता स्थानीय या देश के सौदागरों और दूसरी यूरोपीय ईस्ट इंडिया कंपनियों सहित विदेशी व्यापारियों के साथ होती थी। 18वीं सदी के दौरान अंग्रेजों ने लगातार लाभ की स्थिति को प्राप्त किया। इसके कुछ कारण थे:

i) दूसरी यूरोपीय ईस्ट इंडिया कंपनियों की शक्ति को कम कर दिया गया, अंग्रेजी ईस्ट इंडिया कंपनी ने ऐसा दूसरी कंपनियों पर सैन्य एवं राजनैतिक विजय प्राप्त करके किया। इसको खंड 3 में उद्धृत किया गया है।

ii) मुगल साम्राज्य के पतन के बाद के उत्तराधिकारी राज्यों एवं रियासतों की कमजोरी ने

ईस्ट इंडिया कंपनी को ऐसा अवसर प्रदान किया जिससे रिश्वत तथा बल प्रयोग द्वारा स्थानीय राज्यों से यूरोपीय व्यापारियों को विशेष व्यापार विशेषाधिकारों को लिया जा सके।

iii) कारीगरों (जुलाहों) तथा किसानों (नील उत्पादकों) का सस्ते दाम पर सामान का उत्पादन कराने के लिए 18वीं सदी के अंतिम दशक से ही शोषण किया गया और कंपनी के लिए सामान का उत्पादन करने के लिए उनको बाध्य किया गया। 18वीं सदी के अंत में ईस्ट इंडिया कंपनी के कर्मचारियों ने व्यक्तिगत व्यापार में जिस स्थिति को प्राप्त कर लिया था उसको, यूरोप को निर्यात की जाने वाली मुख्य वस्तुओं के प्रति सामूहिक एकाधिकार की स्थिति के रूप में वर्णित किया गया।

14.6 वाणिज्य व्यवसाय और राजनैतिक शक्ति

अभी तक हमने वाणिज्य पूंजीवादी गतिविधियों की उन विशेषताओं का विवेचन किया है जिनका संकेत ईस्ट इंडिया कंपनी के द्वारा दिया गया था, लेकिन हमने इस प्रश्न के विषय में कुछ नहीं कहा कि ईस्ट इंडिया कंपनी के सौदागरों को क्षेत्रीय प्रसार प्रारंभ करने के लिए किन कारणों ने प्रेरित किया और प्रारंभ में इस प्रसार का राजनीति के साथ क्या संबंध था? व्यापारियों द्वारा भारत के साथ यूरोपीय व्यापार के प्रारंभ में समय-समय पर एक या अधिक जहाजों से समुद्री यात्राएँ करनी पड़ती थीं। फिर, जब कभी कोई "जहाजी बेड़ा" भारतीय बंदरगाह पर पहुँचता तब संक्षिप्त समय में भारत के अंदर सामान की एक बड़ी मात्रा का उपार्जन करना कोई सरल कार्य न था। इसलिए किसी उत्पादन केंद्रों के बड़े समुद्रीय बंदरगाहों के पास फैक्ट्रियों को स्थापित करना आवश्यक हो गया। आपको यह समझ लेना चाहिए कि ये आज की उन फैक्ट्रियों की भाँति नहीं थी जहाँ पर वास्तविक उत्पादन किया जाता है, 17वीं एवं 18वीं सदियों में अंग्रेजी में फैक्ट्री शब्द का अर्थ था कि किसी विदेशी कंपनी द्वारा विदेशी व्यापार के केंद्रों की स्थापना करना। जिन अधिकारियों की यहाँ पर नियुक्ति की जाती थी उनको "फैक्टर्स" कहा जाता था और ये अनिवार्य रूप से वेतनभोगी एजेंट थे जो ईस्ट इंडिया कंपनी की ओर से निर्यात के लिए सामान की खरीददारी करते थे। अब, अन्य ईस्ट इंडिया कंपनियों के साथ-साथ अंग्रेजी कंपनी भी इन फैक्ट्रियों के चारों ओर किलों का निर्माण कर इनको सुरक्षित करना चाहती थी। मुगल साम्राज्य के पतन के कारण कुछ क्षेत्रों में इस प्रकार की किलेबंदी करना संभवत: आवश्यक हो गया था और कुछ स्थानीय सरकारों ने मूक रूप से या स्पष्ट तौर पर ईस्ट इंडिया कंपनी को भूमि प्राप्त करने तथा किलों के निर्माण करने की अनुमति प्रदान कर दी। लेकिन कंपनियों ने आत्म-रक्षा की वैधानिकता की सीमाओं का उल्लंघन करना शुरू कर दिया और अपने व्यापारिक केंद्रों की किलेबंदी एवं सैन्यकरण इस ढंग से किया कि वे स्थानीय सरकारों को चुनौती देने वाले सैन्य केंद्र बन गए। कलकत्ता का फोर्ट विलियम तथा मद्रास का फोर्ट सैंट जॉर्ज इस के प्रमुख उदाहरण थे। (देखें खंड 3)। इस प्रकार किलों ने विदेशी सौदागरों को एक ऐसा केंद्र उपलब्ध करा दिया जहाँ से उनको पड़ोसी क्षेत्रों पर अपना नियंत्रण फैलाने का अवसर प्राप्त हो गया। कभी-कभी कंपनी के क्षेत्रीय दावों का आधार वैध होता था (जैसे कि बंगाल में कंपनी को जमींदारी अधिकारों को प्रदान किया गया)। लेकिन अपवाद को छोड़कर 18वीं सदी के अंतिम दशकों में क्षेत्रीय दावों का वास्तविक आधार कंपनी की सैन्य शक्ति था। आप पहले से जानते हैं कि 18वीं सदी के मध्य से यूरोपीय कंपनियों ने कैसे क्षेत्रीय शक्तियों के रूप में कार्य किया (खंड 3)।

अंग्रेजी ईस्ट इंडिया कंपनी के व्यापार का विकास चरणों में हुआ। जहाजी बेड़े की व्यवस्था से "फैक्ट्री व्यवस्था, फिर उसके बाद किलेबंदी की व्यवस्था और वहाँ से एक क्षेत्रीय शक्ति के रूप में विकसित होकर कंपनी ने अपने व्यापार में अत्याधिक वृद्धि की। कंपनी की राजनीतिक के विस्तार की यह प्रक्रिया काफी जटिल थी। उदाहरणस्वरूप सैन्य शक्ति का रखना कंपनी की राजनीतिक अनिवार्यता थी। सस्ती कीमतों पर सामान का उत्पादन कराने के लिए कारीगरों (अर्थात् बंगाल के जुलाहों) का दमन करने में इस सैन्य शक्ति ने मदद की, स्थानीय व्यापारियों को कंपनी के एजेंटों और व्यक्तिगत व्यापारियों का बिचौलिया बनाने में तथा अन्य विदेशी सौदागरों को विशेषकर फ्रांसीसियों एवं डचों को) अंग्रेज व्यापारियों के साथ प्रतियोगिता से अलग करने में भी इस सैन्य शक्ति की उपयोगिता रही। इसके अलावा, एक सैन्य तथा क्षेत्रीय शक्ति स्थानीय रियासतों से रिश्वत तथा धन वसूल

कर सकती थी तथा युद्धों में लूट के द्वारा भी धन अर्जित किया जा सकता था। अंततः राजनैतिक शक्ति पर नियंत्रण से राजस्व पर भी नियंत्रण स्थापित हो गया। इसका उत्तम उदाहरण 1765 में बंगाल की दीवानी का प्राप्त हो जाना था। बंगाल के भू-राजस्व में कंपनी की हिस्सेदारी हो जाने से इंग्लैंड से भेजी जाने वाली सोने-चाँदी की मात्रा को वर्षों तक कम कराने में कंपनी सफल हो गई। कंपनी द्वारा निर्यात करने के लिए भारत में सामान को खरीदने में चाँदी की आवश्यकता होती थी। निश्चय ही कंपनी की यह इच्छा थी कि इंग्लैंड से निर्यात होने वाली चाँदी को कम किया जाए तथा यह तभी संभव था जबकि भारत से निर्यात होने वाली वस्तुओं की अदायगी नकद पैसे के द्वारा की जाए। कंपनी की राजनैतिक अभिलाषाओं में बहुत से आर्थिक हित निहित थे और यही अंग्रेजों के हितों के लक्ष्य थे। इससे आप समझ सकते हैं कि 18वीं सदी में भारत के राजनैतिक इतिहास में कंपनी ने कैसे एक प्रबल भूमिका अदा की और 19वीं सदी के प्रारंभ में उसका उद्भव सबसे शक्तिशाली राजनीतिक शक्ति के रूप में हुआ।

14.7 औद्योगिक पूँजीवाद का उदय और कंपनी की वाणिज्यिक नीतियाँ

1750 में इंग्लैंड में राष्ट्रीय आमदनी का लगभग 40 से 50 प्रतिशत कृषि क्षेत्र में पैदा किया जाता था, 1851 तक कृषि का भाग 20 प्रतिशत तक कम हो गया और 1881 तक यह राशि 10 प्रतिशत तक आ गई। इंग्लैंड की राष्ट्रीय आमदनी में विदेश व्यापार का योगदान 1790 में 14 प्रतिशत था, 1880 में यह 36 प्रतिशत तक बढ़ गया। यह इंग्लैंड में औद्योगीकरण की तेज गति का सूचक है। इसने इंग्लैंड को 18वीं सदी के उत्तरार्द्ध तथा 19वीं सदी के प्रारंभ में पूरी तरह से रूपांतरित कर दिया। (खंड 2 में इस रूपांतरण के कुछ पक्षों का विवेचन किया गया था)। इसके फलस्वरूप औद्योगिक उत्पाद तथा इस उत्पाद में विदेश व्यापार ने इंग्लैंड की अर्थव्यवस्था में प्रमुखता प्राप्त कर ली। विशेषकर अंग्रेजी सूती कपड़ा उद्योग के विकास का स्पष्टतः अर्थ था कि इंग्लैंड में भारतीय सूती कपड़ों की माँग का अन्त। उसी के साथ-साथ इंग्लैंड अब भारत तथा अन्य देशों में अपने सूती कपड़ों के लिए बाजार की तलाश कर रहा था।

औद्योगिक सामान को तैयार करने के लिए अब इंग्लैंड को पहले से अधिक कच्चे माल की आवश्यकता थी, उदाहरण के रूप में, औद्योगीकरण के बाद इंग्लैंड भारत एवं अन्य देशों से कपास का आयात करने लगा। इस प्रकार अंग्रेजी औद्योगिक क्रांति से पूर्व अर्थात् वाणिज्य पूँजीवाद के युग में भारत और इंग्लैंड के बीच आर्थिक रिश्तों का जो आधार था उसकी तुलना में औद्योगिक क्रांति के बाद इन रिश्तों का संपूर्ण आधार भिन्न हो गया था।

संक्षेप में, इंग्लैंड के प्रथम औद्योगिक पूँजीवादी देश में रूपांतरण हो जाने से व्यापारी कंपनी द्वारा अधिकृत भारतीय साम्राज्य की भूमिका में भी बदलाव आया। सौदागरों की कंपनी तथा उनका साम्राज्य इन नयी परिस्थितियों में एक नवीन भूमिका की ओर अग्रसर हो रहा था। इस अध्याय में जिस काल अर्थात् 1887 तक के समय का आप अध्ययन कर रहे हैं, उसमें नए साम्राज्यवाद के प्रारंभ को देखा जा सकता है। इस समय में भारतीय उत्पादित सामान के इंग्लैंड को होने वाले निर्यात में कमी आई। भारत से इंग्लैंड को निर्यात होने वाले कपड़ों का मूल्य 1815 में 13 लाख पौण्ड था, लेकिन यह निर्यात कम होकर मात्र एक लाख पौण्ड मूल्य का रह गया। ठीक इसी के दौरान इंग्लैंड से भारत को आयात होने वाले सूती कपड़ों में 15 गुणा वृद्धि हुई। इससे पूर्व शताब्दी में कंपनी की वाणिज्य नीति की प्रधानता निर्यात के लिए भारत में सूती वस्त्रों को खरीदना थी। 19वीं सदी के प्रारंभिक दशकों में उपार्जन या खरीददारी को स्वाभाविक रूप में बन्द कर दिया गया। कंपनी के व्यापारिक जीवन के अंतिम दिनों में अर्थात् 1820 के दशक में इसके द्वारा इंग्लैंड को कपास से निर्मित किसी भी उत्पाद का निर्यात नहीं किया गया। जिन वस्तुओं का निर्यात किया गया उनमें केवल कच्ची रेशम, शोरा या बारूद के लिए कच्चा माल, कृषि उत्पाद के रूप में नील, और (एक मात्र उत्पादित वस्तु) रेशम के वस्त्रों की बहुत कम मात्रा निर्यात की जाती थी। जहाँ तक इंग्लैंड में आयात का प्रश्न है, कंपनी ने 1824 से इसको पूर्णतः बन्द कर दिया, वह केवल सैनिक सामान का आयात करती थी और इसका वह स्वयं ही उपयोग करती। भारत और यूरोप के मध्य व्यापार कंपनी के हाथों से निकलकर व्यक्तिगत व्यापारियों के हाथों में चला गया, जैसा कि आप 1813 के चार्टर अधिनियम से जानते हैं कि भारतीय

MAADHYAM IAS

व्यापार को पूर्णत: व्यक्तिगत व्यापारियों के लिए खोल दिया गया।

कंपनी की नीतियों एवं वित्त में एक दूसरा महत्वपूर्ण परिवर्तन 19वीं सदी के प्रथम दशकों में हुआ। यह कंपनी की गैर-व्यापारिक आमदनी में वृद्धि होना था, अर्थात् इसको क्षेत्रीय राजस्व कहा जाता था और इसको भू-राजस्व तथा कंपनी द्वारा विजित क्षेत्रों से दूसरे कर वसूल करके प्राप्त किया जाता था। उसी समय व्यापारिक आमदनी में गिरावट आयी क्योंकि, जैसा कि आप पहले से ही जानते हैं, इन वर्षों में कंपनी के व्यापार में समापन बिन्दु तक कमी आई। इस तरह से 1820 से कंपनी क्षेत्रीय राजस्व पर निर्भर करने लगी जबकि 1765 तक उसकी आमदनी केवल व्यापारिक लाभ से आती थी। 1765 से कंपनी के द्वारा बंगाल की दीवानी प्राप्त हो जाने पर, क्षेत्रीय राजस्व में वृद्धि होने लगी तथा इसी के साथ व्यापारिक आमदनी में कमी आयी। इस प्रकार कंपनी का वित्त एक व्यापारिक कार्पोरेशन का एक क्षेत्रीय शक्ति में हुए रूपांतरण को प्रतिबिम्बित करता था।

अंत में यह समझा जा सकता है कि कंपनी के द्वारा एकत्रित किए गए राजस्व को व्यापारिक उद्देश्यों की ओर मोड़ना उसकी एक सोची-समझी नीति थी। इसका परिणाम यह हुआ कि 1765 से कंपनी बंगाल सरकार का भी एक हिस्सा थी और ठीक उसी समय वह एक व्यापारिक कंपनी भी थी। बंगाल के राजस्व के एक पर्याप्त भाग का उपयोग इंग्लैंड को निर्यात करने वाले सामान के खरीदने पर किया जाता और इसको भी "निवेशीकरण" का नाम दिया जाता। जैसा कि 1783 में इसके विषय में हाउस ऑफ कॉमन्स की एक समिति ने कहा भी, "इस तरह का निवेशीकरण" बंगाल में लाई गई व्यापारिक पूंजी को वास्तविक रूप में खर्च करना न था, अपितु यह "एक नजराने की अदायगी" का साधन मात्र था। यहाँ भारतीय राष्ट्रवादियों द्वारा कहे जाने वाले "आर्थिक निकास" का एक विशेष उदाहरण था। इस क्षेत्रीय राजस्व के बल पर कंपनी को उधार में धन की प्राप्ति हो जाती थी (इसको क्षेत्रीय ऋण कहा जाता था) और इसकी अदायगी उस सैनिक कार्रवाई के लिए की जाती जो आगे क्षेत्रीय प्रसार के लिए होती थी।

बोध प्रश्न 2

1) उन कारणों की सूची बनाइए जिन्होंने भारत में ईस्ट इंडिया कंपनी को क्षेत्रीय एव राजनीतिक शक्ति को प्राप्त करने के लिए प्रेरित किया।

....

....

....

....

....

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

2) औद्योगिक क्रांति के द्वारा कंपनी की वाणिज्य नीति में क्या परिवर्तन किए गए? 100 शब्दों में उत्तर दें।

....

....

....

....

....

....

....

3) निम्नलिखित वाक्यों को पढ़कर उनके सम्मुख सही (✓) या गलत (×) का निशान लगाइए।

i) 1813 के चार्टर अधिनियम को ब्रिटिश संसद ने भारतीय व्यापार में ईस्ट इंडिया कंपनी के एकाधिकार को सामाप्त करने के लिए पारित किया।

ii) 17वीं एवं 18वीं सदियों में अंग्रेजों के द्वारा भारत में स्थापित की गई फैक्ट्रियाँ विदेशी व्यापारिक केंद्र थे।

iii) ईस्ट इंडिया कंपनी ने भारत में राज्य शक्ति को प्राप्त करने का प्रयास किया क्योंकि स्थानीय शासक देश का उचित प्रकार से प्रशासन चलाने में असफल हुए।

iv) इंग्लैंड में औद्योगीकरण ने भारत तथा इंग्लैंड के बीच आर्थिक रिश्तों में कोई मूलभूत परिवर्तन नहीं किया।

iiv) 19वीं सदी के प्रारंभ में क्षेत्रीय राजस्व से होने वाली कंपनी की आमदनी में व्यापारिक लाभ की तुलना में वृद्धि हुई।

14.8 सारांश

इस इकाई में आपने ईस्ट इंडिया कंपनियों की संरचना का संयुक्त स्टॉक कंपनियों के रूप में अध्ययन किया और आपने देखा कि किस ढंग से उनकी अपनी-अपनी सरकारों ने उन्हें एकाधिकार विशेषाधिकारों को प्रदान किया। लेकिन 18वीं सदी के दौरान इस एकाधिकार को व्यक्तिगत व्यापार ने पर्याप्त मात्रा में कमजोर कर दिया था। एकाधिकारवादी कंपनी तथा उन्मुक्त व्यापारियों के मध्य हुए संघर्ष के कारण वैध एकाधिकार व्यापार के अधिकार को वापस लेना पड़ा। व्यवहारिक तौर पर, एक सामूहिक एकाधिकार स्थिति को अंग्रेजी ईस्ट इंडिया कंपनी तथा कंपनी के कर्मचारियों ने 18वीं सदी के अंतिम दशकों से भारत के कुछ हिस्सों में मुख्य निर्यात उपभोग वस्तुओं के संदर्भ में प्राप्त किया। यह अंग्रेजी कंपनी के राजनैतिक प्रभुत्व तथा क्षेत्रीय प्रसार के बढ़ने के साथ संयुक्त रूप से संवर्धित था। 18वीं सदी के अंत तथा 19वीं सदी के प्रारंभ में इंग्लैंड के औद्योगिक रूपांतरण के कारणवश कंपनी की वाणिज्य नीतियों में व्यापक परिवर्तन हुए। बहुत से वैधानिक उपायों के कारण ब्रिटिश सरकार का कंपनी के ऊपर नियंत्रण बढ़ता गया क्योंकि कंपनी एक व्यापारिक कंपनी से एक क्षेत्रीय शक्ति के रूप में परिवर्तित हो रही थी। इस खंड की इकाई 18 में हम कंपनी के भारत में व्यापार की विशेषताओं एवं परिणामों की विस्तृत रूप से विवेचना करेंगे।

14.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

बोध प्रश्न 1

1) देखें भाग 14.2

2) देखें भाग 14.3

3) आपको अपने उत्तर में कंपनी के अधिकारियों के व्यक्तिगत व्यापार की वृद्धि, उन्मुक्त सौदागरों की भूमिका, उन पूँजीपतियों को जो उन्मुक्त व्यापार आदि का समर्थन करते थे, उद्धृत करना चाहिए। देखें भाग 14.4

बोध प्रश्न 2

1) देखें भाग 14.6

2) आपके उत्तर को भारतीय उत्पादित माल के इंग्लैंड को होने वाले निर्यात में कमी, भारत से इंग्लैंड को बढ़ता माल का निर्यात, भारत के बाजार में अंग्रेजी उत्पादित माल का बढ़ता निर्यात, कंपनी के क्षेत्रीय राजस्व में वृद्धि आदि पर केन्द्रित होना चाहिए। देखें भाग 14.7

3) i) ✓ ii) iii) iv) ✗ v) ✓

इकाई 15 नयी भू-व्यवस्थाएँ

इकाई की रूपरेखा

15.0 उद्देश्य
15.1 प्रस्तावना
15.2 भू-राजस्व प्रबंध के आरंभिक प्रयोग
15.3 बंगाल में स्थायी बंदोबस्त
 15.3.1 जमींदारों के साथ बंदोबस्त
 15.3.2 खेतिहरों की स्थिति
 15.3.3 स्थाई बंदोबस्त का प्रभाव
15.4 स्थाई बंदोबस्त से मोहभंग
15.5 वैकल्पिक व्यवस्थाओं का उदय
 15.5.1 रैयतबाड़ी के तहत कर निर्धारण
 15.5.2 मद्रास में रैयतवाड़ी व्यवस्था लागू करना
 15.5.3 रैयतवाड़ी : सिद्धांत और व्यवहार
 15.5.4 मद्रास में रैयतवाड़ी व्यवस्था का प्रभाव
 15.5.5 बंबई में रैयतवाड़ी बंदोबस्त
 15.5.6 मद्रास और बंबई में रैयतवाड़ी व्यवस्था के प्रभाव
15.6 अन्य वैकल्पिक बंदोबस्त: महलवाड़ी व्यवस्था
 15.6.1 महलवाड़ी : सिद्धांत और व्यवहार
 15.6.2 महलवाड़ी बंदोबस्त के प्रभाव
15.7 सारांश
15.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

15.0 उद्देश्य

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

इस इकाई में हम 1857 तक भारत के विभिन्न भागों में अंग्रेजों द्वारा किये गये भू-राजस्व बंदोबस्तों का अध्ययन करेंगे?

इस इकाई को पढ़ने बाद आप :

- ''राजस्व बंदोबस्त'' का अर्थ बता सकेंगे,
- विभिन्न ''बंदोबस्तों'' को लागू करने के पीछे अंग्रेजों के निहित उद्देश्यों का वर्णन कर सकेंगे,
- बंदोबस्त के तीन प्रमुख प्रकारों की महत्वपूर्ण विशेषताओं पर प्रकाश डाल सकेंगे, और
- इनमें से प्रत्येक महत्वपूर्ण ग्रामीण अर्थव्यवस्था और देहातों में विभिन्न वर्गों में संबंध पर पड़ने वाले प्रभावों को रेखांकित कर सकेंगे।

15.1 प्रस्तावना

कई शताब्दियों से कृषि भारतीय अर्थव्यवस्था का प्रमुख अंग रहा है। अत: स्वाभाविक तौर पर राजा और शासक अपने करों का अधिकांश भाग कृषि से ही प्राप्त करते थे। ब्रिटिश सरकार ने भारत के कई हिस्सों पर अधिकार जमाया और कृषि पर भारी कर लगाए। इन करों के निर्धारण और वसूली के लिए उन्होंने कई प्रकार के भू-राजस्व बंदोबस्त कायम किए।

आइए, हम यह समझने की कोशिश करें कि इसका अर्थ क्या है? मान लीजिए ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी ने कुछ भारतीय राजाओं को पराजित कर उनके राज्यों को हस्तगत कर लिया होता। अब वे इस भूमि से कर वसूलने का प्रयत्न करते। आप यह भी सोच सकते हैं कि यह कार्य लूट-खसोट के जरिए भी किया जा सकता था और वस्तुत: किसी राज्य के

हस्तगत करने क्रम में ऐसा किया भी गया। पर इसे लंबे समय तक जारी नहीं रखा जा सकता था, पहली बात यह कि इस प्रकार के लूट में लुटेरा लूट का माल अपने पास रख लेता है और सरकारी खजाने को इसका लाभ नहीं मिल पाता है और दूसरे इस प्रकार की गतिविधि से लोग या तो वह स्थान छोड़कर भागने लगते हैं और वह स्थान बिल्कुल कंगाल हो जाता है और फिर उनसे कुछ प्राप्त नहीं किया जा सकता है। अतः इसके लिए कराधार की नियमित व्यवस्था स्थापित करनी होती है।

इस प्रकार की व्यवस्था के लिए दो काम करने पड़ते हैं, पहले कर का निर्धारण किया जाता है और मूल्यांकन द्वारा यह निर्धारित किया जा सकता है कि कितनी राशि किस रूप में प्राप्त की जाएगी और उसके बाद यह तय किया जाता है कि इस कर की अदायगी कौन करेगा। इसके लिए ऐसे व्यक्ति का चुनाव किया जाता है, जिसका भूमि पर नियंत्रण हो और वह इससे जुड़ा हो, अन्यथा वह कुछ अदा करने में असमर्थ होगा। अतः जब सरकार कर अदायगी का भार किसी व्यक्ति पर सौंपती है, तो वह यह निश्चित कर लेती है कि इस व्यक्ति का भूमि पर किसी न किसी प्रकार अधिकार है, वह इससे आय अर्जित करता है, जिसमें से वह कर की अदायगी कर सकता है। अगर वह भूमि से कुछ आप नहीं प्राप्त कर सकेगा तो वह स्पष्टतः सरकार को भी कुछ नहीं दे पाएगा। सरकार जब यह तय कर लेती है कि कैसे भू-कर (या भू-राजस्व) का निर्धारण किया जाएगा और कौन इसकी अदायगी करेगा और कर के रूप में किस चीज का भुगतान होगा, तब भू-राजस्व बंदोबस्त का महत्वपूर्ण काम समाप्त हो जाता है। इस इकाई में हमने भारत में ब्रिटिशों द्वारा स्थापित विभिन्न भू-राजस्व के बंदोबस्त, उनकी विशेषताओं और भारतीय अर्थव्यवस्था और समाज पर पड़ने वाले उनके प्रभावों की चर्चा की है।

15.2 भू-राजस्व प्रबंधन के आरंभिक प्रयोग

1757 में बंगाल पर अधिकार जमाने के बाद अंग्रेजों ने बंगाल के नवाबों द्वारा स्थापित प्रशासन को बरकरार रखा, बस इसका उपयोग उन्होंने अपने लिए अधिक से अधिक धन उगाहने के लिए किया। पर कंपनी के कर्मचारियों की लोलुपता और भ्रष्टाचार और प्रशासन में उनके लगातार हस्तक्षेप के कारण मामला बिल्कुल अव्यवस्थित हो गया और यह 1769-70 के अकाल का एक महत्वपूर्ण कारण बना। इसमें बंगाल की एक तिहाई जनता अकाल का ग्रास बन गयी।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

अतः 1772 से ''खेती व्यवस्था'' (फार्मिंग सिस्टम) के नाम से एक नयी व्यवस्था लागू की गयी। इस व्यवस्था के तहत सरकार ठेके पर भू-राजस्व का जिम्मा किसी व्यक्ति को सौंप देती थी। जो ठेकेदार सबसे ज्यादा बोली लगाता था, उसे एक जिले या प्रखंड से कुछ समय के लिए राजस्व वसूलने का अधिकार दे दिया जाता था। निश्चित रूप से ये ठेकेदार (उन दिनों इन्हें ''किसान'' कहा जाता था) अपने ठेके की अवधि में अधिक से अधिक लगान वसूलने की कोशिश करते थे इस बात से उन्हें कोई सरोकार नहीं था कि लोग इससे कंगाल हो जाएंगे और अगले साल इसका असर उत्पादन पर पड़ेगा। उन्हें केवल मुनाफा कमाने से मतलब था। इस व्यवस्था के कारण शोषण और अत्याचार बढ़ा। बाद में कुछ ठेकेदारों ने यह महसूस किया कि उन्होंने बोली ज्यादा बढ़ाकर लगा दी है और इस शोषण और अत्याचार के बावजूद वे इतनी बड़ी रकम नहीं जुटा सकते हैं। अंततः इस व्यवस्था की परिणति भी भ्रष्टाचार में हुई। जैसा कि आज भी सरकारी ठेकों में होता है, सरकारी कर्मचारी अपने दोस्तों और चहेतों को आसान दर पर ठेका दिलवा दिया करते थे और कर्मचारी अपने नाम से ''बेनामी'' ठेका ले लेते थे, इससे सरकार को घाटा होता था। 1768 में लार्ड कार्नवालिस को प्रशासन को भ्रष्टाचार से मुक्त करने और पुनर्संगठित करने के लिए भारत भेजा गया।

15.3 बंगाल में स्थाई बंदोस्त

कार्नवालिस ने भारत आकर महसूस किया कि वर्तमान व्यवस्था देश को दरिद्र बना रही थी और यहाँ कृषि पतनोन्मुख थी इसके अलावा इसका उत्पादन इतना कम था कि यह कंपनी की

जरूरतों को पूरा नहीं कर सकती थी। कंपनी कृषि से बृहद् और नियमित आय की आशा करती थी। कार्नवालिस ने यह भी महसूस किया कि कंपनी भारत से जिन वस्तुओं को यूरोप में बाजारों में बेचने के लिए ले जाना चाहती थी, उनके उत्पादन में भी कमी आयी, मसलन रेशम, सूत आदि, क्योंकि ये भी कृषि पर ही आधारित थे। जब कृषि पतनोन्मुख हो, तो हस्तशिल्प उद्योग कभी भी पनप नहीं सकता। लंदन में बैठे अधिकारियों और कार्नवालिस ने यह महसूस किया कि कराधान की अनियमितता और अव्यवस्था के कारण ही भ्रष्टाचार भी है और शोषण भी।

अतः अब भू-कर को स्थाई तौर पर निर्धारित करने का निर्णय लिया गया, सरकार ने आश्वासन दिया कि वह भविष्य में कभी कर नहीं बढ़ाएगी। इस आश्वासन से कई प्रकार के परिणामों की आशा की गयी। यह भ्रष्टाचार को कम करेगा और पदाधिकारियों द्वारा मनमाने ढंग से करारोपण पर रोक लगाएगा। इसके अलावा उत्पादन में वृद्धि के बावजूद राज्य अतिरिक्त मांग नहीं करेगा, इससे भूमि पर भूमि की उपज बढ़ाने के लिए धन निवेशित करेंगे, क्योंकि मुनाफे का पूरा हिस्सा उनका होगा। इससे उत्पादन और व्यापार में वृद्धि होगी और सरकार को भी नियमित रूप से कर मिलता रहेगा। अंततः कार्नवालिस का यह मानना था कि भूमि कर स्थाई हाने के बावजूद, सरकार अपनी जरूरतों को पूरा करने के लिए व्यापार और वाणिज्य पर कभी भी कर बढ़ा सकती थी वस्तुतः भूमि कर का निर्धारण भी काफी अधिक दर पर किया गया था। भूमि कर की कुल रकम 2 करोड़ 65 लाख रुपये तय की गयी थी।

15.3.1 जमींदारों के साथ बंदोबस्त

इस प्रकार हमने देखा कि भू-राजस्व स्थाई तौर पर निर्धारित कर दिया गया। पर सवाल यह था कि यह किसके माध्यम से वसूला जाए? बंगाल के नवाब जमींदारों के मार्फत कर वसूला करते थे। इन जमींदारों के अधिकार में काफी बड़ा इलाका होता था, कभी-कभी पूरा जिला इनके नियंत्रण में होता था। उनके पास अपनी सेनाएँ होती थीं और उन्हें राजा कहा जाता था। पर कुछ ऐसे छोटे इलाके भी थे, जहाँ से लगान की वसूली सीधे या किसी बड़े जमींदार के माध्यम से की जाती थी। खेती का काम किसान करते थे और वे प्रत्येक उपमंडल (या परगना) में निर्धारित स्थाई प्रथमानुसार दर से कर का भुगतान जमींदार को करते थे। शोषक जमींदार नियमित भू-राजस्व दरों के अतिरिक्त भी कर लगा देते थे। इस प्रकार के कर को "अबवाब" कहा जाता था।

MAADHYAM IAS

1790 तक ब्रिटिश शासन ने इस व्यवस्था को अस्त-व्यस्त कर दिया। कुछ जमींदारों का स्थान ठेकेदारों या पदाधिकारियों ने ले लिया। पुरानी प्रथागत दरों को नजरअंदाज किया गया और राजस्व बढ़ाने के लिए सभी तरह के गैर कानूनी कार्य किये गये। कार्नवालिस के आगमन के पूर्व पूर्णतः अव्यवस्था का माहौल था। नया गवर्नर जनरल ब्रिटेन के भूमिपति कुलीन वर्ग का सदस्य था। अतः वह जमींदारों को जमीन की मिल्कियत देने के पक्ष में था। उसके दिमाग में अंग्रेज भूमिपतियों का चित्र था, जिन्होंने खेतों को विकसित किया था। इसके अतिरिक्त राजस्व निर्धारण के लिए सरकार के पास अन्य किसी वर्ग के साथ बंदोबस्त करना कठिन था।

इस स्थिति को समझने के लिए आपका यह जानना जरूरी है कि उस समय बिहार, बंगाल और उड़ीसा को मिलाकर कुछ चालीस से पचास लाख किसान परिवार खेती में कार्यरत थे। उनसे सीधे तौर पर कर वसूली के लिए उनके खेतों का पूरा ब्यौरा तैयार करना पड़ता और उस आधार पर कर का निर्धारण करना पड़ता इसके लिए कई वर्ष लगाने पड़ते और काफी संख्या में कर्मचारियों की नियुक्ति करनी पड़ती। इससे भ्रष्टाचार को भी बढ़ावा मिलता। स्पष्ट रूप से कुछ बड़े जमींदारों से राजस्व वसूलना ज्यादा सरल था और बिहार तथा बंगाल में यही व्यवस्था 1793 में स्थायी बंदोबस्त के तहत की गयी। सभी खेतिहर इलाके विभिन्न जमींदारियों में बंट गये। जमींदार को एक निर्धारित कर की अदायगी करनी होती थी, जब तक वह अपना कार्य कुशलता से संपन्न करता रहता था तब तक वह अपनी जमींदारी का मालिक होता था। वह इसे बेच सकता था, गिरवी रख सकता था या इसे हस्तांतरित कर सकता था। काल-क्रम से उसके वंशज जमींदारी उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त करते थे। पर, अगर जमींदार निर्धारित कर अदा करने में असफल रहता था, तो सरकार उसकी जमींदारी को दखल कर लेती थी और उसे नीलाम कर देती थी। इस प्रकार सभी अधिकार नये मालिक को मिल जाते थे।

15.3.2 खेतिहरों की स्थिति

खेती का काम लाखों किसान किया करते थे, जो अब जमींदार के काश्तकार मात्र रह गये थे। कार्नवालिस ने यह निर्णय भी जारी किया था कि जमींदार किसानों से लिखित समझौता (पट्टा) करेंगे और इसमें किसानों द्वारा दिए जाने वाले राजस्व का हवाला होगा। उसका विश्वास था कि इससे किसानों पर होने वाले शोषण में कमी आएगी। व्यावहारिक तौर पर, वस्तुतः किसी किसान को पट्टा नहीं दिया गया और किसान पूर्वतः जमींदारों की दया पर आश्रित थे।

यह स्थिति आकस्मिक नहीं थी। जैसा कि हमने पहले भी जिक्र किया है कि स्थाई बंदोबस्त में कर-निर्धारण बहुत ज्यादा दर पर किया गया था। यह निर्धारण बहुत ज्यादा था और इससे शोषण को बढ़ावा मिला। एक जानकार पदाधिकारी जौन शोर के अनुसार यदि किसी भूमि से 100 रुपये का अनाज पैदा होता था, तो उसमें से 45 रुपए सरकार खजाने में और 15 रुपये जमींदार के पास चले जाते थे। किसान के पास मात्र 40 रुपये बचते थे। इस प्रकार की भारी रकम दमनात्मक तरीके से ही वसूली जा सकती थी। अगर जमींदारों को किसानों का शोषण करने का अधिकार न दिया जाता तो वे सरकार की माँग की पूर्ति नहीं कर पाते। 1793, 1799 और 1812 में बने नियमों के तहत किसानों द्वारा रकम भुगतान न किये जाने की स्थिति में जमींदार किसान की जमीन जब्त कर सकता था। ऐसा करने के लिए उसे किसी न्यायालय की शरण में जाने की जरूरत नहीं थी। यह दमन का एक वैध तरीका था। इसके अतिरिक्त जमींदार किसानों द्वारा भुगतान न किए जाने पर अनेक अवैध तरीके भी अपनाते थे, मसलन किसानों को ताले में बंद कर देना, उन्हें पीटना आदि। अतः स्थाई व्यवस्था का तात्कालिक प्रभाव किसानों की दयनीय स्थिति के रूप में सामने आया। उनकी स्थिति पहले से भी खराब हो गयी। दूसरी तरफ ब्रिटिश सरकार और जमींदारों को इस व्यवस्था से खूब फायदा हुआ।

15.3.3 स्थाई बंदोबस्त के प्रभाव

ऊपर से देखने में यह लगता है कि यह व्यवस्था जमींदारों के हक में काफी मजबूत थी। पर हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि अब उन्हें प्रत्येक वर्ष एक निश्चित तारीख तक एक निश्चित रकम सरकारी खजाने में जमा करवा देनी पड़ती थी और इसमें चूकने पर जमींदारी की नीलामी हो जाती थी। इसके अतिरिक्त कुछ जमींदारियों की दर इतनी ज्यादा निर्धारित कर दी गयी थी कि बाढ़, सूखे और अन्य विपत्ति के कारण उनके पास कुछ भी नहीं बच पाता था। अतः परिणामस्वरूप स्थाई बंदोबस्त के तुरंत बाद अनेक जमींदारों की जमींदारी छीन ली गयी और ये जमींदारियाँ कई दशकों तक बिकती रहीं। अकेले बंगाल में 1794 और 1819 के बीच जमींदारों भूमि का 68 प्रतिशत बेचा गया। व्यापारियों, सरकारी पदाधिकारियों और अन्य जमींदारों ने ये जमीनें खरीदी। नये खरीददारों ने मुनाफा कमाने के लिए किसानों से अधिक रकम वसूलनी शुरू की। राजा राममोहन राय ने टिप्पणी की है :

"1793 से स्थाई बंदोबस्त के तहत भूमिपतियों ने लगान बढ़ाने की हर संभव कोशिश की है और इसके लिए अपनी संपूर्ण शक्ति का उपयोग किया है।" इसके बावजूद कई जमींदार ब्रिटिश सरकार द्वारा निर्धारित रकम को अदा करने में दिक्कत महसूस करते थे। एक ऐसे ही जमींदार, बर्दवान के राजा ने अपनी जमींदारी को कई टुकड़ों में बाँट दिया था, इन्हें पटनी तालुक कहते थे। इन सभी इलाकों को एक पटनीदार के हवाले किया गया, जो एक नियत राशि देने का वचन देता था। अगर वह रकम अदा करने में असफल रहता था, तो उसकी पटनी जब्त कर बेच दी जाती थी। अन्य जमींदारों ने भी यह प्रथा अपनाई—इस प्रकार सामंती व्यवस्था के कई स्तर कायम होने की प्रक्रिया शुरू हुई।

धीरे-धीरे बंगाल की जनसंख्या में वृद्धि हुई। उपेक्षित जमीनों और जंगलों को भी खेतों में परिणत किया गया। दूसरी तरफ सरकार को दी जाने वाली रकम स्थिर थी। अतः जमींदारों की स्थिति में सुधार आया और अपने काश्तकारों के खर्चे पर वे शानो-शौकत की जिंदगी बसर करने लगे। 1859 में जाकर सरकार ने काश्तकारों के अधिकारों के संरक्षण का कुछ प्रयास किया। एक कानून पारित किया गया, जिससे पुराने काश्तकारों को सीमित संरक्षण प्राप्त हुआ। इन्हें दखल काश्तकार (Occupancy Tenants) कहा गया।

15.4 स्थाई बंदोबस्त से मोहभंग

बंगाल में स्थाई बंदोबस्त लागू करते समय कार्नवालिस ने यह सोचा था कि इसे अन्य ब्रिटिश क्षेत्रों में भी कार्यान्वित किया जाएगा। और मद्रास सरकार ने वस्तुत: अपने क्षेत्र में इसका कार्यान्वयन आरंभ कर दिया था। पर इसकी खामियाँ बहुत जल्द स्पष्ट हो गयीं और ब्रिटिश पदाधिकारी इस व्यवस्था की तर्कसंगतता पर संदेह करने लगे।

अंग्रेजों के संदर्भ में इस व्यवस्था की सबसे बड़ी खाई यह थी कि इसमें कर बढ़ाने का कोई प्रावधान नहीं था, जबकि निरंतर युद्धों में उलझे रहने के कारण कंपनी का खर्च दिनोदिन बढ़ता जा रहा था। लार्ड वेलेस्ली 1798 से 1806 तक भारत का गवर्नर जनरल रहा। उसने वस्तुत: इंग्लैंड से आई व्यापारिक वस्तुओं की खरीद की राशि का युद्ध संबंधी खर्चे के लिए उपयोग किया। अत: पदाधिकारी सरकारी आय को बढ़ाने के तरीके के बारे में सोचने लगे। उनके अनुसार 1793 में जमींदारी आसान दरों पर दे दी गयी थी और यह गलती भविष्य में दुहराई नहीं जानी चाहिए। 1811 में लंदन सरकार ने बिना किसी अधिसूचना और भूमि के व्यापक सर्वेक्षण के बिना स्थाई बंदोबस्त को लागू करने के खिलाफ चेतावनी दी।

बोध प्रश्न 1

1) भू-राजस्व बंदोबस्त लागू करने के लिए अनिवार्य दो घटकों का उल्लेख कीजिए। उत्तर चार पंक्तियों में दीजिए।

....
....
....
....

2) बंगाल में स्थाई बंदोबस्त लागू करने के पीछे क्या मंशा थी? किसानों की स्थिति पर इसका क्या प्रभाव पड़ा? 100 शब्दों में उत्तर दीजिए।

MAADHYAM IAS
way to achieve your dream

....
....
....
....
....
....
....
....
....
....

3) खेती व्यवस्था पर लघु टिप्पणी लिखें।

....
....
....
....

15.5 वैकल्पिक व्यवस्थाओं का उदय

ब्रिटिश पदाधिकारियों ने भू-कर के निर्धारण और वसूली के अन्य तरीकों की खोज शुरू

कर दी। मुनरो और रीड नामक दो पदाधिकारियों को 1792 में मद्रास क्षेत्र के नये जीते गए इलाकों में प्रशासन संभालने के लिए भेजा गया। जमींदारों से लगान वसूलन के बजाय वे सीधे गाँवों से भू-राजस्व वसूलने लगे। उन्होंने प्रत्येक गाँव के लिए एक राशि निर्धारित कर दी। उन्होंने सभी किसानों या रैयतों का अलग-अलग ब्यौरा प्राप्त करना शुरू किया और इस प्रकार रैयतवारी व्यवस्था का जन्म हुआ। इस आरंभिक रैयतवारी व्यवस्था में खेतों का मूल्यांकन किया जाता था और प्रत्येक खेत की एक राशि निर्धारित की जाती थी। जो किसान इस खेत पर खेती करना चाहता था, उसे निर्धारित राशि अदा करनी पड़ती थी। निर्धारित राशि न अदा करने की स्थिति में वह उस भूमि पर खेती नहीं कर सकता था। अगर उस भूमि पर खेती करने के लिए कोई किसान आगे नहीं आता हो, वह भूमि परती रह जाती थी, उस पर कोई खेती नहीं होती थी।

15.5.1 रैयतवाड़ी के तहत कर निर्धारण

आपने देखा कि कर निर्धारण या राजस्व तय करना अधिकारियों के लिए एक मुश्किल कार्य था। उसे प्रत्येक जिले और परगने के हजारों खेतों पर राजस्व निर्धारण करना पड़ता था। उसे यह सावधानी रखनी पड़ती थी कि सभी खेतों पर एक समान कर निर्धारण हो। अगर किसी खेत पर कम और किसी खेत पर ज्यादा राजस्व लगाया जाता, तो किसान महँगे खेतों को छोड़ सस्ते खेतों पर ही खेती करते और महँगे खेत परती हो जाते। उन पर कोई खेती नहीं करता।

किसी खेत के कर निर्धारण के लिए राजस्व पदाधिकारी को दो बातें ध्यान में रखनी होती थीं, पहली बात यह कि मिट्टी की उर्वरता कितनी होती है। यह पथरीली जमीन है या उपजाऊ, सिंचाई उपलब्ध है या नहीं आदि, दूसरे उसे यह भी ध्यान रखना पड़ता था कि खेत किस जगह स्थित है। इससे पता चलता है कि यह व्यवस्था सर्वेक्षण और वर्गीकरण पर आधारित थी। अतः सभी गाँवों में स्थित उर्वरक भूमि का राजस्व एक-सा था, इस बात से कोई फर्क नहीं पड़ता था कि खेत इस गाँव में है या उस गाँव में है। पर यह राशि कैसे निर्धारित की गयी?

मुनरो अक्सर खेत में हुए उपज का आकलन करते हुए कर का निर्धारण करता था। मसलन एक एकड़ में 2600 मन धान होता है। उसने कुल उपज का एक तिहाई या 2-5 वाँ हिस्सा सरकार के खाते में डाल दिया और इसका मूल्य निर्धारित कर दिया। इतनी ही राशि एक किसान सरकार को देता था। यह रैयतवाड़ी का सैद्धांतिक पक्ष है। व्यवहार में राजस्व का आकलन अनुमान पर आधारित होता था और इतनी ज्यादा राशि माँगी जाती थी कि किसान बहुत मुश्किल से वह राशि अदा कर पाता था और कभी-कभी तो इस राशि की वसूली मुश्किल हो जाती थी।

MAADHYAM IAS

15.5.2 मद्रास में रैयतवाड़ी व्यवस्था लागू करना

भू-राजस्व संबंधी आरंभिक प्रयोगों के बाद मद्रास में 1820 तक रैयतवाड़ी व्यवस्था लागू कर दी गयी और इस व्यवस्था को सुचारु रूप से चलाने के लिए मुनरो को मद्रास का गवर्नर नियुक्त किया गया। मुनरो ने इस व्यवस्था के पक्ष में कई तर्क दिए। उसने दावा किया कि यह मूलतः भारतीय भू-व्यवस्था है और भारतीय परिवेश के लिए उपयुक्त है। इसे लागू करने से अन्य व्यवस्थाओं की अपेक्षा अधिक कर की प्राप्ति हो सकती है। इसका कारण यह है कि राजस्व निर्धारण और वसूली में सरकार और किसान के बीच सीधा संबंध होगा। इसमें कोई जमींदार या बिचौलिया नहीं होगा अतः किसान से प्राप्त पूरी राशि सरकारी खजाने में चली जाएगी। मद्रास सरकार की वित्तीय स्थिति कमजोर थी और उसके लिए यह व्यवस्था अनुकूल साबित होगी। अतः स्थाई बंदोबस्त की खामियों का लाभ उठाते हुए उसने अस्थाई रैयतवाड़ी बंदोबस्त लागू किया।

15.5.3 रैयतवाड़ी : सिद्धांत और व्यवहार

हमने मुनरो द्वारा विकसित रैयतवाड़ी व्यवस्था की रूपरेखा पर विचार किया। मुनरो ने इस व्यवस्था को अपने नियंत्राधीन जिलों में लागू किया था। हालाँकि 1820 के बाद जो रैयतवाड़ी व्यवस्था मद्रास प्रेसिडेंसी के अधिकांश भागों में लागू की गयी, वह मुनरो की व्यवस्था से थोड़ा भिन्न थी। आपको याद होगा कि उसकी रैयतवाड़ी खेतों के मूल्यांकन पर आधारित थी और कोई भी किसान किसी भी खेत पर खेती करने के लिए स्वतंत्र था। और जैसा कि हमने देखा है इस व्यवस्था का कार्यान्वयन खेतों की माप और मूल्यांकन पर निर्भर

था। यह माप और मूल्यांकन सरकार किया करती थी। लेकिन 1820 के बाद यह व्यवस्था उन इलाकों में भी स्थापित की गई जहाँ कोई सर्वेक्षण नहीं किया गया था। कोई यह नहीं जानता था कि एक किसान के पास कितनी जमीन है और उसमें क्या उपजाया जाता है। करों का निर्धारण मनमाने ढंग से, पहले से अदा किए जा रहे करों के आधार पर किया जाने लगा। इसे पूर्व उत्पादन पर आधारित (Put Out) मूल्यांकन कहा गया। इसमें भी सिद्धांततः रैयत को अपने चुनाव पर किसी खेत पर खेती करने की स्वतंत्रता दी गयी। लेकिन बहुत जल्द ही यह महसूस किया जाने लगा कि अगर यह स्वतंत्रता दी गयी, तो सरकार के राजस्व में कमी आ जाएगी। अतः सरकारी पदाधिकारी किसानों को उन खेतों पर काम करने के लिए दबाव डालने लगे, जिन पर वे काम नहीं करना चाहते थे, और उन्हें इसका राजस्व भी अदा करना पड़ता था। अब किसी खेत पर खेती करना किसानों की इच्छा पर निर्भर नहीं था, क्योंकि इससे राजस्व वसूल करने में असुविधा होती थी। अतः किसी किसान को खास खेती में काम करने के लिए मजबूर किया जाने लगा और राजस्व वसूली के लिए उन पर तरह-तरह के अत्याचार भी किए जाने लगे। इन अत्याचारों का 1854 में स्थापित मद्रास यातना आयोग ने पर्दाफाश किया। इसके बाद इस व्यवस्था में कुछ सुधार लाया गया। भूमि का वैज्ञानिक सर्वेक्षण किया गया। इससे कर का वास्तविक भार कम हुआ और राजस्व वसूली में अब किसी प्रकार के अत्याचार की जरूरत नहीं थी। हालाँकि यह बदलाव 1860 के बाद आया, जो अभी हमारे अध्ययन क्षेत्र से बाहर है।

15.5.4 मद्रास में रैयतवाड़ी व्यवस्था के प्रभाव

इस बात में कोई संदेह नहीं है कि यह व्यवस्था भी ग्रामीण अर्थव्यस्था के लिए हानिकारक थी। किसान गरीब हुए और अब ये नयी भूमि पर खेती नहीं कर सकते थे। 1855 में मद्रास सरकार ने यह पाया कि रैयतवाड़ी व्यवस्था के अंतर्गत केवल एक करोड़ पैंतालीस लाख एकड़ जमीन जोती गयी और एक करोड़ अस्सी लाख एकड़ जमीन परती रह गयी। उसने स्वीकार किया इस बात में कोई संदेह नहीं है कि खेती बढ़ने से सरकारी कर में कमी आएगी। ग्रामीण अर्थव्यवस्था पर इसका बुरा प्रभाव पड़ा। इसके साथ ही जमीन के दाम में भी काफी गिरावट आई। 19वीं शताब्दी की प्रथम अर्द्धशताब्दी में मद्रास में जमीन का मूल्य नगण्य था। कोई जमीन खरीदना नहीं चाहता था, क्योंकि जमीन खरीदने के बाद के मालिक को काफी ऊँचे दर पर कर देना पड़ता था और कर देने के बाद उसके पास कुछ शेष नहीं रह जाता था। इस स्थिति में कोई जमीन खरीदना नहीं चाहता था।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

15.5.5 बंबई में रैयतवाड़ी बंदोबस्त

बंबई प्रेसिडेंसी के अंतर्गत गुजरात में रैयतवाड़ी व्यवस्था की शुरुआत हुई। ब्रिटिश सरकार ने पहले वंशानुगत पदाधिकारियों (देयी) और मुखिया (पटेल) के जरिए राजस्व वसूलना शुरू किया। इस तरीके से उन्हें मनचाही रकम नहीं प्राप्त हो रही थी, अतः अंग्रेज 1813-14 से खुद सीधे किसानों से राजस्व वसूल करने लगे। अंग्रेजों ने 1818 में पेशवा राज्य को हस्तगत कर लिया। इसके बाद मुनरो के शिष्य एलफिस्टन के नेतृत्व में मद्रास में लागू रैयतवाड़ी व्यवस्था को यहाँ भी कार्यान्वित किया गया। मद्रास रैयतवाड़ी के दुर्गुण यहाँ भी जल्द ही प्रकट होने लगे। राजस्व वसूल करने वाले पदाधिकारियों के बीच अधिक से अधिक राजस्व बटोरने की होड़ मच गयी।

प्रिंगल नामक पदाधिकारी के निरीक्षण में भूमि का सर्वेक्षण और वर्गीकरण किया गया। यह सर्वेक्षण अंग्रेज अर्थशास्त्री रिकार्डों के "किराए के सिद्धांत" को आधार बनाकर किया जाना था। यह सिद्धांत भारतीय परिस्थिति से बिल्कुल मेल नहीं खाता था और मुनरो का अनुमान खामियों से भरा था, परिणामतः कर निर्धारण ने पुणे जिले में राजस्व वसूल करने की कोशिश की, तो अधिकांश किसानों ने अपनी जमीन छोड़ दी और हैदराबाद के निजाम के राज्य में चले गये। कुछ समय बाद इस कर निर्धारण को छोड़ दिया गया।

विंगेट और गोल्डस्मिड नामक दो पदाधिकारियों ने एक नयी व्यवस्था सामने रखी। उन्होंने अपनी व्यवस्था में किसी सिद्धांत का समावेश नहीं किया, बल्कि कर निर्धारण इस दर पर करने की कोशिश की, जिसे नियमित रूप से अदा किया जा सके। खेत की मिट्टी और स्थान के आधार पर खेत का मूल्यांकन निर्धारण किया जाना था। इस व्यवस्था की शुरुआत 1836 में हुई और 1865 तक यह संपूर्ण दक्कन में छा गई। कृषि पर इसका अच्छा प्रभाव पड़ा और नये कर निर्धारण के साथ खेतिहर इलाकों में भी वृद्धि हुई।

15.5.6 मद्रास और बंबई में रैयतवाड़ी व्यवस्था के प्रभाव

हमने देखा कि किस प्रकार स्थाई बंदोबस्त में पूरे किसान वर्ग पर कुछ मुट्ठी भर जमींदारों का वर्चस्व स्थापित हो गया। रैयतवाड़ी व्यवस्था में सामाजिक प्रभाव का एक दूसरा रुख सामने आया। कई इलाकों में वास्तविक खेती करने वाले किसानों को दखलदार या रैयत का दर्जा दिया गया और उनका अपनी जमीन पर दखल कायम हुआ। जैसा कि हमने पहले देखा कि राजस्व की दर ऊँची होने के कारण बहुत से किसान खुशी-खुशी अपनी जमीन छोड़ देते, उन्हें ऐसा करने से रोकना था। इसमें यह भी संभव था कि वास्तव में खेती न करने वाले लोग किसी जमीन के दखलदार या मालिक बन जाएँ, और इस खेत पर उनके आसानी, नौकर यहाँ तक कि बंधुआ मजदूर खेती करें। ऐसी स्थिति खासकर तमिलनाडु के तंजौर जिले में थी जहाँ कई रैयतों के पास हजार-हजार एकड़ जमीन थी। रैयत जितनी जमीन चाहे अपने पास रख सकता था, जमीन रखने की कोई सीमा निर्धारित नहीं थी। अत: विभिन्न रैयतों की आर्थिक स्थिति और स्तर में काफी फर्क था। महाजन और अन्य गैर खेतिहर वर्ग जमीन हासिल करने के इच्छुक नहीं थे, क्योंकि राजस्व दर बहुत ऊँची थी। हालाँकि राजस्व वसूल करने वाले पदाधिकारी किसानों को परेशान किया करते थे, पर किसानों को यह भय नहीं था कि महाजन या भूमिपति उसकी जमीन हड़प लेंगे। बंबई में 1836 के बाद और मद्रास में 1858 के बाद सुधरी हुई रैयतवाड़ी व्यवस्था में भू-राजस्व का भार कुछ हल्का हुआ और जमीन की खरीद फरोख्त शुरू हो गयी। अब खरीददार खेती से लाभ कमाने की सोच सकता था, क्योंकि अब राज्य सारा उत्पादन नहीं ले लेता था। इसका एक परिणाम यह हुआ कि महाजन अपने ऋणी किसानों की जमीनें हड़पने लगे, उनसे जमीनें छीनने लगे या उन्हें किसान से मजदूर बना दिया। इस प्रक्रिया में सामाजिक दबाव बढ़ा और 1875 में बंबई दक्कन में बड़ा ग्रामीण विद्रोह हुआ।

15.6 अन्य वैकल्पिक बंदोबस्त : महलवाड़ी व्यवस्था

1801 और 1806 के बीच लार्ड वेलेस्ली की विस्तारवादी नीति के कारण उत्तर भारत के अनेक हिस्से ब्रिटिश राज्य में मिला लिए गए। यह इलाका उत्तर पूर्वी प्रांत के रूप में जाना गया। आरंभ में अंग्रेजों ने बंगाल के नमूने पर यहाँ भी बंदोबस्त करने की योजना बनाई। वेलेस्ली ने अपने स्थानीय पदाधिकारियों को ऐसे जमींदारों की खोज करने के लिए कहा, जो काफी ऊँची दर पर राजस्व कर सकें। अगर कोई जमींदार न मिले तो गाँव-गाँव जाकर बंदोबस्त किया जा सकता था, और राजस्व अदायगी का काम मुकद्दम, प्रधान या गाँव के किसी प्रतिष्ठित रैयत को सौंपा जा सकता था। अंतत: बंगाल की तरह स्थाई बंदोबस्त कायम करने की योजना थी।

इसके साथ-साथ राजस्व वसूली को बढ़ाने के हर संभव उपाय किए गए। 1803-04 में 188 लाख रुपए की माँग की गयी, यह माँग 1817-18 में बढ़कर 297 लाख रुपए हो गयी।

इस प्रकार की बढ़ोतरी का अधिकांश बड़े जमींदारों और राजाओं ने कड़ा विरोध किया। ये जमींदार और राजा पहले ही अपनी स्वतंत्रता लगभग खो चुके थे। अत: नये प्रशासन ने उनकी जमीनें छीन लीं। पुराने जमींदार अंग्रेजों द्वारा माँगी गयी रकम का भुगतान न कर सके और सरकार द्वारा उनकी संपदा बेच दी गयी। अत: अब सीधे गाँव के प्रधान और मुकद्दम के माध्यम से राजस्व वसूली अनिवार्य हो गयी। राजस्व संबंधी खातों में एक वित्तीय इकाई के लिए "महल" शब्द का उपयोग किया गया है, अत: गाँव आधारित कर निर्धारण को महलवारी बंदोबस्त के रूप में जाना जाने लगा। इस व्यवस्था में एक व्यक्ति कई गाँवों का जिम्मा ले सकता था, इस प्रकार बड़े जमींदारों का उदय होने लगा। बंगाल के समान राजस्व वसूली में यहाँ भी अव्यवस्था आई। आरंभिक वर्षों में सरकारी पदाधिकारी अवैध तरीके से जमीनें अपने पास रख लेते थे। इसी समय सरकार को यह महसूस हुआ कि राजस्व वसूली में आमदनी से अधिक खर्च हो रहा है। इसके बाद स्थाई बंदोबस्त को समाप्त कर दिया गया।

15.6.1 महलवाड़ी : सिद्धांत और व्यवहार

1819 में एक अंग्रेज पदाधिकारी हाल्ट मैकेंजे ने एक सिद्धांत सामने रखा कि ताल्लुकदार

MAADHYAM IAS

और जमींदार मूलत: सरकार द्वारा नियुक्त थे और वे उस गाँव के या उस ग्रामीण समुदाय के मालिक थे, जहाँ वे रहते थे। उसने तर्क दिया कि सर्वेक्षण में उनके अधिकारों और भुगतान की राशि का उल्लेख होना चाहिए। उसके ये विचार 1822 के अधिनियम VII के रूप में संग्रहित हैं। इसके अनुसार यह जरूरी हो गया कि सरकारी पदाधिकारी जमींदारों, खेतिहरों आदि के अधिकारों का उल्लेख सर्वेक्षण में करें, साथ ही साथ इस बात का भी जिक्र करें कि किस खेत के लिए कितनी रकम निश्चित की गयी है। गवर्नर जनरल का आदेश इस प्रकार है : प्रत्येक गाँव में राजस्व की दर, भुगतान के तरीके, प्रत्येक खेत की रकम का विस्तार से उल्लेख होना चाहिए, इसके अभाव में बंदोबस्त अपूर्ण माना जाएगा।

व्यावहारिक तौर पर इसे लागू करना असंभव सिद्ध हुआ। आकलन अपर्याप्त सिद्ध हुए और राजस्व वसूल करने वाले पदाधिकारियों ने सरकार के खजाने को भरने के लिए मनमाने ढंग अख्तियार किए। महलवाड़ी व्यवस्था ग्रामीण समुदाय का भला तो नहीं कर सकी, उसने असंभव कर निर्धारण द्वारा ग्रामीण अर्थव्यवस्था को खोखला बना दिया। 1833 में यह निर्णय लिया गया कि सभी अधिकारों और भुगतान को विस्तारपूर्वक दर्ज करने की नीति छोड़ी जाए और गाँवों द्वारा दी जाने वाली रकम का मोटा खाका बनाया जाए। बाद के वर्षों में काश्तकारों द्वारा जमीन के मालिकों को दी जाने वाली रकम के आधार पर राजस्व की राशि तय की गयी। इस रकम के आधार पर बंदोबस्त पदाधिकारी को पूरे गाँव या महल की जमीन का राजस्व निर्धारित करना था, इस राशि को "कर संपदा" (Rental Assets) कहा गया। इसका कुछ हिस्सा अर्थात् 50% सरकार को अदा करना था। ये सारे आकलन अनुमान पर आधारित थे और इसमें कोई संदेह नहीं है कि इस अनुमान के आधार पर दरें ऊँची रखी गयी ताकि सरकार को अधिक से अधिक राजस्व प्राप्त हो सके।

15.6.2 महलवाड़ी बंदोबस्त के प्रभाव

इस व्यवस्था का आरंभिक प्रभाव यह हुआ कि बड़े ताल्लुकदारों की संख्या में कमी आई। ब्रिटिश पदाधिकारियों ने जहाँ तक संभव हुआ, ग्रामीण जमींदारों से सीधा बंदोबस्त किया और अगर किसी ताल्लुकदार ने न्यायालय की शरण ली तो इन पदाधिकारियों ने वहाँ भी ग्रामीण जमींदारों का समर्थन किया। पर तथाकथित ग्रामीण जमींदारों का समर्थन इसलिए किया गया ताकि उनसे अधिक से अधिक राजस्व वसूला जा सके। वे ताल्लुकदारों से तो मुक्त हो गये पर सरकार के भारी कर के जाल में बुरी तरह फँस गये।

MAADHYAM IAS

इसके परिणामस्वरूप ग्रामीण जमींदार उजड़ गये। एक पदाधिकारी ने अलीगढ़ की स्थिति का विवरण देते हुए लिखा है :

"जमा भू-राजस्व की दर काफी ऊँची है, ऐसे में मालगुजार राजस्वदाता अपनी स्थिति सुधारने की आशा छोड़ चुके हैं और भार को सहने में सक्षम नहीं है वे बुरी तरह ऋण के बोझ तले दबे हुए हैं, और बकाया राशि अदा करने की हालत में नहीं हैं।" इसके परिणामस्वरूप खेत महाजनों और व्यापारियों के हाथ में जाने लगे, जिन्होंने खेत के पुराने मालिकों को किसान से मजदूर बना दिया। ऐसा ज्यादातर वाणिज्य प्रधान जिलों में हुआ, जहाँ राजस्व का निर्धारण काफी ऊँची दर पर किया गया था और जहाँ के भूमिपतियों को 1833 की मंदी के कारण काफी नुकसान उठाना पड़ा था। उनका व्यापार ढह गया था और निर्यात बिल्कुल मंदा हो गया था। 1840 के दशक में कई बार ऐसी स्थिति आती थी कि बकाया राशि वसूलने के लिए जमीन बेची जा रही होती थी और कोई खरीददार नहीं मिलता था। मद्रास प्रेसिडेंसी के समान इन इलाकों का कर भी इतना ऊँचा था कि कोई खरीददार मुनाफे की आशा नहीं कर सकता था। अत: महलवाड़ी व्यवस्था के कारण 1830 और 1840 के दशकों में उत्तर भारत में गरीबी और तबाही आयी और इसका प्रस्फुटन 1857 के लोकप्रिय विद्रोह के रूप में हुआ। इस वर्ष के दौरान पूरे उत्तर भारत में ग्रामीणों और ताल्लुकदारों ने सरकारी पदाधिकारियों को मार भगाया, न्यायालय सरकारी आँकड़े और कागजात नष्ट कर दिए तथा नए खरीददारों को गाँव से बाहर निकाल दिया।

बोध प्रश्न 2

1) रैयतवाड़ी व्यवस्था और स्थाई बंदोबस्त में क्या अंतर है? किन्हीं तीन का उल्लेख करें।

....

....

....
....
....
....
....

2) रैयतवाड़ी व्यवस्था महलवाड़ी व्यवस्था से किन बातों में अलग है? पाँच पंक्तियों में उत्तर दें।

....
....
....
....
....
....
....

3) ग्रामीण अर्थव्यवस्था पर महलवाड़ी बंदोबस्त का क्या प्रभाव पड़ा? साठ शब्दों में उत्तर दें।

....
....
....
....
....
....
....

MAADHYAM IAS

15.7 सारांश

इस प्रकार इस इकाई में हमने ब्रिटिश काल के दौरान उभरने वाली तीन प्रमुख भू-व्यवस्थाओं की जानकारी प्राप्त की। नये विजित इलाकों में अंग्रेजों ने महलवाड़ी या रैयतवाड़ी व्यवस्था कायम की। पंजाब में महलवाड़ी व्यवस्था लागू की गयी और केंद्रीय भारत में कुछ बदले हुए रूप में मालगुजारी व्यवस्था। 1857 के विद्रोह के बाद अवध के ताल्लुकदारों को जमीन का मालिक बना दिया गया ताकि भविष्य में होने वाले विद्रोहों में वे अंग्रेजों का साथ दे सकें। यहाँ भी महलवाड़ी बंदोबस्त कायम किया गया।

हमारे विचार-विमर्श से एक बात स्पष्ट रूप से उभर कर सामने आई कि अंग्रेजों का मुख्य उद्देश्य अधिक से अधिक राजस्व वसूलना था। कभी-कभी इससे भूमि का बाजार निर्मित होता था, और भूमि की खरीद फरोख्त होती थी। पर साथ ही साथ राज्य द्वारा स्थापित ऊँची दर के कारण खरीददार भी मुश्किल से मिल पाते थे। भारत सरकार का खर्च बढ़ गया था और उसे लंदन भी राशि भेजनी होती थी, अत: ज्यादा से ज्यादा राजस्व वसूलने का प्रयत्न किया गया।

इसके बाद कुछ अन्य मुद्दों पर इकाई 16 में बातचीत की जाएगी। यह इकाई कृषि के वाणिज्यीकरण पर केंद्रित है।

15.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) देखें भाग 15.1
2) इस उत्तर में आप स्थाई बंदोवस्त लागू करने के पीछे अंग्रेजों के आर्थिक हितों का उल्लेख करें। उत्तर के दूसरे भाग में जमींदारों पर किसानों की बढ़ती निर्भरता और किसानों की दयनीय स्थिति पर प्रकाश डालें। देखें भाग 15.2
3) देखें भाग 15.2

बोध प्रश्न 2

1) एक में जमींदार के साथ, दूसरे में रैयतों के साथ बंदोबस्त किया गया। देखें भाग 15.3 और 15.5
2) देखें भाग 15.5 और 15.6
3) ग्रामीण अर्थव्यवस्था में महाजनों और व्यापारियों का बढ़ता प्रभाव और किसानों की तबाही आदि। देखें, उपभाग 15.6.2

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

इकाई 16 कृषि का व्यवसायीकरण

इकाई की रूपरेखा

16.0 उद्देश्य
16.1 प्रस्तावना
16.2 व्यवसायीकरण का क्षेत्र
16.3 अंग्रेजों से पूर्व व्यवसायीकरण
16.4 अंग्रेजों के अधीन व्यवसायीकरण
 16.4.1 कंपनी के उद्देश्य
 16.4.2 इन उद्देश्यों के परिणाम
 16.4.3 कृषि पर निर्यात व्यापार के प्रभाव
 16.4.4 व्यवसायिक फसलों का चुनाव
16.5 व्यवसायिक फसलें
 16.5.1 कच्ची रेशम
 16.5.2 अफीम
 16.5.3 नील
 16.5.4 रुई
 16.5.5 काली मिर्च
 16.5.6 चीनी
 16.5.7 चाय
16.6 व्यवसायीकरण के प्रभाव
 16.6.1 दरिद्रता
 16.6.2 अस्थायित्व
 16.6.3 बहुत से बाजार
 16.6.4 सामाजिक संरचना
16.7 सारांश
16.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

MAADHYAM IAS

16.0 उद्देश्य

ब्रिटिश शासन के प्रथम चरण या 19वीं सदी के मध्य तक के दौरान भारत में कृषि के व्यवसायीकरण का विश्लेषण इस इकाई में किया गया है। अंग्रेजों के अधीन व्यवसायीकरण की जिस प्रक्रिया का प्रारंभ हुआ था उसके भारतीय जीवन पर दूरगामी परिणाम हुए, तब जो बहुत सी समस्याएँ उत्पन्न हुई थी वे आज भी हमारे साथ हैं। इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आपको ज्ञान हो जाएगा :

- "व्यवसायीकरण" शब्द के अर्थ का,
- ब्रिटिश शासन के पूर्व व्यवसायीकरण की हद का,
- ब्रिटिश शासन के लागू होने के साथ घटित होने वाले परिवर्तनों का,
- उन विभिन्न तरीकों के विषय में जिनके अंतर्गत व्यवसायिक कृषि को संगठित किया गया, और
- भारतीय अर्थव्यवस्था पर और भारतीय किसानों पर इस प्रक्रिया के प्रभावों के बारे में।

16.1 प्रस्तावना

बाजार हम सबके लिए एक परिचित संस्था है। आप प्रतिदिन बाजार से कुछ खरीदने के लिए जाते होंगे और कभी-कभी कुछ बेचने के लिए भी। ऐसा इसलिए है क्योंकि हम एक

व्यवसायिक अर्थव्यवस्था में रहते हैं। लोग कार्य करते हैं और पैसा कमाते हैं या उत्पादन करते हैं और बेचते हैं क्योंकि वे धन प्राप्त करते हैं और इस धन से वे बाजार से उन वस्तुओं को खरीद सकते हैं जिनको वे प्राप्त करना चाहते हैं। सभी प्रकार की वस्तुओं को बाजार में लाया जा सकता है–ये बहुत छोटी वस्तुओं जैसे कि सिगरेट चीनी से लेकर बहुत महंगी चीजों जैसे कि घर या जमीन हो सकती है। यहाँ तक कि श्रम के लिए भी बाजार है, उदाहरणार्थ, रोजगार कार्यालय जिनका संचालन सरकार के द्वारा किया जाता है, श्रम बाजार के ही स्वरूप है। लेकिन व्यक्तिगत श्रम बाजार भी उपलब्ध है, निश्चित रूप से आप उन जगहों के विषय में सोच रहे होंगे जहाँ से आप अपने लिए एक बढ़ई या कुली को काम करने के लिए किराये पर ला सकते हैं।

एक व्यवसायिक या एक बाजार अर्थव्यवस्था के अंतर्गत आर्थिक गतिविधियों का निर्धारण बाजार के द्वारा किया जाता है। इस कथन का क्या तात्पर्य है? इसका एक यह तात्पर्य कि लोग जैसी इच्छा करते हैं वैसी ही वस्तुओं के सस्ती खरीदने और मँहगी बेचने के लिए प्रयास कर सकते हैं। इसका यह भी अर्थ है कि यदि दाम अधिक हैं तब वे अधिक उत्पादन करेंगे और यदि दाम कम हैं तब वे कम उत्पादन करेंगे। मजदूर उन स्थानों को छोड़ने का प्रयास करेंगे जहाँ पर उनको कम मजदूरी प्राप्त होती है और उन स्थानों पर जाएंगे जहाँ पर उनको अधिक मजदूरी प्राप्त होगी। लोग नगर में उन स्थानों की तलाश करते हैं जहाँ पर वे सस्ता घर खरीद सकते हैं या जहाँ उनको कम किराया देना पड़े। इन सभी तरीकों में, आर्थिक गतिविधियों का निर्देशन बाजार के दामों द्वारा किया गया है। इस इकाई में हम आपका परिचय अंग्रेजी शासन के अधीन भारतीय कृषि के व्यवसायीकरण की प्रक्रिया और भारतीय अर्थव्यवस्था तथा समाज पर इसके प्रभावों से करायेंगे।

16.2 व्यवसायीकरण का क्षेत्र

बाजार सदैव से विद्यमान नहीं रहे हैं। वास्तव में मानव समाज में वे अपेक्षाकृत नये हैं। बहुत से समाजों ने उत्पादन वितरण और खपत को बिना खरीद तथा बेचे, धन की उपस्थिति और बाजार रहित रूप में संगठित किया है। धीरे-धीरे विभिन्न प्रकार की चीजों को बेचा एवं खरीदा जाने लगा और इस प्रकार से बाजार विकसित होता है। यही व्यवसायीकरण की प्रक्रिया है। व्यवसायीकरण की प्रक्रिया से गुजरने वाले समाज में कुछ चीजों का दूसरों के सम्मुख विक्रय प्रारंभ हो सकता है। जैसे कि वनवासी लकड़ी या शहद को बेच सकते हैं और नमक तथा लोहे की खरीददारी कर सकते हैं। ऐसा वे तब भी कर सकते, जबकि अन्य वस्तुयें न ही उनके द्वारा खरीदी गई है या न बेची गई।

इसी प्रकार जिस समय कृषि का व्यवसायीकरण किया जाता है तब बहुत से भिन्न-भिन्न बाजार भिन्न समयों पर सक्रिय हो सकते हैं। हम इन बाजारों की निम्नलिखित अनुमानित सूची बनाने का प्रयास करेंगे :

1) उत्पाद बाजार–इस प्रकार के बाजारों में गेहूँ या चावल या ऊन या घी जैसे बहुत से कृषि उत्पादनों को बेचा जाने लगा,

2) अंतर्गामी बाजार–कृषि में उत्पादन करने वाली वस्तुएँ जैसे औजार, बीज, रसायनिक खाद, बैल इत्यादि की बिक्री शुरू हो गई,

3) श्रम बाजार–इस तरह के वे बाजार होते हैं जहाँ पर मजदूर स्वयं को पैसे के लिए मजदूरी पर उपलब्ध कराते हैं,

4) भूमि बाजार–इस तरह के बाजारों में किसान भूमि को बेचते या खरीदते हैं, या पैसे के लिए इसको किराये पर देते हैं।

5) स्वयं धन के लिए बाजार–जैसे-जैसे व्यवसायीकरण का विकास होता है, किसान को अक्सर धन की आवश्यकता होती है। यह धन करों या किरायों की नकद अदायगी में बीज या बैलों की खरीद में या यहाँ तक कि स्वयं एवं अपने परिवारों के पोषण में काम आ सकता है। इसी प्रक्रिया के कारण ऋण बाजार का विकास होता है और ऋण बाजार का आधार निश्चय ही उस पर ब्याज के रूप में होने वाली आमदनी होती है।

किसी भी विकसित बाजार अर्थव्यवस्था में और बहुत से बाजार विद्यमान होते हैं, लेकिन

हमें उन पर विचार करने की आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार हमने देखा कि बाजारों के कई प्रकार हैं और कुछ बाजार तब भी कार्य कर सकते हैं जबकि वहां पर दूसरे बाजार विद्यमान न हों। उदाहरणार्थ किसान अपने अतिरिक्त गेंहूं या कपास को उस समय भी बेच सकते हैं जबकि भूमि का स्वामित्व परंपरागत प्रथाओं पर आधारित हो जिसके अंतर्गत भूमि का क्रय-विक्रय नहीं हो सकता। इसके अलावा यह भी संभव है कि फसल के कुछ भाग को बेचा जा सकता है तथा कुछ भाग को गाँव के परंपरागत तरीकों से अर्थात् बढ़ई या लुहार को भी दिया जा सकता है। इस तरह से व्यवसायीकरण एक धीमी प्रक्रिया है न कि एक अचानक या नाटकीय घटना।

16.3 अंग्रेजों से पूर्व व्यवसायीकरण

बाजारों के विषय में भारत में जानकारी प्राचीन समय से ही है। कृषि उत्पादनों को इन बाजारों में लाया तथा बेचा जाता था। मुगल साम्राज्य में भूमि कर के एक बड़े भाग की वसूली किसानों से धन में की जाती थी। जिसका तात्पर्य यह हुआ कि करों को अदा करने हेतु धन प्राप्त करने के लिए वे अपने उत्पादनों को बाजार में बेचते थे। यह अनुमान लगाया गया है कि इसके लिए कृषि उत्पाद का लगभग 50 प्रतिशत तक बेचना पड़ता था। इसलिए वास्तविकता में प्रत्येक उत्पादनकर्ता या उपभोक्ता सामान्यतः दोनों विनिमय में शामिल रहते थे। विशेषज्ञ सौदागरों, महाजनों तथा दलालों को पाया जा सकता था और इस बात के भी प्रमाण उपलब्ध है कि क्रय एवं विक्रय की भूमि में कुछ किस्म के अधिकारों (जमींदारी अधिकारों) का प्रचलन था।

मुगल साम्राज्य 18वीं सदी में बिखर गया, और उसका स्थान क्षेत्रीय राज्यों ने ले लिया। (इस विषय में आप खंड 1 में पढ़ चुके हैं।) ये क्षेत्रीय राज्य कभी-कभी मुगल साम्राज्य की अपेक्षा कम करों को वसूल करते थे, परंतु वे भी इन करों को नकद में वसूल करते। जिसका तात्पर्य यह हुआ कि वाणिज्य व्यवस्था अनवरत रूप में विद्यमान थी।

16.4 अंग्रेजों के अधीन व्यवसायीकरण

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

मुगल साम्राज्य के पतन का जिन नयी शक्तियों ने लाभ उठाया उनमें ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी भी थी। इसने दक्षिण भारत के क्षेत्रों और पूरब में बंगाल, बिहार तथा उड़ीसा के संपन्न प्रदेशों को प्राप्त कर लिया। ये क्षेत्र कृषि में संपन्न होते हुए व्यापार एवं दस्तकारी में काफी विकसित थे। कंपनी के साथ-साथ इसके सेवकों एवं कर्मचारियों ने इस विजय के माध्यम से स्वयं को संपन्न बनाने की योजना बनायी। इन्होंने जो तरीके अपनाये उन्हीं के कारण उनके अधीन अपने विशेष गुणों के साथ व्यवसायीकरण हुआ।

इसको समझने के लिए हमें पहले इन नये शासकों के चरित्र को समझना होगा। ब्रिटेन में आधारित यह एक व्यापारिक कंपनी थी। इसको ब्रिटिश सरकार के द्वारा पूर्वी व्यापार का एकाधिकार प्रदान कर दिया गया था। एक व्यापारिक कंपनी होने के कारण इसके उद्देश्य एवं लक्ष्य भारतीय शासकों से भिन्न थे, यहाँ तक कि लुटेरे नादिरशाह से भी।

16.4.1 कंपनी का उद्देश्य

कंपनी का मुख्य कार्य यूरोप में बेचने के लिए भारत से माल प्राप्त करना था। उन दिनों भारत में अंग्रेजी सामान की माँग काफी कम थी जिसके कारण कंपनी को भारतीय सामान खरीदने के लिए सोने एवं चाँदी की मुद्रा को लाना पड़ता। बंगाल को जीतने के बाद कंपनी ने सोचा कि अब उसको बुलियन का अधिक समय तक आयात नहीं करना पड़ेगा बल्कि इसके स्थान पर वह भारतीय जनता से करों को वसूल करेगी। स्थानीय खर्च के बाद जो अतिरिक्त धन बचेगा उससे यूरोप को निर्यात करने वाले माल को खरीदा जाएगा। तब ब्रिटेन से सोने एवं चाँदी को भारत में भेजने की कोई जरूरत नहीं होगी। इस प्रकार आप समझ सकते हैं कि यूरोप को निर्यात होने वाला माल कंपनी के लिए भारत की ओर से एक नजराना हो गया। ईस्ट इंडिया कंपनी ने इस योजना को कार्यान्वित रूप देते हुए अपने व्यापारिक लाभ के लिए राजनीतिक शक्ति का उपयोग किया।

16.4.2 इन उद्देश्यों के परिणाम

उपरोक्त वर्णित उद्देश्य की प्राप्ति के लिए कंपनी ने निम्नलिखित दो कार्यों को करने की योजना बनायी :

1) कंपनी ने करों की वसूली इतनी बड़ी मात्रा में करने का विचार किया कि न केवल उससे भारत में सैनिक एवं प्रशासनिक खर्च को पूरा किया जा सके बल्कि अपने व्यापार को आर्थिक सहायता उपलब्ध कराने के लिए अतिरिक्त धन भी उपलब्ध हो जाए।

2) पश्चिमी देशों में भारत के जिस सामान की माँग की गयी उस पर कम से कम उत्पादित लागत आनी चाहिए जिससे कि अतिरिक्त राजस्व को इन सामानों के रूप में धन प्रेषित किया जा सके।

1775 में जैसे ही कंपनी ने बंगाल की दीवानी (राजस्व नियंत्रण) को प्राप्त किया वैसे ही कंपनी के निदेशकों ने लंदन में भारत स्थित अपने अधिकारियों को लिखा कि जितनी जल्दी भी संभव हो हमारी प्राप्तियों के वार्षिक उत्पादन को हम तक पहुँचाने वाले स्रोत को व्यापक बनाया जाये और आप कंपनी के निवेश को अधिक से अधिक सीमा तक बढ़ा सकते हैं।" (यहाँ पर "निवेश" शब्द का प्रयोग यूरोप को निर्यात किये जाने वाले सामान पर खर्च होने वाले धन के लिए किया गया है)। 20 वर्ष से अधिक समय के बाद भी भारत के गवर्नर जनरल लार्ड कार्नवालिस के भी इसी प्रकार के उद्देश्य थे। उसने कहा, "बंगाल का मूल्य अंग्रेजों के लिए उसकी इस क्षमता पर निर्भर करता है कि यूरोप को निर्वाशित होने वाले वार्षिक धन की आपूर्ति को वह अनवरत बनाये रखता है।"

कंपनी की भू-राजस्व व्यवस्था सहित अधिक कर लगाने की नीति का विवरण इकाई 13 में किया गया है। अब हम अपना ध्यान अन्य दो प्रश्नों पर केंद्रित करेंगे। प्रथम कृषि पर निर्यात व्यापार का प्रभाव तथा दूसरे व्यवसायिक फसलों का चुनाव।

16.4.3 कृषि पर निर्यात व्यापार का प्रभाव

जिन दिनों भारतीय शासक करों की वसूली करते थे, तब धन का अधिक भाग उसी क्षेत्र एवं स्थानीय स्तर पर खर्च हो जाता था। उस समय कृषि विदेशी माँग के द्वारा बहुत ही कम प्रभावित होती थी। दस्तकारी एवं अन्य सामानों का भारतीय निर्यात किसी अन्य बाहरी देश से होने वाले आयात से कहीं अधिक था। प्रारंभ में अंग्रेजों ने भी भारतीय उत्पादनों के निर्यात पर ही अपना ध्यान केंद्रित किया। इन उत्पादनों में पश्चिम को निर्यात होने वाले सूती कपड़े आदि शामिल थे। लेकिन जैसे ही ब्रिटेन में सूती कपड़ा मिल, उद्योग का विकास हुआ वैसे ही 18वीं सदी के अंत में भारतीय सूती कपड़ा उद्योग को खतरा पैदा हो गया। ब्रिटेन के ये सूती मिल भारतीय उत्पादनों के साथ प्रतिस्पर्धा नहीं कर पा रहे थे। अत: 1870 में इन मिलों के मालिकों ने यह कहते हुए आंदोलन का प्रारंभ कर दिया कि ईस्ट इंडिया कंपनी भारतीय वस्त्रों का आयात करके उनके हितों का नुकसान कर रही थी।

अब कंपनी ने महसूस किया कि उसको भारत से निर्यात करने के अन्य प्रकार के सामानों को प्रोत्साहित करने की आवश्यकता होगी। कृषि उत्पादनों का निर्यात सुरक्षित होगा। इन उत्पादनों की अंग्रेजी माल के साथ कोई प्रतियोगिता न होगी तथा ये अंग्रेजी उद्योग-धंधों के लिए कच्चे माल का काम भी करेंगे। इस सामरिक नीति का अनुसरण रेशम के मामले में 1770 के वर्षों से किया गया। लेकिन ब्रिटेन में तेजी के साथ होते औद्योगीकरण से कंपनी को निर्यात करना और भी कठिन हो गया। फिर भी, नजराने के स्वरूप में ब्रिटेन जाने वाली भारतीय धनराशि को 1880 के दशांक से चीन के माध्यम से भेजा जाने लगा। ब्रिटेन चीन से काफी बड़ी तादाद में चाय का आयात करता था और उसको चाँदी (बुलियन) में इसकी अदायगी करनी होती थी, क्योंकि चीनी पश्चिमी के सामान को खरीदना नहीं चाहते थे। परंतु चीनी भारतीय हाथी दाँत की चीजें, कच्ची रुई और बाद में अफीम को खरीदते थे। अगर अंग्रेज इस व्यापार पर नियंत्रण कर लें, तब उनको चीन को चाँदी भेजने की आवश्यकता नहीं होगी। चीन द्वारा चाय को भारतीय उत्पादकों के विनिमय के द्वारा खरीदा जा सकता था और इन भारतीय उत्पादकों को अंग्रेज प्राप्त कर ही रहे थे। इस व्यवस्था को "त्रिकोणीय व्यापार" के नाम से जाना जाता था तथा यह तीन केंद्रों कलकत्ता, कैंटन एवं लंदन से जुड़ा था। संपत्ति प्रथम केंद्रों से परिभ्रमण करती हुई कंपनी के खजाने में तीसरे केंद्र लंदन जाकर जमा हो जाती थी।

इसलिए यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि कंपनी की रुचि कृषि के एक नियंत्रित व्यवसायिकरण में थी। जिससे कि चीनी या पश्चिमी बाजार के लिए उपभोग वस्तुओं को उपलब्ध कराया जा सके।

16.4.4 व्यावसायिक फसलों का चुनाव

कंपनी ने जिन फसलों पर अपना विशेष ध्यान केंद्रित किया उनमें नील, कच्ची रेशम, कपास, अफीम, काली मिर्च और 19वीं सदी में चाय तथा चीनी थी। इनमें से कच्ची रेशम का उपयोग ब्रिटेन के बुनकरों द्वारा किया जाता था क्योंकि वहाँ पर रेशम का उत्पादन नहीं किया जा सकता था। यही बात कपास के लिए भी सत्य थी और इसको चीन को भी बेचा जा सकता था। अफीम की निश्चय ही चीन को तस्करी होती क्योंकि चीन में इसके आयात पर प्रतिबंध लगा हुआ था। पश्चिम में सूती कपड़ों की रंगाई के लिए नील की आवश्यकता थी। 1840 के दशक से चाय की खेती का प्रारंभ असम में किया गया जिससे कि ब्रिटेन इसकी आपूर्ति को नियंत्रित कर सके और उसको चाय के लिए चीन पर निर्भर न रहना पड़े। इनमें से किसी भी वस्तु की ब्रिटेन के उत्पादन के साथ कोई प्रतिद्वंद्विता नहीं थी। इन सभी वस्तुओं की एक और विशेषता थी। ये अपने वजन की तुलना में काफी मूल्यवान थी। कहने का तात्पर्य यह है कि वजन के हिसाब अर्थात् प्रति किलोग्राम इनका मूल्य काफी अधिक था।

हमें यहाँ पर एक अन्य बात को याद रखना चाहिए कि इस सभी सामान की ढुलाई गाड़ियों से होती थी जिनको बैल या घोड़े खींचते थे तथा समुद्र में जहाजों के द्वारा इन्हें भेजा जाता था। भारत से यूरोप तक पहुँचने में एक जहाज लगभग चार माह का समय लेता था। उन दिनों के जहाज आधुनिक समुद्री जहाजों की अपेक्षा काफी कम भार को ले जाते थे। इसलिए ढुलाई पर काफी खर्च आता था। अगर किसी सस्ती तथा काफी वजन की वस्तु को उन दिनों समुद्री जहाजों से ले जाना पड़ता था तब निश्चय ही जहाज का भाड़ा अदा करने के बाद वस्तु काफी मँहगी हो जाती थी। इससे कंपनी को उनका व्यापार करने में नुकसान होता। इसलिए उत्पादों को उनके वजन के संदर्भ में लाभदायक बनाना आवश्यक था जिससे कि लाभांश ढुलाई पर आने वाले खर्च में ही समाप्त न हो जाए।

MAADHYAM IAS

बोध प्रश्न 1

1) उन कुछ बाजारों के नाम बताइये जो बाजार अर्थव्यवस्था में विद्यमान होते हैं।

....

....

....

2) अंग्रेजी कंपनी ने भारतीय कृषि का व्यवसायीकरण करने की योजना क्यों बनाई? उत्तर 50 शब्दों में दें।

....

....

....

....

....

3) सही उत्तर पर निशान लगायें।

i) अंग्रेजी शासन के दौरान कुल मिलाकर भारतीय कृषि में सुधार नहीं हुआ क्योंकि:

अ) अंग्रेजी शासक भारतीय कृषि की क्षमता का अनुमान करने में असफल हुए।

ब) भारतीय कृषि में अंग्रेजी शासकों के विशेष हित थे।

स) अंग्रेजी शासक वैज्ञानिक कृषि में रुचि नहीं लेते थे।

ii) ईस्ट इंडिया कंपनी,

अ) कृषि के व्यवसायीकरण में रुचि नहीं रखती थी।

ब) कृषि के व्यवसायीकरण में रुचि रखती थी।

स) कृषि के नियंत्रित व्यवसायीकरण में रुचि रखती थी।

16.5 व्यवसायिक फसलें

अब हम उन फसलों के बारे में विवेचन करेंगे जो काफी व्यवसायिक महत्व रखती थीं तथा जिन फसलों में अंग्रेजों ने भी काफी रुचि दिखायी।

16.5.1 कच्ची रेशम

कंपनी इस उत्पाद में अपने शासन के प्रारंभ से ही रुचि लेती थी। 1770 में कंपनी के निदेशकों ने लंदन से लिखा : "यदि बंगाल की रेशम का ठीक तरह से निर्माण किया जाए तब वह ब्रिटेन के बुनकरों द्वारा प्रयोग की जाने वाली इटली एवं स्पेन की रेशम का स्थान प्राप्त कर सकती है।" इसीलिए भारत में रेशम के निर्माण में सुधार करने के लिए विशेषज्ञों को लाया गया और उन कारखानों (रेशम के कोपों से रेशम निकालकर लपेटने का कार्य) की स्थापना की गई जहां पर रेशम के कोपों को निर्यात के लिए धागे के रूप में बुना जाता था। कंपनी अपने एजेंटों तथा अधिकारियों के माध्यम से उन वृक्षों को उगाने के लिए लोगों को बाध्य करती थी जिन वृक्षों की पत्तियों को रेशम पैदा करने वाले कीड़े खाते थे तथा ये एजेंट एवं अधिकारी रेशम कारखानों में मजदूरों को कम मजदूरी पर काम करने के लिए भी विवश करते थे। इससे रेशम को कम दाम पर प्राप्त कर लिया जाता और ठेकेदारों को काफी बड़ी मात्रा में लाभ प्राप्त करने दिया जाता था। 19वीं सदी के अंतिम दशक तक रेशम महत्वपूर्ण निर्यात के रूप में उभरा।

16.5.2 अफीम

हम पहले ही देख चुके हैं कि चीन से आयात होने वाली चाय के दाम अदा करने में अंग्रेजों को काफी कठिनाई होती थी। लेकिन उन्हें शीघ्र ही चीनियों को अफीम बेचने का एक मंत्र प्राप्त हो गया। अफीम एक नशीली दवा है तथा यह निकोटिन एवं अलकोहल की भांति होती है। यदि एक बार कोई व्यक्ति इसका सेवन प्रारंभ कर देता है फिर उसके लिए इसे त्यागना बड़ा ही कठिन कार्य होता है तथा वह इसको किसी न किसी मूल्य पर प्राप्त करना चाहेगा। अंग्रेजों के लिए यह बड़ी ही लाभदायक साबित हुई और वे चीन को इसकी तस्करी करने लगे। अफीम का काफी लंबे समय से भारत में बहुत कम मात्रा में उत्पादन होता रहा है। इसका उपयोग दवाई के साथ-साथ नशीली वस्तु के रूप में होता था। 1773 में वारेन हैस्टिंग्स ने नवीन राजस्व स्रोतों की तलाश में इसके उत्पादन एवं व्यापार को सरकारी नियंत्रण में ले लिया। इसकी फसल को संचालित करने के लिए ठेकेदारों की भी नियुक्ति की। बाद में अफीम के एजेंट नाम से प्रचलित अधिकारियों के अधीन इसको दे दिया गया। अफीम के पौधों का उत्पादन एक समझौते के अंतर्गत ही किया जा सकता था। इस समझौते के अनुसार इसको एक निश्चित दाम पर सरकार को बेचना होता था। अगर इस शर्त को तोड़ने का कोई भी प्रयास किया जाता तब उलंघनकर्त्ता को कड़ी सजा दी जाती। इस दाम को जितना संभव हो सकता था, उतना ही कम रखा गया था तथा इसके उत्पादन से होने वाले लाभ का मुख्य भाग सरकार को ही चला जाता था। इसकी आपूर्ति को भी नियंत्रित कर दिया गया था जिससे कि चीनी बाजार में इसके ऊँचे दामों को बनाये रखा जा सके। केंद्रीय भारत के मालवा क्षेत्र में जो अफीम उत्पादनकर्त्ता थे उनकी स्वतंत्रता को खत्म करने के लिए कंपनी ने काफी प्रयास किये। जब कंपनी ऐसा करने में सफल न हो सकी तब उसने मालवा से निर्यात होने वाली अफीम पर भारी कर लगा दिया। इस प्रकार से हम देखते हैं कि अफीम के उत्पादन ने कंपनी के दोनों उद्देश्यों को पूरा किया। एक ओर इससे भारत में बड़ी मात्रा में राजस्व की प्राप्ति हुई। दूसरी ओर चीन के व्यापार के माध्यम से इसकी आमदनी को धन के रूप में लंदन भेजा गया।

16.5.3 नील

नील एक नीला रंग होता है जिसको एक पौधे से प्राप्त किया जाता था। इसका प्रयोग सूती कपड़ों की रंगाई के लिये किया जाता था। 1790 के दशक तक पश्चिमी देशों को इसकी आपूर्ति कैरिबियन उपनिवेशों से होती थी। लेकिन इसके बाद इसका उत्पादन गिरने लगा और भारतीय नील का बाजार बढ़ने लगा। ईस्ट इंडिया कंपनी यूरोपवासियों को नील की खेती करने के लिए अपने क्षेत्रों में बसने के लिए प्रोत्साहित कर रही थी। वह नील का निर्यात करने के लिए इनसे खरीददारी भी करती। इसका तेजी के साथ उत्पादन बढ़ा।

जहाँ 1788-89 में इसका उत्पादन 5,000 मन था वहाँ 1829-30 में 1,33,000 मन हो गया।

नील की खेती निजी और रैयत दो उत्पादन प्रणालियों के अंतर्गत की जाती थी। पहली प्रणाली के अंतर्गत मालिक लोग स्वयं अपने हल एवं बैलों की मदद से नील के पौधों को उगाते थे और इस उद्देश्य के लिए वे मजदूरी पर मजदूरों को भी लगाते। पौधों को काटा जाता और मालिक उनको रंग निकालने वाले कारखानों में पहुँचा देता था। रैयत प्रणाली के अंतर्गत (इसको असामीवार के नाम से भी जाना जाता था) किसान स्वयं अपने खेतों पर नील की खेती करता था और एक निश्चित दाम पर इसको नील कारखाने को दे देता था। अधिकतर नील की खेती इस प्रणाली के अन्तर्गत ही की जाती थी क्योंकि इस प्रणाली से मालिक को बहुत से लाभ थे। वह किसान को काफी कम दाम देता, फिर भी किसान नील की खेती करने से इंकार नहीं कर सकता था। किसान के इंकार करने पर उसको पीटा जा सकता था, जेल भी भेजा जा सकता था और उसकी भूमि पर पैदा होने वाली अन्य फसलों को भी नष्ट किया जा सकता था। मालिकों को और अधिक शक्तिशाली बनाने के लिए बही-खातों को बनाया जाता और उनको दिखाकर किसानों को समझा दिया जाता कि वे अभी भी नील कारखाने के कर्जदार हैं। इस कर्ज से नील कारखाने को नील की आपूर्ति करके ही छुटकारा पाया जा सकता था। यह कर्ज कभी भी समाप्त नहीं होता था और निरंतर बढ़ता जाता था। मालिक लोग यूरोपवासी थे। उनके सरकारी अधिकारियों तथा मजिस्ट्रेटों के साथ अच्छे संबंध रहते थे। अगर किसान अधिकारियों से कोई शिकायत करते तब भी वे उन पर ध्यान नहीं देते थे। इसलिए किसानों को स्वयं अपने नुकसान पर नील की खेती करने के लिए बाध्य किया जाता। उनका एकत्रित होता यह असंतोष अंततः 1859-60 में नील विद्रोह के रूप में फूट पड़ा। इस तरह से हम देखते हैं कि एक महत्वपूर्ण व्यवसायिक फसल का उत्पादन भयंकर विवशता की स्थिति में भी कराया गया।

16.5.4 कपास

पूर्वी भारत की महत्वपूर्ण व्यावसायिक फसल नील थी तो पश्चिम भारत की कपास। 1780 के दशक तक चीन को होने वाले निर्यातों में कपास एक महत्वपूर्ण निर्यात की वस्तु बन गयी। ईस्ट इंडिया कंपनी तथा बंबई के व्यापारी दोनों इस निर्यात की आपूर्ति पर अपना-अपना नियंत्रण कायम रखना चाहते थे। 1886 के आसपास कंपनी ने गुजरात प्रदेश में पर्याप्त क्षेत्र को प्राप्त कर लिया। कंपनी ने कपास उत्पादकों को इस बात के लिए विवश किया कि वे उसे उस दाम से कम पर बेचें जो देश के अन्य क्षेत्रों में थे। लेकिन उनकी प्रतियोगिता यूरोप के व्यक्तिगत व्यापारियों से होने लगी और बाध्य होकर उन्होंने इस व्यवस्था का परित्याग कर दिया तथा 1833 में इस व्यापार से अलग हो गये।

MADHUKAR IAS

15.5.5 काली मिर्च

काली मिर्च के व्यापार में भी कंपनी ने अपनी राजनीतिक शक्ति का प्रयोग किया और काली मिर्च के उत्पादकों को भी कम से कम कीमत पर बेचने के लिए बाध्य किया गया। फ्रांसीसी कंपनी या अन्य प्रतियोगिताओं को न बेचने के लिए व्यापारियों को बाध्य किया गया। अंत में मजबूर होकर कंपनी को इस व्यापार को भी 1830 के दशक में व्यक्तिगत अंग्रेज व्यापारियों को देना पड़ा।

16.5.6 चीनी

गन्ने की खेती शुद्ध रूप से भारतीय खेती है और सदियों से भारत में इससे गुड़ एवं चीनी का निर्माण किया जाता रहा है। भारत के अंदर ही इसकी व्यापक स्तर पर खपत होती थी। 1830 के दशक में नील की खेती के मालिकों ने नील के गिरते दामों एवं गिरती बिक्री का सामना करने के लिए लंदन के बाजार के लिए चीनी का उत्पादन करने के लिए पूँजी का निवेश करना शुरू किया। इस समय लंदन के बाजार में चीनी पर आयात कर को कम कर दिया गया तथा इसकी मांग बढ़ने लगी। गन्ने की खेती करने के इच्छुक यूरोपवासियों को पूर्वी उत्तर प्रदेश में काफी बड़ी मात्रा में जमीनें दी गई। स्थानीय किसान बड़ी मात्रा में पहले से स्थानीय एवं देश के अन्य भागों की खपत के लिए गुड़ का उत्पादन करते थे। लेकिन अब वे गन्ने से गाढ़े रस अर्थात् राब का उत्पादन करने लगे तथा इसके वे चीनी बनाने के लिए यूरोपीय मालिकों को बेच देते थे। नील की खेती करने वाले किसानों की भाँति ही गन्ने की खेती करने वाले किसान भी फसल आने से पूर्व इन मालिकों से धन को

प्राप्त कर लेते थे। फिर वे पूर्व निश्चित दामों पर अपने गन्ने की आपूर्ति करने को बाध्य होते थे। इन मालिकों के द्वारा भरपूर लाभांश लिया जाता था और चीनी का निर्यात भी इस समय बढ़ा। 1833-34 में कलकत्ता बंदरगाह से 1600 टन चीनी का निर्यात होता था परंतु 1846-47 में यह निर्यात बढ़कर 80,000 टन हो गया अर्थात् चीनी निर्यात में 50 गुणा वृद्धि हुई। लेकिन अंग्रेज व्यापारीगण अधिक समय तक इस लाभ को बरकरार न रख सके और चीनी के दामों में गिरावट आने पर 1848 तक अधिकतर चीनी कारखाने बंद हो गये या बंद कर दिये गये। पुनः गुड़ के व्यापारी एवं खंडसारी अपने पुराने बाजारों मिर्जापुर एवं केंद्रीय भारत में इनकी बिक्री करने लगे।

16.5.7 चाय

1830 के दशक में कंपनी को चीनी द्वारा किये गये जबरदस्त विरोध का सामना करना पड़ा क्योंकि कंपनी के द्वारा अफीम की निरंतर तस्करी की जा रही थी जिससे वहाँ की सरकार नाराज हो गई। इसको यह भय हुआ कि कहीं चाय के व्यापार में होने वाले लाभ में रुकावट न पैदा हो जाए और इसी कारण से कंपनी ने अपने विजित क्षेत्र असम में चाय की खेती प्रारंभ करा दी। जब उसका यह प्रयोग सफल रहा तब कंपनी ने अपने चाय बगान का आवंटन व्यक्तिगत कंपनियों को कर दिया। इन कंपनियों में सबसे पहली कंपनी असम कंपनी थी। अन्य दूसरी कंपनियों ने 1850 में अपने बागानों की स्थापना की। इन चाय बागानों में काम करने के लिए स्थानीय मजदूरों का अभाव था, इसलिए छोटानागपुर तथा अन्य क्षेत्रों से बंधुआ मजदूरों को लाया गया। यह एकमात्र ऐसा उदाहरण है जिसमें व्यवसायिक फसलों का उत्पादन व्यापक रूप में पूँजीवादी उद्यमों के आधार पर किया गया। चाय, कॉफी और इसी प्रकार की अन्य खेती का प्रारंभ वास्तविक रूप में 1860 के बाद ही शुरू हुआ, लेकिन यह समय हमारे इस पाठ्यक्रम के बाहर का है।

16.6 व्यवसायीकरण के प्रभाव

हम विस्तृत रूप से देख चुके हैं कि किस प्रकार से व्यवसायिक फसलों का उत्पादन हुआ और किस ढंग से उनका विक्रय किया गया। यह स्पष्ट हो चुका होगा कि प्रत्येक फसल दूसरी से किसी न किसी रूप में भिन्न थी। इसी प्रकार से व्यवसायीकरण के प्रभाव एक समय से दूसरे समय में, एक स्थान से दूसरे स्थान पर और एक फसल से दूसरी फसल पर निश्चय ही भिन्न-भिन्न होंगे। हम यह आशा नहीं कर सकते हैं कि वे सभी जगहों पर बिल्कुल एक समान होंगे फिर भी, कुछ निश्चित समान विशेषताएं और कुछ समान निश्चित प्रभाव विद्यमान होते ही हैं। इसी आधार पर इस भाग में विवेचन किया जाएगा।

MAKHYAM IAS

16.6.1 दरिद्रता

हम अपना प्रारंभ भारत की संपूर्ण अर्थव्यवस्था से करेंगे। आपको याद होगा कि अंग्रेजों का उद्देश्य यूरोप को निर्यात करने वाली वस्तुओं का उत्पादन करना था। ऐसा करने से लंदन स्थित कंपनी के खजाने में धन एकत्रित किया जा सकता था। व्यक्तिगत अंग्रेज व्यापारी भी धन को वापस लंदन भेजना चाहते थे जिससे कि अंततः रिटायर्ड होने पर अपना जीवन आराम से ब्रिटेन में व्यतीत कर सकें। इसलिए निर्यात ने अनिवार्यतः भारतीय स्रोतों को धन रूप में भारत से बाहर भेजने का कार्य किया। यही वह उपाय था जिसने भारतीय "नजराने" को ब्रिटेन को हस्तांतरित किया। इन निर्यातों के बदले में भारत को कोई आयात प्राप्त नहीं होता था। स्पष्टतः इस हस्तांतरण ने भारत को दरिद्र बनाया। इस प्रकार व्यवसायिक फसलों की वृद्धि एवं निर्यात ने भारत को धनी करने के स्थान पर दरिद्र ही किया।

16.6.2 अस्थायित्व

भारतीय कृषि पर बहुत से संकट आते रहे। सूखा, बाढ़ और अन्य प्राकृतिक आपदाओं ने फसलों को नष्ट एवं किसानों को बरबाद किया। लेकिन व्यवसायिक कृषि ने नये प्रकार के खतरों को उजागर किया। अब फसलों की आपूर्ति दूर के बाजारों को हो रही थी। यदि पश्चिम भारतीय गन्ने के अच्छे दाम थे पर वे कलकत्ता में कम हो सकते थे तथा आजमगढ़ में चीनी फैक्ट्रियाँ उन दामों से भी कम दे सकती थी जिसका उन्होंने वायदा

किया। अगर शिकायत की जाती तो वे किसानों के साथ दुराचार करते।

इसी भांति 1816 के बाद से मध्य प्रदेश के उत्तरी भाग बुंदेलखंड क्षेत्र में चीन के बाजार के लिए कपास का उत्पादन होने लगा था। अंग्रेज अधिकारियों ने दावा किया कि अब यह क्षेत्र संपन्न होने लगा है अत: इस क्षेत्र में भूमि करों में वृद्धि की जाये। लेकिन 1830 के दशक में निर्यात घटने लगा तथा कपास के दामों में गिरावट आयी परंतु भूमि कर पहले के बराबर जारी रहा। फलस्वरूप जमींदार एवं किसान दोनों दरिद्र होने लगे, भूमि पर खेती बाड़ी बंद हो गई और अंतत: इस क्षेत्र के किसानों ने 1842 का विद्रोह कर दिया जिसको बुंदेला विद्रोह के नाम से जाना जाता है।

1830 के वर्षों में इसी प्रकार की समस्या का सामना उत्तर प्रदेश ने भी किया। कपास और नील के दामों में गिरावट आयी। इतिहासकार प्रो. सिद्दीकी ने इसका विवरण करते हुए लिखा है "किसान अपनी जमीनों को त्याग रहे थे, जमींदारों को नुकसान हो रहा था। महाजन बरबाद हो गये थे क्योंकि उन्होंने जो ऋण दिये थे उनको अदा न किया जा सका, उनमें बहुतों ने अब किसानों को ऋण देने से इंकार कर दिया। भूमि का अवमूल्यन हुआ। सरकार को ऐसे बहुत से मामलों की सूचना दी गई जिनके अनुसार जमीन को बेचने का प्रयास किया गया किंतु कोई खरीदने के लिए तैयार नहीं हुआ।" इसी समय बंगाल के ग्रामीण अंचलों की भी यही स्थिति थी।

सिक्के का एक दूसरा पहलू भी था। 1830 एवं 1833 के बीच में वे सभी कंपनियाँ जो निर्यात व्यापार से जुड़ी थी तथा जो बंगाल, बिहार और उत्तर प्रदेश में व्यवसायिक कृषि को वित्तीय सहायता उपलब्ध कराती थी, दिवालिया हो गई। कारण यह था कि दाम गिर जाने के बावजूद भी वे नील को ब्रिटेन भेज रही थी, क्योंकि वे अपने धन को भारत से बाहर निकालना चाहते थे। सरकार ने चाँदी के सिक्कों को ब्रिटेन भेजकर स्थिति को और भी गंभीर बना दिया और भारत में धन के अभाव का संकट पैदा हो गया। जिन व्यापारियों ने निर्यात फसलों के उत्पादन हेतु उधार लिया था वे ऋणों की अदायगी न कर सके और दिवालिया हो गये। अंत में निश्चय ही इस संकट का भयंकर शिकार किसान हुए क्योंकि इन किसानों को ताकत के बल पर तथा दबाव में व्यवसायिक फसलों को उगाने के लिए बाध्य किया गया था। लंदन में मूल्यों में गिरावट भारतीय कृषकों के लिए बरबादी का पैगाम लेकर आयी। कहने का तात्पर्य यह है कि कृषि के व्यवसायीकरण ने ग्रामीण अर्थव्यवस्था में अस्थिरता के एक नये तत्व को जोड़ दिया।

16.6.3 बहुत से बाजार

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

हमने उपरोक्त 16.2 भाग में देखा था कि व्यवसायीकरण पर विचार विभिन्न बाजारों के संदर्भ में किया जाना चाहिए। हम यह भी देख चुके हैं कि विभिन्न उत्पादों जैसे कि रेशम, अफीम, नील आदि के लिए कैसे बाजारों का विकास हुआ। इसलिए उत्पाद बाजार ने स्वयं का प्रसार एवं फैलाव किया। लेकिन जिन बाजारों की हमने सूची बनायी थी, उनका क्या हुआ?

इस प्रश्न के उत्तर की तलाश करते समय हमें यह याद रखना चाहिए कि जिस ढंग से भारत में व्यवसायीकरण का विकास हुआ उसने बाजारों के विकास में बाधा डाली। सबसे पहले हम चाय की खेती पर अपना ध्यान केंद्रित करें। तब हम पायेंगे कि फसल में उत्पादन का कार्य मजदूरी पर रखे गये मजदूरों से नहीं कराया गया। ऐसा ही हमने नील की खेती में देखा। प्रधानता उस प्रणाली को दी गई जिसके अंतर्गत किसान को आवश्यक उत्पाद की कम से कम मूल्य पर आपूर्ति करने के लिए बल पूर्वक विवश किया जाता था और इस प्रणाली को रैयत प्रणाली कहा गया। इस प्रकार की व्यवस्था में कम से कम आमदनी होती थी और इसी कारण किसान को इसे उगाने के लिए बल पूर्वक विवश करना पड़ता था। अपने भोजन की आवश्यकताओं के लिए वे शेष खाली भूमि पर अपने एवं अपने परिवार के लिए जीवित रहने लायक खाद्यानों का उत्पादन कर लेते थे। लेकिन खेती विहीन मजदूर ऐसा न कर सके और उनको अपने भोजन के लिए और अधिक पैसा अदा करना पड़ता था। इसलिए बागान मालिकों और व्यापारियों ने नकद मजदूरी पर मजदूरों को नहीं रखा जिसके कारण श्रम बाजार का विकास न हो सका।

अंतर्गामी बाजार पर भी इसी तरह का प्रभाव हुआ। व्यवसायिक फसल को उगाने के लिए किसान को अपने हल, बैल आदि यंत्रों का प्रयोग करना पड़ता था। लेकिन उसको इसके

लिए उचित दाम न दिया जाता था क्योंकि ऐसा करने पर मालिक के मुनाफे में कमी आती थी। इससे होने वाले नुकसान की भरपाई उसको स्वयं ही उठानी पड़ती क्योंकि स्वयं अपने लिए खाद्यान की आपूर्ति बनाये रखने के लिए उसको उत्पादन करने में इन यंत्रों को काम में लाना होता था। श्रम बाजार की भांति ही इन अंतर्गामियों के लिए भी सरलता से किसी भी बाजार का विकास न हो सका।

भूमि बाजार के विकास को भी रोका गया। आप यह भली भांति जानते हैं कि भूमि की खपत चावल या दाल की तरह से नहीं होती। जिस समय हम भूमि को खरीदते हैं तब हम यह भी आशा करते हैं कि यह पैदाबार दे। अगर किसी को यह भरोसा हो जाए कि यह भूमि कोई पैदावार नहीं देगी तब भूमि को कोई नहीं खरीदेगा अर्थात् ऐसी आशा की गई थी कि कोई भी नील या अफीम का मालिक अचानक उससे कोई नयी मांग नहीं करेगा। इस भय के कारण कोई बाहरी आदमी भूमि को खरीदेने के लिए आगे नहीं आता था और जिसके कारण भूमि बाजार का विकास न हो सका। जो पीढ़ी दर पीढ़ी किसान थे वे ही भूमि पर खेती कर सकते थे। कारण स्पष्ट था क्योंकि उनके पास रोजगार के दूसरे अवसर नहीं थे। लेकिन भू-राजस्व को एकत्रित करने वाले एजेंटों ने जमींदार तथा बागान के मालिकों ने भूमि बाजार के विकास को रोका।

अंत में एक ऋण बाजार भी होता है। इस बाजार में ऋण दिये जाते हैं। लेकिन कंपनी शासन के दौरान इसके फैलाव को रोकने के प्रयास किये गये। मालिकों के द्वारा किसानों को ऋण प्रदान किये जाते थे जिससे कि उनको दबा कर रखा जा सके। एक अंग्रेज अधिकारी ने पर्यवेक्षण करते हुए लिखा कि अगर एक रैयत को पेशगी दे दी जाए तो वह इसको कभी भी अदा नहीं कर पाता और उसकी स्थिति किसी भी फैक्टरी के बंधुआ मजदूर से कुछ ही बेहतर होती है। इस स्थिति में कोई भी किसान को ऋण नहीं देना चाहता था क्योंकि इसके वापस होने की संभावना नगण्य थी। इस हालात में किसान ऋण कैसे चुका सकता था। दूसरी ओर जो मालिक थे वे भी नहीं चाहते थे कि इस पेशगी धन की अदायगी की जाये। अगर ऐसा हो जाता तब किसान उनके नियंत्रण से मुक्त हो सकता था। इस प्रकार की स्थिति अफीम की खेती करने वाले किसानों के साथ भी थी। किसान लोग पेशगी धन को फसल उगाने के लिए भाग में लेते थे। उनको डर था कि यदि उन्होंने इंकार कर दिया तब उनको गांव के मुखिया या सरकार का कोपभाजन बनना पड़ेगा। एक ऐसा स्वतंत्र बाजार स्पष्ट तौर पर अस्तित्व में न आ सका जिसमें कोई भी व्यक्ति अपने हितों के अनुरूप कार्यवाही कर सके।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

16.6.4 सामाजिक संरचना

कभी-कभी ऐसा विश्वास किया जता है कि व्यवसायीकरण के अंतर्गत किसानों में निश्चित रूप से असमानता बढ़ती है। कुछ किसान संपन्न हो सकते हैं और वे नकद मजदूरी पर मजदूरों को रखेंगे, कुछ को विवश होकर अपनी जमीनों को छोड़कर मजदूर बनना पड़ेगा। ऐसा तभी हो सकता है जब बाजार को स्वतंत्र रूप से विकसित होने दिया जाये और स्वतंत्र रूप से कार्य करने दिया जाये। विशेषरूप से यदि भूमि बाजार इस प्रकार से कार्य करते तब यह अच्छा ही होता। लेकिन जिस व्यवसायीकरण का हम अध्ययन कर रहे हैं उसके विषय में यह घटित न हो सका। अनवरत रूप से किये जाने वाले दमन एवं राज्य शक्ति ने बाजारों के स्वतंत्र विकास को अवरुद्ध और पूर्ण श्रम बाजार को पैदा होने से रोका। इस सबके बावजूद व्यवसायिक फसलों के उत्पादन ने छोटे किसानों की उत्पादन व्यवस्था को तेजी से धराशायी कर उनको दरिद्र बना दिया। अपने छोटे-छोटे खेतों में इन किसानों के द्वारा अपने परिवारजनों की सहायता से उत्पादन किया जाता था। परंतु नील की खेती कराने वाले मालिकों और अफीम के एजेंटों ने इनको अपने इन छोटे खेतों पर व्यवसायिक फसलों को करने के लिए बाध्य किया जिससे उनको बहुत कम आमदनी होती थी या बिल्कुल ही नहीं। किसान को दरिद्र बना दिया गया था। लेकिन न तो उत्पादन के तरीकों और न ही उत्पादन के संगठन को बदला गया। यूरोपीय व्यापारियों को इन छोटे किसानों के द्वारा इन व्यवसायिक फसलों को पैदा कराके अधिक मुनाफा हुआ और इसलिए उन्होंने इस कार्य के लिए नकद मजदूरी पर मजदूरों को नहीं रखा।

बोध प्रश्न 2

1) कच्ची रेशम एवं अफीम का उत्पादन करने में अंग्रेजों का क्या हित था?

....

....

....

....

....

....

2) क्या व्यवसायीकरण किसानों के लिए लाभदायक था? 60 शब्दों में उत्तर दें।

....

....

....

....

....

3) बहुत से बाजारों पर व्यवसायीकरण का क्या प्रभाव हुआ? 100 शब्दों में उत्तर दें।

....

....

....

....

....

....

....

....

....

....

MAADHYAM IAS

16.7 सारांश

इस प्रकार हमने इस इकाई में देखा कि भारत में व्यवसायीकरण कोई नयी चीज न थी। लेकिन प्रारंभिक अंग्रेज शासन के दौरान इसने जो स्वरूप ग्रहण किया वह निश्चय ही पहले के शासकों के शासन काल में विद्यमान स्वरूप से महत्वपूर्ण ढंग से भिन्न था। यह व्यवसायीकरण एक व्यापारिक कंपनी के अधीन हुआ। इस कंपनी का मुख्यालय इंग्लैंड में स्थित था और उसके अधिकतर कर्मचारी भी वहीं से आते थे।

- इसलिए भारत से धन को भेजना या रूपांतरित करना ही उनका मुख्य उद्देश्य था।
- पश्चिम के बाजारों में जिन वस्तुओं की मांग थी उनके ही उत्पादन को संगठित करने का कार्य किया गया।
- कंपनी भारतीय वस्तुओं को कम से कम मूल्य पर खरीदना चाहती थी इसीलिए भारतीय उत्पादनकर्त्ताओं के दमन के साथ-साथ उनके विरुद्ध हिंसात्मक साधनों का प्रयोग भी किया। ऐसा ही करने की अनुमति बागानों के मालिकों एवं दूसरों को दी गई जिससे कि भारतीय किसानों से कम से कम कीमत पर उत्पादन कराया जा सके।
- किसानों को अर्ध-गुलाम बनाकर इन फसलों का उत्पादन कराया गया जिससे कि उनको अधिक से अधिक मुनाफा हो। इस काम के लिए नकद मजदूरी पर मजदूरों को नहीं रखा गया।
- जहाँ एक ओर उत्पादन बाजारों का व्यवसायीकरण हुआ वहीं दूसरी ओर भूमि बाजार एवं श्रम बाजार विकसित न हो सके।

- किसान अर्थव्यवस्था दरिद्र हो गई लेकिन न तो उत्पादन के तरीकों और न ही उत्पादन के संगठन को बदला गया।
- परिणामस्वरूप भारत के ग्रामीण अंचलों में कृषि का आधार परिवार के सदस्यों द्वारा किये जाने वाला श्रम ही बना रहा।

16.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) देखें भाग 16.2

2) आपका उत्तर मुख्यतः अंग्रेजी कंपनी के व्यापारिक हित पर केंद्रित होना चाहिए। देखें भाग 16.4

3) i) ब ii) स

बोध प्रश्न 2

1) देखें उप भाग 16.5.1 और 16.5.2

2) देखें उप भाग 16.6.2

3) देखें उप भाग 16.6.3

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

इकाई 17 भारत में अनौद्योगीकरण

इकाई की रूपरेखा

17.0 उद्देश्य
17.1 प्रस्तावना
17.2 अनौद्योगीकरण का अर्थ
17.3 ब्रिटिश पूर्व अर्थव्यवस्था
 17.3.1 यूरोप के साथ आरंभिक व्यापार का स्वरूप
 17.3.2 यूरोप के साथ आरंभिक व्यापार के परिणाम
 17.3.3 प्लासी के युद्ध के बाद व्यापार
 17.3.4 यूरोपीय व्यापार का प्रभाव
17.4 आनौद्योगीकरण
17.5 कुछ निष्कर्ष
17.6 सारांश
17.7 शब्दावली
17.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

17.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- विवेच्यकाल में हुए अनौद्योगीकरण का तात्पर्य समझ सकेंगे,
- भारतीय उद्योगों पर यूरोपीय व्यापार के प्रभाव पर प्रकाश डाल सकेंगे, और
- ईस्ट इंडिया कंपनी की नीतियों और अनौद्योगीकरण के बीच संबंध स्थापित कर सकेंगे।

MAADHYAM IAS
"way to achieve your dream"

17.1 प्रस्तावना

18वीं शताब्दी के मध्य से भारत के राजनीतिक और आर्थिक मामलों में ब्रिटिश सत्ता के हस्तक्षेप से भारतीय अर्थव्यवस्था पर गहरा प्रभाव पड़ा। भारत पर ब्रिटेन के आर्थिक नियंत्रण का सबसे पहला परिणाम यह हुआ कि परंपरागत भारतीय हस्त उद्योग समाप्त होते चले गये। भारतीय अर्थव्यवस्था के इतिहास में इस प्रक्रिया को भारतीय अर्थव्यवस्था के "अनौद्योगीकरण" के रूप में जाना जाता है।

17.2 आनौद्योगीकरण का अर्थ

लगातार हो रहे औद्योगिक पतन की प्रक्रिया को आनौद्योगीकरण कहा जाता है। औद्योगिक उत्थान या पतन की पहचान दो तथ्यों से होती है। पहला यह कि राष्ट्रीय आय में उद्योग का कितना हिस्सा है और दूसरा यह कि कितने प्रतिशत लोग इस पर आश्रित हैं। इनकी बढ़त से औद्योगीकरण का और पतन से अनौद्योगीकरण का संकेत मिलता है।
औपनिवेशिक भारत और ब्रिटेन में रहने वाले विभिन्न राजनीतिक और आर्थिक हितों से जुड़े समुदायों का ध्यान भारतीय उद्योगों के नाश और देश के ग्रामीणीकरण के प्रश्न पर केंद्रित हुआ। भारतीय राष्ट्रवादियों ने कहा कि ब्रिटिश शासन के अंतर्गत भारत का शोषण हो रहा है और इसके प्रमाण स्वरूप उन्होंने भारतीय हस्त उद्योगों के विनाश का तथ्य लोगों के सामने रखा। ब्रिटेन के उदीयमान मुक्त व्यापारी समुदाय ने भारत के व्यापार पर ईस्ट इंडिया कंपनी से एकाधिकार पर प्रहार करने के क्रम में यह बात कही कि कंपनी शासन देश के परंपरागत हस्त उद्योग का विनाश कर रहा है।

17.3 ब्रिटिश पूर्व अर्थव्यवस्था

कुछ विद्वान ब्रिटिश पूर्व भारतीय औद्योगिक ढाँचे को समृद्ध और संभावना से परिपूर्ण मानते हैं, जबकि कुछ विद्वानों का मानना है कि भारतीय उद्योग अवरुद्ध हो चुका था और तकनीकी रूप से पिछड़ा हुआ था, औद्योगिक बदलाव संबंधी आंकड़े, मसलन उत्पादन कितना होता था, उत्पादकता कितनी थी, पूंजी निवेश कितना था और कितने लोग इससे जुड़े हुए थे, सही सही रूप में उपलब्ध नहीं हैं। अतः उपनिवेश बनने से पूर्व भारत की औद्योगिक क्षमता का सटीक विवरण उपलब्ध नहीं है। पर जहाँ तक उत्पादों के गुण का सवाल है, इसकी सही तस्वीर हमारे सामने हैं। इस काल में होने वाले उत्पादों की गुणवत्ता पर कोई प्रश्नचिन्ह नहीं लगा सकता है।

यही सही है कि मुगलकालीन भारत में आय के विभाजन में काफी असमानता थी, पर इसके बावजूद घरेलू बाजार में अनिवार्य उपभोक्ता वस्तुओं की भरपूर माँग थी और इसमें उत्तरोत्तर वृद्धि ही होती गयी। उच्च कोटि की विलास की वस्तुओं का खरीददार अमीर राजन्य वर्ग था।

भारत में कपड़ा उद्योग सबसे ज्यादा फैला हुआ था और यह भारत का सर्वप्रमुख उत्पाद था। रंगाई के काम में आने वाली वस्तुएं (इसमें नील प्रमुख था) और चीनी भी प्रमुख औद्योगिक उत्पाद थे। कृषि आधारित अन्य उद्योगों में तेल, तंबाकू, अफीम और नशीले पेय पदार्थों का स्थान प्रमुख था। खनन उद्योग अविकसित था, पर भारत लोहे के उत्पादन के मामले में आत्मनिर्भर था। जहाजरानी एक अन्य महत्वपूर्ण और विकासशील उद्योग था।

उद्योग-पूर्व यूरोप के समान मुगलकालीन भारत में ऐसा कोई विभाजन नहीं था कि शहरों में उद्योग स्थापित होंगे और गाँव कच्चे माल की आपूर्ति करने के केंद्र होंगे। भारत में उद्योग गाँवों में ही केंद्रित थे।

मुगलकालीन अर्थव्यवस्था में चीजों की माँग और संगठनात्मक विकास बहुत धीरे धीरे हुआ। माँग की अपेक्षाकृत अवरुद्धता, पूँजी निर्माण की धीमी गति और तकनीकी खोजों के अभाव के कारण समग्र रूप से मुगल औद्योगिक अर्थव्यवस्था का विकास धीमी गति से हुआ।

MAADHYAM IAS

17.3.1 यूरोप के साथ आरंभिक व्यापार का स्वरूप

आरंभ में यूरोप के साथ होने वाले व्यापार में भुगतान संतुलन भारत के पक्ष में था। 17वीं शताब्दी के दौरान एशिया से यूरोप को निर्यात की जाने वाली वस्तुओं में काली मिर्च और अन्य मसालों का स्थान भारतीय कपड़े ने ले लिया। 1664 तक, इंग्लिश ईस्ट इंडिया कंपनी ने भारत से 750,000 थान कपड़े आयातित किए थे, यह कंपनी के कुल व्यापार का 73 प्रतिशत हिस्सा था। आने वाले दो दशकों में यह मात्रा बढ़कर 1.5 लाख थान तक पहुँच गयी, जो कंपनी के कुल आयातित मूल्य का 83 प्रतिशत था। (केम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इंडिया, वाल्युम 1)।

भारतीय कपड़े के निर्यात में बढ़ोत्तरी होने से कपड़ा उद्योग का तेजी से विकास हुआ जिसके कारण संभवतः काफी लोगों को रोजगार मिला होगा।

भारतीय कपड़े के निर्यात में अपूर्व वृद्धि होने से खरीददार देशों से काफी मात्रा में सोना-चाँदी भारत आने लगा, क्योंकि व्यापार संतुलन भारत के पक्ष में था। ऐसा माना जाता है कि अगर इसी समय अमेरिकी खानों की खोज न हुई होती, तो इस काल का भारत-यूरोपी व्यापार तीन शताब्दियों तक कायम न रह पाता, यह व्यापार निश्चित रूप से भारत के पक्ष में था। व्यापार संतुलन यूरोपीय देशों के हक में नहीं था, अतः परिणामस्वरूप यूरोप की जमा पूँजी तेज़ी से सामाप्त होने लगी।

व्यापारिक विचारधारा के समर्थक पश्चिमी विचारक पश्चिमी देशों की राष्ट्रीय आर्थिक अस्थिरता के लिए निषेधात्मक व्यापार संतुलन (निर्यात से अधिक आयात) को उत्तरदायी मानते थे। उन्होंने यूरोपीय कंपनियों की यह कहकर आलोचना की कि इनके मार्फत यूरोप का सारा धन एशिया चला जा रहा है। 19वीं शताब्दी के आरंभिक वर्षों में भारत के साथ होने वाला यूरोपीय व्यापार दलाली किस्म का व्यापार था, जिसमें यूरोपीय कंपनियाँ कम

दाम में वस्तुएँ एशिया से खरीदती थीं और ऊँचे मूल्यों में एशिया, अफ्रीका और दूसरे देशों में बेचती थीं। यूरोपीय व्यापारी कम दाम में वस्तुएँ खरीदकर और अधिक दाम में बेचकर मुनाफा कमाते थे। भारत से व्यापार करने में यूरोपीय कंपनियों की सबसे बड़ी समस्या वित्त संबंधी थी। भारत में ब्रिटिश या यूरोपीय चीजों की माँग न होने के कारण भारतीय चीजों को खरीदने के लिए सोने और चाँदी (बुलियन) का उपयोग करना पड़ता था। 18वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में होने वाले भारत के व्यापार में हालांकि यूरोपीय देशों से बुलियन तेजी से निर्यात होने लगा पर भारत के विदेशी व्यापार और उद्योग पर इसका महत्वपूर्ण असर पड़ा।

17.3.2 यूरोप के साथ आरंभिक व्यापार के परिणाम

इस काल में बंगाल एक महत्वपूर्ण केंद्र के रूप में उभरा। यूरोपीय व्यापार के कारण देशी व्यापार उन्नत हुआ।

चीजों की बढ़ती हुई माँग के कारण स्थानीय भारतीय उत्पादक उद्योग तेजी से विकसित हुए। इसके बावजूद यूरोपीय व्यापारियों ने नये व्यापारिक और औद्योगिक संगठनों की स्थापना को बढ़ावा नहीं दिया। उन्होंने अपने को परंपरागत व्यापारिक और औद्योगिक उत्पादक संगठनों से ही जोड़े रखा।

19वीं शताब्दी के आरंभ में ब्रिटेन और बाहर के अन्य देशों को होने वाले भारतीय उत्पादक वस्तुओं के निर्यात का प्रसार रुक गया। 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में भारत की उत्पाद वस्तुओं का बाजार विदेशों में कम होने लगा।

भारत से होने वाले निर्यात के स्वरूप में भी भारी परिवर्तन हुआ। तैयार माल का निर्यात कम हुआ और कच्चे माल के निर्यात में वृद्धि हुई। नीचे दी गयी तालिका से यह बात और भी स्पष्ट हो जाएगी :

तालिका 1 : वस्तुओं का निर्यात और भारतीय निर्यात के कुल मूल्य का प्रतिशत 1811 से 1850 तक
(स्रोत : कैंब्रिज हिस्ट्री आफ इंडिया, पृ. 842)

	नील	फुटकर सामान	कच्चा रेशम	कच्चा सूत	अफीम	चीनी
1811-12	18.5	33.0	8.3	4.9	23.8	1.5
1814-15	20.0	14.3	13.3	8.0	उपलब्ध नहीं	3.0
1828-29	27.0	11.0	10.0	15.0	17.0	4.0
1834-35	15.0	7.0	8.0	21.0	25.0	2.0
1839-40	26.0	5.0	7.0	20.0	10.0	7.0
1850-51	10.9	3.7	3.8	19.1	30.1	10.0

MAADHYAM IAS

17.3.3 प्लासी के युद्ध के बाद व्यापार

1757 के पहले ईस्ट इंडिया कंपनी भारत से निर्यातित कुल 80-90 प्रतिशत वस्तुओं का भुगतान बुलियन के माध्यम से करती थी। धीरे-धीरे यह स्थिति बदलती गयी और 1795 से 1812 के बीच बंगाल से निर्यात 33 प्रतिशत वस्तुओं के बदले विदेशी सामान बंगाल में आने लगा।

प्लासी के युद्ध के बाद छह दशकों तक का काल व्यापारिक पूँजी द्वारा भारत के शोषण का काल था। इस काल में ईस्ट इंडिया कंपनी ने भारत पर अपना नियंत्रण स्थापित किया और इस उपमहाद्वीप के साथ सभी ब्रिटिश व्यापार पर एकाधिकार स्थापित कर लिया।

बंगाल की दीवानी प्राप्त करने के बाद ईस्ट इंडिया कंपनी पर बुलियन के निर्यात का भार कम हुआ। बंगाल की लूट-खसोट, चुंगी मुक्त अंतर्देशीय व्यापार से होने वाले मुनाफे और दीवानी से प्राप्त राजस्वों का उपयोग कंपनी के निवेश को वित्तीय सहायता प्रदान करने के लिए नहीं किया गया। कंपनी ने प्रतियोगिता से बचने के लिए मुक्त व्यापार को हतोत्साहित किया और स्थानीय बाजार में अपने मालों की खपत बढ़ाई। इन मालों के उत्पादकों को जबरन कम दाम पर अपनी चीजों को कंपनी के हाथ बेचने के लिए मजबूर किया गया।

2 क रुई की धुनाई

2 ख बुनाई

MAADHYAM IAS

2 ग हस्त करघा

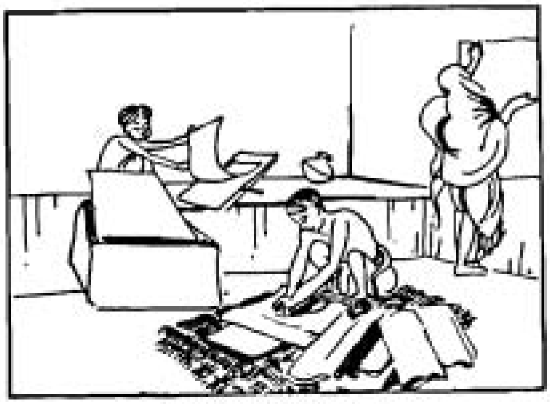

2 घ मलमल की तैयारी

एक समकालीन विद्वान विलियम बेल्ट ने इस मुद्दे पर प्रकाश डालते हुए लिखा है : "इस विभाग में होने वाली धोखाधड़ी कल्पनातीत थी, सभी बुनकरों को ठग रहे थे, कंपनी के गुमाश्तों और उनके सहयोग से जत्थेदारों (कपड़ों की जाँचकर्ता) द्वारा चीजों का मूल्य बाजार मूल्य से 15 प्रतिशत और कहीं-कहीं 40 प्रतिशत से कम आँका गया।"

प्लासी के युद्ध और 1813 के बीच बंगाल ईस्ट इंडिया कंपनी का प्रशासन अराजकता से परिपूर्ण था। इंग्लिश कंपनी के कर्मचारी "निजी" व्यापार में लिप्त थे और अपना धन विदेशी कंपनियों और प्रछन्न अंग्रेजी व्यापार के माध्यम से यूरोप भेज रहे थे।

17.3.4 यूरोपीय व्यापार का प्रभाव

1813 के पूर्व ब्रिटिशों द्वारा भारत का किया जाने वाला शोषण व्यापारिक पूँजीवाद के तहत व्यापारिक पूँजी द्वारा किया जाने वाला शोषण था। ईस्ट इंडिया कंपनी का उद्देश्य कम से कम दामों में भारतीय वस्तुओं को खरीदकर यूरोपीय देशों और ब्रिटेन में महँगे दामों में बेचकर मुनाफा कमाना था। उन्होंने कम से कम दामों में अधिक से अधिक भारतीय वस्तुओं (खासकर कपड़ा) की खरीद का अराजकतापूर्ण जाल फैलाया। इससे भारतीय निर्यातक उद्योग, खासकर कपड़ा उद्योग पर बुरा प्रभाव पड़ा।

इस काल के घरेलू औद्योगिक उत्पादन संबंधी आँकड़े उपलब्ध नहीं हैं, अतः इतिहासकारों और अर्थशास्त्रियों को ब्रिटिश शोषण के परिणामों पर ज्यादा भरोसा करना पड़ता है। ब्रिटिश शोषण के कारण भारतीय अर्थव्यवस्था पर पड़ने वाले प्रभाव खासकर कारीगरों और खेतिहरों पर पड़ने वाले प्रभाव के आधार पर ही विद्वान विचार-विमर्श करते हैं।

एक तरफ इस काल में कंपनी ने देश के उद्योगों का अदूरदर्शितापूर्ण और अराजक शोषण किया, दूसरी तरफ ब्रिटेन के कपड़ा निर्माता भारतीय कपड़ों पर कड़े आयात कर लादने के लिए दबाव डालने लगे।

1720 तक आते-आते ब्रिटिश कपड़ा निर्माताओं के दबाव के कारण भारतीय रेशम और रंगीन, छपाई वाले कपड़ों पर प्रतिबंध लग गया। मलमल के कपड़ों और अन्य भारतीय सूती वस्त्रों पर कड़े कर लगाये गये। 1813 में संसद ने एक बार फिर सूती और मलमल के कपड़ों के उपभोग पर एकमुश्त कर लगाया।

इस प्रकार 1813 तक भारतीय उद्योग, खासकर कपड़ा उद्योग पर दो तरफा मार पड़ी। एक तरफ कंपनी ने भारत में कपड़ा उत्पादकों से कम दाम पर खरीद करनी शुरू की और उन्हें अग्रिम राशि लेने को मजबूर किया गया। इस प्रकार गरीब बुनकर अब मजदूर मात्र रह गये। 1789 के एक नियम के तहत सामान में त्रुटि रहने पर अग्रिम राशि का 35 प्रतिशत जुर्माने के रूप में वसूल लिया जाता था। कंपनी के कर्मचारियों ने व्यापार के नाम पर लूट मचा दी, कंपनी ने अधिक से अधिक मुनाफा कमाने की अदूरदर्शितापूर्ण नीति अपनाई। इसका समग्र रूप से भारतीय अर्थव्यवस्था और खासकर कपड़ा उद्योग पर निषेधात्मक प्रभाव पड़ा।

दूसरी तरफ, अपने घर में ईस्ट इंडिया कंपनी का तीव्र विरोध हुआ। भारत के साथ होने वाले व्यापार पर कंपनी का एकाधिकार इसका सर्वप्रमुख कारण था। इसके अतिरिक्त उन व्यापारियों ने भी कंपनी की आलोचना की जो घरेलू उत्पादन में लगे हुए थे। कंपनी द्वारा आयातित भारतीय माल से उनके उद्योग का अस्तित्व खतरे में पड़ गया था।

कंपनी की अपनी अदूरदर्शितापूर्ण शोषणात्मक नीति और मुक्त व्यापार करने के इच्छुक व्यापारियों के भारतीय उत्पादों के आयात पर प्रतिबंध लगाए गए और और इसके कारण भारतीय कपड़ा उद्योग में कंपनी का निवेश लगातार कम होता गया। 1705 में यह 92,68,770 रुपये का था, जो 1799 में घटकर 90,51,324 रुपये रह गया और 1810 तक घटकर 25,50,000 रुपये रह गया। कंपनी के खाते में बंगाल से होने वाले कपड़े के निर्यात का मूल्य 1792 में 61,67,851 रुपये था जो 1823 में घटकर 3,42,843 रुपये हो गया। 19वीं शताब्दी के आरंभ में जहाँ तैयार माल के निर्यात में कमी आई और कच्चे माल का निर्यात बढ़ा वहीं भारत में तैयार माल के आयात में वृद्धि हुई। दिखाए गए मूल्य मिलियन (10 लाख रुपए) के रूप में प्रदर्शित किए गए हैं। भारतीय विदेशी व्यापार के स्वरूप का यह परिवर्तन और इसके परिणामस्वरूप भारतीय उद्योग का विनाश अनौद्योगीकरण कहलाया। समकालीन विद्वानों और बाद के इतिहासकारों ने भी इस स्थिति को अनौद्योगीकरण के रूप में परिभाषित किया।

MAADHYAM IAS
way to achieve your dream

तालिका 2 : भारत में आयातित वस्तुएँ 1828-1840

	कपास सूत मूल्य	(%)	तैयार कपड़ा	(%)	धातु मूल्य	(%)	शराब मूल्य	(%)	ऊनी सामान मूल्य	(%)
1828-29	4.2	7.8	11.8	22.0	8.6	16.0	4.6	8.6	2.6	4.9
1831-32	5.1	11.1	9.6	21.4	8.6	19.1	2.5	5.5	2.1	4.6
1834-35	4.1	9.7	8.1	21.0	6.0	14.0	3.4	8.0	2.2	5.2
1837-38	6.2	12.8	13.6	28.0	5.1	10.6	2.6	5.3	1.4	2.9
1849-50	7.5	13.3	18.3	32.3	6.1	11.0	3.1	5.5	1.2	2.1

बोध प्रश्न 1

सही उत्तर पर (✓) का निशान लगाइए।

1) अनौद्योगीकरण का मतलब है :

   क) उद्योग में कंप्यूटर का उपयोग

   ख) देश में उद्योग का अभाव

   ग) देश में कृषि का अभाव

   घ) राष्ट्रीय आय में उद्योग का कम होता हिस्सा और इस पर आश्रित जनसंख्या का कम होता प्रतिशत।

2) आरंभिक यूरोपीय व्यापार के दौरान अमेरिकी खानों की खोज होने से :

   क) भारत से व्यापार करने के लिए यूरोपीय व्यापारियों को वित्तीय राहत मिली।

   ख) भारत के साथ यूरोप का व्यापार बंद करने में यूरोपवासियों को कामयाबी मिली।

   ग) कोई प्रभाव नहीं पड़ा।

   घ) (8)और (ग) दोनों सही हैं।

MAADHYAM IAS
way to achieve your dream

3) 1820 के दशक तक :

   क) भारत से होने वाले यूरोपीय व्यापार का स्वरूप बदल गया।

   ख) भारत के साथ होने वाले यूरोपीय व्यापार के स्वरूप में कोई परिवर्तन नहीं हुआ।

   ग) ब्रिटेन को होने वाले निर्यात में तैयार माल का हिस्सा कम हुआ।

   घ) क) और ग) दोनों सही हैं।

17.4 अनौद्योगीकरण

आरंभिक राष्ट्रवादी अर्थशास्त्री आर.सी. दत्त और बाद में मदनमोहन मालवीय (भारतीय औद्योगिक आयोग की बैठक में प्रकट किया गया विरोध मत) ने यह तथ्य सामने रखा कि भारत का अनौद्योगीकरण हो गया है, उन्होंने प्रमाण स्वरूप उत्पादक वस्तुओं, खासकर मैंचेस्टर में तैयार वस्तुओं के निर्यात के आँकड़े प्रस्तुत किए। उदाहरणस्वरूप दत्त ने यह तथ्य सामने रखा कि इंग्लैंड और केप ऑफ गुड होप के पूर्व में स्थित इसके बंदरगाहों से भारत में 1794 में £ 156 मूल्य के कपड़े भेजे गये थे, जो 1813 में बढ़कर 108824 हो गये।

1813 के पहले ईस्ट इंडिया कंपनी ने अपने एकाधिकार व्यापार के जरिए भारतीय औद्योगिक क्षेत्र, खासकर कपड़ा उद्योग का जम कर शोषण किया, जिससे उद्योग का पतन शुरू हो गया। ईस्ट इंडिया कंपनी ने ज्यादा से ज्यादा मुनाफा कमाने के लिए भारत से जबरदस्ती कम मूल्य पर चीजें खरीदी और यूरोप में अधिक मूल्य पर उसे भेजा।

इंग्लैंड में भारतीय कपड़े के निर्यात पर प्रतिबंध लगने से उद्योग को एक और झटका लगा।

बुनकरों और सूत कातने वालों की आय तेजी से घटी। इसके परिणामस्वरूप इस परंपरागत औद्योगिक क्षेत्र में न तो पूँजी इकट्ठी हो सकी और न ही कोई तकनीकी विकास हो सका।

एक तरफ भारत का परंपरागत औद्योगिक क्षेत्र नष्ट किया जा रहा था, दूसरी तरफ इसी काल में ब्रिटेन में औद्योगिक क्रांति शुरू हुई। इसमें नयी तकनीकों का आविष्कार हुआ और साथ ही साथ पूँजीवादी उत्पादन के सिद्धांत के तहत नये संगठन सामने आये।

3. काम करते हुए लोहार

4. कागज के बनाने की तैयारी

विकसित होते हुए ब्रिटिश कपड़ा उद्योग को सभी प्रकार के लाभ प्राप्त थे, जबकि इसी काल के भारतीय कपड़ा उद्योग को उन लाभों से वंचित रखा गया। ब्रिटिश उद्योग के पास एक लगातार विकसित तकनीकी आधार था, इसकी अर्थव्यवस्था भी उद्योग के विकास के अनुकूल थी और सबसे बड़ी बात यह थी कि इसे विदेशी प्रतियोगिता का सामना नहीं करना पड़ा। बल्कि यह कहना उचित होगा क इसे विदेशी प्रतियोगिता से बचाए रखा गया। कुछ इतिहासकारों का यह मानना है कि ब्रिटिश मशीन से बने धागे और कपड़े के निर्यात से भारत के घरेलू कपड़ा उद्योग को कोई धक्का नहीं लगा क्योंकि ब्रिटिश शासन के अंतर्गत राजनीतिक स्थायित्व, बेहतर यातायात व्यवस्था और बाजार के विकास के कारण कृषि क्षेत्र में, प्रतिव्यक्ति आय में वृद्धि हुई। इसके अतिरिक्त यह भी तर्क दिया गया कि मशीन से बने सस्ते धागों के कारण घरेलू हथकरघा उद्योग मजबूत हुआ। दूसरे क्षेत्र में जो गिरावट आई, उसकी भरपाई प्रतिव्यक्ति आय बढ़ने और अन्य आर्थिक गतिविधियों से हो गई। लेकिन इन तत्वों के लिए कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं है। इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि 19वीं सदी के दौरान कपड़ों की माँग में वृद्धि हुई या प्रति व्यक्ति

MAADHYAM IAS

वास्तविक आय में कोई बढ़ोतरी हुई। इसके अलावा इतिहासकार बिपिन चंद्र का मानना है कि सूत की तुलना में कपड़े के दाम तेजी से गिरे। इस कारण से भारतीय बुनकरों को कोई फायदा नहीं हुआ। सबसे बड़ी बात है कि ऐतिहासिक तथ्य इन तर्कों की पुष्टि नहीं करते हैं। 19वीं शताब्दी में कपड़े की माँग में या प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि का कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है। इसके अतिरिक्त सूत की अपेक्षा कपड़े की कीमत ज्यादा तेज़ी से गिरी।

17.5 कुछ निष्कर्ष

ऊपर कुछ स्थानीय और क्षेत्रीय अध्ययनों का हवाला दिया गया। इसे उपनिवेशवादी शोषण के संदर्भ में रखा जाए तो यह स्पष्ट हो जाएगा कि भारत में ब्रिटिश शासन की प्रथम शताब्दी के अंतर्गत भारतीय उद्योग का निश्चित रूप से पतन हुआ।

ब्रिटेन ने जानबूझकर भारत को एक उत्पादक देश से कच्चे माल के निर्यातक के रूप में परिवर्तित किया। यह बात 1840 में सलेक्ट कमेटी के समक्ष रखी गयी ईस्ट इंडिया कंपनी की याचिका से पुष्ट होती है–"इस कंपनी ने अपने प्रयत्नों से और उत्पादक प्रवीणता और दक्षता के बल पर भारत को उत्पादक देश से कच्चे माल के निर्यातक के रूप में परिवर्तित करने में सफलता पाई ... कंपनी ने इस देश और भारत के बीच एक खास तरह का संबंध स्थापित किया है और घरेलू मामलों के लिए भारत से 30 लाख रुपये लाये गये हैं ... भारतीय उद्योग का स्वरूप बिल्कुल बदल दिया गया है और इसके परिणामस्वरूप भारत उत्पादन के निर्यातक से बदलकर कच्चे माल का निर्यातक हो गया है ... इन परिस्थितियों में इसके कृषीय उत्पादक को संरक्षण प्रदान करने का हर संभव प्रयत्न करना चाहिए"।

हालाँकि भारत में स्थापित साम्राज्यवादी शासन का कुप्रभाव सभी परंपरागत भारतीय उद्योगों पर पड़ा पर यह प्रभाव सभी उद्योगों पर एक सा नहीं था। जिस समय कृषि कार्य स्थगित रहता था और किसान खाली बैठे होते थे, उस समय का उपयोग वे टोकरी बनाने या नारियल की छाल से सामान बनाने के लिए करते थे। कच्चे माल उन्हें स्थानीय तौर पर सस्ते दामों में उपलब्ध हो जाते थे। यह उद्योग मशीन से बने विदेशी मालों से प्रभावित नहीं हुआ। कुम्हार, लोहार और बढ़ई का उद्योग विदेशी वस्तुओं के आयात से प्रभावित हुआ पर बहुत कम।

MAADHYAM IAS

देश से खाल के निर्यात के कारण चमड़े के काम से जुड़े कारीगर प्रभावित हुए। इसी प्रकार विदेशी सामान के बाजार पर छा जाने के कारण ग्रामीण हस्तशिल्प प्रभावित हुआ। परंपरागत शहरी विकास की वस्तुओं के उद्योग पर काफी बुरा प्रभाव पड़ा क्योंकि उनका खरीददार राजन्य वर्ग अब विदेशी वस्तुओं को तरजीह देने लगा।

इस प्रकार अनौद्योगीकरण का प्रभाव अलग-अलग पड़ा। इसके निम्नलिखित कारण हो सकते हैं:

क) कुछ स्थानीय और देशी उत्पादों का विकल्प विदेशी वस्तुएँ पैदा न कर सकीं।

ख) ग्रामीण इलाकों में बहुत से स्थानों पर एकीकृत बाजार न होने के कारण वस्तुएँ गाँवों तक पहुँच न सकीं, और

ग) अन्य कोई रोजगार का साधन उपलब्ध न होने के कारण अनार्थिक होने के बावजूद कुछ शिल्प जबरन अस्तित्व में रहे।

बोध प्रश्न 2

1) अनौद्योगीकरण संबंधी राष्ट्रवादी अर्थशास्त्रियों के विचारों पर 100 शब्दों में टिप्पणी कीजिए।

....

....

....

....

....

....

....

....

....

2) ब्रिटिश उपनिवेशवादी नीतियों से विभिन्न उद्योगों पर अलग-अलग प्रभाव क्यों पड़ा? 100 शब्दों में उत्तर दीजिए।

....

....

....

....

....

....

....

....

....

....

17.6 सारांश

इस प्रकार सरकारी और निजी गुणात्मक सर्वेक्षण, व्यापार आँकड़े, रोजगार आँकड़े (हालाँकि यह बहुत प्रमाणिक नहीं है) और भारत में उपनिवेशवादी अर्थव्यवस्था के आयामों और सीमाओं के आधार पर हम बे-हिचक कह सकते हैं कि भारत में ब्रिटिश शासन की प्रथम शताब्दी में मशीन से बने सामानों और तकनीकी दृष्टि से उच्च कोटि की वस्तुओं के आयात के कारण भारतीय औद्योगिक क्षेत्र का पतन हुआ।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

17.7 शब्दावली

उत्पादकता : पूँजी और श्रम को देखते हुए एक उद्योग या कृषि क्षेत्र के उत्पादन का स्तर।

कुल उत्पादन : उद्योग का कुल उत्पादन।

पूँजी निवेश : उद्योग के विकास के लिए हुई उत्पादन प्रक्रिया में लगाया गया धन, अंतर संरचना, मशीन आदि।

प्रति व्यक्ति आय : देश के प्रत्येक व्यक्ति की औसतन आय।

बुलियन : यहाँ सोने के अर्थ में प्रयुक्त।

राष्ट्रीय आय : एक राष्ट्र की अर्थव्यवस्था की सभी उत्पादक गतिविधियों से उत्पन्न आय।

वास्तविक आय : मूल्य के संदर्भ में वास्तविक आय।

व्यापार में वस्तुओं का हिस्सा : आयात और निर्यात में शामिल वस्तुओं का अनुपात।

व्यापारवादी : व्यापार के संबद्ध नीतियाँ और गतिविधियाँ।

सकारात्मक व्यापार संतुलन : एक ऐसी स्थिति जिसमें निर्यात आयात से ज्यादा हो।

17.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) घ 2) क 3) घ

बोध प्रश्न 2

1) देखिए भाग 17.4,

2) देखिए भाग 17.4 और 17.5

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

इकाई 18 औपनिवेशिक शासन का आर्थिक प्रभाव

इकाई की रूपरेखा

18.0 उद्देश्य
18.1 प्रस्तावना
18.2 देशी पूँजी की अधीनता
18.3 प्रभुत्व बाजार और उत्पादक
18.4 शहर एवं ग्रामीण क्षेत्र
18.5 धन का हस्तांतरण
18.6 विदेशी व्यापार
18.7 भारतीय रेल और अंग्रेजी पूँजी
18.8 सारांश
18.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

18.0 उद्देश्य

इस इकाई के द्वारा भारत पर ब्रिटिश आर्थिक प्रभाव का सर्वेक्षण किया गया है। इसके अंतर्गत कुछ महत्वपूर्ण पक्षों का विवेचन इकाई 14 से 17 में किया गया है। हमने इस इकाई में उन कुछ प्रश्नों का विवेचन किया है जिनको पहले की इकाइयों में छोड़ दिया गया था। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप जान सकेंगे कि:

- 1750 के दशक से अंग्रेजी ईस्ट इंडिया कंपनी और अंग्रेज व्यक्तिगत व्यापारियों का प्रभुत्व हो जाने के साथ-साथ भारतीय व्यापारियों तथा बैंकरों की स्थिति में क्या परिवर्तन हुए,
- इस प्रभुत्व ने उन कारीगरों तथा किसानों को कैसे प्रभावित किया जहाँ पर अंग्रेजी कंपनी तथा व्यापारिक घरानों के द्वारा उत्पादनों को बाजार में लाया गया,
- अकालों ने ग्रामीण क्षेत्रों का कैसे सर्वनाश किया और शहरों का पतन कैसे हुआ,
- भारत से इंग्लैंड धन किस ढंग से भेजा गया।
- विदेशी व्यापार के प्रतिमानों ने भारत को एक औद्योगिक सामान निर्यातक से अंग्रेजों के द्वारा उत्पादित सामान का आयातक तथा कृषि सामानों एवं कच्चे पदार्थों का निर्यातक के रूप में कैसे परिवर्तित किया, और
- ब्रिटिश व्यापारियों ने इंग्लैंड में तथा सरकार ने भारत में क्यों रेलवे को प्रोत्साहित किया। वह कौन सी व्यवस्था थी जिसने अंग्रेज निवेशकर्त्ताओं को भारतीय रेलवे में पूँजी लगाने को प्रोत्साहित किया।

MAADHYAM IAS
way to achieve your dream

18.1 प्रस्तावना

"जितनी भी सरकारें हैं चाहे वह किसी भी देश की सरकार हो सौदागरों की पूर्णरूपेण कंपनी की यह सरकार संभवत: सबसे बदतर सरकार है।" 1776 में अपनी पुस्तक वेल्थ ऑफ नेशन्स में एडम स्मिथ ने यह विचार व्यक्त किया था।

इकाई 14 में आपको बताया गया है कि एडम स्मिथ ईस्ट इंडिया कंपनी के एकाधिकारवादी चरित्र का आलोचक था। उसकी आलोचना कंपनी को प्रदान किए गए कानूनी विशेषाधिकारों के विरुद्ध की गई आलोचना का एक भाग थी और कंपनी के इस एकाधिकार को क्रमशः 1813 एवं पुन: 1833 में समाप्त कर दिया गया। यूरोप में औद्योगिक क्रांति के प्रभाव तथा इसके कारण कैसे उपनिवेशवाद के नये स्वरूप का उदय हुआ, आप इन सबका अध्ययन इकाई 6 एवं 7 में कर चुके हैं। उपनिवेशवाद के इस

रूपांतरण के कारणवश भारत में कृषि के व्यवसायीकरण की भी प्रक्रिया शुरू हुई उसका विवेचन इकाई 16 में तथा भारत के अनौद्योगीकरण का विवेचन इकाई 17 में किया गया। अब हम उन दूसरे परिणामों के विषय में विवेचन करेंगे जो भारतीय अर्थव्यवस्था के उपनिवेशीकरण के फलस्वरूप पैदा हुए थे।

18.2 देशी पूँजी की अधीनता

वाणिज्य पूँजीवादी व्यापार की यूरोपीय व्यवस्था में भारतीय देशी व्यापारियों के लिए प्रारंभ में एक महत्वपूर्ण उपयोगिता थी। यूरोपीय व्यापारियों को निर्यात के लिए भारतीय माल के उपार्जन की आवश्यकता थी। लेकिन जैसे ही ईस्ट इंडिया कंपनी ने राजनैतिक प्रभुत्व प्राप्त कर लिया और उसको भारतीय माल के निर्यात को खरीदने में प्रमुख स्थिति प्राप्त हुई वैसे ही स्थानीय व्यापारियों की स्थिति मात्र दलालों या एजेंटों की हो गई। व्यापार की कुछ शाखाओं में वे अंग्रेजी कंपनी के कारिंदे मात्र बन रह गये।

18वीं सदी के मध्य में भारत में कई भागों में देशी व्यापारियों के समुदाय फल-फूल रहे थे। इन समुदायों में गुजरात के समुद्री तट के हिंदू, जैन एवं बोहरा व्यापारी, राजस्थान के मारवाड़ी बनिये, वर्तमान केरल के सीपला, मौरियाई ईसाई तथा कोचीन के यहूदी, पंजाब एवं सिंध के खत्री तथा लोहना, तमिल तथा आंध्र क्षेत्र के चेत्ती तथा कोमाती, बंगाल के वणिक आदि सम्मिलित थे। उनमें से कुछ अर्थात् गुजरात तथा केरल क्षेत्र के व्यापारी समुद्र पार व्यापार में प्रधान थे। ये सभी व्यापारिक समुदाय परवर्ती औपनिवेशिक काल में भारत की आंतरिक अर्थव्यवस्था में किसी न किसी रूप में एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर रहे थे।

क) ये व्यापारिक समुदाय फसलों को धन में रूपांतरित करके कर एकत्रीकरण को सुविधाजनक बना देना थे। कभी-कभी ये जमींदारों एवं किसानों की ओर से राज्य को पेशगी में नकद धन अदा कर देते थे। अक्सर वे कर एकत्रित करने वालों को जमानत भी दे देते थे।

ख) व्यापारी एवं बैंकर्स राजस्व को धन के रूप में अदा करने की भी सुविधा प्रदान करते थे। उदाहरण के लिए जगत सेठ का बैंकिंग घराना बंगाल के नवाब द्वारा मुगल सम्राट को अदा किये जाने वाले राजस्व की अदायगी करने के लिए हुण्डी या विनिमयपत्र को देता था।

ग) विशेषकर सर्राफों के द्वारा धन-परिवर्तन का किये जाने वाला कार्य काफी महत्वपूर्ण था। यह न केवल व्यापार के लिए बल्कि राज्य के लिए उन दिनों एक महत्वपूर्ण सेवा थी क्योंकि उस समय बहुत से क्षेत्रीय राज्य बन गये थे और वे अपनी-अपनी मुद्रा का प्रचलन कर देते थे और व्यापार के रास्तों से विदेशों से बहुत सिक्के भी आ गये।

घ) युद्धों के दौरान सेना के लिए सामग्री की आपूर्ति के लिए राज्य परंपरागत व्यापारिक समुदायों पर बहुत अधिक निर्भर करते थे। जैसा कि आप जानते हैं कि 17वीं सदी के अंतिम वर्षों से बहुत अधिक युद्ध होने लगे। अभियान के समय सेना को खाद्यानों की आपूर्ति, सेना के वेतन की अदायगी के लिए धन का देना, लूटे हुए सामान की बिक्री आदि के लिए राज्य व्यापारियों एवं बाजारों (अनाज एवं अन्य खाद्यान्न पदार्थों के विस्थापित व्यापारी) पर निर्भर करते थे।

ज) व्यापारी एवं बैंकर्स राज्य एवं कुलीन वर्ग के लिए व्यापक रूप से महत्वपूर्ण थे। व्यापारी एवं बैंकर्स इस वर्ग को युद्ध या फसलों के बर्बाद होने से उत्पन्न संकटों में ऋण देते थे तथा सामान्य समय में भी इस वर्ग की जरूरतों को पूरा करने के लिए भी पैसा उधार देते थे।

इस प्रकार से हम देखते हैं कि परवर्ती-औपनिवेशिक काल में राज्य तथा व्यापारियों एवं बैंकर्स के बीच घनिष्ठ परस्पर निर्भरता कायम थी। जैसे ही अंग्रेजों एवं ईस्ट इंडिया कंपनी के प्रहारों के सम्मुख क्षेत्रीय राज्यों ने नतमस्तक होना प्रारंभ किया और कंपनी की शक्ति का प्रसार भारत में होने लगा वैसे ही भारतीय व्यापारिक समुदायों के लिए व्यापार के बहुत से क्षेत्र बंद होने लगे। इस संदर्भ में बंगाल के सरकारी बैंकर्स में जगत सेठ का उदाहरण दिया जा सकता है। 1765 में जब कंपनी ने बंगाल की दीवानी को प्राप्त कर लिया तब से

MADHYAM IAS

जगत सेठ का घराना सरकारी बैंकर्स न रहा। जगत सेठ के द्वारा मुद्रा जारी करने के अधिकार को धीरे-धीरे कंपनी ने ले लिया। ये बैंकिंग घराने और अन्य इसी प्रकार के व्यापारी अपने यूरोपीय ग्राहकों को अंग्रेजी बैंकों तथा कलकत्ता के एजेंसी घरानों के हाथ खो बैठे।

18वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में स्थानीय व्यापारियों की स्थिति में काफी परिवर्तन हुआ। बंगाल से निर्यात होने वाले मुख्य सामान कपड़े का उदाहरण हम देख सकते हैं। 1753 तक ईस्ट इंडिया कंपनी अन्य यूरोपीय कंपनियों की भाँति कपड़े की दलाली के लिए भारतीय व्यापारियों पर निर्भर करती थी। इन भारतीय व्यापारियों को दादनी व्यापारी कहा जाता था क्योंकि ये एजेंसी का कार्य करते थे। भारतीय कारीगरों तथा बुनकरों को दिए जाने वाले पेशगी धन को इन व्यापारियों के माध्यम से ही दिया जाता था। 1753 से ईस्ट इंडिया कंपनी ने इन स्वतंत्र दादनी व्यापारियों को गौमस्तों के द्वारा अलग हटाना शुरू कर दिया। गौमस्त कंपनी के एजेंट के तथा अपने कमीशन के लिए कंपनी पर निर्भर करते थे। कंपनी इनको इनके द्वारा एकत्रित किए गये कपड़े के मूल्य पर प्रतिशत के हिसाब से कमीशन देती थी। प्लासी की लड़ाई के बाद कंपनी के हाथों में बढ़ती राजनीतिक शक्ति ने उसे इस योग्य बना दिया कि वह पूर्णरूपेण इस गौमस्त व्यवस्था की ओर झुक गई। इस व्यवस्था ने भारतीय व्यापारियों को कमीशन प्राप्त करने वाला दलाल बना दिया। 1775 में इस व्यवस्था को ठेकेदारी प्रथा का नाम दिया गया और अंग्रेज व्यापारियों की स्थिति भारतीय दलालों की तुलना में और सुदृढ़ हो गई। अंततः 1789 में "प्रत्यक्ष एजेंसी" की प्रथा का प्रारंभ किया गया। इस प्रथा के द्वारा भारतीय बिचौलियों के साथ-साथ सभी प्रकार के भारतीय व्यापारियों का परित्याग कर दिया गया। धीरे-धीरे भारतीय व्यापारी को एक अधीनस्थ स्थिति में पहुँचा दिया गया। शोरा एवं नमक के व्यापार में उनको अधीनस्थता की स्थिति प्राप्त थी जबकि 18वीं सदी के अंत तक उनको कच्ची रेशम तथा सूती कपड़े के व्यापार से पूर्णतः अलग कर दिया गया था।

19वीं सदी के पूर्वार्द्ध में हुए निर्यात उद्योगों के पतन के कारणवश पुनः भारतीय व्यापारियों के अवसर और सीमित हो गये। जूट तथा अफीम ने व्यापार के जिन नये अवसरों को प्रदान किया उनमें भारतीय व्यापारियों को अंग्रेज व्यापारियों के अधीनस्थ या सहायक भूमिका दी गयी। 19वीं सदी के पूर्वार्द्ध में बंगाल में भारतीय व्यापारियों का काम महाजनी, कृषि एवं दस्तकारी के उत्पादनों के आंतरिक व्यापार को करना तथा विनिर्मित आयाती सामान की बिक्री करना था।

MAADHYAM IAS

जहाँ एक ओर यह सत्य है कि भारतीय व्यापारियों पर विदेशी पूँजी का प्रभुत्व कायम हो गया था वहीं दूसरी ओर कुछ ऐसे क्षेत्र भी बचे रहे जिनमें भारतीय व्यापारियों ने अपने व्यापार का प्रसार किया एवं पूँजी का संचयन भी। जैसे कि बंबई प्रांत से अलग पश्चिमी भारत की देशी रियासतों में कपास एवं अफीम का काफी उत्पादन होने लगा था और रियासतों के इन दोनों कृषि उत्पादनों में भारतीय व्यापारियों का वर्चस्व बना रहा जिससे कि भारतीय व्यापारियों ने काफी बड़ी मात्रा में पूँजी का संचयन किया। 19वीं सदी के पूर्वार्द्ध में कुछ फारसी व्यापारी अफीम एवं कपास के बड़े निर्यातक हो गये थे, यही वह पूँजी संचयन है जिसके कारणवश बंबई में औद्योगिक निवेश हुआ तथा उस सूती कपड़ा उद्योग का विकास भी हुआ जिसने 20वीं सदी के प्रारंभिक वर्षों में मानचेस्टर के एकाधिकार को चुनौती दी।

18.3 प्रभुत्व, बाजार एवं उत्पादक

अब हम व्यापारियों के स्थान पर अपना ध्यान उत्पादकों पर केंद्रित करेंगे। ये उत्पादक किसान एवं कारीगर थे। हमें ऐसे उत्पादन के विषय में बहुत कम जानकारी है जो हमें राष्ट्रीय आमदनी के विषय में या कारीगरों तथा किसानों को होने वाली आमदनी के बारे में बता सकता हो। लेकिन हम उत्पादन तथा बाजार के उन तरीकों को जानते हैं जिनको 18वीं सदी के अंत में और 19वीं सदी के प्रारंभिक वर्षों में संगठित किया गया था। इसको ईस्ट इंडिया कंपनी की गतिविधियों, व्यक्तिगत व्यापार में व्यस्त, कंपनी के कर्मचारियों अंग्रेज "उन्मुक्त व्यापारियों" और एजेंसी घरानों के द्वारा कैसे प्रभावित किया गया? इन सबके विषय में आपका परिचय इकाई 14 में कराया गया है।

वाणिज्य पूँजीवादी कार्यक्रम का सार "सस्ता खरीदना एवं महँगा बेचना" है। अगर किसी के पास एकाधिकार है तब वह यह सब सरलता से कर सकता है। यह सब और भी आसान हो जाता है जब किसी के पास जोर जबरदस्ती एवं राज्य शक्ति का प्रयोग करने की क्षमता हो। ईस्ट इंडिया कंपनी की सफलता का यही सार था कि उसने सरकार के रूप में बंगाल तथा उसके द्वारा विजित अन्य क्षेत्रों में अपने व्यापार के प्रसार एवं समृद्धि के लिए जोर-जबरदस्ती एवं राज्य शक्ति का प्रयोग किया। इसका विस्तृत विवरण खंड 3 में दिया गया है।

1770 तथा 1780 के दशकों में ईस्ट इंडिया कंपनी और उसके उन कर्मचारियों का जो व्यक्तिगत व्यापार में व्यस्त थे, कुछ उपभोग वस्तुओं के व्यापार पर सामूहिक एकाधिकार स्थापित हो गया था। यह बात बंगाल के सूती कपड़ों के विषय में विशेष उल्लेखनीय थी। इन सब के विषय में आपको इकाई 14 में बताया जा चुका है। इसका तात्पर्य यह था कि कारीगरों के पास कोई विकल्प न रह गया सिवाय इसके कि वे अपने उत्पादकों को कंपनी एवं इसके कर्मचारियों को बेचें। यह स्थिति कैसे-उत्पन्न हुई? इसका मुख्य कारण ज़ोर-जबरदस्ती का प्रयोग किया जाना था।

18वीं सदी के मध्य तक कारीगरों के अपने उत्पादनों में अंग्रेज, फ्रांसीसी, डच तथा भारतीय व्यापारियों को बेचने के लिए पूर्ण स्वतंत्रता एवं आजादी हासिल थी। लेकिन 1750 के दशक से गौमस्तों ने बुनकरों को अपना उत्पादन अंग्रेजों को बेचने के लिए बाध्य करना शुरू कर दिया। सैनिक ताकत के बल पर प्रतियोगिता से फ्रांसीसी तथा डच व्यापारियों को अलग कर दिए जाने पर यह प्रक्रिया और तेज हो गई। अंग्रेजी फैक्ट्रियों में छल-कपट और धोखाधड़ी से कपड़ों को कम मूल्य पर बल पूर्वक प्राप्त करना सामान्य बात हो गई थी। गौमस्तों की एजेंसी के माध्यम से कंपनी के कर्मचारियों ने बुनकरों के साथ निर्दयता का व्यवहार किया तथा उनका मनोबल गिराया। 1780 के दशक में इस प्रथा को खतबंदी व्यवस्था के नाम से व्यवस्थित कर दिया गया। उनको पेशगी दी जाती तथा फिर कंपनी के लिए कपड़ों का उत्पादन करने के लिए बाध्य किया जाता। बंगाल सरकार के द्वारा ऐसे अधिनियम बनाए गये जिनके अंतर्गत कारीगरों को अपने उत्पादन कंपनी को बेचने के लिए इकरारनामा करना पड़ता था।

इस प्रकार कारीगरों को धीरे-धीरे बंधुआ मजदूरों की स्थिति में पहुँचा दिया गया। ऐसा उनके उत्पादनों को बाजार में स्वतंत्र रूप से बेचने के अधिकार का हनन करके किया गया और इसको करने के लिए जोर-जबरदस्ती तथा सरकार द्वारा बनाए गये कानूनों एवं अधिनियमों का प्रयोग किया गया। दूसरा उदाहरण नील की खेती का दिया जा सकता है, इसका विस्तृत विवरण इकाई 16 में किया गया है। रैयत व्यवस्था के अंतर्गत नील बागानों के अंग्रेज मालिकों ने किसानों को नील की खेती तथा इसको कम से कम दाम पर सप्लाई करने के लिए बाध्य किया गया। इससे कुछ कम लेकिन अफीम की खेती करने में भी जोर जबरदस्ती का प्रयोग किया गया।

MAADHYAM IAS

अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि अर्ध-एकाधिकार तथा जोर-जबरदस्ती के साधनों का परिणाम क्या हुआ? इसने खरीदारों के बाजार को पैदा किया अर्थात् वह स्थिति जिसके अंतर्गत खरीददार अपने शर्तों के अनुरूप मूल्य अदा कर सकता है। खरीददार ईस्ट इंडिया कंपनी, इसके कर्मचारी और बाद में अंग्रेज व्यापारी, बागान मालिक तथा एजेंसी कंपनियाँ थीं। अंग्रेजों के पास एकाधिकार एवं बल प्रयोग की शक्ति का लाभ था। अतः उन्होंने 18वीं सदी के अंतिम दशकों में बुनकर से कपड़ों को कम से कम मूल्य पर खरीदा। यह करना उनके लिए निश्चय ही स्वाभाविक था। इसी तरह की नीति अंग्रेज व्यापारियों ने 19वीं सदी के प्रारंभिक दशकों में नील एवं अफीम की खेती करके अपनायी। जितने कम दामों पर संभव हो सकता था नील तथा अफीम के बागान मालिकों ने किसानों से इसको खरीदा। ऐसा करने से जो स्वाभाविक भी था कि बुनकरों एवं नील उत्पादकों को जितना कम दाम दिया जाता अंग्रेज व्यापारियों के लाभांश में उतनी ही वृद्धि हो जाती। इस प्रकार कारीगर एवं किसान एक जोर-जबरदस्ती वाले माल का उत्पादन कर रहे थे और इस माल के उत्पादन से ये कारीगर एवं किसान अपनी दो वक्त की रोटी से अधिक कुछ भी प्राप्त नहीं कर पाते थे।

अगर ऐसी स्थिति है कि सूती कपड़ों, नील या अफीम के उत्पादन में किसी प्रकार की पूँजी निवेश के बिना ही व्यापारिक पूँजी को अपार मुनाफा होता हो तब आप ही विचारिये कि यदि व्यापारी केवल खरीदकर इस प्रकार का मुनाफा अर्जित कर रहा हो तब वह व्यापारी उत्पादन प्रक्रिया में अपनी पूँजी क्यों निवेश करेगा? अगर हम उस स्थिति पर विचार करें

जिसमें उत्पादनकर्ता को मात्र अपना एवं अपने परिवार का पेट भरने मात्र अपने उत्पादकों का दाम मिलता हो तब वह कैसे पूँजी को एकत्रित करेगा अर्थात् उसके पास अपने औजारों एवं उपकरणों पर खर्च करने लायक भर पूँजी भी जमा नहीं होगी। यदि उसको अपने उत्पादकों को बहुत कम दाम पर बेचने के लिए बाध्य किया जाता है तब वह अपने हाथ में पूँजी का संचयन कैसे कर सकता है? इससे आगे यह प्रश्न उत्पन्न होता है तब अधिक उत्पादन करने के लिए नये औजारों, उपकरणों एवं मशीनों में पूँजी निवेश करने के लिए कौन पूँजी का संचयन करेगा? कहने का तात्पर्य यह है कि तकनीकी विकास एवं उत्पादन में वृद्धि के लिए कौन निवेश करेगा? इन सभी प्रश्नों का एक ही उत्तर है। हमने उपरोक्त जो प्रश्न उठाए हैं या कुछ व्याख्यायें प्रस्तुत करने का प्रयास किया है उन सबका सार इसमें निहित है कि 19वीं सदी के भारत के तकनीकी विकास एवं उत्पादन में एक ठहराव पैदा हो गया था। किसी को भी ईमानदारी से यह स्वीकार करना ही होगा कि भारतीय व्यापारिक एवं धन ऋण पूँजी ने वही भूमिका अदा की जो भूमिका इस संदर्भ में विदेशी व्यापारिक ब्याज के द्वारा की जाती है। उस समय केवल अंतर यह था कि भारतीय व्यापारिक एवं धन ऋण पूँजी के इस पैटर्न को प्रारंभिक स्थिति में स्थापित करने में राज्य शक्ति ने मजबूत समर्थन प्रदान किया।

संक्षेप में पूँजी उत्पादन प्रक्रिया से बाहर बनी रही। 18वीं सदी में पूँजी का निवेश उत्पादन के संगठन एवं तकनीकी के विकास में नहीं किया गया। यद्यपि यह निश्चय ही सत्य है कि यह विशेषता एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में, एक उद्योग से दूसरे उद्योग में भिन्न-भिन्न थी। कुछ मामलों में पूँजीवादी संलग्नता काफी थी। बंगाल में कच्ची रेशम के उत्पादन उद्योग में मजदूरी पर मजदूरों को रखे जाने की परंपरा थी। नील की निजाबादि व्यवस्था के अंतर्गत मालिक लोग मजदूरों को नकद मजदूरी पर रखकर काम कराते थे। इसका विवरण इकाई 16 में किया गया है। लेकिन इस प्रकार के उदाहरण अपवाद मात्र हैं और इसने उत्पादकों के बहुत छोटे भाग को ही प्रभावित किया।

18.4 शहर एवं ग्रामीण क्षेत्र

लोगों की संपन्नता का अनुमान लगाने के अल्प उपायों के अभाव में इतिहासकारों ने जल्दी-जल्दी पड़ने वाले एवं गहन अकालों को अपने अनुमान का आधार बनाया। इनसे जनता, विशेषकर कृषि की आर्थिक स्थिति का संभावित अनुमान लगाया जा सकता है। अकालों के दौरान मरने वाले लोगों की संख्या से अकाल की व्यापकता का अंदाज किया गया है। लेकिन इस प्रकार के आँकड़े अधिकतर मामलों में उपलब्ध नहीं हैं। इससे भी कठिन कार्य यह है कि यह कैसे पता लगाया जाए कि कितनी मृत्यु अकाल में भूख के कारण हुई और कितनी महामारी फैलने से क्योंकि अकालों के समय में महामारियों का फैलना सामान्य बात थी। इसलिए स्पष्ट आँकड़ों के अभाव में हमें अकालों के सामान्य विवरण पर ही निर्भर करना पड़ता है।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

18वीं सदी के मध्य से भारत में बड़े-बड़े अकाल पड़े 1759 में उत्तरी भारत में सिंध; 1783 में वर्तमान उत्तर प्रदेश, काश्मीर, राजस्थान; 1800-04 में पुनः वर्तमान उत्तर प्रदेश और 1837-38 में उ. प्र., पंजाब तथा राजस्थान अकालों से प्रभावित हुए। पश्चिमी भारत वर्तमान गुजरात एवं महाराष्ट्र में 1787, 1790-92, 1799-1804, 1812-13, 1819-20, 1824-25, 1833-34 अकाल के वर्ष थे। दक्षिण भारत में 1781-82, 1790-92, 1806-07, 1824-25, 1833-34 और 1853-55 में अकाल पड़े। पूर्वी भारत में अपेक्षाकृत कम अकाल पड़े। लेकिन बंगाल का 1770 का अकाल इस समय के सभी अकालों में सबसे भयंकर था। इस अकाल में लगभग एक करोड़ लोग अर्थात् बंगाल की जनसंख्या के एक तिहाई लोग मारे गए। ब्रिटिश शासन के दौरान घटित होने वाले अकालों के कई विभिन्न कारण थे। कुछ उपरोक्त वर्णित अकाल उन क्षेत्रों में भी पड़े थे जिन पर अंग्रेजों का शासन नहीं था। 18वीं तथा 19वीं सदी में आये दिन अंग्रेजों एवं क्षेत्रीय राज्यों के मध्य युद्ध होते रहते थे और इन युद्धों के कारण जो भयंकर तबाही होती थी वह अकाल का कारण बन जाती थी। देश के जिन भागों में अंग्रेजों का शासन था उन भागों में अंग्रेजी प्रशासन समय-समय पर भू-राजस्व की मात्रा में वृद्धि करता रहता था। अंग्रेज अधिकारी अपने पूर्ववर्तियों की अपेक्षा अधिक कठोरता से राजस्व की वसूली करते थे। उन्होंने खराब मौसम या फसल के नष्ट होने की हालात में भी किसानों को छूट देने से इंकार किया। मौसमी वर्षा न होने के साथ-साथ राजस्व नीति की कठोरता भी 1770 के बंगाल अकाल

का बड़ा कारण थी। कुछ मामलों में अंग्रेज व्यापारियों एवं उनके एजेंटों की गतिविधियों ने भी अकाल के संकट को बढ़ाने में और योगदान किया। 1170 के अकाल के समय कंपनी अधिकारी अनाज व्यापार में और अधिक मुनाफा बटोरना चाहते थे जिससे अकाल का संकट और गहराया। 19वीं सदी के प्रारंभ में अनाजों के स्थान पर निर्यात के लिए व्यवसायिक फसलों को ताकत के बल पर पैदा करना भी एक कारण था। जिन क्षेत्रों पर अंग्रेजों का शासन था उनमें सिचाई सुविधाओं की मरम्मत तथा प्रसार की अवहेलना की गई जिस से सूखे की संभावना काफी बढ़ गई। 19वीं सदी के मध्य से नवीन स्थापित सार्वजनिक निर्माण विभाग ने ब्रिटिश भारत में सिचाई सुविधाओं की आवश्यकताओं की ओर ध्यान देना प्रारंभ किया। राजस्व नीतियों में भी कुछ लचीलापन आया और 1880 से अकाल सहायता कार्यों को व्यवस्थित कर दिया गया। संतुलित तौर पर यह भी निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि यदि फसल बरबाद होने पर अकाल के दौरान मृत्यु दर में वृद्धि नहीं होती है तब किसानों को आर्थिक रूप से संतोषजनक जीवन व्यतीत करने वाला समझा जा सकता है। लेकिन इस तरह आकलन करने पर भी हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं, कि ब्रिटिश शासन परवर्ती पतित शासन से किसी भी मायने में बेहतर नहीं था।

5. अकाल के दृश्य की चित्रकार की कल्पना

ग्रामीण क्षेत्रों से मुड़कर जब हम कस्बों एवं शहरों पर अपनी नजर दौड़ाते हैं तब हम दो धाराओं को पाते हैं। एक ओर कुछ पुराने शहरी केंद्रों का पतन तथा आबादी कम होती है तथा दूसरी ओर कुछ नये शहरों तथा कस्बो का तेजी के साथ विकास होता है। नये नगरों एवं कस्बों के विकास का कारण अंग्रेजी वाणिज्य एवं प्रशासन था। इसके मुख्य उदाहरण भविष्य के महानगर कलकत्ता, बंबई एवं मद्रास हैं। इसी के साथ-साथ प्रशासनिक केंद्रों तथा आयात किये गये औद्योगिक सामानों तथा निर्यात होने वाले कृषि मालों के क्रय-विक्रय केंद्रीय स्थानों के रूप में कुछ कस्बों का भी तेजी के साथ विकास हुआ। उन नये विकसित होते, शहरी केंद्रों की विशेषता यह थी कि यूरोप के विकसित होते नगरों की भाँति ये औद्योगिक उत्पादनकर्ता नगरों के रूप में विकसित नहीं हो रहे थे। 19वीं सदी के पूर्वार्द्ध में जिन कस्बों एवं नगरों का विकास हुआ वे औद्योगिक उत्पादन केंद्र बने अपितु उनकी अधिकतर जनसंख्या मुख्य रूप से सर्विस सेक्टर अर्थात् क्रय-विक्रय, ट्रांसपोर्ट, प्रशासनिक आदि गतिविधियों में संलग्न थी।

लेकिन इस समय में मुगलों के प्रमुख पुराने नगर दिल्ली तथा आगरा और क्षेत्रीय शक्ति के प्रतीक ढाका, मुर्शिदाबाद, पटना, श्रीरंगपट्टम, हैदराबाद आदि ठहराव की स्थिति में थे या फिर उनका ह्रास हो रहा था। इसका मुख्य कारण यह था कि राजनैतिक गतिविधियों के केंद्र इन नगरों से दूर नये औपनिवेशिक महानगरों में केंद्रित होने लगे थे। इन नगरों के ह्रास का दूसरा कारण यह था कि जो व्यापारिक गतिविधियाँ यहाँ पर होती थी या इन नगरों से जुड़ी थी वे अपने परिवर्तित स्वरूप में नये मार्गों तथा नवीन नेटवर्क के द्वारा होने लगी। ऐसा प्रतीत होता है कि अब नगरीकरण विशेष रूप से उत्तरी भारत तथा पश्चिमी भारत में और दिल्ली तथा आसपास के क्षेत्रों में हुआ। जहाँ तक एक ओर पुराने नगरों की जनसंख्या में कमी आयी वहीं दूसरी ओर नये विकसित होते हुए नगरों की जनसंख्या में तेजी से वृद्धि हुई जिससे यह स्पष्ट है कि पुराने नगरों की कम होती जनसंख्या को इन नये विकसित होते नगरों ने अखिल भारतीय स्तर पर संतुलित कर दिया। लेकिन यहाँ पर एक अन्य प्रश्न पैदा होता है कि अंग्रेजी शासन से पूर्व के ये नगर अपने उत्कर्ष के समय देश के ग्रामीण एवं दूर-दराज क्षेत्रों से आने वाली अपार संपदा का केंद्र बने हुए थे और वे उस संपदा के मुख्य भाग को बाहर न निकाल पाये। जबकि दूसरी ओर औपनिवेशिक महानगरों में आने वाली इस संपदा के एक बड़े भाग को बाहर निकाल कर उसे इंग्लैंड को हस्तांतरित कर दिया जाता। औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था की यह एक अन्य विशेषता थी।

बोध प्रश्न 1

1) औपनिवेशिक काल में भारतीय व्यापारियों की स्थिति में जो परिवर्तन हुए उनका कारण बताइये। 60 शब्दों में उत्तर दें।

....
....
....
....
....
....

2) निर्यात होने वाले औपनिवेशिक व्यापार में जोर-जबरदस्ती की क्या भूमिका थी? पाँच पंक्तियों में लिखें।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

....
....
....
....
....

3) आप अकाल पड़ने तथा औपनिवेशिक शासन के बीच संबंध कैसे स्थापित करेंगे? 60 शब्दों में उत्तर दें।

....
....
....
....
....

18.5 धन का हस्तांतरण

यदि आप 17वीं तथा 18वीं सदियों की ईस्ट इंडिया कंपनी के खाते बहियों का अध्ययन करें

तब आप पाएंगे कि इस कंपनी को व्यापारिक सामान के साथ-साथ भारत को एक विशाल राशि कोष अर्थात् सोने चाँदी को भेजना पड़ता था। इसका उपयोग यूरोप के बाजार में बेचने वाले सामान को खरीदने के लिए किया जाता। 1757 की प्लासी की लड़ाई तथा 1765 में कंपनी को बंगाल की दीवानी प्राप्त हो जाने के बाद भारत में आने वाले "कोष" की मात्रा में तेजी से कमी आई। यद्यपि भारतीय सामान का निर्यात यूरोप को जारी रहा। अब कंपनी ने इस सामान की भारत में खरीददारी कैसे की? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि कंपनी भू-राजस्व वसूल करती थी उसका एक भाग वह बंगाल के नवाब को अदा कर देती और शेष बचे भू-भाग से वह भारत से निर्यात होने वाली माल की खरीददारी करती थी। इस प्रकार अब कंपनी को भारत में सोने-चाँदी को लाने की आवश्यकता नहीं रही। इस पूरी प्रक्रिया का तात्पर्य था कि कंपनी एक सरकार के तौर पर कर के रूप में जो वसूल करती उसको अपने कारोबार में एक व्यापारी की तरह निवेश करती। दूसरे इसका अर्थ यह निकला कि यूरोप में बिक्री करने के लिए जिस माल का कंपनी भारत से निर्यात करती थी उसको उस पर कुछ भी खर्च करना नहीं पड़ता था कंपनी भारत में अपने क्षेत्रों से यूरोप में बेचने के लिए "नजराने" के रूप में माल को एकत्रित करती थी। इसको राजनैतिक नजराना कहा जा सकता है और यह "नजराना" इसलिए था कि भारत को इस सामान के बदले कुछ भी प्राप्त नहीं होता था, और इस तरह से यह सामान्यतः एक व्यापार नहीं था। यह "राजनैतिक" इसलिए था कि कंपनी अपनी राजनीतिक ताकत के बल पर राजस्व की वसूली करती और फिर उसको अपने कारोबार में निवेश करती। इस तरह से भारत से "धन की निकासी" का प्रारंभ हुआ या धन का एकतरफा हस्तांतरण।

कंपनी इसके लिए एक शब्द का प्रयोग करती थी जिसको वह "देशिक राजस्व" या बंगाल से वसूल किया जाने वाले अतिरिक्त राजस्व के नाम से पुकारती थी। इसी के साथ-साथ कंपनी के खातों में "व्यवसायिक राजस्व" अर्थात् व्यापार पर होने वाले लाभांश को भी दिखाया गया। जैसे-जैसे कंपनी का क्षेत्रीय प्रसार हुआ जिसका विवरण खंड 3 में किया गया है वैसे-वैसे कंपनी के "देशिक राजस्व" में वृद्धि हुई। कंपनी ने एक क्षेत्र से अर्थात बंगाल से प्राप्त होने वाले राजस्व का प्रयोग अन्य क्षेत्रों पर सैनिक विजय पर होने वाले खर्च पर किया। देशिक राजस्व का उपयोग व्यापार में धन उपलब्ध कराने के लिए किया जाता और उसको तुरंत "व्यवसायिक राजस्व" में बदल दिया जाता। यह एक पूर्णरूपेण आत्म-निष्ट व्यवस्था थी और इसको इंग्लैंड से किसी प्रकार के धन की आवश्यकता नहीं होती थी। वास्तव में इस व्यवस्था के द्वारा यूरोप को होने वाले कंपनी के निर्यात को वित्तीय सहायता सफलतापूर्वक उपलब्ध करायी जाती थी बल्कि चीन से चाय एवं रेशम खरीदने में कंपनी के होने वाले निवेश में भी वित्तीय सहायता प्रदान की जाती। चीन के साथ होने वाले व्यापार में चीन को चाँदी का निर्यात किया जाता था जिससे भारत में मुद्रा संबंधी समस्यायें पैदा हुई। 1765 से 1813 तक यह व्यवस्था अपनी पूरी क्षमता के साथ कार्यरत थी। लेकिन 1813 में कंपनी का एकाधिकार समाप्त कर दिया गया और इसी के कारण अगले दो दशकों में कंपनी के व्यापार में तेजी से गिरावट आयी और उनकी आमदनी का मुख्य आधार "देशिक राजस्व" ही रह गया। निर्यात व्यापार में कंपनी के कर्मचारियों तथा गैर-अधिकारियों दोनों व्यक्तिगत व्यापारियों का वर्चस्व कायम हो गया। जैसा कि आपको इकाई 14 में बताया गया है कि ये व्यापारी अपने-लाभांश को इंग्लैंड को भेज देते थे। इसको धन या गैर-अंग्रेजों के माध्यम से सामान के रूप में या ईस्ट इंडिया कंपनी के माध्यम से विनिमय पत्रों के द्वारा इंग्लैंड को भेजा जाता। इस प्रकार कंपनी के खाते से भी अलग व्यक्तिगत खातों के द्वारा इंग्लैंड को धन हस्तांतरित किया गया। इंग्लैंड को भेजे जाने वाला धन न केवल लाभांश के रूप में भेजा गया बल्कि युद्धों के दौरान लूटे गये धन, क्षेत्रीय रियायतों से प्राप्त किये गये रिश्वत धन तथा भारतीय व्यापारियों के साथ धोखाधडी से प्राप्त किये गये धन को भी इंग्लैंड भेजा गया। एक अंग्रेज व्यापारी जी.ए. प्रिंसेप के अनुसार 1813 से 1820 के बीच प्रत्येक वर्ष केवल बंगाल से इंग्लैंड को भेजे जाने वाला धन एक करोड़ और आठ लाख रुपए था।

इस तरह से व्यापार का लाभ एवं दूसरी व्यक्तिगत आमदनियाँ इंग्लैंड को भेजे जाने वाले धन का एक भाग ही थीं। इंग्लैंड को भेजे जाने वाले धन का दूसरा भाग इंग्लैंड के अंदर समुद्री जहाज कंपनियों, बैंकों, बीमा कंपनियों आदि को अदा किया जाने वाला धन था। 1813 से 1820 तक प्रत्येक वर्ष भेजे जाने वाले धन का तीसरा स्रोत कंपनी द्वारा भेजे जाने वाला धन था। इस धन से इंग्लैंड स्थित कंपनी के अधिकारियों को वेतन, इंग्लैंड में कंपनी के द्वारा लिये गये ऋण का ब्याज, कंपनी के शेयर धारकों के लाभांश आदि की अदायगी भी की जाती थी। यह धन एक करोड़ से तीन करोड़ रुपए तक होता था। इसको "होम

चार्जेज" के नाम से जाना जाता था और 1833 में कंपनी के द्वारा अपना व्यापार समाप्त कर दिये जाने के बाद यह कंपनी की सरकार द्वारा इंग्लैंड को भेजा जाने वाला कुल धन था।

भारत के धन का दुरुपयोग करने वाली यह उपरोक्त व्यवस्था जिस समय अपनी पूर्णता पर थी ठीक उसी समय इंग्लैंड औद्योगिक क्रांति के दौर से गुजर रहा था। भारत से प्राप्त होने वाली इस संपदा ने इंग्लैंड के उस पूंजी संचयन में और वृद्धि की जिसकी उसको अपने औद्योगीकरण के लिए आवश्यकता थी। लेकिन यह इंग्लैंड के औद्योगीकरण में उन बहुत से कारणों में से एक कारण से अधिक कुछ नहीं था जिन्होंने उसके औद्योगीकरण में एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। लेकिन इंग्लैंड के औद्योगीकरण ने भारत के साथ होने वाले व्यापार के पैटर्न में क्रांतिकारी परिवर्तन किये। हमें भारत के इस जटिल व्यापार के इतिहास को समझना चाहिए क्योंकि इस परिवर्तन के महत्वपूर्ण परिणाम हुए।

18.6 विदेशी व्यापार

सामान्यत: यह माना जाता है कि भारतीय दस्तकारी उत्पादनों को विदेशों में सहजता से बाजार उपलब्ध होता रहा। लेकिन 19वीं सदी के प्रारंभ में यह स्थिति उलट गई क्योंकि भारत में औद्योगिक उत्पादनों का आयात होने लगा और भारत से कृषि के उत्पादनों का निर्यात।

1858-61 के वर्षों में ईस्ट इंडिया कंपनी ने भारत से जिन सूती कपड़ों का निर्यात किया उनका मूल्य लगभग 27.4 लाख रुपये था। इन वर्षों में भारत से जो औसतन निर्यात किया गया उसका यह 81 प्रतिशत था। कच्ची रेशम, काली मिर्च एवं शोरा शेष के अंतर्गत था जो कुल निर्यात के 20 प्रतिशत से भी कम था।

इस पाठ्यक्रम में जिस काल का हम अध्ययन कर रहे हैं उसके अंत में अर्थात 1850-51 में अफीम, कच्ची रूई, नील एवं चीनी मुख्य निर्यातक वस्तुएँ थी और उनका निर्यात कुल निर्यात का क्रमश: 30, 19, 11 और 10 प्रतिशत ही था। कहने का तात्पर्य यह है कि भारत अब कच्चे माल एवं कृषि पदार्थों का निर्यातक देश बन गया था और अब वह कुल निर्यात का 3.7 प्रतिशत ही सूती कपड़ों का निर्यात करता था।

1850-51 तक भारत को औद्योगिक उत्पादनों का आयात व्यापक स्तर पर होने लगा इस समय भारत को आयात होने वाले औद्योगिक उत्पादनों में सूती कपड़ों का आयात कुल आयात का 31:5% सूती धागा 9% ऊनी वस्त्र 5% तथा धातु सामानों आदि का 16% आयात होता था। इन आयात होने वाले औद्योगिक सामानों में सूती कपड़े एवं धागे का आयात विशेष उल्लेखनीय था। 1850-51 में भारत ने 1.13 करोड़ रुपये के सूती धागे और 3.37 करोड़ रुपए के सूती कपड़ों का आयात किया। यदि हम दो दशक पूर्व 1828-29 के आँकड़ो को देखें तब हमें मालूम पड़ता है कि 42 लाख रुपए मूल्य के सूती धागे और 1.18 करोड़ रुपए मूल्य के सूती कपड़ों का आयात भारत ने किया। इस तरह से हम देखते हैं कि केवल दो दशकों में ही मानचेस्टर के मिलों से तीन गुणा आयात किया जाने लगा। ठीक इसी समय में भारत से निर्यात होने वाले सूती कपड़ों की मात्रा में आश्चर्यजनक कमी आयी। अब पासा बिल्कुल ही उलट गया, भारत एक निर्यातक देश से सूती कपड़ों एवं धागे का आयात करने वाला देश हो गया। दूसरी ओर जब कि इंग्लैंड ने भारत से सूती कपड़ों का आयात बंद कर दिया और उसे अब अपने इस औद्योगिक माल के निर्यात के लिए भारत के बाजार प्राप्त हो गये इस प्रक्रिया के परिणामों के विषय में इकाई 17 में विवेचना की गई है और इसका मुख्य परिणाम यह हुआ कि भारत का अब औद्योगीकरण होने लगा। 18वीं सदी के पैटर्न की उलट तथा भारत के विदेशी व्यापार में उपभोग वस्तु के नये पैटर्न की स्थापना का प्रारंभ 19वीं सदी के दूसरे एवं तीसरे दशकों में हुआ। इस प्रक्रिया को और आगे बढ़ाने तथा भारत के बाजारों पर अधिकार करने के लिए इंग्लैंड को भारत में रेलवे की आवश्यकता थी।

18.7 भारतीय रेल और अंग्रेजी पूँजी

19वीं सदी के यूरोप की राजधानियों एवं व्यापार के क्षेत्रों में भारत या चीन या अफ्रीका या

एशिया के अन्य किसी देश को यूरोप के औद्योगिक उत्पादनों के लिए मंडी के रूप में खोलने के लिए आश्चर्यजनक तरह से प्रतीक्षा हो रही थी। 19वीं सदी में इस प्रक्रिया के लिए यूरोप की राजधानी का व्यापार के क्षेत्र में "ओपनिंग अप" शब्द बड़ा ही लोकप्रिय था। ओपनिंग अप का तात्पर्य था कि किसी भी देश को व्यापार पर लगे प्रतिबंधों को हटाकर यूरोप के देशों के साथ व्यापार करने को तैयार करना। इन प्रतिबंधों में चीन की सरकार द्वारा विदेशियों के प्रवेश पर प्रतिबंध लगाना, या यूरोपीय शक्तियों के द्वारा एक दूसरे के विरोधी दावे प्रस्तुत करना या यूरोपवासियों की आवश्यकता के अनुरूप परिवहन व्यवस्था का अभाव आदि शामिल थे। भारत में ईस्ट इंडिया कंपनी के एकाधिकार विशेषाधिकार की समाप्ति के बाद ओपनिंग अप का तात्पर्य मुख्यरूप से रेलवे का विकास करना था। रेलवे का विकास करने के पीछे अंग्रेजों के उद्देश्य स्पष्ट थे। रेलवे का विकास करके वे अंग्रेजी विनिर्मित सामान का आयात करके उसे भारत के दूर-दराज के क्षेत्रों में पहुँचा सकते थे। दूर-दराज के क्षेत्रों से कच्चे माल एवं कृषि उत्पादनों को एकत्रित करके समुद्र तट पर स्थित बंदरगाहों तक लाया जा सकता था। रेलवे के विकास से भारत में कार्यरत रेलवे कंपनियों को रेलवे में पूँजी निवेश करने का भी यह अच्छा अवसर था।

इनमें से पहले दो उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए दूर-दराज के व्यापारिक केंद्रों को रेलवे के द्वारा उन समुद्र तट स्थित बंदरगाहों से जोड़ा गया जहाँ ब्रिटिश उद्योगों का विनिर्मित माल आयात होकर आता था तथा भारत से निर्यात होने वाला कच्चा सामान तथा कृषि उत्पादनों को विदेशों के लिए भेजा जाता था। ये बंदरगाह कलकत्ता, मद्रास, बंबई एवं करांची थे। ये चारों बंदरगाह अंग्रेजों की व्यापारिक गतिविधियों तथा राजनीतिक शक्ति के केंद्र थे। इन उपरोक्त दो उद्देश्यों की पूर्ति करने के साथ-साथ माल भाड़े को वसूल करना भी सरल था और आयात किये गये विनिर्मित माल को बंदरगाहों से दूर-दराज के क्षेत्रों में पहुँचाने के लिए तथा निर्यात करने के लिए दूर-दराज के क्षेत्रों से कच्चे माल एवं कृषि उत्पादनों को लाने के लिए यह सस्ती परिवहन व्यवस्था भी थी। इस प्रकार के माल ढुलाई भाड़े की नीति रेलवे से जुड़ गई तथा यह रेलवे कंपनियों की जानी-पहचानी नीति बन गई। लेकिन रेलवे की ये विशेषताएँ बाद के काल से संबंधित हैं जो आपके पाठ्क्रम में नहीं है।

इंग्लैंड में जो रेलवे कंपनियाँ स्थापित की गई थी वे संयुक्त स्टॉक कंपनियाँ थी और इनका विवरण इकाई 14 में किया गया है। अंग्रेज पूँजीपतियों ने इन कंपनियों के शेयरों को लंदन बाजार में खरीदा। इंग्लैंड में इन कंपनियों के शेयर खरीदने के लिए तथा उनके व्यापार को रेलवे में सुरक्षित बनाने के लिए भारत की सरकार ने उनके द्वारा निवेश की गई पूँजी पर 5% का ब्याज देने की गारंटी दी। इस प्रकार सभी भारतीय रेलवे कंपनियाँ वास्तव में अंग्रेजी रेलवे कंपनियाँ थीं जिनको "गारंटी ब्याज समझौते" के द्वारा सुरक्षित किया गया था।

MAADHYAMIAS

लेकिन इसका परिणाम भारत के लिए कई कारणों से अच्छा न रहा।

अ) सरकार के द्वारा ब्याज देने की गांरटी देने का तात्पर्य था कि रेलवे में लाभ होता या नुकसान लेकिन भारतीय कर दाताओं से निश्चय ही धन अंग्रेज निवेशकर्ताओं को दिया जाना था। इससे रेलवे के निर्माण एवं प्रबंधन में अधिक खर्च एवं मितव्ययता को बढ़ावा मिला।

ब) गारंटी दिये गये ब्याज को इंग्लैंड में स्टेरलिंग (विदेशी मुद्रा) में अदा करना था जिससे भारत के विदेशी विनिमय खर्च में वृद्धि हुई जिसको होम चार्जेज कहा जाता था।

स) अंग्रेजी रेलवे कंपनियाँ भारत को इंजन, रेल, मशीन और यहाँ तक कि कोयले का आयात करती थी। कोयले का आयात संभवतः एक दशक तक किया गया। अधिकतर दूसरे देशों में जहाँ पर रेलवे का निर्माण किया गया उसी के साथ-साथ रेलवे के सहायक उद्योगों जैसे कि इंजिनियरिंग उद्योगों, लोहे एवं स्टील का उत्पादन, खानों आदि का निर्माण हुआ। भारत में इस प्रकार के सहायक उद्योगों का विकास नहीं किया गया। इसका कारण यह था कि रेलवे को जिस भी सामान की आवश्यकता होती उसको ये रेल कंपनियाँ आयात कर लेती।

यदि रेलवे कंपनियाँ भारत की वित्तीय व्यवस्था के लिए इतनी अधिक खर्चीली साबित हुई तब भारतीय सरकार ने उनका प्रारंभ भारत में क्यों किया और उनको गारंटी प्रदान क्यों की। लेकिन भारत में रेलों का निर्माण केवल अर्थव्यवस्था पर पड़ने वाले बोझ तक सीमित

न था बल्कि इसके निर्माण के साथ सामरिक एवं राजनीतिक उद्देश्य मूलभूत रूप से जुड़े थे। रेलवे योजना की अनुमति प्रदान करते हुए अपने सुप्रसिद्ध स्मरण-पत्र में गवर्नर जनरल लॉर्ड डलहौजी ने लिखा "रेलवे से सरकार को भारत के दूर-दराज के भागों पर नियंत्रण करने, आंतरिक अशांति को समाप्त करने तथा विदेशी आक्रमण का सामना करने के लिए सेना को गतिशील बनाने तथा भारतीय सीमाओं को रूस तथा अन्य शक्तियों से सुरक्षित करने में मदद मिलेगी।" इसके अतिरिक्त ब्रिटिश सरकार एवं भारतीय सरकार पर उन कई समूहों का दबाव भी था जो आर्थिक एवं राजनीतिक तौर पर शक्तिशाली थे। ये ऐसे पूँजीपतियों के समूह थे जो रेलवे कंपनियों में पूँजी का निवेश करना चाहते थे। ये वे समूह थे जो रेलवे इंजनों की तलाश में थे। ऐसे भी पूँजीपति थे जो अंग्रेजी विनिर्मित माल को भारत जैसे विशाल देश के बाजार में भारत में रेलवे के निर्माण हो जाने पर बेचने की आशा करते थे।

जहाँ एक ओर यह पूर्णरूपेण सत्य है कि भारत में रेलवे का निर्माण अंग्रेज पूँजीपतियों तथा अंग्रेज भारतीय सरकार के बीच अपने-अपने हितों को पूर्ण करने के लिए 1850 के दशक में किया गया वहीं भारतीय दृष्टिकोण से इसके कुछ सकारात्मक परिणाम भी निकले। रेलवे के साथ-साथ तकनीकी भी भारत आयी और रेलवे के कारखानों ने नयी तकनीकी शैली को विकसित किया। रेलवे ने देश को एकीकृत करने एवं राष्ट्रीय बाजार को स्थापित करने में भी अपना योगदान दिया। समकालीन दार्शनिक कार्ल मार्क्स ने इसका पर्यवेक्षण करते हुए लिखा कि भारतीय रेलवे किसी न किसी रूप में आधुनिकीकरण में अग्रणी थी। यह सत्य भी हो सकता है लेकिन औपनिवेशिक सरकार के द्वारा भारत में रेलवे की स्थापना का मुख्य लक्ष्य अंग्रेजों के आर्थिक हितों से ही जुड़ा था।

बोध प्रश्न 2

1) आप "धन की निकासी" से क्या समझते हैं?

....
....
....
....
....
....

MAADHYAM IAS
way to achieve your dream

2) अंग्रेज पूँजीपति भारतीय रेलवे के विकास में क्यों रुचि रखते हैं? उत्तर 50 शब्दों में दीजिये।

....
....
....
....
....

3) भारत के विदेश व्यापार पर औपनिवेशिक शासन का क्या प्रभाव पड़ा? उत्तर 100 शब्दों में दें।

....
....
....
....
....
....

18.8 सारांश

आपने इस इकाई में 18वीं सदी के अंत तथा 19वीं सदी के प्रारंभिक दशकों की अर्थव्यवस्था की निम्नलिखित विशेषताओं का अध्ययन किया :

- आंतरिक व्यापार के क्षेत्र का,
- दस्तकारों एवं किसानों के उत्पादनों के लिए बाजार का,
- भारत से इंग्लैंड को होने वाले धन के प्रवाह का,
- विदेश व्यापार के पैटर्न का, और
- भारत का ब्रिटिश औद्योगिक सामान के लिए खुलने का।

आपने इन परिवर्तनों का इकाई 14 में वाणिज्य से औद्योगिक साम्राज्यवाद में हुए रूपांतरण में, इकाई 15 में ब्रिटिश भारत में भू-राजस्व नीति में, इकाई 16 में कृषि के व्यवसायीकरण और इकाई 17 में अनौद्योगीकरण के दृष्टिकोणों से समझने का प्रयास किया। इन सबके आधार पर आप उस औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था के स्वरूप को समझने का प्रयास कर सकते हैं जो 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में अपनी अधिक विकसित अवस्था में पैदा हुई।

18.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) आप अपने उत्तर में व्यापार के चरित्र में होने वाले परिवर्तन, अंग्रेजों की बढ़ती राजनीतिक शक्ति आदि को उद्धृत करें। देखें उपभाग 18.2.2.

2) देखें भाग 18.3

3) अपने उत्तर में शीघ्र होने वाले युद्ध, अधिक भू-राजस्व की माँगें, ताकत के बल पर व्यवसायिक फसलों का उत्पादन आदि शामिल करें। देखें भाग 18.4

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

बोध प्रश्न 2

1) देखें भाग 18.5

2) माल की ढुलाई की सुविधा, शहर एवं ग्रामीण क्षेत्रों के बीच संपर्क स्थापित करने, अच्छा मुनाफा प्राप्त करने के लिए पूँजी निवेश करने आदि को अपने उत्तर में शामिल करें। देखें भाग 18.7

3) आपका उत्तर भारत में विनिर्मित सामान के आयात, भारत से निर्यात होने वाले कच्चे माल में होती वृद्धि, व्यापार संतुलन प्रतिकूल होना आदि पर केंद्रित होना चाहिए। देखें भाग 18.6

इकाई 19 आधुनिक भारत की भाषाएँ

इकाई की रूपरेखा

19.0 उद्देश्य
19.1 प्रस्तावना
19.2 मुगलसत्ता से ब्रिटिश वर्चस्व की ओर संक्रमण के प्रभाव
  19.2.1 समरूप मुद्रण लिपि और प्रामाणिक भाषारूप की स्वीकृति
  19.2.2 गद्य साहित्य का विकास
  19.2.3 नये साहित्य स्वरूपों की स्वीकृति
19.3 भाषिक विकास और वर्ग-संबंध
  19.3.1 बंगाली
  19.3.2 गुजराती
  19.3.3 तमिल
19.4 भाषा के अंतर्गत सामुदायिक ध्रुवीकरण
19.5 उर्दू और हिंदी का ध्रुवीकरण
  19.5.1 उर्दू भाषा का उद्भव और विकास
  19.5.2 प्रामाणिक हिंदी का विकास
  19.5.3 पंजाब पर प्रभाव
19.6 विविधता में एकता
19.7 गद्य रूपों का विकास
  19.7.1 आरंभिक गद्य रूपों के उदाहरण
  19.7.2 पाश्चात्य प्रभावों का आरंभ
19.8 परिणाम
19.9 सारांश
19.10 शब्दावली
19.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

19.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन से आप जानकारी प्राप्त करेंगे:

- मुगल राजसत्ता से ब्रिटिश वर्चस्व की ओर संक्रमण की अवधि में भारतीय भाषाओं में कौन से परिवर्तन हुए,
- भाषागत विकास के साथ किस प्रकार भारतीय समाज में हो रहे नये ध्रुवीकरण की प्रक्रियाएं जुड़ी थीं,
- पाश्चात्य प्रभावों के अधीन भाषाओं के विकास का क्रम किस प्रकार प्रभावित हुआ, और
- आधुनिक भारतीय भाषाओं के अंतर्गत विकास के आधुनिक भारतीय इतिहास पर क्या प्रभाव पड़े।

19.1 प्रस्तावना

भारतीय भाषाएँ 18वीं और 19वीं सदी में महत्वपूर्ण विकास प्रक्रियाओं से गुजरीं। इसका आधुनिक भारतीय इतिहास पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा। इस विकासक्रम में अत्यंत महत्वपूर्ण था क्लासकीय भाषाओं की अपेक्षा अत्यंत विशिष्ट रूप में स्थानीय भाषाओं का विकास। स्थानीय भाषाओं ने अपने प्राभाविक स्वरूप और नये गद्य साहित्य की उपलब्धि

की। आगे चलकर हम देखेंगे कि इन विकास-प्रक्रियाओं का आधुनिक भारत के सामाजिक/सांस्कृतिक ही नहीं, राजनीतिक इतिहास के घटनाक्रम से घनिष्ठ संबंध था।

19.2 मुगलसत्ता से ब्रिटिश वर्चस्व की ओर संक्रमण के प्रभाव

अठारहवीं सदी भारत में मुगल शासक वर्ग की भाषा फारसी थी। इसीलिए उसे राजभाषा का स्थान भी प्राप्त था। जहां तक उन्नीसवीं सदी के शिक्षित समुदाय की बात है, उससे अपने विद्वत्तापूर्ण विचारों को अभिव्यक्ति – कलासिकीय भाषाओं के माध्यम से दी – हिंदुओं ने संस्कृत में, मुसलमानों ने अरबी में और फारसी भाषा में हिंदू-मुसलमान दोनों ने। वर्नाक्यूलर के रूप से सुपरिचित और गैर-कलासिकीय भारतीय भाषाएँ द्रविड़ तथा भारत – आर्य (इंडो-एरियन) समूहों के अंतर्गत आती थीं। इन वर्नाक्यूलर भाषाओं में से कुछ – द्रविड़ समूह के अंतर्गत तमिल, तेलुगु, कन्नड़ और मलयालम तथा असम, बंगाल, उड़ीसा हिंदुस्तान, पंजाब, कश्मीर, सिंध, गुजरात और महाराष्ट्र की संस्कृत-आधारित वर्नाक्यूलर भाषाओं की सुविकसित काव्य-परंपरा थी। लेकिन इन भाषाओं का गद्य-साहित्य अभी अंकुरण-काल में था। जटिल तथा वैज्ञानिक विचारों की अभिव्यक्ति के लिए वर्नाक्यूलर भाषाएं उस समय तक परिपक्व नहीं बनीं थीं। मुगल परंपरा के स्थान पर ब्रिटिश वर्चस्व की प्रतिष्ठा और 1835 में अंग्रेजी शिक्षा के पक्ष में नीति-निर्धारण से इन सभी भाषाओं में महत्वपूर्ण परिवर्तन आए, कुछ में अन्य भाषाओं की अपेक्षा पहले। बंगाली में उन्नीसवीं सदी के आरंभ में, मराठी में मध्य उन्नीसवीं सदी में, उर्दू, गुजराती, हिंदी, असमिया, उड़िया, सिंधी, तेलुगु और तमिल में उन्नीसवीं के अंतिम काल में, कन्नड़, पंजाबी, कश्मीरी, डोगरी में बीसवीं सदी में। इन सभी भाषाओं में भिन्न गति से महत्वपूर्ण परिवर्तन आ रहे थे।

19.2.1 समरूप मुद्रण लिपि और प्रामाणिक भाषा रूप की स्वीकृति

भारत के प्रत्येक भाषाई क्षेत्र में विभिन्न बोलियों का सम्मिश्रण था और आरंभ में कोई प्रामाणिक भाषा रूप नहीं था। न तो लिपि की एकरूपता थी। उदाहरण के लिए सिंधी भाषा में, जिसमें पहले कुछेक पुस्तकें ही लिखी गई थीं, लहंदा, गुरुमुखी, नागरी एवं फारसी लिपियों का बेतरतीब प्रयोग किया जाता था, जब तक कि 1851 में सिंध के ब्रिटिश प्रशासकों ने अरबी के साथ इस भाषा में न मिलने वाली कुछ ध्वनियों को इंगित करने वाले अक्षरों को मिलाकर अरबी-फारसी लिपि का आविष्कार नहीं कर दिया, जिसको हिंदू-मुसलमान दोनों ने ही अपनी पुस्तकों के मुद्रण के लिए अपनाया। राजपूताना से बिहार तक फैले विस्तृत क्षेत्र हिंदुस्तान की 'वर्नाक्यूलर' भाषा एक व्यापक श्रेणी थी जिसके अंतर्गत मारवाड़ी, ब्रजभाषा, खड़ी बोली, अवधी, भोजपुरी, मैथिली इत्यादि आती थी। इनसे ही क्रमशः हिंदी का प्रामाणिक रूप उभरा। उन्नीसवीं सदी काल में दिल्ली और मेरठ के आसपास में बोली जाने वाली उपभाषा, खड़ी बोली—ने एक प्रामाणिक भाषा का आधार दिया। भाषा के इस प्रामाणिक रूपों के उद्भव ने, जिसका पहले अस्तित्व नहीं था, स्वतंत्र भारत में राज्यों का भाषिक पुनर्संगठन संभव बनाया। यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि उन्नीसवीं सदी के पहले इस समूचे क्षेत्र को अपनी परिधि में लेने वाली कोई प्रामाणिक वर्नाक्यूलर भाषा नहीं बनी थी।

19.2.2 गद्य साहित्य का विकास

लिपि एवं भाषा का स्तरीकरण 1800 के आसपास मुद्रित गद्यसाहित्य के विकास से घनिष्ठ रूप में जुड़ा है। इस प्रक्रिया को अंग्रेजी शिक्षा के प्रसार के साथ भारत की वर्नाक्यूलर भाषा-साहित्यों पर गहरे प्रभाव से और संवेग मिला। इसके बारे में अधिक चर्चा हम आगे करेंगे।

19.2.3 नये साहित्य रूपों की स्वीकृति

पश्चिम के गहन होते प्रभाव ने भारत की स्थानीय भाषाओं के साहित्य पर अंग्रेजी साहित्य की जबरदस्त छाप छोड़ी। विक्टोरियन इंग्लैंड में प्रभुत्वशाली-साहित्य रूपों का जैसे

कैथी लिपि (U.P.)

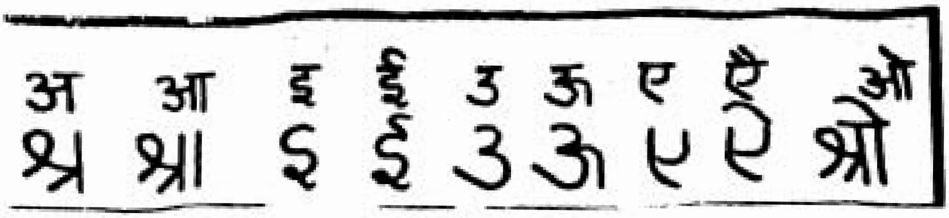

मोड़ी लिपि – सत्तरहवीं श० (Maharashtra)

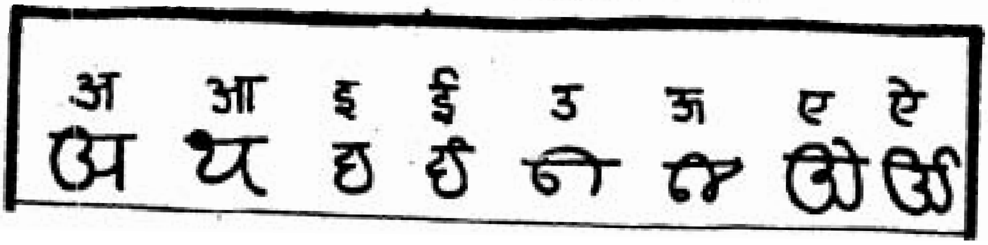

अहोम लिपि (Assam)

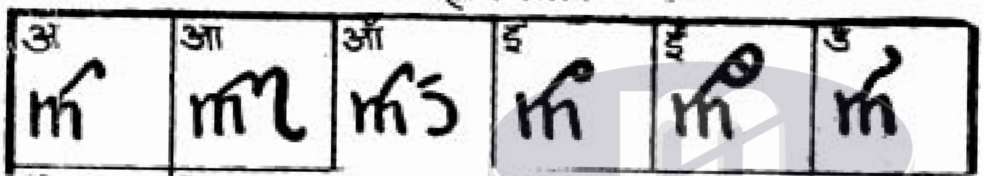

गुरमुखी लिपि (Punjab)

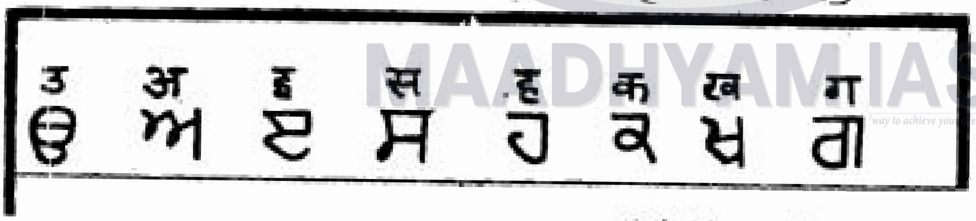

भोजपुरी लिपि (Bihar)

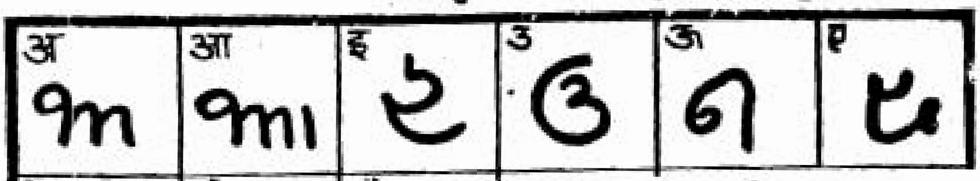

उर्दू लिपि (Mainly U.P. and A.P.)

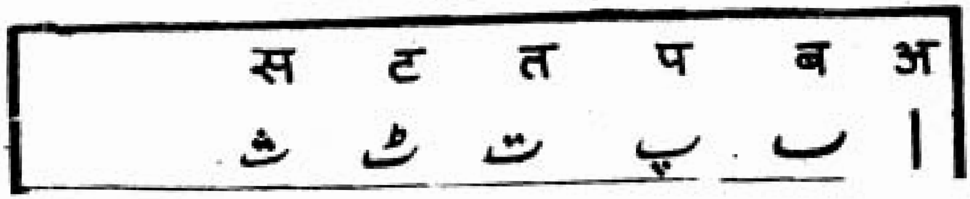

अरबी – सिन्धी लिपि

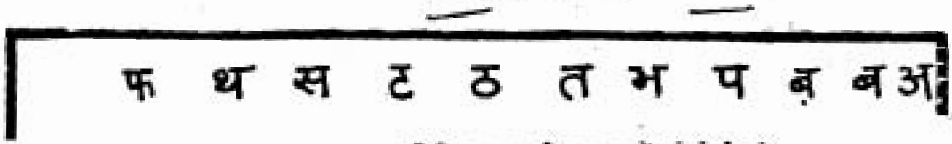

मैथिल लिपि (Bihar)

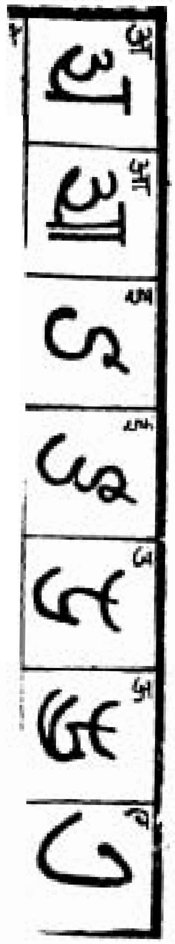

मागधी (मगही) लिपि (Bihar)

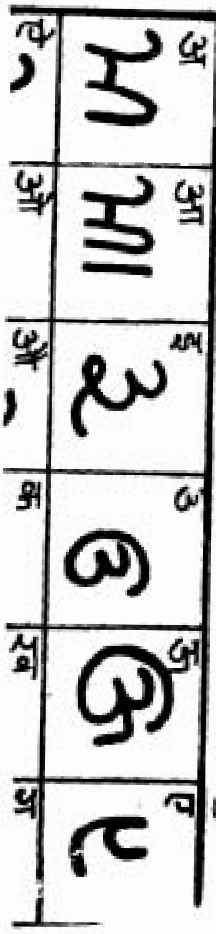

उपन्यास और मुक्तक का भारत की भाषाओं में कोई समतुल्य नहीं था, जिनमें उपरोक्त रूपों को उत्साह से अपनाया गया। मलयालम साहित्य के एक इतिहासकार के अनुपम समकालीन मलयालम साहित्य के किसी भी मूल्यांकन प्रयास में निष्कर्ष की उपेक्षा नहीं की जा सकती: इसके सभी स्वरूपों एवं आंदोलनों को अपनी मूल प्रेरणा अंग्रेजी साहित्य से मिली थी। उसकी राय में उपन्यास, लघुकथा, नाट्य, निबंध, साहित्य समीक्षा, जीवनी, इतिहास, यात्रावृत्तांत आदि सारे साहित्य रूपों की अवधारणा अंग्रेजी के ढर्रे पर की गई है और–संक्षिप्त महाकाव्य, गीति, मुक्तक और एकलाप इत्यादि को भी अपने स्वर उसी स्रोत से मिले हैं। यह बात मलयालम भाषा के ही समान अन्य भाषाओं के लिए भी है। पुरातन रूपों से नवीन रूपों की ओर, प्रगति के साथ ही इन साहित्यों का इतिहास उपरोक्त नये रूपों और आंदोलनों का इतिहास बन गया, यद्यपि यह बात भी ध्यान में रखी जानी चाहिए कि इन महत्वपूर्ण रूपों से अप्रकाशित लोकसाहित्य की धारा अनवरत बहती रही।

19.3 भाषिक विकास और वर्ग-संबंध

प्रामाणिक भाषा रूपों की रचना ने शिक्षित मध्य वर्ग के सांस्कृतिक नेतृत्व को जन्म दिया और उनके निर्देशों के अधीन एक गतिशील प्रकृति की राजनीतिक–सामाजिक एकजुटता को आगे बढ़ाया। फिर भी, यह विरोधाभास ध्यान में रखा जाना चाहिए कि उपरोक्त प्रक्रिया ने सामाजिक ध्रुवीकरण को भी जन्म दिया जिससे नये मध्यवर्ग और जनसंख्या के निचले तबकों के बीच दूरी बढ़ गई।

19.3.1 बंगाली

यह बात नये गद्य रूपों के सृजन के समय से ही थी, जिसमें आधुनिक भारतीय पुनर्जागरण के बौद्धिक क्रियाकलाप चलाये गये थे। ऐसा पहला बौद्धिक गद्य-साहित्य रूप–1815 के बाद का है, राजा राममोहन राय की बंगाली रचनाओं का माध्यम एक जटिल, कृत्रिम भाषा थी जो सब समुदाय की आम बोलचाल की भाषा से बहुत दूर, उनके लिए पूर्णतः अबोधगम्य थी। अतिजटिल तर्कसम्मत एवं वैज्ञानिक विचारों की अभिव्यक्ति में समर्थ और परवर्तीकाल में ईश्वरचंद्र विद्यासागर, अक्षय कुमार दत्त, और बंकिम चंद्र चटर्जी (जिनके प्रथम उपन्यास दुर्गेशनंदिनी के प्रकाशन के साथ यह प्रक्रिया पूर्ण हुई) जैसे सृजनात्मक लेखकों द्वारा सुंदर और स्वाभाविक बना दिये जाने के बावजूद–यह साहित्य बंगाल के सामान्य जनसमुदाय के बोध के परे रहा। रवींद्रनाथ टैगोर भी–जब आधुनिक भारत के सर्वाधिक भौगोलिक काव्यरूपों के साथ परिदृश्य पर आये बंगाल के बुनकर, हस्तकार और किसान लोकगायकों के गीतों से ही अधिक आनंद विभोर होते थे। लोकभाषा रूपों और मध्यवर्ग की भाषा औपचारिक, लिखित साहित्यिक भाषा (साधुभाषा) और बोलचाल की भाषा में विभाजित हो गई। यद्यपि रवींद्रनाथ टैगोर ने बीसवीं सदी के तीसरे दशक में चलित भाषा (एवं बोलचाल दोनों की भाषा) को अपनाया, यह भाषा रूप भी मध्यवर्ग से ही संबंधित था।

19.3.2 गुजराती

यह परिघटना बंगाल तक ही सीमित नहीं थी। कन्हैया लाल मणिकलाल मुंशी की रचना गुजराती साहित्य का इतिहास (1935) की भूमिका में महात्मा गांधी ने गुजराती तथा अन्य भाषाओं के बीच विभेद, मध्य वर्ग द्वारा समझी और बोली जाने वाली भाषा और लोकगीतों के बीच अंतर को रेखांकित किया। उन्होंने गुजरात के लिखित साहित्य का चरित्रांकन वाणिज्य-वृत्ति वाले और आत्म-तुष्ट मध्यवर्ग के साहित्य के रूप में किया और यह मूल्यांकन किया कि वह अपने मूल स्वर में "स्त्रैण और ऐंद्रिक" है। उन्होंने संक्षेप में यह मत भी सामने रखा कि लिखित गुजराती साहित्य गुजरात के जनसमुदाय से अछूता बना रहा है, "जनसमुदाय की भाषा के बारे में हम कुछ भी नहीं जानते। उनकी बोलचाल को हम शायद ही समझ पाते हैं। उनके और हम मध्यवर्गीयों के बीच दूरी इतनी अधिक है कि हम तो उन्हें जानते नहीं, वे और भी कम जान पाते हैं कि हम क्या सोचते और कहते हैं।"

MAADHYAM IAS

19.3.3 तमिल

महात्मा गांधी का आशय तमिल भाषा के उदाहरण से भी स्पष्ट होता है, जिसमें अनौपचारिक, बोलचाल की ठेठ भाषा साहित्यिक भाषा का स्वरूप नहीं ले सकी। इसके विपरीत, औपचारिक साहित्यिक भाषा का दैनिक जीवन में प्रयोग सामान्य तमिल भाषी नहीं करते थे, और न शिक्षित प्रबुद्ध तमिल, यद्यपि बंगाली शिक्षाप्राप्त तबकों में ऐसा आंशिक रूप में होता था। तमिल भाषा में बंगाली चलित भाषा का कोई समतुल्य रूप नहीं मिलता, ऐसी भाषा जिसका प्रयोग जनसंख्या का कम से कम हिस्सा, अर्थात् मध्यमवर्ग बोलने और लिखने दोनों के लिए ही करता हो। बल्कि, कामिल ज्वेलबिल के अनुसार बंगाली साधुभाषा, औपचारिक, लिखित साहित्यिक भाषा, का समतुल्य तमिल में मिलता है, जिसे शायद ही कोई बोलचाल में प्रयोग करता हो। अनेकानेक स्थानीय तथा सामाजिक-उपन्यास भी थे, जिनमें ब्राह्मणों की भाषा अन्य तबकों की भाषा से भिन्न थी।

मुख्य भारतीय लिपियों के कुछ शब्द

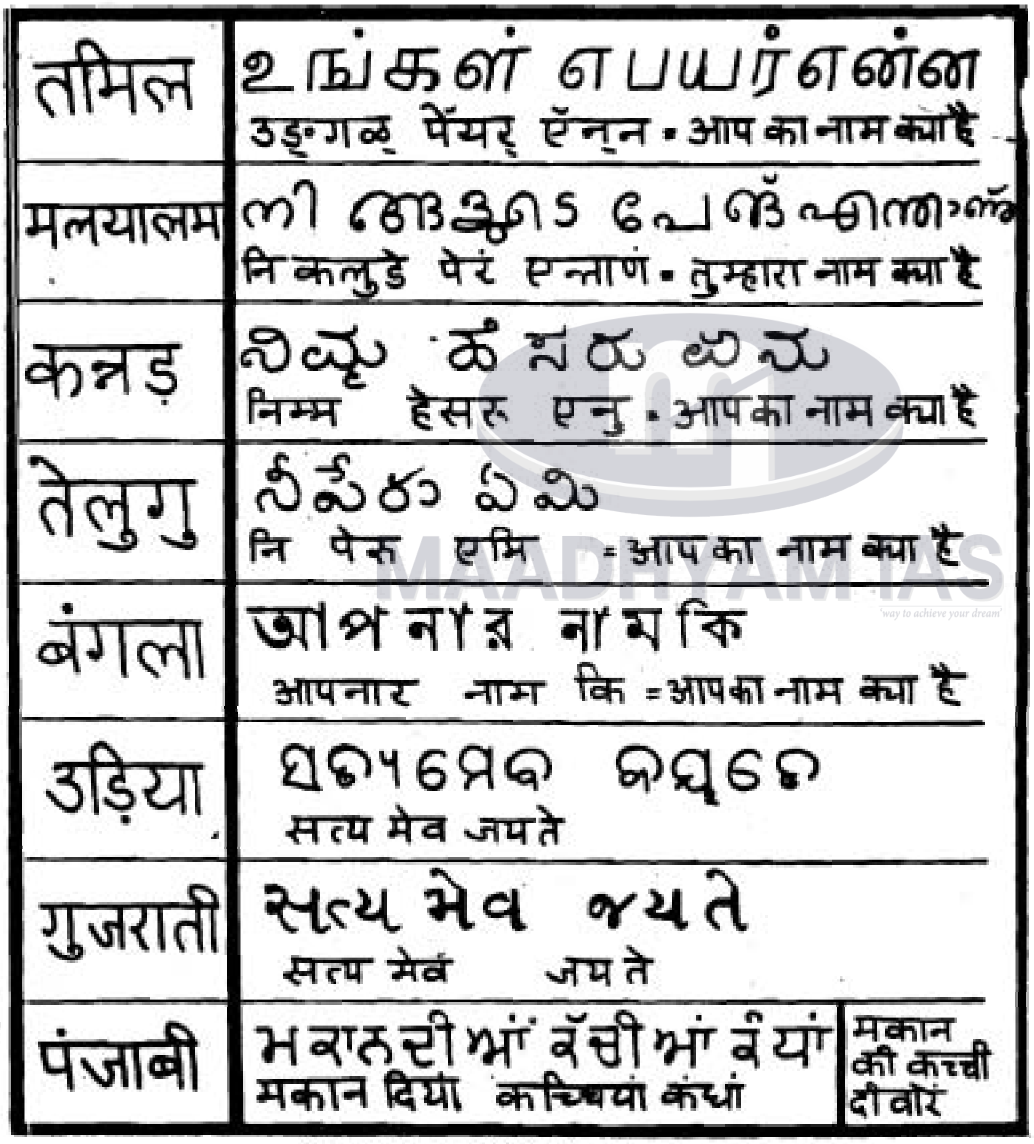

2. मुख्य भारतीय लिपियों के कुछ शब्द

19.4 भाषा के अंतर्गत सामुदायिक ध्रुवीकरण

भाषिक व्यवहार से जुड़े—इन वर्गीय विभेदों का संबंध सामुदायिक विभेदों से भी था। साहित्य के प्रामाणिक भाषा रूप के अभ्युदय से विभिन्न तबकों के बीच दूरी और बढ़ गई। बंगाल का ही उदाहरण लें। उन्नीसवीं सदी के आरंभ में प्रामाणिक, लिखित बंगाली भाषा रूप की रचना के पहले ही, अठारहवीं सदी के उत्तरार्द्ध में (अरबी तथा फारसी भाषा के

शब्दों से युक्त) दो भाषी अथवा मुसलमानी बंगला भाषा में लोकप्रिय साहित्य सामने आ चुका था। अन्य साधनों वाले सामान्य मुस्लिम जनसमुदाय ने इस साहित्य को संरक्षण दिया। यह पूर्णतः पद्य बद्ध था और इसमें कोई गद्यरूप हमें नहीं मिलता। इसकी विषय वस्तु में आते थे मुस्लिम नीतिशास्त्र और पुरातन, विस्मयकारी-लोक आख्यान। पुठी के रूप में भी सुपरिचित दोभाषी साहित्य उन्नीसवीं सदी में प्रिंटिंग प्रेस के आने के साथ तेजी से विकास करने लगा लेकिन प्रमुखतः हिंदू मध्यवर्ग के साहित्य से इसकी सरणी बिलकुल अलग थी। किसी भी प्रकार के आधुनिकतावादी प्रभाव से यह अछूता बना रहता मीर मुसरफ हुसैन जैसे मुस्लिम नव मध्यम वर्ग से संबंधित लेखकों ने, जिन्होंने उन्नीसवीं सदी के अंतिम काल में लेखन कार्य शुरू किया, मुसलमानी बंगला के बनाम प्रामाणिक बंगाली भाषा रूप अपनाया। गुजरात में इन स्थितियों ने एक दूसरा ही मोड़ लिया। उन्नीसवीं सदी की प्रामाणिक गुजराती भाषा मुख्यतः नर्मदाशंकर जैसे हिंदू लेखकों की ही देन थी। इस क्षेत्र के फारसी और मुसलमान लेखकों ने इस भाषा को संवारने में कोई सचेत भूमिका नहीं निभाई। बल्कि अल्पसंख्यक समुदाय की साहित्यक ऊर्जा रोमांचक उपन्यासों और कथाओं तक सीमित नये फारसी-गुजराती रूपों और मुस्लिम-गुजराती साहित्य रूपों में संचारित हुई। महात्मा गांधी ने इन अलग-अलग साहित्यिक भाषाओं के आविर्भाव पर, और भाषिक स्वरूप पर इसके सांघातिक प्रभाव पर दुःख के साथ टिप्पणी की है। लेकिन वे यह कहने के लिए भी बाध्य हुए कि इन दो धाराओं की अपेक्षा असंभव थी: "वे गुजरात के ऐसे अप्रदूषित स्रोत नहीं हैं। गुजराती साहित्य का कोई भी समीक्षक इन साहित्यिक कृतियों के अस्तित्व की उपेक्षा नहीं कर सकता जिसको सैकड़ों की संख्या में फारसी और मुस्लिम पढ़ते हैं और जो उनके आचरण को भी अंशतः निश्चित रूप देती हैं।"

लगभग इसी समय रवींद्रनाथ टैगोर ने भी नये बंगाली के मुस्लिम लेखकों द्वारा अरबी, फारसी और उर्दू शब्द अपनाकर भाषा के इस्लामीकरण के भरपूर प्रयास पर आपत्ति उठाई भाषा के विरूपण का यह प्रयास जिसको 1750-1900 के बीच के पुराने मुसलमानी बंगला काव्यरूप से भिन्न माना जाना चाहिए, अंततः सफल नहीं हो पाया (यह रोचक तथ्य है कि आज के बंगलादेश में अपनाई गई बंगाली भाषा रवींद्रनाथ की भाषा के अधिक निकट है, उनके समकालीन मुस्लिम उलेमा (धार्मिक विद्वानों) द्वारा समर्थित भाषा की अपेक्षा)। लेकिन हिंदू मध्यवर्ग से बंगाल के निर्धन मुस्लिम समुदाय की दूरी ने इस भाषा रूप को उपरोक्त आलोचना के अधीन ला दिया। सुदूर दक्षिण और हिंदुस्तान में भी यही समस्या उभरी। ब्राह्मणों की संस्कृतनिष्ठ तमिल भाषा और ब्राह्मणेतर समुदाय की द्राविड़-निष्ठ तमिल के बीच ध्रुवीकरण सामने आया। "हिन्दुस्तान" की वर्नाक्यूलर भाषा का शुद्ध उर्दू और शुद्ध हिंदी रूपों में ध्रुवीकरण तो और भी सांघातिक था।

19.5 उर्दू और हिंदी का ध्रुवीकरण

हिंदुस्तान की वर्नाक्यूलर भाषा, हिंदुस्तानी अथवा हिंदी, जिसका उल्लेख मध्ययुग के अनेक शासक मुस्लिम अभिजन हिंदवी के रूप में करते हैं, पश्चिम में पंजाब-सिंध और पूर्व में बंगाल क्षेत्रों के बीच समूचे उत्तर भारत की प्रमुख संश्लिष्ट भाषा थी। इन मुस्लिम अभिजनों में से कइयों ने इस भाषा में काव्य रचना भी की। उदाहरण के लिये अकबर के दरबारी फैजी ने अनेक हिंदी पद्य रचनायें की थीं। ग्रियर्सन ने इसका वर्गीकरण विभिन्न मूल के चार विशिष्ट भाषा-समूह में किया था, जिसमें प्रत्येक के अंतर्गत अनेक उपभाषाएं आती it:

1) राजस्थानी—मेवाती, मारवाड़ी, जयपुरी, मालवी इत्यादि।
2) पश्चिमी हिंदी—बांगडू (हरियाणा), ब्रजभाषा (मथुरा), खड़ी बोली (दिल्ली और मेरठ) कन्नौजी (मध्य दोआब का निचला भाग), बुंदेली (बुंदेलखंड और नर्मदा घाटी का अधिकांश भाग), इत्यादि।
3) पूर्वी हिंदी—बैसवाड़ी, अथवा अवधी, बघेली, छतीसगढ़ी, इत्यादि।
4) बिहारी—मैथिली, भोजपुरी, मगही इत्यादि।

19.5.1 उर्दू भाषा का उद्भव और विकास

चूंकि दिल्ली सुल्तानों के समय से ही, दिल्ली क्षेत्र मुस्लिम सिपाहियों का मुख्यालय था, इस क्षेत्र और मेरठ की उपभाषा, खड़ी बोली, से ही फौजी छावनियों की सामान्य भाषा का विकास हुआ। तुर्की शब्द "उर्दू" का शाब्दिक अर्थ "छावनी-लश्कर" ही है। दक्खन क्षेत्र में मुस्लिम सैनिकों के प्रवेश के साथ ही इस लश्करी भाषा का प्रसार वहां भी हुआ। कालक्रम में हिंदुस्तानी क्षेत्र की सामान्य भाषा का एक साहित्यिक रूप "रेख्ता" अथवा "दक्खनी" भाषा के नाम से बीजापुर तथा गोलकुंडा की मुस्लिम राजशाहियों में उभरा। बहरहाल, मुगल साम्राज्य के अंतर्गत शासक समुदाय ने, जो बौद्धिक रूप से फारसी भाषा से जुड़े थे, लश्करों की भाषा में कोई रचना नहीं की। इसलिए यह उत्तर क्षेत्र की एक बोली ही बनी रही, इसमें कोई साहित्य नहीं रचा गया। अवधी और ब्रजभाषा ही हिंदुस्तान की उपभाषाएं थीं—जिनमें हिंदू और मुसलमान दोनों ही ने अधिकाधिक सक्रियता से काव्य रचना की। दिल्ली क्षेत्र की उपभाषा और लश्करों की भाषा को लिखित साहित्य एवं काव्य का स्वाभाविक माध्यम नहीं माना गया।

केवल फारसी भाषा को विद्वत चर्चा की भाषा मानने वाले मुगल साम्राज्य के अवसान के साथ ही स्थिति में परिवर्तन आया। दक्खनी में अपनी काव्य रचना के लिए विख्यात औरंगाबादवासी वली दक्खनी—1700 में दिल्ली आया। उस समय तक पहले केवल फारसी भाषा में रचना करने वाले दिल्ली के मुसलमान कवियों में अपनी एक वर्नाक्यूलर भाषा के पक्ष में रुझान बना चुके थे। फारसी भाषा के आधार पर उन्होंने इसका संवर्धन एवं परिष्कार शुरू किया। दिल्ली की खड़ी बोली, विशेषकर राजघराने से जुड़े दरबारियों नौकरों और सिपाहियों के बीच प्रयोग की जाने वाली बोली क्रमशः साहित्य-रचना की भाषा का रूप लेने लगी। कवियों और विद्वानों ने अभी तक अविकसित इस उपभाषा से अधिकांश अशिष्ट शब्द निकाल दिये और फारसी भाषा से अनेकानेक भाषित तत्व अपनाकर इसको समृद्ध बनाया। यह बात विरोधाभास पूर्ण है कि मातृभाषा के पक्ष में फारसी के विरुद्ध इस विद्रोह के कारण उर्दू और स्थानीय लोगों के बीच की दूरी कम होने के बजाए बढ़ गयी। अठारहवीं सदी के प्रथमार्द्ध के आरंभिक उर्दू कवि अपनी भाषा को कभी हिन्दी और कभी उर्दू की संज्ञा देते थे। इन दोनों के बीच विभेद अभी पूर्ण स्पष्ट नहीं हुआ था। इंशा अल्लाखान ने **रानी केतकी की कहानी** (1801) की रचना सरल एवं सामान्य हिन्दुस्तानी गद्य में की थी। अंग्रेजों के फोर्ट विलियम कालेज ने जब अप्रैल 1801 में इस भाषा के शिक्षण के लिए एक विभाग खोला, इसे हिंदुस्तानी विभाग का नाम दिया गया, जिससे उनका आशय उर्दू ही था। इस विभाग के अंतर्गत हिंदू जनसमुदाय से संपर्क के लिए ब्रजभाषा के शिक्षण का भी प्रावधान था। इसके अध्यक्ष गिलक्राइस्ट ने **हिन्दुस्तानी** (अर्थात् उर्दू) का मुस्लिम भाषा के रूप में और हिंदवी (अर्थात् हिन्दी) का हिंदू भाषा के रूप में स्पष्ट विभेद किया था। "हिन्दुओं का झुकाव स्वभावतः हिंदवी की ओर होगा, जबकि मुस्लिम निश्चय ही अरबी और फारसी का पक्ष लेंगे जिससे दोनों भाषा-शैलियां, दरबारी अथवा उच्च देशी अथवा पुरातन शैली उभरती हैं। हिंदुस्तानी के साथ उर्दू की समरूपता स्थापित करने का गिलक्राइस्ट का प्रयास समुचित नहीं था। जैसाकि ग्रियर्सन ने परवर्ती काल में "भारत का भाषा सर्वेक्षण" में संकेत दिया, हिन्दुस्तानी एक सीमित अर्थ में ऊपरी गंगा दोआब क्षेत्र की भाषा (खड़ी बोली) थी और एक व्यापक अर्थ में समूचे भारत की सामान्य भाषा थी। फारसी तथा देवनागरी दोनों ही लिपियों में लिखी जा सकने के कारण उर्दू की पहचान हिंदुस्तानी के एक विशेष रूप में बन गई, जिसमें फारसी के शब्द बहुतायत से आते हैं, जबकि हिंदी क्रमशः हिंदुस्तानी के ऐसे स्वरूप में परिवर्तित हो गई जिसमें संस्कृत शब्दों की बहुलता थी।

19.5.2 प्रामाणिक हिंदी का विकास

गिलक्राइस्ट ने अपने विभाग के दो भाषा मुंशियों, लल्लूलाल और सदल मिश्र को हिंदी में गद्यरचना का निर्देश देकर हिंदी के प्रामाणिकीकरण को प्रोत्साहन दिया। खड़ी बोली ने जिससे उर्दू भाषा भी निकली थी, वह आधार प्रदान किया जिसपर भाषा मुंशियों (उस समय के हिंदी पंडितों) को नये गद्य का विकास करना था। फोर्ट विलियम कालेज के पंडितों ने जिस भाषा की रचना की, वह दरअसल दिल्ली और मेरठ की उपभाषा का परिष्कृत-रूप मात्र नहीं थी, बल्कि यह एक नई साहित्यिक उपभाषा थी, उर्दू को अपना कर, इससे

फारसी एवं अरबी मूल के शब्द निकाल कर और उनके स्थान पर संस्कृत शब्दों की प्रतिष्ठा करके बनाई गई। गिलक्राइस्ट अरबी और फारसी शब्दों को वरीयता देता था, लेकिन परवर्ती काल में हिंदुस्तानी विभाग के अध्यक्ष बनने वाले प्राइस ने 1824 में इस बात पर बल दिया कि ''हिंदवी'' शब्द लगभग सभी संस्कृत से थे और—हिंदुस्तानी अथवा उर्दू शब्द अधिकांशतः अरबी और फारसी से। अंग्रेजों के निर्देशन में फोर्ट विलियम के हिंदी पंडितों ने एक संश्लिष्ट नई रचना, एक नई कृत्रिम भाषा की रचना की थी।

ग्रियर्सन ने प्रामाणिक अथवा उच्च हिंदी के प्रसंग में 1889 में यह मत सामने रखा ''समूचे उत्तर भारत में यह साहित्यिक गद्य रचना का मान्य माध्यम बन चुकी है, लेकिन चूंकि यह कहीं की भी स्थानीय भाषा नहीं थी, काव्य रचना के लिए इसका सफल प्रयोग नहीं किया जा सका है। श्रेष्ठतम प्रतिभाओं ने इतना प्रयास किया है लेकिन वे भी इसकी कमियां दूर नहीं कर पाये हैं। इस प्रकार वर्तमान उत्तर भारत साहित्य का निम्नलिखित विशिष्ट परिदृश्य सामने रखता है। इसकी काव्य रचना सर्वत्र स्थानीय, उपभाषाओं, विशेषकर ब्रज, बैसवाड़ी और बिहारी में होती है और इसका गद्य एक समरूप कृत्रिम उपभाषा में

देवनागरी का विकास

3. देवनागरी का विकास

लिया जाता है। यह गद्य-भाषा किसी भारत में जन्में व्यक्ति की मातृभाषा नहीं, बल्कि इस भाषा के आविष्कारकों की प्रतिष्ठा के कारण उन पर आरोपित हो चुकी है, इस तथ्य के फलस्वरूप कि इसमें लिखी गई आरंभिक पुस्तकें अत्यंत लोकप्रिय थीं और इसलिए भी कि यह अपने लिए ऐसा क्षेत्र पा सकीं जिसमें इनकी सर्वाधिक उपयोगिता थी।" प्रामाणिक हिंदी अपने काव्य-भंडार के साथ एक अधिक जीवंत भाषा बनी, लेकिन प्रक्रिया में समय लगा।

हिंदी और उर्दू के अधिकाधिक स्तरीकरण ने उनके बीच दूरी को पहले से और अधिक बना दिया। 1803 में हिंदी को उर्दू के समान ही दरबारी भाषा का स्तर मिल गया था, लेकिन 1837 में इस नियम को खत्म करके उर्दू को ही अदालत की भाषा रहने दिया गया। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में हिंदी और नागरी के पक्ष में आंदोलन से मुसलमानों और हिंदुओं के बीच तनाव की स्थिति बन गई। हिंदी और उर्दू, दोनों ही भाषाओं में अपनी उपन्यास-रचनायें करने वाले मुंशी प्रेमचंद ने अपने देहावसान के एक साल पहले दुःख के साथ लिखा था: "यह फोर्ट विलियम कालेज की ही करतूत थी कि एक ही भाषा की दो शैलियों को दो भिन्न भाषाओं के रूप में मान्यता दी गई। हम यह कहने की स्थिति में नहीं कि उस समय इस निर्णय के पीछे किसी प्रकार की राजनीति काम कर रही थी अथवा दोनों भाषाएँ पर्याप्त रूप से भिन्न पथ अपना चुकी थीं। लेकिन जिस हाथ ने हमारी भाषा को विकसित किया, उसने इस प्रकार हमारे राष्ट्रीय जीवन को भी खंड-खंड कर दिया।"

19.5.3 पंजाब पर प्रभाव

ये प्रतिफल हिंदुस्तान के क्षेत्रों तक ही सीमित नहीं रहे, बल्कि पंजाब तक फैल गये जहां इनका पंजाबी साहित्य के विकास पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। पंजाब के मुसलमान कवियों ने पूर्वकाल में पंजाबी भाषा में उत्कृष्ट काव्य रचनाएं की थीं। पंजाबी भाषा में हीर वारिस (1766) की रचना करने वाले वारिस शाह एक विशिष्ट उदाहरण है। पंजाब के प्रसिद्ध कवि मुहम्मद इकबाल ने भी अपनी आरंभिक कविताएं पंजाबी में लिखीं। उनके शिक्षक शमशुल-उलमा मीर हसन ने पंजाबी के बजाय उर्दू में लिखने की सलाह उन्हें दी। इकबाल उर्दू और फारसी भाषाओं में लिखने लगे और इस प्रकार उनकी अपनी ही मातृभाषा उनकी प्रतिभा के फलों से वंचित रह गई। सांप्रदायिक भेदभाव उग्र होने के साथ ही, पंजाबी, हिंदू हिंदी भाषा को और पंजाबी मुसलमान उर्दू भाषा को समर्पित हो गये।

MAADHYAM IAS
achieve your dream

बोध प्रश्न 1

1) मुगल राजसत्ता से ब्रिटिश वर्चस्व की ओर संक्रमण काल में भारतीय भाषाओं के विकास क्रम में आए मुख्य परिवर्तनों की संक्षेप में चर्चा कीजिए।

....

....

....

2) उपरोक्त अवधि में भारतीय भाषाओं का विकास क्या एक समरूप प्रक्रिया थी?

....

....

....

3) जिससे हिंदी और उर्दू दोनों विकसित हुई हैं, वह उपभाषा है:

i) कन्नड़

ii) असमिया

iii) खड़ी बोली

iv) मेवाती

19.6 विविधता में एकता

उपरोक्त विवरण के बावजूद आधुनिक भारतीय भाषाओं के विकास के अंतर्निहित स्वरूप का बोध उनकी आधारभूत एकता को ध्यान में रखे बिना नहीं किया जा सकता। जैसा जवाहरलाल नेहरू ने कहा था उनका मूल और संप्रेरण बहुत कुछ समान थे और वह बौद्धिक परिवेश भी जिनमें उनका विकास हुआ, एक जैसा था। उन सभी पर पाश्चात्य चिंतन का एक जैसा प्रभाव पड़ा था। विभिन्न मूलों वाली दक्षिण भारतीय भाषाएं भी—समरूप स्थितियों में विकसित हुई थीं। नेहरू के अनुसार, इनमें से प्रत्येक भाषा भारत के क्षेत्र विशेष की ही भाषा नहीं थी, बल्कि समूचे भारत की भाषा थी और इस देश के चिंतन, संस्कृति एवं विकासक्रम को उसके विविध रूपों में व्यक्त करती थी।

उन्नीसवीं सदी में स्तरीकृत अथवा उच्च रूपों के उदय के पहले और बाद के काल में भारत की विभिन्न भाषाओं के बीच गहन अंतःसंबंध का अक्सर बोध नहीं किया जाता। सिखों के दसवें गुरू गोविंद सिंह (1675-1708) ने अपनी कविताएँ मुख्यतः हिन्दी (ब्रजभाषा) में लिखीं, लेकिन फारसी और पंजाबी में भी उन्होंने रचना की। और फिर गुजराती साहित्य के पुरातन से नये रूप तक संक्रमण की अवधि के श्रेष्ठतम कवि दयाराम (1767-1852) ने दूर-दूर तक यात्राएं कीं, गोकुल, मथुरा, वृंदावन, काशी और अन्य प्रसिद्ध तीर्थस्थलों पर गये और हिंदी, संस्कृत तथा पुरातन गुजराती के रचनाकारों का अध्ययन किया। अपनी भाषा में लिखने के अलावा उन्होंने हिंदी, ब्रज, मराठी, पंजाबी, संस्कृत और उर्दू में काव्य रचना की।

प्रामाणिक भाषा रूपों के अभ्युदय के बाद भी उनके बीच अंतःसंबंध अधिकाधिक गहन बनता गया। समरूप पाश्चात्य प्रभावों के अधीन प्रत्येक भाषा में आधुनिक गद्य का विकास हुआ और प्रत्येक भाषा के उत्कृष्ट उपन्यासों का अध्ययन अन्य भाषाओं के उपन्यासकारों ने किया। बंकिम चंद्र चटर्जी ने एक आरंभिक आदर्श रूप प्रस्तुत किया और परवर्ती काल में शरतचंद्र चटर्जी की कृतियों का अनुवाद लगभग सभी भारतीय भाषाओं में हुआ और हजारों की संख्या में उनकी बिक्री हुई। एक परवर्ती उदाहरण थे रवींद्रनाथ टैगोर जो तमिल के सुब्रह्मण्यम भारती, मलयालम के कुमार आसान और हिंदी के छायावाद से जुड़े व्यापार विविधता वाले कवियों के प्रेरणास्रोत बने।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

19.7 गद्य रूपों का विकास

वर्नाक्यूलर भाषाओं के मध्यकालीन लेखकों का मुख्य प्रभाव काव्य रचना के क्षेत्र में ही था। इसका आशय यह नहीं कि इस अवधि में गद्य का पूर्ण अभाव था। द्रविड़ भाषाओं में गद्य-लेखन की सुदीर्घ और निरंतर परंपरा थी। कुछ भारत-आर्य भाषाओं में भी साहित्यिक गद्य के छुटपुट नमूने मिलते हैं। लेकिन बंगाली, उड़िया, मैथिली, सिंधी इत्यादि में गद्य-साहित्य लगभग था ही नहीं। कुछ अपवादों के अलावा, उत्तर भारत की भाषाओं में लिखित गद्य के अंश मात्र मिलते हैं।

19.7.1 आरंभिक गद्य रूपों के उदाहरण

भारत-आर्य स्थानीय भाषाओं के गद्य-साहित्य का **स्पष्टतम** रूप ऐतिहासिक, विवरणों के रूप में मिलता है। वे भी कुछेक भाषाओं में ही मिलते हैं: उसमें जनसमुदाय के बुरंजी (असम और परवर्ती काल में असमिया में) (पुरानी किस्म की मराठी में) मराठाओं के बखार और मिश्रित हिंदी, पंजाबी में) सिखों की जनम सातियां ऐसे गद्य रूप हैं। राजपूताना की वीर गाथा रचनाएं पद्य में थी, लेकिन मारवाड़ी में एक अद्वितीय गद्य कृति भी मिलती है। यह थी जोधपुर के महाराजा जसवंत सिंह के मंत्री महंत नयमासी द्वारा सत्रहवीं शताब्दी में संकलित और राजपत्रक। यह विवरण महंत नयमासी री ख्यात के नाम से सुपरिचित है, जिसमें सभी प्रमुख राजपूत वंशों का इतिवृत्त मिलता है। इनसे ही संबंधित है जोधपुर राज्य का राजपत्रक, मारवाड़ रा परगनम री विगत, जो एक वैज्ञानिक तथा सांख्यिकीय ग्रंथ

है, जिसका अभिकल्पन इसके पहले की सदी के अबुल फजल के प्रसिद्ध आइन-ए-अकबरी से प्रेरित है।

बुरंजी, बखार, जनमसाखी और ख्याता का गद्यरूप बहुत गूढ़ प्रकार का है। इन गद्य रूपों में कभी-कभार मौलिकता की चमक मिलती है, लेकिन आधुनिक वैज्ञानिक विचारों की अभिव्यक्ति में वह पूर्व अक्षम था।

द्रविड़ भाषाओं के गद्य साहित्य का सुदीर्घ इतिहास और अधिक व्यापक चरित्र था। इन भाषाओं के पुराने साहित्य का एक विशिष्ट रूप था चंपू पद्य और गद्य का यह मिश्रित रूप संस्कृत साहित्य में भी सुपरिचित था। इसके साथ ही सीधा-सरल गद्य साहित्य भी था। कुछ उदाहरण ये हैं:

i) तमिल की क्लासिकीय काव्यकृतियों, सिलप्पतिगारम पर तमिल टीकाएं, कुछेक अपवादों के साथ, सुगठित, प्रांजल गद्य में थीं। ये गद्य-टीकाएं अतीत में आठवीं सदी तक पाई जा सकती हैं, और उनका अस्तित्व इनसे भी पहले माना जा सकता है।

ii) कन्नड़ भाषा के वचन में सरल, अनलंकृत गद्य में वीरशैव उपदेशों की शिक्षाएं मिलती हैं जिनका आरंभ बारहवीं सदी से पाया जाता है। वह समतावादी सामाजिक संदेशों वाला लोकप्रिय धार्मिक आंदोलन था जो समकालीन कर्नाटक के लिंगायत समुदाय का आधार बनता है। इनके प्रवर्तक बासवन्ना के वचन के कुछ उदाहरण यहाँ हैं: "मैं उस दुलहन की भाँति हूँ जिसने शरीर पर सुगंधित तेलों का लेप किया है, अत्यंत भव्य परिधान पहने और अति सुंदर आभूषण धारण किए हुए हैं, लेकिन जो अपने पति का हृदय अपने वश में नहीं कर पाई है।

iii) विजयनगर साम्राजय के पराभव के बाद बिखर से गये तंजोर, मदुरा और पुटुकोट्टै के तमिल शासक समुदाय ने सरल तेलुगु भाषा में काव्य-साहित्य के विकास पर विशेष ध्यान दिया। "दक्षिण परंपरा" के तेलुगु कवियों ने अपनी-अपनी काव्यकृतियों के समान ही गद्य-रचनाओं में भी गौरव का भाव दिखाया। अठारहवीं सदी में मदुरा के कवि समुख वेंकट कृष्णाप्पा ने अपना गद्य-कृति जैमिनि-भारत की कलाकृति की संज्ञा दी, जिसको उसकी सुप्रसिद्ध काव्य रचना सारंगधर जैसा ही महत्वपूर्ण माना जाना चाहिए।

iv) अंत में हम पांडिचेरी के फ्रांसीसी शासक के दीवान आनंद रंगपिल्लै की प्रभापूर्ण तमिल डायरी का उल्लेख करेंगे जिसे उसने 1736 में लिखना आरंभ किया। यह उच्च तमिल गद्य से भिन्न ठेठ भाषा में लिखी जीवंत कृति है। यह वाणिज्य-जीवन की कथाओं वाणिक-कथाओं और फ्रांसीसी बस्तियों की जीवन विधि के विवरणों से परिपूर्ण है।

MAADHYAM IAS

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट होगा कि आधुनिकता के आरंभ से पहले ही तमिल, कन्नड़ और तेलुगु गद्य समुचित रूप से व्यापक बन चुका था। फिर भी, उन्नीसवीं सदी में इन भाषाओं में विकसित होने वाला गद्य अत्यंत भिन्न था और उपरोक्त प्रतिरूपों पर आधारित नहीं था। कुल मिलाकर, भारत की स्थानीय भाषाओं के नये गद्य ने एक सुविकसित स्तर प्राप्त कर लिया जिसमें वैज्ञानिक, विवेकसम्मत विचारों की समुचित अभिव्यक्ति संभव थी। इस नये गद्य ने भारतीय संस्कृति और पाश्चात्य संस्कृति के सम्मिलन की प्रक्रिया को भी अभिव्यक्ति दी।

19.7.2 पाश्चात्य प्रभावों का आरंभ

वर्ष 1800 को सुनीति कुमार चटर्जी ने भारतीय भाषाओं में गद्य लेखन के विकास में केंद्रीय महत्व का माना है। सीरामपुर के बाप्टिस्ट मिशन कालेज और कलकत्ता के फोर्ट विलियम कालेज में संयुक्त रूप से अनेक आधुनिक भारतीय भाषाओं में मुद्रित गद्य-साहित्य लाना शुरू किया।

यह ध्यान देने की बात है कि इस समय से पहले भी—विशेष कर दक्षिण भारत में गद्य रचना एवं मुद्रण से संबंधित, कैथोलिक मिशनरियों के क्रियाकलाप की सुदीर्घ, यद्यपि छुटपुट, परंपरा मिलती है। पुर्तगाली नाविकों तथा व्यापारियों के अभियानों के क्रम में आने वाले जेस्यूट मिशनरियों ने गोवा में 1566 में पहला प्रिंटिंग प्रेस चालू किया। दक्षिण के दो

सर्वाधिक महत्वपूर्ण मुद्रण प्रतिष्ठान अवलक्कुड (1679) और त्रांकबार (1712-13) में स्थापित हुए। सोहलवीं, सत्रहवीं और अठारहवीं सदियों में कैथोलिक मिशनरियों द्वारा तमिल, तेलुगु, कन्नड़ और मलयालम भाषाओं में मुद्रित पुस्तकों की बाढ़ सी आ गई। उन्होंने बाइबिल का अनुवाद करवाया, ईसाई आदिग्रंथों की रचना की और द्रविड़ भाषाओं में व्याकरण तथा शब्दकोशों का संकलन किया। 1700 में केरल में आने वाले फादर आर्नोस को तो विशेष रूप से याद किया जाता है, जो मूलनिवासियों की भांति ही मलयालम बोल सकता है। उसने मलयालम भाषा में ईसाई धर्म संबंधी विषयों पर मेसिया चरितम जैसी लंबी कविताएं लिखीं। मलयालम व्याकरण तथा शब्दकोश भी उसने बनाया जो अब अप्राप्य है। कैथोलिक मिशनरी गतिविधियों का सर्वाधिक आकर्षित प्रतिफल था दो स्थानीय ईसाइयों—मलप्पन और उसके शिष्य कथनार की सृजनात्मक मलयालम गद्य कृतियां। 1778 में उन्होंने रोम की यात्रा की। मलप्पन में सामाजिक समस्याओं का अनुशीलन करने वाली पहली मलयालम गद्यकृति वेदतर्क्कम (धर्म का तर्क शास्त्र) लिखी। कथनार ने वर्तमान पुस्तकम नामक एक अधिक रोचक कृति की रचना की जो केप आफ गुड होप, ब्राजील और पुर्तगाल के जटिल मार्गों से होते हुए उनकी कष्टसाध्य यात्राओं और रोम में सफल प्रवेश का विवरण है। बहरहाल, द्रविड़ भाषाओं में कैथोलिक मिशनरी प्रयासों का कोई स्थायी प्रभाव नहीं बना, वह एक अलग-थलग सा बना रहा।

यह भी ध्यान में रखने की बात है कि बंगाली गद्य लेखन की दिशा में पुर्तगाली मिशनरियों के लघुतर प्रयास भी हुए थे, लेकिन बंगाली साहित्य पर कोई प्रभाव छोड़े बिना वे विलीन हो गए। भारतीय गद्य साहित्य पर सुव्यवस्थित पाश्चात्य प्रभाव 1800 के पहले नहीं मिलता। इसी वर्ष में एक महत्वपूर्ण संयोग मिलता है एक तो उत्तर भारत के पहले प्रिंटिंग प्रेस सीरामपुर के बाप्टिस्ट मिशन प्रेस की स्थापना इसी वर्ष हुई। दूसरे ईस्ट इंडिया कंपनी के अधिकारियों को भारतीय भाषाओं की शिक्षा देने के लिए वेलेजली ने फोर्ट विलियम कालेज की स्थापना की। अपने प्रशासन की अवधि में समूचे भारत में कंपनी के क्षेत्रों के प्रसार की दृष्टि से यह कार्यभार और आवश्यक बन गया था।

सीरामपुर बाप्टिस्ट प्रेस में समर्पित मिशनरी कार्यकर्ता विलियम केरी ने बाइबल के अनुवाद के लिए भारतीय विद्वानों को नियुक्त किया—बंगाली के लिए रामराम बासु असमिया के लिए आत्माराम शर्मा, मराठी के लिए वैजनाथ शर्मा इत्यादि को। बाप्टिस्ट मिशन प्रेस ने मुद्रण के लिए बंगाली, नागरी, फारसी, अरबी और अन्य लिपियों का प्रयोग किया। 1801 और 1830 के बीच इसने असमिया, बंगाली, गुजराती, तमिल और तेलुगु समेत लगभग 50 भाषाओं में मुद्रण कार्य संपन्न किया।

MADHYAM IAS
way to achieve your dream

फोर्ट विलियम कालेज में विलियम केरी और जान गिलक्राइस्ट क्रमशः बंगाली और हिंदुस्तानी विभागों के अध्यक्ष बने। उनके अधीन इन भाषाओं तथा अन्य भाषाओं में शिक्षण तथा लेखन कार्य के लिए अनेक भारतीय मुंशी थे। गिलक्राइस्ट ने, जिसका विभाग भारत की सामान्य भाषा का शिक्षण देने के नाते अधिक महत्वपूर्ण माना जाता था, हिंदी शब्दकोश (1802) की रचना की। एक अधिक प्रखर शिक्षक सिद्ध होने वाले केरी ने बंगाली, मराठी, पंजाबी, तेलुगु और कन्नड़ भाषा के व्याकरणों की रचना की। कालेज की प्रकाशन योजना का सर्वाधिक महत्वपूर्ण भाग था विभिन्न भाषाओं के शिक्षण के लिए मुंशियों द्वारा पाठ्यपुस्तक लेखन। ऐसे पर्याप्त पाठ्य न होने के कारण यह एक मौलिक प्रयास ही था और नये गद्य को स्वरूप देने की दिशा में पहला महत्वपूर्ण कदम एक संक्षिप्त कार्यकाल में कालेज को पाठ्यपुस्तक प्रकाशन योजना के अंतर्गत उर्दू में 20 पुस्तकें, हिन्दी में 8, बंगाली में 13, और मराठी में 4 पुस्तकें निकलीं। इस सूची के अंतर्गत रामराम बासु की रचना प्रतिपादित्य चरित्र (1801, बंगाली, एक योद्धा हिंदू जमींदार की जीवनी), मीर अमान की पुस्तक बाग-ओ-बहार (1801, उर्दू, चार दरवेशों की अद्भुत साहित्यिक कार्यों की गद्य-गाथा), लल्लूलाल की पुस्तक प्रेमसागर (1802 के आसपास, हिन्दी, भागवत पुराण का गद्य रूपांतर) आती हैं। चुने गये विषयों के अंतर्गत आख्यान, इतिहास, जीवनी-प्रसंग, पत्राचार, यात्रावृत्त और लोकोक्तियां आती हैं।

समग्रता में इन व्याकरण संबंधी पुस्तकों और गद्य-कृतियों का स्वरूप कृत्रिम था और भावी साहित्य पर उनका कोई स्पष्ट प्रभाव नहीं पड़ा। स्वतः स्फूर्त साहित्यिक रचनाओं का आरंभ बाद में हुआ जिसका बाप्टिस्ट मिशनरियों और फोर्ट विलियम कालेज के मुंशियों के कार्यों से कोई प्रत्यक्ष संबंध नहीं था। इन नये विकास-रूपों का संबंध कलकत्ता और बंबई

जैसे महानगरों में अंग्रेजी स्कूल-कालेजों की स्थापना, वर्नाक्यूलर प्रेस के विकास पाठ्यपुस्तक संस्थाओं तथा प्रबुद्ध एवं साहित्यिक संगठनों के उभार से था।

इस नये गद्य साहित्य रूपों में प्रथम, बंगाली, साहित्य, हिंदू कालेज (1817) और कलकत्ता बुक सोसाइटी (1817) जैसे संस्थानों के बढ़ते प्रभाव, समाचार दर्पण (1818), संवाद कौमुदी (1821) और समाचार चंद्रिका (1822) जैसे अखबारों के प्रचार-प्रसार, तथा राममोहन राय, ईश्वरचंद्र विद्यासागर, रवींद्रनाथ टैगोर और अक्षयकुमार दत्त जैसे लोगों के गंभीर लेखन कार्य का परिणाम था। अलीगढ़ के सैयद अहमद खान द्वारा स्थापित आंग्लो-मोहमडन ओरियंटल कालेज (1877) ने उर्दू गद्य लेखन के एक नई गतिशील समुच्च्य की रचना की, जिसके अंतर्गत नजीर अहमद, शिबली नुमानी और हाली की कृतियाँ आती हैं। बंगाली और उर्दू भाषा के सापेक्ष विकास में समय का अंतर पाश्चात्य प्रभावों की भिन्न गति के कारण था, नये बंगाली गद्य-साहित्य का पल्लवन पुष्पन 1815-1865 के बीच हुआ था, जबकि नये उर्दू साहित्य गद्य को संवेग मिला उन्नीसवीं सदी के आठवें दशक में। इसी अवधि में मराठी गद्य ने भी--आधुनिक स्वरूप ग्रहण किया, जो बंबई के एलफिंस्टन कालेज (1835) जैसे संस्थानों की स्थापना, दर्पण (1831), दिग्दर्शन (1841), प्रभाकर, 1842) और ज्ञान प्रकाश (1845) जैसे प्रकाशनों के प्रचार-प्रसार का परिणाम था। मराठी गद्य को अंतिम क्लासिकीय परिष्कार मिला विष्णुशास्त्री चिपलुंकर (1874) की निबंधमाला से। द्रविड़ भाषाओं में मलयालम ने ही पश्चिम के प्रभावों को सर्वाधिक गतिशील चुनौती दी। मलयालम के नये गद्य साहित्य को संवारने का श्रेय उन्नीसवीं सदी के आठवें-नवें दशक में भावनकोर की पाठ्यपुस्तक समिति के लिए केरल वर्मा द्वारा लिखी गई पाठ्यपुस्तकों, और केरल मित्रम (1860), केरल पत्रिका (1885) और मलयाली (1886) जैसे समाचार पत्रों को जाता है।

19.8 परिणाम

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

भारतीय भाषाओं के विकास के आधुनिक भारतीय इतिहास के लिए महत्वपूर्ण प्रतिफल थे। उनका सारांश निम्नांकित रूप में दिया जा सकता है।

i) प्रामाणिक वर्नाक्यूलर भाषा-रूपों के विकास से सामाजिक नेतृत्व शिक्षित मध्य वर्ग के हाथों में आ गया क्योंकि इस नये वर्ग ने ही प्रत्येक स्थानीय भाषा में प्रामाणिक भाषा-रूप की रचना की थी। इस प्रकार मध्यम वर्ग आधुनिक भारत के सामाजिक-सांस्कृतिक आंदोलनों और परवर्ती काल में राजनीतिक आंदोलनों के नेतृत्व पर भी अपना नियंत्रण कर पाया।

ii) उपरोक्त विकास-प्रक्रिया के साथ ही, मध्यमवर्ग से ही संबंधित प्रामाणिक भाषा-रूपों के विकास ने इस वर्ग तथा बोलचाल की उपभाषाओं और लोक साहित्य से जुड़े भारतीय जनसमुदाय के बीच दूरी और बढ़ा दी।

iii) भाषिक विकासक्रम में भी विभेद देखने को मिलता है, जिससे विभिन्न, हिंदू, मुसलमान, सिख, फारसी इत्यादि समुदायों के बीच—विभेद और उग्र बन गये।

iv) एक शिक्षित मध्यम वर्ग का उभार हम पढ़ते हैं जो अपने कार्य-विस्तार की दृष्टि से अखिल-भारतीय था। इस वर्ग के अधीन नया वर्नाक्यूलर गद्य-रूप विवेक सम्मत, वैज्ञानिक चिंतन का माध्यम बना। समाचार पत्र और जनमत उभर कर आये और गद्य साहित्य के माध्यम से प्रबुद्ध विचारों के विकास ने आधुनिक राष्ट्र के निर्माण की आवश्यक पृष्ठभूमि बनाई।

बोध प्रश्न 2

1) भारतीय भाषाओं के विकास में पाश्चात्य प्रयासों का क्या प्रभाव था?

....

....

....

....

....

2) भारतीय भाषाओं के विकास ने राष्ट्रीय आंदोलन के विकास को किस प्रकार प्रभावित किया ?

....

....

....

....

....

19.9 सारांश

इस इकाई के अंतर्गत आपने देखा:

- मुगल राज्य से ब्रिटिश शासन की ओर संक्रमण के काल में भारतीय भाषाओं, विशेषकर वर्नाक्यूलर, को समरूप मुद्रण-लिपि और नये साहित्य रूपों से लाभ मिला।
- भारतीय भाषाओं के इस विकास पर विभिन्न वर्गों और समुदायों द्वारा प्रयोग किये जाने वाले भाषा-रूपों के ध्रुवीकरण ने भी छाप छोड़ी।
- उपरोक्त ध्रुवीकरण के बावजूद, जिस प्रक्रिया के अधीन इन भाषाओं का विकास हुआ, उसने भाषाओं को एक सीमा तक एक समता प्रदान की।
- विभिन्न विकास-रूपों के बावजूद भारतीय भाषाएं उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में राष्ट्रीय आंदोलन के उभार में संप्रेषण का महत्वपूर्ण माध्यम सिद्ध हुई।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

19.10 शब्दावली

वर्नाक्यूलर: स्थान विशेष पर सबसे अधिक बोली जाने वाली भाषा।

क्लासिकीय भाषा: पुरा काल में प्रयुक्त भाषा-रूप, जिसका वर्तमान में प्रयोग केवल औपचारिक लेखन के लिए ही किया जाता है।

डायलेक्ट: समुदाय विशेष द्वारा, अथवा क्षेत्र विशेष में प्रयुक्त भाषा का अविकसित रूप।

19.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) देखें भाग 19.2

2) देखें उपभाग 19.3.3

3) iii)

बोध प्रश्न 2

i) देखें उपभाग 19.7.2

ii) देखें भाग 19.8

इकाई 20 भारतीय भाषाओं का साहित्य

इकाई की रूपरेखा

20.0 उद्देश्य
20.1 प्रस्तावना
20.2 प्राचीन भारत की काव्य परंपरा
20.3 प्राचीन कविता का अंत
  20.3.1 उर्दू कविता
  20.3.2 अन्य भाषाएं
20.4 नई कविता
20.5 नाट्य-कला का विकास
  20.5.1 पाश्चात्य प्रभाव
  20.5.2 परिपक्वता
20.6 उपन्यास की उत्पत्ति
  20.6.1 नए वृत्तांत
  20.6.2 बंकिम युग
20.7 सारांश
20.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

20.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप जानकारी प्राप्त करेंगे :

- अठारहवीं शताब्दी के दौरान भारतीय साहित्य की प्रकृति के बारे में,
- किस प्रकार यह साहित्य अपनी ताज़गी और ओजस्विता खो रहा था, इस विषय में,
- इस साहित्य को एक नवीन संवेग मिलने के बारे में, और
- इस नवीन संवेग के अंतर्गत भारतीय साहित्य के नए रूपों के विकास के संबंध में।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

20.1 प्रस्तावना

आधुनिक भारत में भाषा के विकास को इकाई 19 में दर्शाया गया है। यहां आधुनिक भारतीय भाषाओं में साहित्य के विकास का विवेचन किया जाएगा। भारत की प्रत्येक मुख्य बोलियों (देशी-भाषाओं) में से प्रत्येक में एक मानकीकृत भाषा का विकास एवं साथ ही देशी बोलियों में गद्य-लेखन की विकसित भाषा के उद्‌भव का, भारतीय साहित्य के क्रम-विकास पर छिद्रान्वेषी प्रभाव पड़ा। इसी सीधे शब्दों में इस प्रकार कह सकते हैं कि भारत की देशी भाषाओं में साहित्य प्राचीन से नूतन की ओर विकसित हुआ।

अठारहवीं शताब्दी में भारत की देशी भाषाओं का कोई विकसित गद्य-साहित्य नहीं था। विस्तृत साहित्य था जरूर परंतु लगभग यह छंद (पद्य) शैली में था। इस प्राचीन काव्य-साहित्य पर परंपरागत मनोवृत्ति की छाप थी। भारतीय साहित्य पर आंग्ल-साहित्य का प्रभाव उन्नीसवीं शताब्दी में महसूस किया जाने लगा। इसके दो मुख्य नतीजे निकले। पहला, एक नई प्रकार की कविता का विकास हुआ जिसमें आंग्ल कविता के कई नए रूपों का समावेश था। दूसरा, एक प्रचुर गद्यात्मक-साहित्य का आविर्भाव हुआ, जिसपर नए युग और आधुनिक मनोवृत्ति की मुहर थी। इन प्रवृत्तियों को समझने के लिये हम इस इकाई की समय सीमा को थोड़ा सा लांघ सकते हैं।

20.2 प्राचीन भारत की काव्य परंपरा

उन्नीसवीं शताब्दी भारत में पाश्चात्य-साहित्य और आंग्ल-साहित्य के प्रभाव-स्वरूप एक नवीन काव्य शैली का उद्भव हुआ। यह इसके ठीक पहले मुगलों के पतन एवं अंग्रेज़ों के विस्तारवादी अशांत काल की काव्य परंपरा से स्पष्टत: भिन्न थी। तथापि, इस तथ्य पर गौर किया जाना चाहिए कि भक्ति युग एवं सूफीवाद के भक्तिमय साहित्य का, जो पहले ही समृद्धि पा चुका था, आधुनिक भारत के कवियों पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा।

प्राचीन सूफी और भक्ति काव्य में प्रियतम को ईश्वर के समकक्ष देखा और समझा गया है। परंतु भक्तिमय काव्य अठारहवीं शताब्दी की विशिष्टता नहीं थी, जिस पर एक शृंगारात्मक-काव्य की अत्यधिक रूढ़िगत शैली का प्रभाव था। तथापि, यहां-वहां उस अशांति के युग में भी हम कुछ महान सूफी और भक्ति कवियों तथा गायकों को पाते हैं: सिंध में, भीट के शाह अब्दुल लतीफ; पंजाब में वारिस शाह; दक्षिण में तेलुगु रचयिता त्यागराज जिसने अपनी हज़ारों भक्तिपूर्ण रचनाओं को अद्वितीय कर्नाटक संगीत के लिए कम्पोज किया।

भीट के सूफी संत शाह अब्दुल लतीफ और उनके पंजाबी समकालीन वारिस शाह ने अपने प्रदेशों की हिन्दू लोक-कथाओं, सासुई और पुनध्न तथा हीर और रांझा की प्रेम-कहानियों का एक गूढ़ सूफी अर्थ प्रस्तुत किया। इस प्रकार उन्होंने श्रेष्ठ प्राचीन ग्रंथ दिए, जो शाह अब्दुल लतीफ (मृत्यु 1752) के रिसाल्सो और हीर-वारिस (1766) के नाम से जाने जाते हैं। दोनों ने ही लोकप्रिय प्रेम-कथाओं की गहन कारुणिकता का सहज भाव से सूफी-प्रचार के लिए प्रयोग किया।

हीर रांझा की कथा एक विवाहेतर संबंध पर आधारित है। मुखिया की बेटी हीर को चरवाहे रांझा से उसके परिजन बलपूर्वक अलग कर देते हैं एवं एक ऐसे व्यक्ति से उसका विवाह किया जाता है, जिसमें उसकी रुचि नहीं है। उसका जोगी की भांति मैदानों में घूम रहे अपने प्रियतम से निरंतर लगाव का अत्यंत दु:खद अंत होता है। वह अपने परिजनों के हाथों ही मारी जाती है और जब यह खबर रांझा को मिलती है तो वह एक लम्बी सांस भरता है और उसकी आत्मा भी शरीर छोड़ देती है। लेकिन जहां तक वारिस शाह का संबंध है, उनकी आत्माएं स्वर्ग में हमेशा के लिए एक हो चुकी हैं। उनका मानना है कि इस दुनिया में सच्चा-प्रेम, सूफी के ईश्वर के साथ संयोजन (मिलाप) का प्रतीक है।

MADHYAM IAS

शाह अब्दुल लतीफ ने सिंध की कई लोक-कथाओं को अपनी कल्पना से नया रूप दिया। इनमें से झुलसाने वाले रेगिस्तान की पृष्ठभूमि में चित्रित सासुई और पुनध्न की कारुणिक प्रेम-कथा सिंधवासियों में सर्वाधिक लोकप्रिय है। शाह अब्दुल लतीफ द्वारा इस सुप्रसिद्ध प्रसंग का निरूपण तब प्रारंभ होता है जब सासुई के पति, बलुचिस्तान के पुनध्न नामक अजनबी को सासुई के परिजनों द्वारा गुप्त रूप से रात्रि में द्रुतगामी ऊँटों द्वारा भगा लिया जाता है। अपने पति की खोज में प्रेमिका अकेले ही सिंध के पथविहीन रेगिस्तान और बलुचिस्तान की अनावृत्त पहाड़ियां पार करती है। रेत के टीलों के मध्य उसका जीवन एक ऐसी तलाश में समाप्त होता है जो शाह अब्दुल लतीफ के शब्दों में एक समर्पित व्यक्ति द्वारा खुदा की अथक खोज के बराबर है। रेत के टीलों में अंतिम रूप से लुप्त होने से पूर्व गीत के ये बोल, शाह अब्दुल लतीफ, उस प्रियतमा से बुलवाता है:

> मिलन हो न सका मेरे प्रेमी से, यद्यपि
> हो गया सौ सूर्यों का अस्तगमन,
> जीवन अर्पण कर दूं मैं अपना, यदि
> मिल सकूं उससे, कि यात्रा मेरी सफल हो।

शाह अब्दुल लतीफ, सासुई द्वारा अंत तक के लगातार संघर्ष में सूफी के स्वयं व ईश्वर के मध्य भेद को मिटाने के कठिन रास्ते का संघर्ष देखते हैं। परंतु, वे और उनके समान अन्य कवि उस अशांत युग में लगभग अपवादस्वरूप माने जा सकते हैं। अठारहवीं शताब्दी और उन्नीसवीं शताब्दी का प्रारंभिक काल अधिकांश भारतीय भाषाओं में पारंपरिक (रूढ़िगत) कविता से प्रभावित रहा है, जो गहन समर्पण से प्रेरित न होकर प्रतीकवादी शृंगारिकता से ही प्रेरित था।

20.3 प्राचीन कविता का अंत

मुगल साम्राज्य के पतन के साथ उत्पन्न सामाजिक संकट का उस युग के साहित्य पर गहरा प्रभाव पड़ा। उत्तरी और दक्षिणी भारत की लगभग सभी मुख्य भाषाओं के साहित्य में प्रतीकवादी भाव व्याप्त था, जब तक कि पश्चिम के प्रभावस्वरूप नवीन गद्यों और कविता का आगमन न हुआ। ऐसा उर्दू काव्यात्मक साहित्य के संदर्भ में विशेष रूप से कहा जा सकता है, जो अठारहवीं शताब्दी में अस्तित्व में आया। दिल्ली में 1700 ई. के लगभग इसकी शुरुआत से ही, इसने गंभीर नैतिक संकट के संकेत दिए, जिसमें उर्दू-कविता को संरक्षण देने वाले अभिजातवर्गीय मुस्लिम समाज के दुर्भाग्यों की ओर इशारा था।

20.3.1 उर्दू कविता

इस युग की एक विशिष्टता कविता की एक उर्दू-शैली थी, जिसे शहर-ए-आशोब (शहर का मातम) कहा जाता था। इसमें एक कस्बे के सभी व्यवसायों के ह्रास (मंदी) और बुराई की अच्छाई पर विजय का वर्णन रहता था। विशेष रूप से इसमें चीज़ों की मौजूदा व्यवस्था को उलटने (इंकलाब) तथा पूर्व अमीरों का नए-अमीरों द्वारा तख्ता पलटने का जिक्र होता है। उल्लेखनीय है कि शहर-ए-आशोब में प्रयुक्त शब्द ''इंकलाब'' का मतलब क्रांति के सृजनशील सामर्थ्य से नहीं था, बल्कि चीज़ों की एक सही व्यवस्था को उलटने की प्रक्रिया से था। अठारहवीं शताब्दी के पटना के उर्दू-शायर रसिख ने अफसोस ज़ाहिर करते हुए कहा, हर चीज़ ''अस्त-व्यस्त हो गई है''। उसे ऐसा महसूस हुआ कि मुगल घुड़सवार योद्धाओं का पूर्व शासक-दल ''गरीबी से इतना परेशान है कि उनका किसी एक मिट्टी के घोड़े पर भी प्रभुत्व नहीं है। दिल्ली के एक और उर्दू शायर, सौदा ने (1713-1780), जो दिल्ली पर ईरानी, अफगानी और मराठों के आक्रमण के समय यहीं थे, अपनी शहर-ए-आशोब में उन घरों का जिक्र किया, जो कभी संगीत से प्रफुल्लित थे और जहां अब गधों के रेंकने की आवाज़ें आती थीं, लावारिस मस्जिदें थीं जहाँ ''प्रेतों की रोशनी'' के अलावा कोई रोशनी नहीं थी। उसने एक कसीदें में उस क्षीण घोड़े की हंसी उड़ाई जिसपर सवार होकर एक दरिद्र मुगल योद्धा मराठों से लड़ने चल पड़ा। साईस ने उसे धान का थैला दिखाया, नौकर ने इसे पीछे से एक लाठी से पीटा, जबकि भीड़ में से किसी ने सलाह दी, ''इसके पहियें लगा दें, या फिर इसे आगे बढ़ाने को इसके पाल बांध दें।'' जब युद्ध प्रारंभ होने ही वाला था, योद्धा ने अपने जूते हाथ में लिए, घोड़े को अपनी बगल में दबाया और शहर में अस्त-व्यस्त तब तक दौड़ा जब तक कि उसे अपना घर नहीं मिला।

MADHYAM IAS
way to achieve your dream

शराब और साकी (तवायफ के लिए एक शिष्ट-कथात्मक शब्द) की अवधारणा उस युग की उर्दू कविता से जुड़ी हुई थी। पतनोन्मुख अभिजात्य समाज की भोग-विलासिता, अय्याशी और कामुकता का प्रतिबिंबन दिल्ली और लखनऊ की उर्दू-शायरी में तवायफ के प्रतीक की प्रधान्यता से स्पष्ट होता है। आत्माओं के मिलन की अवधारणा से संतुष्ट न होकर कवि (शायर) ने प्रियतम के साथ ऐंद्रिक संबंधों की कल्पना की, जैसा कि निम्नलिखित पंक्तियों से स्पष्ट हो जाता है, जिन्हें मुर्शिदाबाद के मुगल दरबारी के एक पुत्र और बंगाल में अंग्रेज़ी कब्ज़े के बाद लखनऊ विस्थापित होने पर मजबूर इंशा अल्लाह खान ने रचा था।

> झिड़की सही, अदा सही, चीने जबीं सही
> सब कुछ सही पर एक 'नहीं' की नहीं सही

अब प्रियतम प्रतीक के तौर पर ईश्वर के लिए न होकर तवायफ के लिए प्रयुक्त होना जाने लगा। यह इंशा अल्लाह खान ने स्पष्ट कर दिया:

> यूं ही नहीं, अचानक शेख हुआ परेशान
> जब मिला मैं उससे अपने यार की महफिल में

अठारहवीं शताब्दी के दूसरे भाग में लखनऊ में प्रेम जैसा कि इंशा अल्लाह खान और अन्य उर्दू कवियों ने वर्णन किया है, एक मनोरंजन का साधन था, एक परिष्कृत और सुसंस्कृत दरबारी का कौशल जो भावनाओं में विश्वास नहीं करता था। उस युग की हिंदी कविता में भी समान लक्षण विद्यमान थे। जयपुर के वैभवशाली दरबार में पद्माकर भट्ट (1753-

1833) द्वारा रचित जगत विनोद, एक ऐसी दुनिया का चित्रण करता है जिसमें गंभीर भाव अनुपस्थित है एवं केवल उन लोगों से संबंध रखता है, जिनका भोग-विलास ही एक मात्र कार्य रह गया था। सत्रहवीं शताब्दी के मध्य से हिंदी कविता में "भक्ति" से "रीति" (अर्थात् शब्दाडम्बर और काव्यशास्त्र पर बल तथा एक विशेष शैली में ऐंद्रिक भाव की कविता) की ओर एक दीर्घकालिक परिवर्तन हुआ। लेकिन इस "रीति" ने अंतहीन पुनरावृत्ति से अपनी ताजगी खो दी एवं उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारंभ तक यह व्यर्थ हो चुकी थी।

20.3.2 अन्य भाषाएं

वैयाकरण एवं अलंकारवाद की अधिनायकता केवल हिन्दुस्तानी ज़ुबान तक ही सीमित नहीं थी, बंगाली, गुजराती, तेलुगु, तमिल और उड़िया भी इससे प्रभावित हुई। के. एम. मुंशी अठारहवीं शताब्दी के अंतकाल के गुजराती साहित्य को "उबाऊ निष्प्राण युग" मानते हैं, मायाधर मानसिंह, "उड़िया की काली-रात्रि" की बात करते हैं, जिसमें बिलासमय एवं अलंकृत कविता फली-फूली, और चेन्चिया एवं भुजंग राव 1630-1850 के मध्य के तेलुगु साहित्य की तुलना "एक लंबी रात" से करते हैं।

उड़ीसा और विजय नगर में हिन्दू राज्यों के अंत ने प्रायद्वीपीय-भारत में उसी प्रकार के सामाजिक और नैतिक संकट को जन्म दिया, जो मुगल साम्राज्य के छिन्न-भिन्न हो जाने से उत्पन्न हुआ। तेलुगु में विकसित हुई काव्य-शैली अतिशयोक्ति एवं अतिरंजना युक्त थी: एक कवि को शहर के कंगूरे आकाश चूमते प्रतीत हुए। दूसरे ने एक कदम आगे बढ़कर उन्हें आसमान भेदने वाले बताया। एक अन्य ने इन दोनों को मात देते हुए इन्हें (कंगूरों को) इन्द्र के राज में प्रवेश करते हुए बताया। उस युग की तेलुगु-कविता का नैतिक स्तर भी उच्च नहीं था: सुक सप्तति में समाज की महिलाओं द्वारा चातुर्य से वैवाहिक प्रतिज्ञाओं का उल्लंघन करने संबंधी वर्णन था और बिल्हानिया में एक युवा लड़की एवं उसके शिक्षक के मध्य शारीरिक संबंध को दर्शाया गया है। यही हाल बंगाली-कहानियों का था, जिन्हें एक दूसरे रूप और उत्कृष्ट शैली में भरत चन्द्र राय (मृत्यु 1760) ने लिखा। उस युग की असुरक्षा एवं अशांति ने उस काल की कविता में उदासी के भाव को भर दिया। रामप्रसाद सेन द्वारा रचित, 18वीं शताब्दी के मध्य काल में, काली मां के गीतों में संध्या-काल का गहरा प्रभाव रहता था:

चलो खेलें, तुमने कहा, और ले आए मुझे इस पृथ्वी पर
झूठे बहाने से। ओ मां, ये खेल मेरी
इच्छा पूरी नहीं करते। यहां जो कुछ होना था
वह खेला जा चुका, अब शाम को,
अपने शिशु को बाहों में ले घर की ओर चलो।

MADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

निराशा का यही आलम मिर्ज़ा गालिब (1797-1869) की फारसी और उर्दू कविता में था, जिन्होंने सन् 1827-1857 के मध्य दिल्ली रहते हुए अपनी बेजोड़ गज़लें लिखीं। गुज़रे वक्त के वे सबसे महान कवि थे, डूबते मुगल साम्राज्य के कवि। दिल्ली में अंतिम मुगलों के अधीन उनका जीवन, उनके शब्दों में यूं व्यक्त हुआ:

जीवन अंतहीन यात्रा नहीं
न मृत्यु में है विश्रांति
फिसलते और गिरते
हम लड़खड़ाते कदमों के साथ
अनिश्चय की ओर बढ़ते जाते हैं,

(गालिब के शेर का भावानुवाद)

गालिब के साथ ही पुरानी कविता की अदृश्य होती वैभवता की अंतिम किरणें दिखाई पड़ीं जब वे दिल्ली के खास अंदाज में अपनी फारसी और उर्दू कविता लिखे रहे थे, कलकत्ता में माइकल मधुसूदन दत्त और अन्य बंगाली कवि अंग्रेज़ी कविता से अतुकांत छंद, सॉनेट और आधुनिक व्यक्तिनिष्ठ महाकाव्य जैसे नए रूपों का भारतीय कविता में समावेश कर रहे थे।

20.4 नई कविता

बंगाली-कविता में नए रूप-विधानों को अंगीकृत किया गया। माइकल मधुसूदन दत्त (1827-1873) ने नई भारतीय कविता को अपने अतुकांत-छंद युक्त बंगाली महाकाव्य, मेघनाद बाध काव्य द्वारा नई दिशा प्रदान की। कालांतर में, गालिब की उर्दू भाषा सहित अन्य सभी भाषाएं इस नए रूप की कविता द्वारा समृद्ध हुई। गालिब के विद्रोही शार्गिद हाली (1837-1914), गज़ल की परिपाटी के विरुद्ध विद्रोह करने वालों में अगुआ थे। अपनी मददो-जज्-ए-इस्लाम (इस्लाम का उतार-चढ़ाव) से, जो मुसद्दसे-ए-हाली के नाम से ज्यादा जानी जाती है, उन्होंने पुरानी शृंगारिक कविता की खामियों को निर्ममतापूर्वक सामने रखा। उनकी मुसद्दस, जो सुधारवादी सर सैयद अहमद खां से प्रभावित होकर इस्लाम की नई भावना को अभिव्यक्त करती है, इस्लाम के यश और पतन का ब्यौरा देती है। सुधारवादियों के उद्देश्यों तथा आदेशों की पैनी अभिव्यंजना करते हुए, हाली उन्हें सुधार (आधुनिकता) के उन्माद में अपनी जड़ों को खो देने के खतरे से आगाह करते हैं। उन्होंने कहा:

> ऐ सुधारक! जब तक कपड़े में दाग लगा है, उसे जरूर धो। दाग को पूरी मेहनत से धो, पर इतना ज्यादा भी नहीं कि न तो दाग ही रहे और न कपड़ा!
>
> (हाली की रचना का भावानुवाद)

जहां अल्ताफ हुसैन हाली उर्दू में नई कविता की नींव रख रहे थे, गुजराती एवं हिंदी में यही कार्य क्रमशः नर्मदाशंकर लालशंकर (1833-1886) और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (1846-1884) कर रहे थे। नर्मदा शंकर और भारतेन्दु को आज मुख्य रूप से आधुनिक गुजराती और हिंदी कविता के जनकों के तौर पर ही याद किया जाता है, लेकिन उन्होंने इन दोनों भाषाओं की कविता को नयी चेतना प्रदान करने का कार्य भी किया। नर्मदा शंकर जो एक सामाजिक क्रांतिकारी भी थे,ने अपनी कविता हिन्दुआनी पदाति, 1864 (हिन्दुओं का पतन) में गुजरात को झकझोरते हुए राष्ट्रवादी आह्वान किया—"जय-जय गरवी गुजरात" (गौरवशाली गुजरात की जय हो, जय हो)। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने मुख्य रूप से राष्ट्रीयता की भावना से ओत-प्रोत अपनी कविताएं ब्रज भाषा में लिखीं। बालासोर की त्रिमूर्ति—फकीर मोहन सेनापति (1843-1918), राधानाथ राय (1848-1908) और मधुसूदन राव (1853-1912) ने उड़िया कविता के लिए वही कार्य किया, जो मधुसूदन दत्त बंगाली कविता के लिए कर चुके थे। दत्त का अनुसरण करते हुए उन्होंने उड़िया में अतुकांत छंद, सॉनेट और वैयक्तिक महाकाव्यीय रूपों का समावेश किया, उन्होंने इस नई शैली के माध्यम से उड़ीसा की परंपरा एवं प्राकृतिक सौन्दर्य के प्रति अपने लगाव को व्यक्त किया। इसी प्रकार, आधुनिक असमी साहित्य के शीर्षस्थ नायक लक्ष्मीनाथ बाजबरुआ (1868-1938) ने असम के वैभवशाली अतीत का आमार जन्म, भूमि, मोर देश और बिन बैरागी जैसे देशप्रेमी गीतों में गुणगान किया। कृष्णाजी केशव दामले, जो केशव सूता (1866-1905) के नाम से प्रसिद्ध थे, ने 1885 के आसपास मराठा-कविता में प्रगीतात्मक कल्पनाप्रधानता (भावुकता) का सूत्रपात किया। वे उन्नीसवीं शताब्दी के महाराष्ट्र के महानतम कवि थे। हाली, भारतेन्दु और नर्मदा शंकर की भांति ही केशव दामले ने भी अपनी कविता में क्रियाशीलता की एक नई भावना को व्यक्त किया, जो प्रारंभिक उन्नीसवीं शताब्दी में गालिब के विषाद-युक्त अंधकारपूर्ण लहजे के मुकाबले भिन्न थी।

लेकिन भारत में इस नई चेतना के सर्वोत्तम प्रतिनिधि रविन्द्रनाथ टैगोर (1861-1914) थे। उन्होंने ने ही भारतीय साहित्य में पश्चिम के मानवतावादी और तर्कनावादी मूल्यों को स्वाभाविक ढंग से स्थापित किया। उन्होंने विदेशी प्रतिमानों को जबरन या कृत्रिम रूप से रूपांतरित नहीं किया: बल्कि, उपनिषद और कालिदास के प्रभाव, वैष्णव गायकों और ग्रामीण लोक गीतों का उनकी कविता में, पाश्चात्य प्रभाव के साथ, सुव्यवस्थित समायोजन हुआ। इस उपलब्धि से उन्हें विश्व-स्तर पर मान्यता, और 1913 मे नोबल पुरस्कार प्राप्त हुआ। वे केवल कवि ही नहीं थे, उन्होंने उपन्यास, लघु-कहानियां, नाटक, निबंध और साहित्यिक समीक्षाएं भी लिखीं, जिन्हें उनकी कलम ने परिपक्वता प्रदान की। कालांतर में उनकी लेखनी ने प्रत्यक्ष रूप से या अन्य भाषाओं में अनुवादित हो अन्य कई भारतीय भाषाओं को प्रभावित किया। अतएव यह कहा जा सकता है कि उनके साथ ही आधुनिक

भारतीय साहित्य ने वयस्कता प्राप्त की।

यह नई चेतना क्या थी, जिसे टैगोर ने मूर्त रूप दिया? यह सुस्पष्ट हो जाएगा जब हम उनकी माया की धारणा (मोह)—भारत की सदियों पुरानी "पारलौकिक" संस्कृति के दार्शनिक आधार को दी गई चुनौती का अध्ययन करें। यह बात गौरतलब है कि कुछ मध्यकालीन भक्ति कवियों ने भी माया के सिद्धांत को स्वीकार नहीं किया था। टैगोर उसी काव्य परंपरा से थे, बल्कि उन्होंने अपने इस दावे में, कि यह दुनिया ही वास्तविकता है, वैज्ञानिक और मानवतावादी विचारों का समावेश कर इसे और भी मज़बूत किया। यह अपने देश के प्रति प्रेम में, व्यक्त हुआ, किंतु यह संकीर्ण देश-प्रेम नहीं था। उनके देशभक्तिपूर्ण आदर्श, जो संपूर्ण मानवता से ओत-प्रोत एवं तर्क तथा स्वतंत्रता से प्रेरित थे, उन्हें नोबल पुरस्कार का सम्मान दिलाने वाली **गीतांजलि** की एक प्रसिद्ध कविता में इस प्रकार व्यक्त हुए:

जहां मन निडर और मस्तिष्क ऊंचा रहे
जहां निर्बाध ज्ञान फैले,
जहां विश्व विभाजित न हो,
संकीर्ण घरेलू (देशीय) खाइयों में
जहां शब्द सत्य की गहराई से निकले,
जहां अथक प्रयासों की शाखाएं पूर्णता की खोज में निकले
जहां तर्क की सुस्पष्ट धारा अपना मर्म न खोए
मृत-प्रकृति की उदास मरूभूमि में
जहां मन
चिंतन और कर्म में
स्वतंत्रता के उस स्वर्ग में, हे प्रभु, मेरा देश जाग्रत हो।

(टैगोर की कविता का भावानुवाद)

इस प्रकार से टैगोर ने अपने देश के साहित्य में विकास और तर्क की सार्वभौमिक चेतना का समावेश किया, और ऐसा उन्होंने बेजोड़ भारतीय ढंग से ईश्वर और शाश्वत सत्य को न भूलते हुए किया।

उनके जीवन काल में कई अन्य कवियों ने अपनी विशिष्ट काव्य रचनाओं से भारतीय साहित्य को समृद्ध किया। आधुनिक तमिल के महान कवि सुब्रमण्यम भारती को टैगोर के आदर्श से प्रोत्साहन मिला। भारती के प्रेम गीतों के संकलन कुयिल पट्टु को टैगोर रचित गीतांजलि का प्रतिरूप समझा जा सकता है, उन्होंने आज़ादी के गीतों के प्रभावशाली संकलन स्वतंत्र पट्टु की रचना की। तीन प्रमुख समकालीन मलयालम कवियों, कुमारन् असन, उल्लूर एस. परमेश्वरा अय्यर और वल्लतोल नारायण मेनन, ने भी इसी नई चेतना का प्रसार किया। इन तीनों ने मिलकर, जैसा कि मलयालम साहित्य के एक इतिहासकार ने लिखा, उस भाषा में "रूमानी कविता के सुनहरे युग" का सृजन किया।

टैगोर के अन्य समकालीनों में एक सिख कवि भाई वीर सिंह, जिनकी श्रेष्ठ कृति, राना सूरत सिंह (1905) में एक विधवा की अपने मृत पति की खोज में आध्यात्मिक यात्रा का वर्णन है, गुजराती कवि नरसिंह राव दिवातिया, जिसने 1915 में अपने पुत्र की मृत्यु पर एक अद्वितीय शोक-गीत की रचना की, और छायाबाद के हिंदी कवियों—जयशंकर प्रसाद, निराला और सुमित्रानंदन पंत, जिन्होंने टैगोर और यूरोपीय प्रतीकवादियों से प्रेरित हो इस शताब्दी के दूसरे दशक की हिंदी कविता में वैयक्तिक ढंग से रहस्यवाद और कल्पनाप्रधानता का समावेश किया।

आधुनिक भारतीय कविता का वृत्तांत मोहम्मद इकबाल का संदर्भ दिए बगैर अधूरा रहेगा, जिन्होंने टैगोर से परे एक दूसरी लीक अपनाई। बीसवीं शताब्दी के दूसरे दशक में तुर्की खलीफशाही पर गहराए लम्बे संकट के दौरान वे उर्दू भाषा में सर्व-इस्लामवाद के कवि के रूप में सामने आए। बाद में उन्होंने फारसी में कई रचनाएं लिखीं, जिससे उन्हें भारत के बाहर इस्लामी दुनिया में कुछ मान्यता मिली। बाल-ए-जिबरील के साथ वे पुनः उर्दू में रचना करने लगे। यद्यपि प्रारंभ में वे एक मुखर राष्ट्रवादी थे, 1930 के बाद भारत में मुसलमानों की अलग मातृभूमि के हिमायती हो गए। आध्यात्मिकता से समृद्ध और

इस्लामिक पुनर्जागरण की भावना से ओत-प्रोत काव्य विरासत को छोड़ते हुए 1938 में उनका देहांत हुआ।

बोध प्रश्न 1

1) मुगल साम्राज्य के पतन के साथ भारतीय साहित्य में क्या परिवर्तन हुए?

....

....

....

....

2) क्या नई कविता पहले के पतनकाल से पीछा छुड़ाने में सक्षम हुई?

....

....

....

....

20.5 नाट्य-कला का विकास

रंगमंच ने उन्नीसवीं शताब्दी की भारतीय साहित्यिक गतिविधि में एक नए आयाम का सूत्रपात किया। इससे पहले इसका अस्तित्व नहीं था। यूरोपीय समुदाय द्वारा कलकत्ता में रंगमंच पर आंग्ल-नाटकों के प्रदर्शन से इस धारणा का प्रसार हुआ। इससे पूर्व विभिन्न प्रकार के लोक-अभिनय देश भर में होते थे—केरल में कथकली, कर्नाटक और आंध्र प्रदेश में यक्षाग्ना, बंगाल तथा उड़ीसा में यात्रा और ब्रज में रासलीला इत्यादि। गीत, नृत्य और अभिनय के कुछ अंशों को मिलाकर ये प्रदर्शन सुस्पष्ट नाट्य-कला रहित होते थे। शास्त्रीय संस्कृत नाट्य-कला के कुछ अवशेषों को छोड़कर वास्तविक नाट्य-कला का अभाव था। देश के कुछ हिस्सों में जैसे उड़ीसा और केरल में, संस्कृत-नाटक की अभी भी कुछ सीमा तक एक जीवंत परंपरा थी। उन्नीसवीं शताब्दी में पहली बार जब नाटकों को रंगमंच पर प्रदर्शित किया गया तो संस्कृत नाटक, विशेष रूप से कालिदास के अभिज्ञान शाकुंतलम कई प्रदेशों में प्रेरणा के स्रोत बने।

20.5.1 पाश्चात्य प्रभाव

लेकिन, पाश्चात्य नाटकों, जो भारतीय मध्यम वर्ग की कल्पना-शक्ति में समा गए थे, ने ही उनका परिचय नाटक के उन भावों से कराया जो संस्कृत नाटक में विद्यमान नहीं थे: विशेषत: दु:खांत नाटक की धारणा, रंगमंच पर दु:खद समाप्तियाँ और हिंसापूर्ण मौतें। यह कि यह एक नई एवं तर्कसंगत धारणा थी, जी.सी. गुप्ता द्वारा स्वीकार की गई जिन्होंने प्रथम मौलिक बंगाली नाटक 1852 में लिखा। नाटक के दु:खद अंत को वैध ठहराते हुए उन्होंने अंग्रेज़ी कवि शेक्सपियर का संदर्भ दिया।

''हमारे देश के लेखक'', अपने नाटक की प्रस्तावना में उन्होंने लिखा, ''यह मानते थे कि यदि वे एक व्यक्ति से संबंधित दु:खद घटना का अभिनय में सुखद अंत नहीं करेंगे तो निरपवाद रूप से वे गुनाह करेंगे।'' लेकिन, उन्होंने दु:ख की गहराई से थाह लेकर अधिक समन्वय और प्रसन्नता प्राप्त करने को आधार बनाते हुए इस धारणा से परे हटने की हिमायत की।

भारतीय पाठकों का पाश्चात्य शैली के नाटकों से यह प्रथम परिचय हो, ऐसा न था। कलकत्ता के एक रूसी आगंतुक जेरासिम लेबेदेव ने एक अंग्रेज़ी नाटक का बंगाली में रूपांतरण कर 1759 में इसे रंगमंच पर मंचित किया। इससे पूर्व भी, मध्य केरल के ईसाइयों ने पुर्तगाली प्रभाव में आकर नाटकों को तैयार किया जिनमें पाश्चात्य नाटक के कुछ अवयव मौजूद थे। लेकिन इन इक्की-दुक्की रचनाओं (नाटकों) ने उन्नीसवीं शताब्दी

के मध्योपरांत नाट्य-साहित्य के विकास को प्रभावित किया।

पाश्चात्य धारणाओं से प्रभावित प्रारंभिक मौलिक नाटकों में से एक पूर्व उल्लिखित, कीर्तिबिलास, और उसी वर्ष (1852) में ताराचरण सिकदार रचित बंगाली प्रहसन भद्रजन शीर्षक से, जिसमें सुभद्रा के अर्जुन के साथ सहपलायन के पौराणिक प्रसंग को विकसित करने में प्रहसन की संस्कृत और पाश्चात्य, दोनों ही धारणाओं का समावेश है। मराठी में प्रथम पूर्ण-विकसित नाटक प्रसन्नराघवा (1851) था। प्रथम उर्दू नाटक अनन्त की इन्द्रसभा के बारे में कहा जाता है कि इसे लखनऊ में नवाब वाजिद अली शाह, उसके दरबारियों और उनकी कनीज़ों द्वारा अभिनीत किया गया। यह एक अप्सरा की एक व्यक्ति के प्रति प्रेम की असंगत कहानी पर आधारित है, भगवान इन्द्र द्वारा उस व्यक्ति को कारावास और कैसे वह अप्सरा अपने प्रेमी को जोगन का वेश धारण कर छुड़ाती है, यही इस नाटक का मुख्य कथानक है।

20.5.2 परिपक्वता

इन प्रारंभिक प्रयासों में आशानुरूप अनेक कमियां थीं। आधुनिक भारतीय नाटक को साहित्य का दर्जा दिलाने वाले, प्रसिद्ध बंगाली कवि माइकल मधुसूदन दत्त थे। उनका प्रथम नाटक शर मिष्ठा (1859) महाभारत की एक कथा पर आधारित था। इसके कुछ महीनों के भीतर ही उन्होंने उपहासात्मक रूप में दो समकालीन सामाजिक नाटक लिखे। अंत में उन्होंने श्रेष्ठ दु:खांत कृति कृष्णाकुमारी (1861) की रचना की, जो उदयपुर की अद्वितीय राजकुमारी के लिए जयपुर और जोधपुर के दो प्रतिद्वंद्वी राजकुमारों के मध्य संघर्ष पर आधारित है, अपने पिता के घर को नष्ट होने से बचाने के लिए राजकुमारी को आत्महत्या करने पर मजबूर किया जाता है। उनके समकालीन दीनबंधु मित्र ने बंगाल के नील उगाने वालों के शोषण पर आधारित चर्चित नाटक नील दर्पण (1860) की रचना की। इस नाटक ने चारों तरफ सनसनी फैलाई और इसके अनुवादक, जे. लोंग, को राजद्रोह के अपराध में कारावास की सजा दी गई। अन्य भाषाओं के महत्वपूर्ण नाटकों में रणछौड़ भाई उदयराम के दु:खांत गुजराती नाटक का उल्लेख किया जा सकता है।
ललिता-दु:खां-दर्शक (1864) में एक अनपढ़ लम्पट से ब्याही एक सुसंस्कृत कुमारी आत्महत्या के लिए मजबूर होती है, उड़िया में रामाशंकर राय के प्रसिद्ध ऐतिहासिक नाटक कांची कावेरी (1880), उड़ीसा के राजा पुरुषोत्तम देव के जीवन की एक वीरोचित और भावक घटना से संबंधित है, और कन्नड़ में इरगाप्पा हेगादेया विवाहप्रहसना के शीर्षक में वेंकटरमन शास्त्री का लघु सामाजिक नाटक विवाह के रूप में लड़कियों की खरीद-फरोख्त की सामाजिक बुराई से संबंधित है।

प्रारंभ में नाटकों का मंचन गैर-पेशेवर दलों द्वारा अक्सर किसी संभ्रान्त परिवार की हवेली में होता था। माइकल मधुसूदन दत्त की दु:खान्तिकी कृष्णाकुमारी, का मंचन 1865 में उत्तरी कलकत्ता के शोभा बाज़ार राजघर में हुआ। प्रथम सार्वजनिक रंगशाला, राष्ट्रीय रंगशाला के नाम से 1872 में कलकत्ता में स्थापित हुई। शीघ्र ही कलकत्ता में कई प्रतिद्वंद्वी रंगशालाएं और व्यावसायिक समूह सामने आए। व्यावसायिक रंगमंच की सफलता के दूसरे केन्द्र बंबई में, पारसी समुदाय ने इसकी व्यावसायिक संभावनाओं को ध्यान में रखते हुए बंबई में शीघ्र ही कई मंडलियां स्थापित कीं और शीघ्र ही इनकी गतिविधियों का विस्तार उत्तर-पश्चिम भारत के कई क्षेत्रों में किया। ये भारत की प्रमुख नगरों का चक्कर लगाती, भ्रमणशील मंडलियां थी जो विशाल निम्नवर्गीय जनता को, भड़कीले और चकाचौंध नाटकों की ओर आकर्षित करती थी, जिनमें अभिनेता अतिरंजित कृत्यों और कर्णभेदी भावुकतापूर्ण शैली में अभिनय करते थे। ऐसे नाटकों में प्रकृतवाद का कोई स्थान नहीं था और ये नाटक शायद ही कभी साहित्य की गरिमा पा सके। बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ से व्यावसायिक रंगमंच की प्रगति ने भारत के हर भाग में साहित्यिक नाटक और लोकप्रिय नाटक के मध्य दरार पैदा कर दी।

20.6 उपन्यास की उत्पत्ति

उपन्यास ने भारतीय साहित्य में एक नई शैली के रूप में प्रवेश किया। लघु कहानी के

साथ यह उन्नीसवीं शताब्दी के दूसरे भाग में भारतीय साहित्य पर अंग्रेज़ी साहित्य के बढ़ते प्रभाव के फलस्वरूप अवतरित हुआ। शास्त्रीय संगीत साहित्य में बाणभट्ट की कल्पनाप्रधान कृति कादम्बरी, शायद किसी अन्य कथा के बजाय उपन्यास की विधा के निकट कही जा सकती है। संस्कृत और फारसी दोनों में प्रचुरता से उपलब्ध इन कथाओं में यथार्थवाद और उपन्यास के लिए आवश्यक समय और धरातल के संदर्भ का अभाव था। आधुनिक भारतीय भाषाओं में उपन्यास की प्रगति उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक काल में गद्यात्मक साहित्य पर अवलम्बित रही।

20.6.1 नए वृत्तांत

गद्य लेखन के साथ ही, उन्नीसवीं शताब्दी के प्रथम भाग में कुछ नई शैली के गद्य-वृत्तांत सामने आए। ये ही पूर्ण-विकसित उपन्यास के अंतरिम आधार बने। प्यारेचन्द मित्र द्वारा लिखित अलालेर घरेर दुलाल, जिसे कभी-कभी बंगाली का पहला उपन्यास कहा जाता है, एक व्यंग्यात्मक उपहासात्मक सामाजिक रेखाचित्र था, जो 1858 में प्रकाशित हुआ। एक युवा दुराचारी ज़मींदार के इर्द-गिर्द बुने रेखाचित्रों की इस लेखमाला में सामाजिक यथार्थवाद जरूर था, परंतु इसमें उस विकसित कथानक की कमी थी, जो उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम काल के उपन्यास की विशिष्टता थी। 1862 में भूदेव मुखोपाध्याय के बंगाली में दो कल्पनाप्रधान ऐतिहासिक वृतांत प्रकाशित हुए। इनका शीर्षक ऐतिहासिक उपन्यास दिया गया। यही "उपन्यास" शब्द कालांतर में कई उत्तर भारतीय भाषाओं में प्रचलित हुआ। इसे प्रथम बार कल्पित कथा-साहित्य की कल्पनाप्रधान रचना के लिए प्रयुक्त किया गया। मराठी में कल्पनाप्रधान गद्य लेखन उपन्यास की विधा के निकट इसी समय सामने आया: लक्ष्मण मोरेश्वर हाल्बे रचित मुक्तमाला (1861) और नारो सदाशिव रिसबद का मंजुघोषा (1868)।

इससे पूर्व भी एक से अधिक आधुनिक भारतीय भाषा में आधुनिक ढंग से उपदेशात्मक वृतांत सामने आए। इनके साथ सामाजिक संदेश रहता था। इस प्रकार की अति प्रारंभिक कथाएं भारत में ईसाई प्रचार का ही एक हिस्सा थी। इस श्रेणी में, हन्नाह केथेराइन मुलन्स द्वारा बंगला में रचित फूलमनि-ओ-करूणार बीबारन (1852), बाबा पदमजी की मराठी रचना यमुना पर्यटन (1857) जिसमें एक हिंदू विधवा के दुःखों का वर्णन है जो ईसाई धर्म स्वीकार करती है, रखे जा सकते हैं। कुछ समीक्षक इन दोनों रचनाओं को क्रमशः बंगाली और मराठी भाषा के प्रथम उपन्यास के रूप में गिनाते हैं, लेकिन किसी में भी चरित्र-चित्रण की गहराई अथवा लयबद्ध रूप से बुना कथानक नहीं था। कहानी की सहायता से सामाजिक चेतना फैलाने के उद्देश्य से ईसाई, मुस्लिम और हिन्दू लेखकों ने अन्य उपदेशात्मक रचनाएं दीं। एक अच्छी और एक बुरी बहन के जीवन में वैषम्य दिखाते हुए, नजीर अहमद की मिरअत-उल-उरूस (1869) नामक उपदेशात्मक कथा को उर्दू का पहला उपन्यास कहा जाता है। अगले वर्ष हिंदी में प्रकाशित पंडित गौरीदत्त की देवरानी-जेठानी की कहानी में कथावस्तु लगभग इसी समान थी। बाद में तमिल ईसाई लेखक, सेम्युअल वेदानयाकम पिल्लै ने तमिल का प्रथम मौलिक उपन्यास प्रथापा मुदलियार चरित्तम (1879) लिखा, जिसमें भाईचारा, वैवाहिक अनुराग, पतिव्रत्य, सर्व-उपकार, सत्य-निष्ठा और कृतज्ञता जैसे नैतिक गुणों का उपदेश दिया गया।

20.6.2 बंकिम युग

बंकिम चंद्र चटर्जी की प्रथम बंगला मौलिक रचना दुर्गेश नन्दिनी (1865) के साथ ही उपन्यास ने भारत में वयस्कता हासिल की। किसी भी भारतीय भाषा में प्रथम पूर्ण-विकसित इस उपन्यास को बंगाल के स्वामित्व के लिए मुगल-अफगान युद्ध की पृष्ठभूमि में लिखा गया, जिसमें एक भावुक प्रेम-त्रिकोण ने इसे और दिलचस्प बना दिया (मुगल सेना के युवा राजपूत सेनापति, एक दुर्ग के स्थानीय सामंत की पुत्री और एक कुलीन अफगान शहजादी जो उसके प्रेम में सब कुछ न्यौछावर करती है)। चटर्जी ने एक के बाद एक लगभग सभी ऐतिहासिक संदर्भ के अद्वितीय उपन्यास लिखे। बंगाल के सन्यासी आंदोलन की पृष्ठभूमि में रचित आनन्द मठ (1882) से प्रसिद्ध राष्ट्रवादी गीत "वन्दे मातरम" को लिया गया। बादशाह औरंगजेब के विरुद्ध राजपूत-विद्रोह के प्रसंग युक्त राजस्थान (1881) एक अन्य भावोत्तेजक ऐतिहासिक उपन्यास था। चटर्जी के समकालीन, रोमेश चन्द्र दत्त ने उनसे प्रभावित हो अनेक ऐतिहासिक उपन्यासों की रचना की, जिनमें

दो सर्वाधिक प्रसिद्ध महाराष्ट्र जीवन प्रभात (1878) और राजपूत जीवन संध्या (1879) हैं।

ऐतिहासिक उपन्यास अन्य भारतीय भाषाओं में भी लोकप्रिय हुए। इसकी वजह यह है कि उन्नीसवीं शताब्दी के अंत में समकालीन समाज के विभिन्न सामाजिक प्रतिबंधों ने प्रेम और वीरता के लिए बहुत कम अवसर दिया। परिणामस्वरूप वीरता और प्रेम की कथाओं को ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में लिखा जाने लगा। रामचन्द्र भीकाजी गुन्जीकर ने मराठी के प्रथम कल्पनाप्रधान ऐतिहासिक उपन्यास मोचनगढ़ (1871) की रचना, महाराष्ट्र में एक पहाड़ी किले के इर्द-गिर्द की है, जो अंततः शिवाजी द्वारा अधिग्रहीत किया जाता है। बाद में हरिनारायण आप्टे को महाराष्ट्र में अपने ऐतिहासिक उपन्यासों: माइसोरेचा वाघ (1890), गाड अला पन सिम्हा गेला (1903), सूर्योदय (1905-1908), इत्यादि से बहुत सफलता मिली। मलयालम में सी.वी. रमन पिल्लै के प्रसिद्ध तीन ऐतिहासिक ग्रंथ-मार्तण्ड वर्मा (1891), धर्मराज और राम राजा बहादुर ने अठारहवीं शताब्दी के केरल के संकटकालीन समय के प्रामाणिक ब्यौरे को प्रस्तुत किया।

इनमें से अधिकांश ऐतिहासिक उपन्यासों की विषय-वस्तु राजपूतों और मराठों के वीरोचित कृत्यों पर आधारित है, जिनमें कई बार मुस्लिम चरित्रों को नकारात्मक दृष्टि से देखा गया है। इसके विपरीत, उर्दू के ऐतिहासिक उपन्यास भारत में या भारत के बाहर इस्लाम के गौरवशाली इतिहास से प्रेरणा लेते थे। उर्दू के शीर्ष उपन्यासकार अब्दुल हालिम शरार ने इस्लाम के स्वर्णकाल में इसकी गैर-मुस्लिम, विशेषकर ईसाई शक्तियों पर श्रेष्ठता प्रदर्शित करते हुए कई उपन्यास लिखे। इनमें से प्रथम मलिक-उल-अजीज वर्जना (1888) स्कॉट के तलिस्मान का प्रत्युत्तर था, जिसे वे इस्लाम के विरुद्ध पूर्वाग्रहीत समझते थे। प्रतिनिधिक प्रतिशोध के अंदाज में शरार बादशाह रिचर्ड की भतीजी वरजाना को सलादीन के पुत्र, मलिक-उल-अजीज के प्रेम में प्रदर्शित करते हैं। मन्सूर मोहाना (1890) गजनी के सुल्तान महमूद को लूट और विनाश के आरोपों से दोष-मुक्त करने के उद्देश्य से लिखा गया। फ्लोरा फ्लोरिण्डा (1897) स्पेन में ईसाइयों के अत्याचारों की पृष्ठभूमि में रचा गया जिसमें ईसाइयों द्वारा भेंट की गई एक मुस्लिम लड़की का चित्रण किया गया है। शरार की कहानियां अक्सर एक ऐसे भावुक प्रेम संबंध के इर्द-गिर्द चलती है, जिसमें जिहाद की मुस्लिम सेना के किसी कप्तान का स्थानी प्रदेश की उच्च-घराने की कुमारी से प्यार हो जाता था।

MAADHYAM IAS

समकालीन सामाजिक संदर्भ में सफलतापूर्वक उपन्यासों का लिखना, उपन्यासकारों की कला से यथार्थवाद की अधिक मांग रखता था। बंकिम चन्द्र ने अपने दो प्रमुख सामाजिक नाटकों, विषवृक्ष (1873) और कृष्णाकांतेर विल (1878) के द्वारा मार्ग प्रशस्त किया। इन रचनाओं में चरित्र-चित्रण की गहराई थी, जिसने आने वाले कई वर्षों तक भारतीय कथा-साहित्य के मापदण्ड निर्धारित किए। ओ. चन्दू मेनन के मलयाली उपन्यास इन्दुलेखा (1888) ने भावुकताप्रधान प्रेम को सामाजिक यथार्थवाद से संयुक्त करने की कोशिश की। गोवर्धन राम के बृहत्तर गुजराती उपन्यास सरस्वती चन्द्र (4 भाग, 1887, 1892, 1898, 1900) में रूमानी और भावपूर्ण रुचि थी, परन्तु इस रचना के अंत में नायक-नायिका एक-दूसरे से ब्याह न करने का निश्चय करते हैं क्योंकि नायिका एक विधवा थी और ये आदर्शवादी प्रेमी अपने समाज की परिपाटी को चोट नहीं पहुंचाना चाहते थे। हरिनारायण आप्टे का विस्तृत मराठी उपन्यास पान लक्षान्त कौन घटो (1890) विधवाओं के प्रति रूढ़िवादी हिंदू समाज के अत्याचार और अन्याय पर आधारित एक यथार्थवादी रचना थी। मिर्जा हादी रूसवा के प्रतिष्ठित उर्दू उपन्यास उमराव जान अदा (1899) में नायिका के रूप में एक तवायफ अपनी दास्तान को असाधारण तटस्थता और विषय-निष्ठता के साथ पुनः याद करती है।

बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद की प्रवृत्ति को महत्व मिला; जिसे रवीन्द्रनाथ टैगोर ने सचेत रूप से अपने प्रभावशाली उपन्यास चाखेर बाली (1903) में प्रस्तुत किया। इसके बाद उनकी और भी बृहत्तर रचना गोरा (1910) आई, जिसमें अपने युवा काल के बंगाल के समाज को हिलाने वाली नई उम्मीदों और नए आदर्शों का चित्रण था। समकालीन समाज का प्रामाणिक चित्रण उन दो जाने-माने उपन्यासकारों की विशिष्टता रही थी, जिन्होंने इसके बाद लिखना प्रारंभ किया था: शरत चन्द्र चटर्जी और मुंशी प्रेमचन्द। उनकी रचनाओं में बीसवीं शताब्दी के भारत में हलचल मचाने वाले

राष्ट्रीय आंदोलन की गहरी छाप थी। लेकिन यह उनकी सामाजिक और मनोवैज्ञानिक प्रेक्षण की गहराई PA, जिसकी चरमोत्कर्षता शरत के गृह-दाह (1920) और प्रेमचन्द के गोदान (1936) में प्रकट हुई, जिसने इन्हें अपने समय के शीर्ष लेखकों में ला खड़ा किया।

बोध प्रश्न 2

1) नाटक के क्रम-विकास पर पाश्चात्य प्रभाव का क्या परिणाम रहा?

....

....

....

2) प्रारंभिक उपन्यासों और बंकिम युगीन उपन्यासों में क्या भिन्नता थी?

....

....

....

20.7 सारांश

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आपने देखा कि:

- देशी भाषाओं का प्राचीन साहित्य लगभग संपूर्ण रूप से काव्यात्मक था एवं प्राचीन साहित्य की यह परंपरा अठारहवीं और यहां तक कि उन्नीसवीं शताब्दी के पहले भाग तक जारी रही।
- कालांतर में इस प्राचीन कविता में कमज़ोरी के लक्षण दिखाई पड़े एवं इसमें ताजगी का अभाव और पुनरावृत्ति की प्रवृत्ति शामिल हुई। मूल्यों में पतन के परिणामस्वरूप कविता साहित्य में भक्ति से रीति की ओर परिवर्तन होना शुरू हुआ।
- उन्नीसवीं शताब्दी में अंग्रेज़ी साहित्य के प्रभाव में भारतीय कविता ने अपनी ताजगी पुन: प्राप्त की। नए रूपों, जैसे अतुकांत छंद, सॉनेट और गीत के साथ प्रयोग किये जाने लगे। इस सबसे बढ़कर एक नई सृजनशील चेतना की बहुलता दिखाई दी, जिसने कविता के विषय-वस्तु को ही बदल डाला।
- रंगमंच के उद्‌भव होने से आधुनिक युग की सृजनशील चेतना को एक और दिशा प्राप्त हुई। रंगमंच की उपस्थिति ने नाट्य-साहित्य को प्रचुर गति प्रदान की, जो क्लासिकीय संस्कृत नाटक और पश्चिमी नाटकों, विशेषत: शेक्सपियर लिखित नाटकों से प्रभावित था।
- पश्चिम के प्रभाव के परिणामस्वरूप भारतीय साहित्य की एक पूर्णत: नई शाखा सामने आई। यह था उपन्यास, जो लघु-कहानी के साथ-साथ सामने आया। इसके परिणामस्वरूप भारतीय साहित्य में एक नवीन सामाजिक यथार्थवाद का सूत्रपात हुआ।

MAADHYAM IAS
way to achieve your dream

20.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) देखें भाग 20.3

2) अपना उत्तर भाग 20.4 के आधार पर लिखें।

बोध प्रश्न 2

1) देखें उपभाग 20.5.1
2) अपना उत्तर उपभाग 20.6.2 के आधार पर लिखें।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

इकाई 21 अंग्रेजी शिक्षा का प्रसार

इकाई की रूपरेखा

21.0 उद्देश्य
21.1 प्रस्तावना
21.2 औपनिवेशिक शिक्षा
21.3 स्वदेशी शिक्षा
21.4 शिक्षा नीति संबंधी विवाद
21.5 अंग्रेज़ी शिक्षा का विकास
21.6 एक परिकलन
21.7 सारांश
21.8 शब्दावली
21.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

21.0 उद्देश्य

इस इकाई में 1757-1857 की अवधि में अंग्रेजी सरकार द्वारा शिक्षा के क्षेत्र में किये गये प्रयोगों से आपका परिचय कराया जायेगा। इस इकाई से आप सीख पायेंगे:

- उपनिवेशवाद एवं शिक्षा के बीच बदलते संबंध,
- स्वदेशी शिक्षा की विशेषताएं,
- शिक्षा नीति संबंधी विवाद,
- पाश्चात्य शिक्षा का प्रसार, तथा
- आधुनिक भारत में नई शिक्षा व्यवस्था का महत्व।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

21.1 प्रस्तावना

भारत पर अंग्रेजी क्षेत्रीय प्रभुत्व की स्थापना के साथ जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में परिवर्तन हुए। शिक्षा उन क्षेत्रों में एक थी जिनमें अंग्रेजों द्वारा सत्ता अधिग्रहण के साथ अनेक परिवर्तन आये। ये परिवर्तन क्यों और कैसे आये, इनका प्रभाव क्या था? इस इकाई में इन्हीं कुछ प्रमुख प्रश्नों का विवेचन किया गया है।

21.2 औपनिवेशिक शिक्षा

औपनिवेशिक शासन के अधीन शैक्षिक विकास के बोध के लिए शिक्षा और उपनिवेशवाद के बीच गत्यात्मक संबंधों को समझना आवश्यक है। मार्टिन कार्नाय जैसे लेखकों का तर्क है कि औपनिवेशिक शासनाधीन देशों में शिक्षा का ढांचा औपनिवेशिक शासकों द्वारा अपने प्रभुत्व की वैधता तथा अपने आर्थिक हितों की सिद्धि के लिए रचा गया होता है। उपनिवेश देशों पर आर्थिक एवं राजनीतिक नियम औपनिवेशिक शासन की निरंतरता के लिए आवश्यक होता है और इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए शिक्षा तंत्र का इस्तेमाल किया जाता है। शिक्षा तंत्र के माध्यम से नये मूल्यों के विकास तथा औपनिवेशिक शासन का औचित्य सिद्ध करने का प्रयास किया जाता है इस प्रकार शिक्षा प्रक्रिया अपनी स्वतंत्र

पहचान खो देती है और राजनीतिक नियंत्रण के अधीन आ जाती है।

औपनिवेशिक शिक्षा निस्संदेह उपनिवेशिक देशों में परिवर्तन तथा सांस्कृतिक रूपांतरण का सूत्रपात करती है। नये विचार तथा प्रयोग निश्चय ही वर्तमान ज्ञान की वृद्धि करते हैं। लेकिन औपनिवेशिक देशों को इसके लिए भारी कीमत चुकानी पड़ती है। औपनिवेशिक शिक्षा के वास्तविक लाभकर्ता थोड़े से ऐसे लोग होते हैं जिनको औपनिवेशिक शासन की निरंतरता बनाये रखने का दायित्व सौंपा गया होता है। औपनिवेशिक शिक्षा का अभीष्ट होता है उपनिवेशिक देशों पर बेहतर नियंत्रण, न कि उनका विकास। इस नीति का अंतिम परिणाम भिन्न हो सकता है, लेकिन वांछित उद्देश्य इसका होता है उपनिवेश देशों को नियंत्रण में रखना, न कि उनको बदलना।

औपनिवेशिक शासन तथा शिक्षा के बीच गतिशील संबंधों के बारे में अनेक इतिहासकारों के उपरोक्त विचार को ध्यान में रखते हुए हम भारत में अंग्रेज़ी शिक्षा के विकास पर दृष्टिपात करेंगे। अंग्रेजी शिक्षा के आरंभ की चर्चा करने से पहले हम प्रारंभिक उन्नीसवीं सदी काल में स्वदेशी शिक्षा की स्थिति पर नजर डालेंगे।

21.3 स्वदेशी शिक्षा

आरंभिक ब्रिटिश दस्तावेजों से प्राप्त सूचनाओं से हमें 18वीं सदी के उत्तरार्द्ध एवं उन्नीसवीं सदी के आरंभ में स्वदेशी शिक्षा के बारे में बहुत स्थूल विचार ही मिल पाते हैं। उस समय मुस्लिम आबादी के लिए मदरसा और मकतबा तथा हिंदुओं के लिए टोल और पाठशालाएं होती थीं इस श्रेणीक्रम में अरबी तथा संस्कृत के उच्च अध्ययन केंद्रों से लेकर फारसी तथा स्थानीय भाषाओं में बुनियादी शिक्षा के लिए निचले दर्जे के संस्थान आते थे। वैज्ञानिक एवं धर्मनिरपेक्ष शिक्षण का अभाव उन दिनों में उच्च अध्ययन केंद्रों की प्रमुख सीमा थी। राजकाज की भाषा फारसी होने के कारण अनेक हिंदू भी फारसी स्कूलों में जाते थे और इन स्कूलों में हिंदू शिक्षक भी होते थे। टोल हो या मदरसा, स्वदेशी शिक्षा की कुछ सामान्य विशेषताएं थीं :

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

- स्कूलों का संचालन आमतौर पर जमींदारों अथवा स्थानीय धनी व्यक्तियों के योगदान से होता था।
- पाठ्यक्रम में संस्कृत, अरबी, फारसी भाषाओं तथा क्लासिकीय हिंदू इस्लामी परंपरा के विषयों, जैसे व्याकरण, तर्कशास्त्र, विधि, अध्यात्म, आयुर्विज्ञान पर बल दिया जाता था।
- यद्यपि संस्कृत शिक्षा ब्राह्मणों का ही विशेष क्षेत्र होता था, आरंभिक 19वीं सदी की उपलब्ध रिपोर्टों से हम पाते हैं कि इन स्कूलों में नीची जाति तथा अनुसूचित जाति के व्यक्ति भी स्थान पाते थे।
- महिलाएं आमतौर पर औपचारिक शिक्षा से अलग ही रखी जाती थीं।
- 19वीं सदी में प्रिंटिंग प्रेस के आने तक वाच्य परंपरा तथा अध्यापक की स्मरण शक्ति ही ज्ञान एवं सूचना का आधार बनती थी, जिनकी संपूरक हस्तलिखित पांडुलिपियां होती थीं।
- यद्यपि शासक विद्वता के लिए प्रसिद्ध व्यक्तियों को संरक्षण देते थे, शिक्षा में राज्य की भूमिका नगण्य अथवा शून्य ही होती थी।

उच्च जातियों के लिए बने उच्च शिक्षा केंद्रों के अतिरिक्त अनेकानेक प्राथमिक विद्यालय होते थे। इस प्रकार के प्राथमिक विद्यालय भारत के अधिकांश गांवों में थे। इनका संचालन गांव के जमींदार अथवा स्थानीय अभिजनों के आर्थिक अनुदान से होता था। ये विद्यालय विद्यार्थियों को बुनियादी गणित तथा दैनिक आवश्यकताओं का ज्ञान कराते थे। अत्यंत पिछड़ी प्रवंचित जातियों को छोड़कर समाज के विभिन्न तबकों से विद्यार्थी इन स्कूलों में आते थे।

इस प्रकार आरंभिक 19वीं सदी में भारत में विद्यमान शिक्षा प्रणाली की अपनी खूबियां थीं। प्राथमिक विद्यालय ग्रामीणों को बुनियादी शिक्षा का अवसर प्रदान करते थे। इनका पाठ्यक्रम दृष्टिकोण में धर्म निरपेक्ष तथा व्यावहारिक आवश्यकताओं के अनुरूप होता था। संभवत: उच्च शिक्षा केंद्रों (टोल तथा मदरसों) में व्याकरण, दर्शन एवं धर्म की सूक्ष्मताओं पर विशेष जोर से धर्म निरपेक्ष एवं वैज्ञानिक ज्ञान के प्रसार की संभावना क्षीण होती गई। उपनिवेशवादी शासकों ने स्वदेशी शिक्षा के स्थान पर अपनी शिक्षा व्यवस्था आरोपित की। व्यापक जनशिक्षा के साधन के रूप में स्वदेशी प्रणाली की संभावनाएं समाप्त की गई। अनुगामी खंड में हम भारत में शिक्षा के विकास में कंपनी की भूमिका के प्रसंग में विभिन्न गुटों के बीच उभरे विवादों की झलक देंगे।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

4. पाठशाला का एक दृश्य

21.4 शिक्षा नीति संबंधी विवाद

ईस्ट इंडिया कंपनी को 18वीं सदी के उत्तरार्द्ध तक भारत में शिक्षा के संवर्धन में अपनी भूमिका के बारे में किसी दुविधा का सामना नहीं करना पड़ा। मूलत: एक वाणिज्यिक निगम होने के कारण उसका बुनियादी लक्ष्य व्यापार तथा मुनाफों की लूट था। क्षेत्रीय सत्ता हथियाने से पहले कंपनी की कोई भूमिका शिक्षा कार्य में नहीं थी। मिशनरियों तथा अनुदान संचालित स्कूलों की स्थापना तथा विद्योपार्जन को प्रोत्साहन देने के प्रयास अवश्य हुए थे। लेकिन पूर्वी भारत पर ब्रिटिश अधिकार के साथ 18वीं सदी के उत्तरार्द्ध में चीजें बदलने लगीं। अधिकारी मंडलों के अंतर्गत तथा उसके बाहर शैक्षिक संवर्धन में कंपनी की संभाव्य भूमिका को लेकर विवाद उभरने लगा।

भारत में राजनीतिक सत्ता हथियाने के बाद कंपनी कर्मचारियों ने स्थानीय समाज के धर्म एवं संस्कृति जैसे क्षेत्रों में तटस्थता बरतने का ही प्रयास किया। इसका मुख्य कारण था स्थानीय जनता द्वारा प्रतिकूल क्रिया विरोध की आशंका। फिर भी, विभिन्न हलकों, मिशनरियों, उदारवादियों, प्राच्यविदों तथा उपयोगितावादियों से पड़ने वाले दबावों ने कंपनी को तटस्थता नीति छोड़ने और शैक्षिक संवर्धन का दायित्व उठाने के लिए बाध्य कर दिया। तीक्ष्ण मतभेदों को जन्म देने वाला दूसरा महत्वपूर्ण बिंदु था कि कंपनी पाश्चात्य अथवा प्राच्य शिक्षा को प्रोत्साहन दे। प्रारंभिक मंजिल पर कंपनी कर्मचारियों ने प्राच्य विद्या को प्रोत्साहन दिया। इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि कुछ अंग्रेज नागरिक प्राच्य विद्या को प्रोत्साहन देने की आकांक्षा रखते थे।

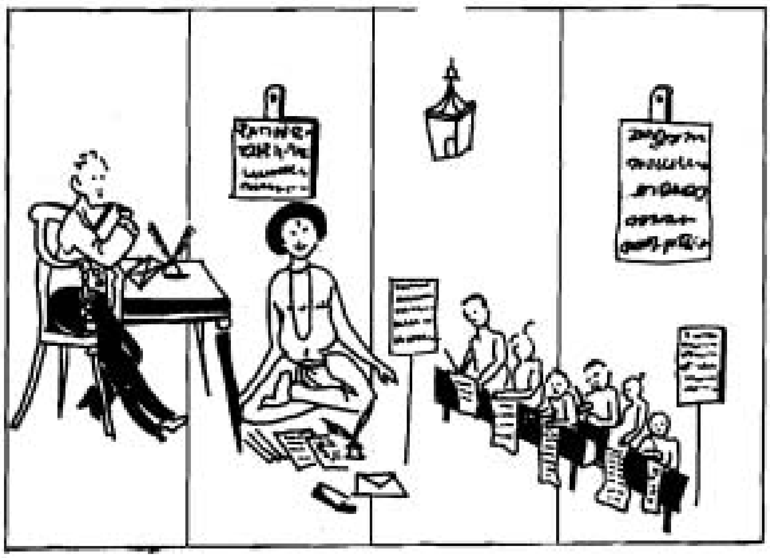

5. ओरियंटल शिक्षा पर एक कार्टून

इस संदर्भ में हम वारेन हेस्टिंग्स द्वारा कलकत्ता मदरसा (1781), जौनाथन डंकन द्वारा बनारस संस्कृत कालेज (1791) और विलियम जोन्स द्वारा एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल (1784) की स्थापना का उल्लेख कर सकते हैं। प्राच्य विद्या के वर्तमान संस्थानों को बनाये रखने तथा भारतीय क्लासिकीय परंपरा के संवर्धन के पक्षधर ओरियन्टलिस्ट कहलाए। उनका तर्क यह था कि भारतीयों में आमतौर पर यूरोपीय ज्ञान एवं विज्ञान के पूर्वाग्रह होने के कारण पाश्चात्य ज्ञान को पूरी तरह अस्वीकार किया जा सकता है यदि उसे क्लासिकीय भारतीय ज्ञान के माध्यम से न प्रस्तुत किया जाय। उनमें से कुछ की दिलचस्पी औपनिवेशिक समाज की क्लासिकीय परंपरा एवं संस्कृति के अवगाहन में थी। लेकिन यदि प्राच्य संस्कृति के संवर्धन की कतिपय अंग्रेज नागरिकों की सच्ची आकांक्षा को हम स्वीकार भी कर लें, तो भी यह मानना पड़ेगा कि ओरियंटलिस्ट कुछ व्यावहारिक उद्देश्यों से भी प्रेरित थे। वे अंग्रेज कर्मचारियों को स्थानीय भाषा एवं संस्कृति की शिक्षा देना चाहते थे ताकि वे अधिक कर्मकुशल बन सकें। 1800 में कलकत्ता में फोर्ट विलियम्स कालेज की स्थापना का यही मुख्य उद्देश्य था। दूसरा प्रेरक तत्व था स्थानीय समाज के अभिजनों से मित्र संबंधों का विकास और उनकी संस्कृति का बोध। कलकत्ता मदरसा तथा बनारस संस्कृत कालेज की स्थापना के पीछे यही मुख्य कारण था।

6. कलकत्ता मदरसा

Extracts from the Diary of H.T. Prinsep Concerning the Dispute between Orientalists and Anglicists

When the subject came underconsideration in Council, there was a very hot argument between myself and Mr. Macaulay. *The issue was the resolution that was published not abolishing existing colleges, but requiring them to teach English as well as native literature and making the former obligatory, also giving some encouragement to vernacular studies, but declaring that all Government pecuniary aid in future should be given exclusively to promote the study of European science through the medium of English Language. Lord W. Bentinck would not even allow my memorandum to be placed on record. He said it was quite an abuse that Secretaries should take upon themselves to write memorandums*: that it was enough for the Court of Directors to see what the Members of Council chose to place on record .... Thus ended this matter for the time. The Resolution passed on this occasion was modified afterwards and made a little more favourable for the old native institutions by Lord Auckland. *but English has ever since been the study preferentially encouraged by Government in connection with vernacular literature.* The study of Sanskrit. Arabic and Persian is. in consequence, less cultivated than heretofore. but none of the old institutions have been altogether abolished" (emphasis added).

Extracts from the Minute of the Hon'ble T.B. Macaulay, dated the 2nd February 1835

we now come to the gist of the matter. We have a fund to be employed as Government shall direct for the intellectual improvement of the people of this country. The simple question is, what is the most useful way of employing it?

All parties seem to be agreed on one pornr, that the dialects commonly spoken among the natives of this part of India contain nerther literary nor scientific information, and arc moreover so poor and rude that, until they are enriched from 'some other quarter, It will not be easy to translate any valuable work into them. It seems to be admitted on all sides, that the intellectual improvement of those classes of the people who have the means of pursuing higher studies can at persent be effected only by means of some language not vernacular amongst them.

What then shall that language be? One half of the committee maintain that it should be the English. The other half strongly recommend the Arabic and Sanscrit. *The whole question seems ro me to be— which language is the besr worth knowing?*

I have no knowledge of- either Sanscrit or Arabic. But I have done what I could to form a correct estimate of their value. I have read translations of the most celebrated Arabic and Sanscrit works. I have conversed. both here and at home. with men distinguished by their proficiency in the Eastern tongues. I am quite ready to take the oriental learning at the. valuation of the orientalists themselves. *I hare never found one among them who could deny that a single shelf of a good European library was worth the whole native literature of India and Arabia. The intrinsic superiority of the Western literature is indeedfully admitted by those members of the committee who support the oriental plan of education.*

MAADHYAM IAS

इस ओरियंटलिस्ट दृष्टिकोण को इंग्लैंड में विभिन्न गुटों, इवैंजेलिकल, लिबरल तथा उपयोगितावादियों के विरोध का सामना करना पड़ा। औद्योगिक क्रांति के साथ इंग्लैंड में विकसित नये सांस्कृतिक आचार-विचारों में कंपनी की इजारेदारी नीति की आलोचना निहित थी। क्रांति के बाद के युग में आधुनिक पाश्चात्य संस्कृति से पृथक कुछ भी मूल्यवान नहीं समझा जाता था। इवैंजेलिकलों का क्रिश्चियन विचारों तथा पाश्चात्य संस्थानों की श्रेष्ठता में दृढ़ विश्वास था। इवैंजेलिकल विचारों के दो प्रमुख प्रवर्तक थे, चार्ल्स ग्रांट और विलियम विल्बर फोर्स।

इवैंजेलिकल आस्थाओं में नहीं जुड़ने वाले अन्य व्यक्ति भी पाश्चात्य ज्ञान की श्रेष्ठता में विश्वास करते थे। इस विचार का एक प्रमुख पक्षधर था टामस बेविंगटन मैकाले। उसने इस बात पर बल दिया कि अंग्रेजी भाषा के माध्यम से पाश्चात्य शिक्षा का प्रचार-प्रसार ही भारत में शिक्षा नीति का उद्देश्य होना चाहिए।

भारत में उपयोगितावादी विचारों का मुख्य समर्थक जेम्स मिल भारतीय धर्म एवं संस्कृति का कटु आलोचक था। प्राच्य संस्थानों का पोषण कोई बुद्धिमानी की बात नहीं है, ग्रांट तथा मैकाले के साथ उसका भी यही विचार था। उसका मुख्य जोर था वैज्ञानिक शिक्षण पर। लेकिन उसका मानना था कि भारत में वांछित परिवर्तन लाने के लिए शिक्षा ही पर्याप्त नहीं है। इस उद्देश्य से वैधानिक एवं प्रशासनिक सुधार भी आवश्यक हैं।

संक्षेप में, विभिन्न गुटों की जिनकों आंग्लिसिस्ट कहा जा सकता है, आम धारणा यह थी कि भारतीय पिछड़ेपन की स्थिति में थे और अंग्रेजी भाषा के माध्यम से पाश्चात्य शिक्षा ही इसका समाधान था, लेकिन यह शिक्षा व्यवसाध्य थी। इसलिए ऐसे जनसमूहों को शिक्षित करना आवश्यक था जो क्रमशः समूचे समाज को शिक्षित कर सकें (शिक्षा अभिजनों के स्तर से व्यापक जन समुदाय तक छनकर नीचे पहुंचेगी)। इस प्रकार यह भारत में नये सांस्कृतिक मूल्यों तथा ज्ञान के विकास में सहायक होगी। इस प्रस्ताव को परवर्तीकाल में Filteration Theory की संज्ञा दी गई। भारत में अंग्रेजी शिक्षा की शुरुआत को समर्थन देने का मिशनरियों का पूर्णतया भिन्न तर्क था। मिशनरियों का इरादा था शिक्षा के माध्यम से स्थानीय समाज तक पहुंचने का और नये सांस्कृतिक मूल्यों के प्रचार, का जो जनसमुदाय को ईसाई धर्म की ओर अधिकाधिक आकर्षित कर सकें।

MAADHYAM IAS

शिक्षा नीति संबंधी इस विवाद पर भारतीयों की प्रतिक्रिया मिली-जुली थी राममोहन राय इत्यादि ने इस विश्वास के साथ पाश्चात्य शिक्षा का पक्षपोषण किया था कि इसकी सहायता से भारतीय पाश्चात्य विज्ञान, हेतुवाद, नये विचारों एवं साहित्य का अनुशीलन कर सकेंगे। इससे देश की पुनर्रचना में सहायता मिलेगी। कुछ अन्य लोगों का विश्वास था कि पाश्चात्य शिक्षा, विशेषकर अंग्रेज़ी ज्ञान, पाश्चात्य शिक्षा के पक्षधर शासक समुदाय के निकट आने में सहायक होगा। इसके विपरीत स्थिति थी परंपरावादियों की जो भारतीय भाषा एवं संस्कृति के घोर समर्थक थे। उनकी आशंका थी कि पाश्चात्य शिक्षा समाज तथा संस्कृति के विघटन की ओर ले जायेगी।

इस प्रकार, उपरोक्त विवेचन में हमें शिक्षा के विकास में कंपनी की भूमिका को लेकर भारतीयों तथा यूरोपीयों के बीच विभिन्न मत मतांतरों का पता चलता है। अगले भाग में हम **1757-1857** की अवधि में भारतीय शिक्षा में हुए प्रमुख विकासक्रम को देख पायेंगे।

बोध प्रश्न 1

1) 100 शब्दों में स्वदेशी शिक्षा व्यवस्था का मूल्यांकन करें।

....

....

....

....

....

....

....

....

....

....

2) 50 शब्दों में पाश्चात्य अध्ययन के संवर्धन की ओर भारतीयों के रुझान के बारे में लिखें।

....

....

....

....

....

3) निम्न वाक्यों को पढ़ें और सही (✓) अथवा गलत (×) के चिह्न अंकित करें।

   i) स्वदेशी शिक्षा व्यवस्था में व्यापक जनशिक्षा की उपेक्षा की गई।

   ii) स्वदेशी व्यवस्था में महिलाएं आमतौर पर शिक्षा से प्रवंचित थीं।

   iii) आरंभ में कंपनी कर्मचारियों ने स्वदेशी शिक्षा में किसी भी प्रकार के हस्तक्षेप से अपने को अलग रखा।

   iv) ऑंग्लिसिस्ट (Anglicists) पाश्चात्य शिक्षा को प्रोत्साहन देना चाहते थे, भारत को आधुनिक बनाने के उद्देश्य से।

21.5 अंग्रेज़ी शिक्षा का विकास

MAADHYAM IAS

जैसा कि आपने अभी देखा, अंग्रेजी शिक्षा की शुरुआत उन्नीसवीं सदी के आरंभ में ही पाई जा सकती है। उसके पहले मिशनरियों अथवा कतिपय व्यक्तियों द्वारा किये गये प्रयासों की प्रकृति सीमित थी। इस संबंध में तंजोर, रामनाड तथा शिवगंगा के श्वार्त्स स्कूलों, सीरामपुर स्थित बाप्टिस्ट मिशनरियों, लंदन मिशन सोसाइटी, बंबई स्थित अमेरिकन मेथाडिस्ट्स इत्यादि का उल्लेख किया जा सकता है। आधुनिक शिक्षा के क्षेत्र में उनकी प्रवर्तक भूमिका थी। इन मिशनरी क्रियाकलापों और चार्ल्स ग्रांट व विलियम विल्बरफोर्स जैसे अंग्रेज नागरिकों के दबाव से कंपनी शिक्षा के क्षेत्र में पहल न करने की नीति छोड़ने को बाध्य हुई। पहली बार ब्रिटेन की संसद ने कंपनी के चार्टर में यह अनुच्छेद शामिल किया कि कौंसिल गवर्नर जनरल को प्रतिवर्ष कम से कम एक लाख रुपये शिक्षा के मद में रखने पड़ेंगे। लेकिन कंपनी ने इस कोष का इस्तेमाल मुख्यतः भारतीय भाषा एवं साहित्य के संवर्धन तथा प्रोत्साहन में ही किया। 1813 के चार्टर एक्ट का महत्व इस बात में है कि कंपनी ने पहली बार भारत में शैक्षिक संवर्धन संबंधी राजकीय दायित्व को मान्यता दी।

१. एक ब्राह्मण के साथ विलियम केरी

1823 में भारत में शिक्षा के विकास की देखरेख के लिए "जनरल कमेटी ऑफ पब्लिक इंस्ट्रक्शन" (General Committee of Public Instruction) गठित की गई। इस कमेटी के अधिकांश सदस्य ओरियंटलिस्ट समूह के थे और उन्होंने पाश्चात्य शिक्षा के बजाय प्राच्यविद्या को प्रोत्साहन देने का ही प्रबल समर्थन किया। फिर भी जैसा कि हम पिछले खंड में चर्चा कर चुके हैं, इंग्लैंड तथा भारत दोनों ही देशों में विभिन्न तबकों ने ब्रिटेन की संसद तथा कंपनी पर पाश्चात्य अध्ययन को बढ़ावा देने के लिए अधिकाधिक दबाव डाला। जनरल कमेटी ऑफ पब्लिक इंस्ट्रक्शन के अध्यक्ष मैकाले तथा गवर्नर जनरल लार्ड बैंटिंक ने आंग्लिसिस्टों का पक्ष लिया। बैंटिंक ने आदेश जारी किया कि "अब से भारत में ब्रिटिश सरकार का एक प्रमुख लक्ष्य होगा यूरोपीय साहित्य और विज्ञान का संवर्धन, और यह कि शिक्षा के लिए जुटाये गये कोष का सर्वोत्तम उपयोग अंग्रेज़ी शिक्षा के लिए ही हो सकता है।" बैंटिंक द्वारा 1835 में घोषित प्रस्ताव के कुछ महत्वपूर्ण बिंदु निम्नांकित हैं:

- राजभाषा के रूप में फारसी का स्थान अंग्रेजी लेगी।
- अंग्रेजी पुस्तकों का मुद्रण तथा प्रकाशन निःशुल्क कर दिया जाएगा और उन्हें अपेक्षाकृत कम कीमत पर सुलभ बनाया जाएगा।
- अंग्रेज़ी शिक्षा के पोषण के लिए और अधिक कोष जुटाया जाएगा जबकि प्राच्यविद्या के लिए कोष में कटौती कर दी जाएगी।

बैंटिंक के बाद गवर्नर जनरल का पद संभालने वाले आकलैंड का भी विश्वास था, भारत में अंग्रेजी शिक्षा को प्रोत्साहन देने की आवश्यकता में। उसने ढाका, पटना, बनारस, इलाहाबाद, आगरा, दिल्ली और बरेली में और कई अंग्रेजी कॉलेज खोलने की सिफारिश की। ज.क.प.इ. 1841 में खत्म कर दी गई और इसका स्थान कौंसिल ऑफ एजुकेशन ने लिया। इस कालखंड में अंग्रेजी शिक्षा के विकास का अगला प्रमुख प्रतीक चिह्न बना 1854 का "वुड डिस्पैच"। बोर्ड ऑफ कंट्रोल के अध्यक्ष सर चार्ल्स वुड ने 1854 में उस नीति का निर्धारण किया जो भारत सरकार के शैक्षिक कार्यक्रम का निर्देशक सिद्धांत बनी। डिस्पैच में स्पष्ट रूप से घोषित किया गया था:

"भारत में जिस प्रकार की शिक्षा को व्यापक होते देखने की आकांक्षा हम रखते हैं, वह अपने यूरोप की परिष्कृत कलाओं, विज्ञान, दर्शन एवं साहित्य, संक्षेप में, यूरोपीय ज्ञान के प्रचार-प्रसार का उद्देश्य रखती है।" डिस्पैच की प्रमुख सिफारिशें इस प्रकार थीं:

MAADHYAM IAS
way to achieve your dream

- कंपनी के अधीनस्थ पाँचों प्रान्तों में जन-अनुदेश के लिए एक विभाग का गठन किया जाएगा।
- कलकत्ता, बंबई और मद्रास में विश्वविद्यालय की स्थापना की जाएगी।
- श्रेणीक्रमबद्ध विद्यालयों—उच्च, माध्यमिक तथा प्राथमिक विद्यालयों—का एक नेटवर्क बनाया जाएगा।
- अध्यापक प्रशिक्षण संस्थानों की स्थापना की जाएगी।
- स्थानीय शाखा के विद्यालयों को प्रोत्साहन दिया जाएगा।
- विद्यालयों को आर्थिक सहायता देने के लिए अनुदान-व्यवस्था की शुरुआत की जाएगी।

1857 में कलकत्ता, बंबई और मद्रास में तीन विश्वविद्यायों की स्थापना की गई। विश्वविद्यालयों की स्थापना और प्रांतों में शिक्षा विभागों की शुरुआत से भारत में आधुनिक शिक्षा को आधारभूत ढाँचा मिला। वास्तव में वुड डिस्पैच भारत में शिक्षा के अनुवर्ती विकास के लिए प्रतिरूप बन गया।

भारत में पाश्चात्य अध्ययन के विकास के लिए जब यह आधिकारिक पहल की गई, उसी अवधि में मिशनरियों तथा कुछेक व्यक्तियों द्वारा भी पाश्चात्य शिक्षा के संवर्धन के लिए आधिकारिक प्रयास किये गये थे। बंगाल के महत्वपूर्ण कॉलेजों में से कुछ की स्थापना ईसाई मिशनरियों ने की थी। इन मिशनरियों ने भारतीयों के बीच पाश्चात्य ज्ञान के प्रसार की आरंभिक मंज़िल पर प्रशंसनीय कार्य किया, यद्यपि उनका मूल उद्देश्य लोगों को ईसाई

धर्म की ओर आकर्षित करना था। मिशनरियों के अलावा कुछ व्यक्तियों ने कलकत्ता में अंग्रेजी शिक्षा को बढ़ावा देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। कलकत्ता में स्कूलों की स्थापना करने तथा स्थानीय स्कूलों हेतु अध्यापकों के प्रशिक्षण के लिए नेटिव स्कूल एंड बुक सोसाइटी की स्थापना की गई। हिंदू (बाद में प्रेसिडेंसी कॉलेज नाम से प्रसिद्ध) कॉलेज की स्थापना कलकत्ता में डेविड हेयर तथा कुछ महत्वपूर्ण हिंदू नागरिकों ने की, जिससे भारतीयों में धर्मनिरपेक्ष शिक्षा का प्रचार-प्रसार सुगम हो गया। डेविड हेयर धार्मिक आस्थाओं तथा संस्कृत व अरबी भाषा-शिक्षण के विरुद्ध था। महिलाओं के परम समर्थक जे.इ.डी. बेथ्यून ने कलकत्ता में गर्ल्स स्कूल की स्थापना की। विद्यासागर ने बंगाल में महिलाओं का समर्थन किया। इन सभी संस्थाओं को स्थानीय जनता की अनुकूल प्रतिक्रिया मिली, जिसने शैक्षिक अवसरों के और अधिक प्रसार के लिए अंग्रेजों से माँग की।

इस प्रकार बंबई और मद्रास में भी मिशनरी स्कूलों की स्थापना की गई। बंबई में नेटिव एजुकेशन सोसाइटी तथा एलफिंस्टन कॉलेज की स्थापना महत्वपूर्ण विकास था, जिसने कलकत्ता के हिंदू कॉलेज जैसी ही भूमिका निभाई। मद्रास में 1837 में क्रिश्चियन कॉलेज तथा 1853 में प्रेसिडेंसी कॉलेज की स्थापना की गई। उत्तर प्रदेश में पहले अंग्रेजी माध्यम से शिक्षा देने वाले कॉलेज की स्थापना 1853 में की गई। इस प्रकार 18वीं सदी के छठे दशक तक हम पाते हैं कि भारत के अधिकांश प्रांतों में आधुनिक शिक्षा की आधारशिला स्थापित कर दी गई थी।

21.6 एक परिकलन

उपरोक्त विवेचन से हमें अंग्रेजी शिक्षा के क्रमिक विकास का पता चलता है। सरकार ने 19वीं सदी में स्थानीय शिक्षा व्यवस्था की उपेक्षा करते हुए इस प्रणाली को प्रोत्साहन दिया। भारत में अंग्रेजी शिक्षा का प्रसार एक सुदीर्घ प्रक्रिया थी और यह कई भिन्न चरणों से गुजरी। शिक्षा नीति को एक परिपक्व स्वरूप उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में मिला। फिर भी, 1857 तक शिक्षा में आये परिवर्तनों का निकट परीक्षण आवश्यक है। निस्संदेह, नई शिक्षा ने ज्ञान का क्षितिज व्यापक बनाया। विशेषकर प्रिंटिंग प्रेस की स्थापना और पुस्तकों की सुलभता ने पारंपरिक बाधाओं को दूर करके अधिकाधिक लोगों के लिए शिक्षा को सुगम बनाया। पाश्चात्य चिंतकों के विचारों ने स्थानीय समाज की तरुण पीढ़ी को प्रभावित किया और वे वर्तमान पारंपरिक मूल्यों को प्रश्नाधीन बनाने लगे। हेतुवाद (Rationalism) की एक नई चेतना विकसित हुई। बहरहाल इस सकारात्मक प्रयास से भी अंग्रेजी शिक्षा की खामियों को खत्म नहीं किया जा सका।

अंग्रेजी शिक्षा व्यवस्था ने व्यापक जनशिक्षा के महत्व की पूरी तरह उपेक्षा की। स्वदेशी व्यवस्था के अंतर्गत प्राथमिक विद्यालयों के माध्यम से समाज के व्यापक तबकों को बुनियादी शिक्षा मिलती थी। लेकिन नई शिक्षा के अंतर्गत समूची जनता के बजाय कुछ गिने-चुने लोगों की ही शिक्षा पर बल दिया जाता था। अभिजनों के स्तर से जनसमुदाय तक शिक्षा के छनकर पहुँचने का विचार व्यावहारिक रूप नहीं ले सका। इस व्यवस्था ने सभी के लिए शिक्षा का समान अवसर नहीं दिया और सामाजिक रूप से पिछड़ी जातियों तथा समुदायों के पिछड़ेपन को बरकरार रखा। समाज में समुपस्थित विभाजन और व्यापक बन गया।

दूसरी बात यह थी कि पाश्चात्य विज्ञान एवं तकनीकी समर्थन के बावजूद स्कूलों-कॉलेजों के पाठ्यक्रम में पाश्चात्य साहित्य, दर्शन और मानविकी पर ही बल दिया जाता था। तकनीकी तथा प्राकृतिक विज्ञानों की उपेक्षा की गई और इस प्रकार के ज्ञान के बिना देश के बौद्धिक विकास के साथ-साथ आर्थिक विकास भी अवरुद्ध हो जाता है। इस नई शिक्षा का दूसरा पहलू था — शिक्षा का राजनीतिक सत्ता के अधीनस्थ बन जाना। **ओरियंटलिस्ट** हों अथवा **आंग्लिसिस्ट** उनके द्वारा प्रस्तावित शिक्षानीति का बुनियादी उद्देश्य था — औपनिवेशिक शासन को सुदृढ़ बनाना। **ओरियंटलिस्ट** यह काम स्वदेशीकरण के माध्यम से और **आंग्लिसिस्ट** पश्चिमीकरण के माध्यम से करना चाहते थे। शिक्षानीति का बुनियादी उद्देश्य औपनिवेशिक शासन के राजनीतिक हितों से अलग नहीं हो सकता था।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि सरकार की शिक्षानीति के भावी स्वरूप के बारे में व्यक्तियों तथा विचार-सारणियों के बीच भिन्नताएँ थीं। 19वीं सदी के पूर्वार्द्ध में शिक्षा नीति मतभेदों तथा विविध विचार-रूपों की उपज थी। समग्र रूप में, औपनिवेशिक प्रशासन अपने हितों की ही पुष्टि करने वाली शिक्षा नीति को प्रोत्साहन देने के लिए उत्सुक था।

बोध प्रश्न 2

1) 1835 और 1857 के बीच आधिकारिक शिक्षानीति का विवेचन करें। 100 शब्दों में उत्तर लिखें।

....
....
....
....
....
....
....
....
....
....

2) भारत में अंग्रेजी शिक्षा के प्रभावों पर एक आलोचनात्मक टिप्पणी लिखें। उत्तर 100 शब्दों में दें।

MAADHYAM IAS
way to achieve your dream

....
....
....
....
....
....
....
....
....
....

21.7 सारांश

इस इकाई में हमने देखा है, कि प्रकार अंग्रेजों ने स्वदेशी शिक्षा व्यवस्था के स्थान पर नई शिक्षा को आरोपित किया। अनेक अंग्रेज नागरिक ऐसे थे जिन्होंने प्राच्यविद्या को प्रोत्साहन देने का प्रयास किया क्योंकि उनके विचार में पाश्चात्य शिक्षा स्थानीय समाज में विविध प्रतिक्रियाओं को जन्म दे सकती थी फिर भी पाश्चात्य अध्ययन के संवर्धन के लिए नये स्कूलों-कॉलेजों की स्थापना की गई। इस पाश्चात्य शिक्षा के फलस्वरूप अनुसंधान की एक नई चेतना का विकास हुआ। लेकिन इस शिक्षा नीति ने वैज्ञानिक एवं तकनीकी शिक्षा की उपेक्षा की और इसके वास्तविक लाभकर्ता उच्चवर्गीय व्यक्ति ही थे। इस प्रकार अंग्रेजी शिक्षा के साथ आने वाला परिवर्तन बहुत सीमित प्रकृति का था।

21.8 शब्दावली

आंग्लिसिस्ट: भारत में पाश्चात्य शिक्षा के पक्षधर कंपनी कर्मचारी।

इवैंजेलिकल: इंग्लैंड में प्रोटेस्टैंट ईसाइयों का समुदाय जो ईसा मसीह तथा व्यक्तिगत प्रयासों की श्रेष्ठता पर विश्वास करता था। वे मानवीय प्रगति को ईसा मसीह तथा ईसाई संस्कृति में आस्था के माध्यम से ही संभव मानते थे।

उदारवादी (लिबरल): 19वीं सदी इंग्लैंड में एक नया राजनीतिक दल, लिबरल पार्टी के नाम से उभरा। इस पार्टी के सदस्य उदारवादिता में विश्वास करते थे और विचार एवं अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का समर्थन करते थे।

ओरिएंटलिस्ट: भारतीय संस्कृति, परंपरा और भाषाओं के संवर्धन के पक्षधर।

21.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) आपका उत्तर स्वदेशी शिक्षा व्यवस्था की मुख्य विशेषताओं, उसकी खामियों और खूबियों पर केन्द्रित होना चाहिए। देखें भाग 21.3

2) प्रतिक्रिया का स्वरूप मिला-जुला था, कुछ ने पाश्चात्य शिक्षा का पक्ष लिया, कुछ उसके आलोचक थे। देखें भाग 21.4

3) i) ✗ ii) ✓ iii) ✓ iv) ✗

बोध प्रश्न 2

1) आपके उत्तर में बैंटिंक प्रस्ताव, ऑकलैंड नीति तथा वुड डिस्पैच शामिल होने चाहिए।

2) आपको अंग्रेज़ी शिक्षा के सकारात्मक योगदान का एक मूल्यांकन करना है और उसकी सीमाओं का उल्लेख करना है। देखें भाग 21.6

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

इकाई 22 पाश्चात्य ज्ञान और भारतीय मानस

इकाई की रूपरेखा

22.0 उद्देश्य
22.1 प्रस्तावना
22.2 संकट के बाद
22.3 एक नई मानसिकता
22.4 नई मानसिकता के आरंभ बिन्दु
22.5 पाश्चात्य ज्ञान के प्रभाव
22.6 हेतुवाद की नई धारा
22.7 एक नया स्वच्छंदतावाद
22.8 सारांश
22.9 शब्दावली
22.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

22.0 उद्देश्य

इस इकाई से आप :

- औपनिवेशिक परिवेश में भारतीय चिंतन के प्रमुख सरोकारों,
- पाश्चात्य-ज्ञान के प्रभाव की मुख्य धाराओं, और
- उपरोक्त प्रभाव से जुड़ी समस्याओं का परिचय प्राप्त करेंगे।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

22.1 प्रस्तावना

पिछली इकाइयों के अंतर्गत आप यह पढ़ चुके हैं कि भारतवर्ष मुगल साम्राज्य के विध्वंस से एक औपनिवेशिक परिवेश की स्थापना की दिशा में कैसे बढ़ा। इस विकासक्रम ने भारतीय मानस को अपनी संस्कृति एवं समाज के बारे में पुनर्विचार और नई सामाजिक शक्तियों की ओर समुचित प्रतिक्रिया के लिए बाध्य किया, यह इस इकाई में हमारी विवेचना का विषय है।

22.2 संकट के बाद

मुगल साम्राज्य के संकटों के क्रम में परिवर्तित स्थिति का सामना करने की आवश्यकता ने समूचे भारत में अस्मिता की परिभाषा की आकांक्षा को जन्म दिया। इस नई राजनीतिक परिस्थिति ने भारतीय मानस के सामने पुनर्परिभाषा और समायोजन की समस्याएँ रखीं।

इन समस्याओं को आरंभिक काल में वर्ग एवं परंपरा से प्राप्त साधनों से सुलझाया जाता था। इस आवश्यकता के फलस्वरूप अनेक प्रतिस्पर्धी समुदाय और नेतृत्व-समूह उभरे, जिनके सार्वजनिक विवादों ने धार्मिक एवं सांस्कृतिक अस्मिता-बोध को बल दिया।

इस प्रसंग में हम बंगाल का एक उदाहरण पाते हैं, जहाँ फैराजियों, मुहमदियों के आंदोलन ने अनेक रूपों में, इस्लाम की विगत "विशुद्धता" की ओर लौटने का समर्थन किया। इन

आंदोलनों की ओर आकर्षित होने वाले किसानों व दस्तकारों की विशेष सामाजिक स्थिति के चलते, ये आंदोलन अनिवार्यतः आर्थिक संघर्षों की दिशा में मुड़े। इस प्रकार किसान जमींदार संघर्षों को एक धार्मिक रंगत मिली। इस संघर्ष में एक महत्वपूर्ण व्यक्तित्व था तीतू-मीर जिसके विद्रोह को सरकार-विरोधी स्वरूप लेते ही कुचल दिया गया।

बहरहाल, उपरोक्त राजनीतिक-आर्थिक पहलुओं से परे, इन विविध समूहों के बीच उपजे विवाद एवं विभेद भी उतने ही महत्वपूर्ण थे। इन विवादों ने विगत "विशुद्धता" की ओर वापसी में निहित धार्मिक आस्था संबंधी प्रश्नों को उभारा और स्पष्ट किया। पंजाब में सिख धर्म के नामधारी और निरंकारी अनुयायियों के बीच विवृत्तियों-चर्चाओं ने ऐसी ही भूमिका निभाई। उड़ीसा और मध्यप्रदेश में सत्यमहिमा धर्म और सतनामियों ने निचली जातियों व आदिवासियों के बीच धार्मिक पवित्रता संबंधी प्रश्नों को केंद्रित अभिव्यक्ति दी। दक्षिण भारत के नाडार समुदाय ने अपनी अस्मिता के परिज्ञान एवं प्रतिष्ठान के लिए विकल्प रूप में ईसाई धर्म अपनाया।

नाडार ईसाइयों के अलावा अन्य सभी आंदोलनों ने अपने ही धर्म के केन्द्रीय प्रश्न उठाये। इनके अधीन सामुदायिक-लामबंदी की प्रक्रिया को बल देने का प्रयास किया, निरंकारियों के बीच मिलने वाले सामुदायिक भंडारे (लंगर) से लेकर बंगाल, बिहार के मुसलमानों के बीच सामूहिक प्रार्थना (नमाज) तक अनेक तरीके अपनाते हुए। समाज में महिलाओं की स्थिति, जाति-व्यवस्था और पूजा-विधि जैसे अनेक मसलों पर चर्चा होती थी और उन्हें अतीत के व्यवहारों व "पवित्रता" संबंधी विचारों के उल्लेख से सुलझाने का प्रयास किया जाता था। इस प्रकार, न केवल शहरी शिक्षा प्राप्त मध्यमवर्गीय सुधारकों व चिंतकों (जिनकी आगे चर्चा की गई है), बल्कि सामान्य जनसमुदाय के जीवन को भी सांस्कृतिक अस्मिता से जुड़े प्रश्न उद्वेलित कर रहे थे। इन प्रश्नों का अभिव्यक्ति-रूप अक्सर धार्मिक शब्दावली से प्रभावित होता था।

22.3 एक नई मानसिकता

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

इस तथ्य को व्यापक रूप से मान्यता दी गई है कि उन्नीसवीं सदी में उभरने वाली नई, आधुनिक भारतीय संस्कृति एवं चेतना के निर्माण में पाश्चात्य शिक्षा और बौद्धिक आदान-प्रदान का प्रभाव एक सुदीर्घ समीक्षाकारी शक्ति था। इस नई पुनर्जागरण-कालीन चेतना के घटक तत्व सेक्यूलर और धार्मिक दोनों ही थे, तथा परंपरा और आधुनिकता का समन्वय उनका लक्ष्य था। इसके फलस्वरूप एक नया दृष्टिकोण, एक नया मूल्य-समुच्चय सामने आया जिसका समावेश हम धार्मिक अनुभवों और सुधार प्रयासों के साथ-साथ सेक्यूलर साहित्यिक अभिव्यक्तियों में भी पाते हैं। इसीलिए एकेश्वरवादी धर्म में, कर्मकांड की अपेक्षा ईश्वर में, धार्मिक आचारों की अपेक्षा स्नेह और श्रद्धा में अधिक अटूट आस्था के दर्शन हम करते हैं। इस नई मनोवृत्ति का प्रतिबिंबन हम साहित्य में भी पाते हैं, जो सूक्ष्मतर भावनात्मक अनुभवों, मानवीय चेतना की जय-गाथाओं और स्त्री-पुरुष संबंधों के अधिक सहानुभूतिशील बोध की ओर प्रवृत्त हुआ। न्याय एवं विवेक की अवधारणाओं को व्यापक मान्यता मिली क्योंकि समकालीन बौद्धिकों और सिद्धांतकारों ने विश्व के एक अधिक न्यायसंगत, विवेकपूर्ण और समीक्षात्मक पुनर्व्यवस्थापन का पक्ष लिया। वह अनुभव-पुंज, जिसे पुनर्जागरण की सामूहिक संज्ञा दी जाती है, उन्नीसवीं सदी के आरंभ में बंगाल में शुरू हुआ और बाद में अन्य स्थानों पर। जागरूकता के विकास-क्रम में हम क्षेत्रीय विभिन्नता पाते हैं लेकिन विविधता में अंतर्व्याप्त एक सार्व भावनात्मक अंतर्वस्तु है, जिसका बोध क्षेत्रीय साहित्य की अभिवृद्धि से होता है।

पाश्चात्य प्रभाव और भारतीय पुनर्जागरण का अंतःसंबंध अत्यधिक विवाद का विषय बना है। एक प्रकार की तर्कना के अनुसार पश्चिम के सभ्यता-अभियान ने निष्क्रियता और पतनशीलता के गर्त में पड़े भारतीय समाज को आधुनिकता की दिशा में प्रवृत्त किया। एक ईसाई मिशनरी, जे.एन. फारकुहर (J.N. Farquhar) के अनुसार, "उत्प्रेरक शक्तियों का संबंध मुख्यतया पश्चिम से है, अंग्रेजी सरकार, अंग्रेजी शिक्षा और साहित्य, ईसाई धर्म, प्राच्यविधा संबंधी अनुसंधान, यूरोपीय विज्ञान और दर्शन, तथा पाश्चात्य सभ्यता के

भौतिक तत्व'' एक दूसरी विचार सारणी के अनुसार पाश्चात्य विचार और प्रशासनिक व्यवहार कठोर एवं जटिल भारतीय वास्तविकताओं के सापेक्ष कुछ अधिक प्रभावी सिद्ध नहीं हो सके। परिवर्तन की प्रक्रिया एक प्रकार आंशिक और अपूर्ण ही रही। एक तीसरा मत यह है कि पाश्चात्य विचार और व्यवहार भारतीय समाज को उपनिवेश बनाने के साधन मात्र थे, जिनसे एक-एक मिथ्यापूर्ण और सतही आधुनिकता भर को ही जन्म दिया जा सकता था।

यह प्रक्रिया उससे कहीं अधिक जटिल थी जैसा कि उपरोक्त किसी भी व्याख्या से आभास मिलता है। इस बात पर बल दिया जाना चाहिए कि भारत में समीक्षाशील जागरूक चेतना का उदय सेक्युलर-सांस्कृतिक परिघटना मात्र नहीं बल्कि एकाधिक दृष्टियों से धार्मिक पुनर्रचना—अभियान भी था। सामाजिक-धार्मिक स्वरूप और साहित्यिक-कलात्मक आंदोलन एक जीवंत समग्रता बनते थे। दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि पुनर्जागरण कालीन संस्कृति गहन रूपों में स्वदेशी थी, भारत में आधुनिकता पश्चिम के प्रतिरूपों की लुंज-पुंज और विद्रूप अनुकृति मात्र नहीं थी। टैगोर की दृष्टि के अनुसार, यह एक ऐसा समन्वय थी जिसके अधीन शाश्वत, परिवर्तनशील भारतीय सभ्यता ने नये तत्वों को निपुणता से रचा-बसा लिया। आधुनिक ज्ञान के प्रकाश में भारत ने अपने अतीत पर आलोचनात्मक दृष्टि डाली और उस अतीत एवं बाह्य विश्व की श्रेष्ठ परंपराओं से प्राप्त समुचित तत्वों के समन्वय से अपनी पुनर्रचना की। इस प्रक्रिया का कोई पूर्ववर्ती स्वरूप न हो, ऐसा नहीं है। मध्यकालीन भक्ति-आंदोलन जैसे अंतरावलोकनमूलक अतीत में स्थान ले चुके थे। लेकिन पुनर्जागरण आंदोलन ने ऐसे तत्वों का अंत:संयोजन किया जो नये और प्रत्यक्ष रूपों में पाश्चात्य थे।

भारतीय जनमानस पर पाश्चात्य प्रभाव ऐसी संचालक शक्ति था, जिसने आत्मान्वेषण की आलोचनात्मक वृत्ति उभारते हुए भारतीय समाज की प्रभुत्वशाली प्रवृत्तियों को सतह पर ला दिया। इसलिए कंपनी के राजनीतिक शासन की स्थापना के साथ बने नये राजनीतिक एवं सामाजिक परिवेश के संदर्भ में उपरोक्त नई चेतना का क्रमिक विकास समझने का प्रयास आवश्यक है। पाश्चात्य प्रभाव, रानाडे के शब्दों में, विदेशी उर्वरक, शिक्षा-व्यवस्था, शैक्षिक एवं सांस्कृतिक संगठनों, अदालतों, मिशनरी संस्थाओं और प्रेस के माध्यम से संचारित हुआ था। इन संस्थाओं के कार्यों का सीधा प्रतिफल था पाश्चात्य विचारों का प्रचार-प्रसार और एक भिन्न परिवेश में भारतीय मध्यम वर्ग जैसी एक नई सामाजिक श्रेणी का उदय। इन सांगठनिक रूपों के अलावा ब्रिटिश प्रशासन से पड़ने वाला ''आकाशीय प्रभाव'' भी था, जिसका उल्लेख सैयद अब्दुल लतीफ करते हैं। परिवर्तन के संवाहक संगठनों के अलावा अन्य रीतियों और पश्चिम के माध्यमों से भी पाश्चात्य विचारों ने जनमानस में प्रवेश किया। इन परोक्ष माध्यमों में सर्वाति महत्वपूर्ण था पाश्चात्य साहित्य जो उन्नीसवीं सदी के मध्यकाल तक शहरी मध्यम वर्गों में बहुत लोकप्रिय हो चला था।

उपरोक्त विवेचन का आशय यह नहीं कि पाश्चात्य प्रभावों के ही कारण भारतीय समाज में परिवर्तन आया। वह प्रभाव एक ऐसा तत्व भर था जिसने परिवर्तनों को तेज कर दिया जो भारत के हिंदू और मुस्लिम जनसमुदाय को प्रभावित कर रहे थे। म.गो. रानाडे की दृष्टि में, ''किसी विजातीय प्रतिरोपित पौधे के फूलने-फलने की संभावनाएँ तब तक नहीं बनतीं, जब तक कि उस कोमल पौधे की जड़ें जिसपर उसका प्रतिरोपण किया जाना है, अपनी स्वदेशी भूमि में गहरे तक न फैल चुकी हों। इस प्रकार जब जीवंत वृक्ष को पोषण और पानी मिलता है, विदेशी उर्वरक उसकी सुरभि और सुंदरता की अभिवृद्धि करता है।''

22.4 नई मानसिकता के आरंभ-बिन्दु

पाश्चात्य चिंतन से भारतीय जनमानस का गहरा और सच्चा संपर्क 19वीं सदी के तीसरे-चौथे दशक तक नहीं हुआ था, जब कलकत्ता में दो प्रतिस्पर्धी समाज-मंडल अस्तित्व में आये—द्वारकानाथ टैगोर और राजा राममोहन राय के नेतृत्व में ''प्रगतिशील'' मंडल और राधाकांत देव के नेतृत्व में ''परंपरावादी'' मंडल। कलकत्ता के

सामाजिक-बौद्धिक इतिहास में, "पुनर्जागरण" का आभास कराने वाला यह चरण तब शुरू हुआ जब राममोहन ने 1816 में कलकत्ता को अपना आवास बना लिया। इसके पहले 1805 के आसपास राममोहन राय ने मुर्शिदाबाद से अपनी फारसी पुस्तक तुहाफतुल मुवाहिदीन प्रकाशित की थी, जिसने व्यापक विवादों को उभारा था। विवादों के ब्यौरों में जाना हमारे लिए आवश्यक नहीं, फिर भी यह बात ध्यान में रखना महत्वपूर्ण है कि विवादकों ने तर्क एवं विवेक का सहारा लेने का आग्रह किया। विशेषकर राममोहन का जोर आगमनात्मक तर्कना पर था: "अनेकानेक ऐसी चीजें हैं, उदाहरण के लिए, यूरोपीय जनसमुदाय के अनेक अद्भुत आविष्कार और जादूगरों के करिश्में, जिनके कारण निश्चय ही ज्ञात नहीं है और जो मानवीय बोध-सामर्थ्य के परे प्रतीत होते हैं। लेकिन एक सूक्ष्म अंतर्दृष्टि अथवा समुचित निर्देश के अधीन उन कारणों का संतोषजनक ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है।" यह आगमनात्मक तर्कना प्रबुद्ध व्यक्तियों के लिए अतिभौतिक घटनाओं से जनित भ्रांति से बचाव का समुचित साधन बनती है। इस प्रकार राममोहन वैज्ञानिक पर्यवेक्षण के महत्व का बहुत दूर तक बोध कर चुके थे। उन्होंने "दिव्यज्ञान" संबंधी सभी अवधारणाओं को प्रश्नाधीन बनाया, उन्हें असाध्य घोषित करते हुए। इन विवादों के प्रसंग में महत्वपूर्ण बात यह है कि राममोहन राय ने अभी तक लार्क अथवा न्यूटन के विचारों को पढ़ा–अपनाया नहीं था।

दूसरी ओर जुड़ी हुई उल्लेखनीय बात यह है कि विवादकों ने एक-दूसरे पर समाज-कल्याण की उपेक्षा का आरोप लगाया और इस प्रकार उपयोगिता के विचार से अपनी परोक्ष प्रतिबद्धता व्यक्त की। राममोहन ने उन सभी धार्मिक आचारों की भर्त्सना की जो सामाजिक जीवन के लिए घातक थे, सामाजिक दशा में सुधार की दिशा में ले जाने वाले नहीं थे। उनकी दृष्टि से, धर्म की महत्ता परलोक में संभावित दंड-भय में निहित है।

इस प्रकार बंगाल में हेतुवाद की धारा, एक अर्थ में, उस सतही पाश्चात्य प्रभाव से पहले की है, जिसने मुख्यतः एक उत्प्रेरक के रूप में परिवर्तन की गति को तेज बनाया।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

बोध प्रश्न 1

1) मुगल साम्राज्य के पतन में अस्मिता के संकट पर विजय पाने में धर्म किस प्रकार सहायक बना?

....

....

....

....

2) बंगाल में हेतुवाद की धारा ने परिवर्तन की गति को कैसे तेज बनाया?

....

....

....

....

22.5 पाश्चात्य ज्ञान के प्रभाव

संबद्ध हेतुवाद के उदीयमान नीत्याचार ने पहली बार बंगाल में कलकत्ता के हिंदू कॉलेज (1817) के रूप में सांस्थानिक स्वरूप लिया। कुछ संपन्न बंगालियों ने, जिनमें परंपरावादी भी थे, गैर-अधिकारी यूरोपियों के साथ मिलकर इस कॉलेज की स्थापना की थी। कॉलेज के पितातुल्य संस्थापक माने जाने वाले राममोहन ने स्वयं को जानबूझ कर अलग-थलग रखा, इस डर से कि संरक्षक पद संभालने वाले राधाकांत देव जैसे परंपरावादी हिंदुओं का विरोध और न बढ़ जाए। लेकिन उदारवादी विचारों से प्रभावित बंगाली युवकों के सहज, संघजात उग्रवादी रुझान को नियंत्रित करना शायद ही संभव था, वे कॉलेज के एक शिक्षक

हेनरी लुई विवियन देरोजियो का अनुसरण करने लगे। देरोजियो के निष्कासन से भी हेतुवाद की उमड़ती लहर को रोका नहीं जा सका जो अधिकाधिक शक्ति से अपना प्रभाव छोड़ती रही।

हिंदू कॉलेज की स्थापना के बाद ही स्कूल बुक सोसाइटी और स्कूल सोसाइटी का गठन हुआ जिसने कलकत्ता में स्कूल शिक्षा की स्थिति सुधारने में केंद्रीय भूमिका निभाई। उन्होंने नई पाठ्यपुस्तकों का प्रकाशन किया वार्षिक परीक्षा प्रणाली वाले नये प्रकार के स्कूल खोले और इस प्रकार एक नई शिक्षा व्यवस्था की आधारशिला रखी। एक भिन्न प्रमुखता के साथ अध्ययन के विषयों का नया चयन किया गया: अंग्रेज़ी, गणित, भूगोल तथा प्राकृतिक विज्ञान। बिशप कॉलेज, ओरियंटल सेमिनारी, कलकत्ता मेडिकल कॉलेज जैसे उच्च शिक्षा संस्थानों की स्थापना तथा भारतीय समाचार पत्रों की शुरुआत ने एक नये, विवेकसम्मत और अधिक आलोचनात्मक जनमत के निर्माण में व्यापक योगदान किया।

बंबई में एलफिंस्टन कॉलेज ने वैसी ही भूमिका निभाई जो अनेक दृष्टियों से कलकत्ता के प्रेसिडेंसी कॉलेज के समतुल्य थी। इसकी शुरुआत गवर्नर एलफिंस्टन के लिए एक स्मारक बनाने की बंबई के स्थानीय धनी नागरिकों की इच्छा से हुई। कुछ शिक्षक पदों की प्रतिष्ठा के लिए 1821 में कोष जुटाया गया। एक प्राकृतिक विज्ञान और दूसरा साहित्य से संबंधित दो अंग्रेज़ शिक्षक 1835 में भारत आये और उन्होंने एलफिंस्टन हाई स्कूल चलाया जिसे बाद में एलफिंस्टन कॉलेज का नाम दिया गया। बंबई में एक "प्रबुद्ध समुदाय" की रचना में कॉलेज ने केन्द्रीय भूमिका निभाई थी, जो पश्चिम भारत के सामाजिक और राजनीतिक आंदोलनों का आधार बनी थी। इस कॉलेज से शिक्षा प्राप्त करने वालों में थे दादाभाई नौरोजी, महादेव गोविंद रानाडे, के.टी. तैलंग, फीरोजशाह मेहता, गोपालकृष्ण गोखले, और डी.के. कर्वे। इसलिए यह आकस्मिक नहीं कि बंबई के राष्ट्रवादियों की पहली पीढ़ी एलफिंस्टन कॉलेज से ही निकली थी। मद्रास शहर में प्रेसिडेंसी कॉलेज एक महत्वपूर्ण केंद्र बन गया था। आधी सदी से अधिक समय तक पीछे छूटे रहने के बाद आठवें दशक में उत्तर भारत के मुसलमान सैयद अहमद खान के नेतृत्व में एकजुट हुए और अलीगढ़ में मुहम्मद आंग्लो-ओरियंटल कॉलेज की स्थापना की। ब्रिटिश शैली के इस निजी शैक्षिक संस्थान का लक्ष्य किसी अंग्रेजी आदर्श का प्रतिरोपण मात्र नहीं, बल्कि एक स्वदेशी स्वरूप अपनाना था।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

नई शिक्षा-व्यवस्था के परिणाम दूरगामी थे। एक ओर तो इन नई संस्थानों ने परवर्ती काल में राजनीतिक भावनाओं की अभिव्यक्ति में योगदान किया, दूसरी ओर, एक नये बौद्धिक परिवेश की रचना उन्होंने तत्काल की, जिसके श्रेष्ठ प्रतिनिधि रूप हमें समकालीन साहित्य के साथ-साथ सामाजिक-धार्मिक विषयों से संबंधित समकालीन कृतियों और सार्वजनिक वक्तव्यों में मिलते हैं। पाश्चात्य साहित्य की लोकप्रियता ने स्वदेशी साहित्यिक एवं बौद्धिक कर्म को प्रभावित किया, जो हेतुवाद और स्वच्छंदतावाद की नई धाराओं को पुष्ट करने की दिशा में अधिकाधिक प्रवृत्त हुआ।

22.6 हेतुवाद की नई धारा

उन्नीसवीं सदी के बंगाल और महाराष्ट्र में वर्तमान आवश्यकताओं और उपलब्ध देशी और विदेशी दोनों ही, परंपराओं का तर्कसंगत मूल्यांकन बौद्धिक प्रयासों का प्रतीक बन गया था। राममोहन की आधुनिकतावादी चेतना इतनी सुविख्यात है कि उसका विवरण देना यहां आवश्यक नहीं। उनका समूचा क्रियाकलाप मनुष्य के स्वातंत्र्याधिकार में आस्था से अंत:संयोजित उदारवादी विचारधारा से प्रेरित था। सतीप्रथा के विरुद्ध उनके सुपरिचित वक्तव्यों में धर्मग्रंथों से उल्लेख अवश्य मिलता है, लेकिन हेतुवादी सिद्धांत ही उनकी प्रखर तर्कनाओं का सुनिश्चित आधार बनाते हैं। मानवीय मूल्यों से अनुपूरित हेतुवादी चिंतन के लिए वैसा ही सरोकार राममोहन के सामाजिक-सांस्कृतिक एवं धार्मिक विषयों से संबंधित वक्तव्यों में भी मिलता है। गणित, प्रकृति दर्शन, रसायन, शरीरक्रिया शास्त्र एवं अन्य उपयोगी विज्ञानों का समावेश करने वाली एक संबद्ध शिक्षा-प्रणाली का लक्ष्य लिए,

प्राच्यविद्या के बजाय पाश्चात्य शिक्षा को राजकीय समर्थन देने के लिए उनका सुपरिचित आग्रह और भारत में समाचार पत्रों की स्वतंत्रता के पक्ष में उनके लेख बुद्धि एवं विवेकसम्मत तर्कना में आस्था से ही अनूठे रूप में प्रेरित थे। बुद्धि एवं विवेक के लिए यह अटूट सरोकार अन्य कई व्यक्तियों में भी मिलता है। विशेष रूप से देराजियों ने अपने विद्यार्थियों को स्वतंत्रचिंतन के लिए प्रोत्साहन दिया जिसके फलस्वरूप तरुण पाश्चात्य-शिक्षा प्रभावित बंगालियों ने किसी धर्म या धार्मिक परंपरा विशेष को ही नहीं बल्कि विवेकशून्य विश्वास की परंपरा को ही प्रश्नाधीन बना दिया। तत्व बोधिनी पत्रिका के संपादक अक्षय कुमार दत्त ने कई शिक्षाप्रद पुस्तकें लिखीं, जिनमें ईश्वर के अस्तित्व का खंडन किए बिना, दत्त ने स्वयंप्रकृति रूपी महान पुस्तक के पक्ष में तर्कों का संधान किया। भारतीय धर्मों से संबंधित उनकी परवर्ती रचना, संबुद्ध अन्वेषण की चेतना के साथ धार्मिक संप्रदायों के आलोचनात्मक समानशास्त्रीय परीक्षण का प्रयास थी। उपरोक्त सभी बौद्धिक प्रयासों में काम्टे के विधयवाद और उपयोगितावादियों के सिद्धांतों ने महत्वपूर्ण प्रभाव छोड़ा था। टॉम पेन की पुस्तक एज् ऑफ रीज़न और राइट्स ऑफ मैन, मैकाले के एस्सेज (निबंधसंग्रह) और मिल की रचना सब्जेक्शन ऑफ वीमेन को व्यापक रूप से पढ़ा और आत्मसात किया गया था। उनसे ही बुद्धि, न्याय, और उपयोगितावादी सरोकारों से संबंधित नई धारणाएँ प्राप्त की गई थीं। सर्वमान्य रूप में, बुद्धिसंगत न्याय का विचार भारतीय दर्शन के लिए कोई विजातीय तत्व नहीं: बुद्धि की अवधारणा वेदांतिक तथा इस्लामी दोनों ही दर्शनों का अभिन्न अंश है। लेकिन पश्चिम से आयातित बुद्धि का विचार तर्क की अपेक्षा और व्यापक है। शिक्षा प्राप्त भारतीय इस बात का बोध कर पाये कि यूरोपवासियों ने ज्ञान के संसार पर विजय पाई थी "बुद्धि के श्रमसाध्य प्रयोग की अक्षुण्णता" के कारण ही। इस प्रकार यूरोप ने भारतवासियों में पर्यवेक्षण एवं प्रयोग के माध्यम से सभी घटनाओं की आंतरिक क्रियाविधि के प्रति जिज्ञासाभाव का संचार किया। बुद्धि की प्रकृति अनुभवजन्य और वैज्ञानिक है क्योंकि वही प्रगति का पथ प्रशस्त करती है। बुद्धि का संबंध प्रगति से है और प्रगति एक सक्रिय जीवन-दर्शन का संकेत देती है। इसीलिए टैगोर ने एक ऐसे विश्व की अभ्यर्थना की "जिसमें मस्तिष्क भय-रहित हो" और "ज्ञान मुक्त हो"।

बुद्धि की अवधारणा से जुड़ा न्याय का विचार आधुनिक भारतीय संस्कृति की एक नई चारित्रिक विशेषता थी। अपनी अंतरात्मा से युक्त व्यक्ति उभर कर आया। व्यक्ति का स्वयं तथा ईश्वर के प्रति दायित्व था कि वह अंतरात्मा के अनुदेशों से बंधकर चले। इस अंतरात्मा का विस्तार धार्मिक क्षेत्र से सामाजिक विद्रोह की ओर होता है। सामाजिक विद्रोहों के विकास के साक्ष्य में हमें सैनिक विद्रोह के बाद लिखे गये अनेकानेक नाटकों—नील दर्पण, जमींदार दर्पण इत्यादि में मिलते हैं। सामाजिक-विद्रोहों का क्षेत्र उतना ही व्यापक बनता गया, जैसे-जैसे अंतरात्मा-प्रेरित बौद्धिकों ने पारंपरिक समाज के समूचे आधार की पुनर्परीक्षा की और उसमें घर कर गई विकृतियों को सुधारने का प्रयास किया। इस नैतिक चेतना प्रेरित विद्रोह ने क्रमशः राजनीतिक राष्ट्रवाद का रूप ले लिया। बंकिम भी तर्कसंगत अन्वेषण की स्थिति से उठकर गहन भावना संचालित देशप्रेम के स्तर पर आये, आनंदमठ में व्यक्त मातृभूमि के लिए ललक पर ध्यान दिया जाना चाहिए।

महाराष्ट्र के अंतर्गत इस विवेकचेतना के प्रतिनिधि रूप हमें अनेक बौद्धिकों की रचनाओं में मिलते हैं। लेकिन चिपलूंकर की निबंधमाला ही सबसे पहले उल्लेख करने योग्य है। जैसा कि बंबई के आरंभिक बौद्धिक कर्मियों के जीवनक्रम से पुष्ट होता है, नई शिक्षा के प्रभाव बहुत तेज और गहरे थे। सरदार गोपाल हरि देशमुख (1823-83) ने भारतीय समाज को पुरातन कर्मकांडों, घोर विषमताओं और महिलाओं पर आरोपित दारुण विवशताओं से मुक्त करने की आवश्यकता का पुरजोर समर्थन किया। के.टी. तेलंग ने भी समाज सुधारों के पक्ष में एक जुझारू दृष्टिकोण अपनाया। स्पेंसर और मिल जैसे पाश्चात्य सिद्धांतकारों से प्रेरणा लेते हुए उन्होंने राजनीतिक एवं सामाजिक विषयों पर व्यापक लेखनकार्य किया। म.गो. रानाडे तथा गोपाल कृष्ण गोखले भी इस नई चेतना के मूर्त रूप बने, जो उन्नीसवीं सदी के नवें दशक में महाराष्ट्र के जनमानस को अनुप्राणित कर रही थी।

MAADHYAM IAS
achieve your dream

22.7 एक नया स्वच्छंदतावाद

विवेक चेतना की भांति स्वच्छंदतावाद एक दूसरी विशिष्ट धारा थी जिसका प्रवाह हम भारतीय पुनर्जागरण में पाते हैं। पाश्चात्य साहित्य की सुलभता, आकर्षण, और लोकप्रियता ने स्वदेशी साहित्यकर्म को प्रभावित किया। वाल्टर स्काट, जार्ज एलियट इत्यादि की रचनाओं ने सशक्त प्रभाव छोड़ा। भारत के स्थानीय भाषा-साहित्य के स्वरूप और अंतर्वस्तु दोनों ही में इसका साक्ष्य मिलता है। गल्प, नाट्य, जीवनी एवं इतिहास, निबंध और साहित्य समीक्षा इत्यादि गद्यरूपों का विकास इसका सर्वविदित महत्वपूर्ण प्रतिफल था। नर-नारियों के ऐंद्रिक बोध और उसके बीच संबंधों की परिवर्तित प्रकृति, मानवीय चेतना पर जोर और नये कथारूपों के विशिष्ट प्रतीक चिन्ह जो स्थानीय भाषाओं, विशेषकर बंगाली, में प्रतिष्ठित हुए। इस प्रकार बंकिम की पहली औपन्यासिक कृति दुर्गेशनंदिनी (1865) और स्काट की रचना इवान हो के बीच विलक्षण समानता मिलती है। लेकिन स्वच्छंदतावाद किन्हीं सीमित अर्थों में पाश्चात्य प्रभाव मात्र नहीं बना रहा, उपन्यासकार रूमानी प्रेरणा के स्वदेशी स्रोतों की ओर भी बढ़े। पाश्चात्य अवधारणाओं ने उन परिवर्तनों की शुरुआत मात्र की थी जिनको स्त्री-पुरुष संबंधों के बदलते बोध के अधीन किन्हीं विवर्तित रूपों में आगे बढ़ाया गया। बंकिम की रचना कपालकुंडला तथा रमेश चंद्र दत्त के ऐतिहासिक उपन्यास जीवन-प्रभात (1878) और राजपूत जीवन-संध्या (1879) ने भी इस नवीन युगचेतना की पुष्टि की। 1903 के परवर्ती काल में टैगोर की रचना "चोखरे बाली" के साथ एक नई लहर आई जिसने सामाजिक-मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद को प्रभुत्वशाली प्रवृत्ति के रूप में स्थापित किया। उनकी नायिकाएँ अपनी अस्मिता के बोध, आत्मसम्मान और उच्चविचारों के लिए आत्मोत्सर्ग की भावना से युक्त महिलाएँ थीं। बीसवीं सदी में यह लहर और सशक्त बनी। अन्य आंचलिक साहित्यों में भी इन प्रवृत्तियों के प्रतिनिधि रूप मिलते हैं। तमिल में सुब्रमण्यम् भारती की रचनाओं के साथ एक नया मोड़ आया, जिनकी कुयिलपट्टु में स्नेह और करुणा की अद्वितीय अभिव्यक्तियाँ मिलती हैं। गुजराती कविता के मूलतत्व के रूप में करुणा से साक्षात्कार नरसिंहराव दिवतिया की उत्कृष्ट कृति स्मरणसंहिता (1915) में होता है। पूर्ववर्ती युग का भक्ति आंदोलन भी ऐसी ही संवेदनाओं से संचालित था। मलयालम कवि कुमारन आशान ने ऐसी ही अनुभूतियों को अभिव्यक्ति दी है।

> प्रेम में ही सृष्टि का सृजन होता है, प्रेम ही उसका पालनहार है,
> अपने आनंद की परिपूर्णता व्यक्ति प्रेम में ही पाता है,
> प्रेम स्वयं अपना समतुल्य है,
> मृत्यु का क्षण आता है, करुणा के निषेध से ही।
>
> (उपेक्षिता साध्वी, 1922)

प्रेम ही विद्रोह की प्रेरक शक्ति है, इसे कुमारन आशनि ने बुद्ध की वाणी दी है। स्वामी विवेकानंद के एक संदेश में इसी का पुनर्कथन मिलता है:

> "तुम ईश्वर की खोज में कहाँ भटक रहे हो, जबकि वह तुम्हारे सामने प्रत्येक व्यक्ति में विद्यमान है? दूसरों को स्नेह देने वाला ही ईश्वर का सेवक बनता है।"

निष्कर्ष रूप में, इस बात पर बल दिया जाना चाहिए कि भारत में आलोचनात्मक चेतना की विकास-प्रक्रिया सामाजिक सुधार-प्रयास के साथ-साथ सांस्कृतिक पुनर्जागरण की भी थी। यह एक ऐसी प्रक्रिया थी जिसने नये तत्वों का समावेश किया, नई आवश्यकताओं के अनुरूप स्वयं को ढाला और नई शब्दावली में अपनी अभिव्यक्ति का पुनर्संयोजन किया।

बोध प्रश्न 2

भारतीय शासन को निश्चित स्वरूप देने में पाश्चात्य शिक्षा-संस्थान किस प्रकार सहायक बने?

....

....

....

MAADHYAM IAS
way to achieve your dream

22.8 सारांश

इस इकाई के अध्ययन से आपने जाना:

- किस प्रकार, मुगल साम्राज्य के संकटों के क्रम में, भारतीय जनमानस ने अपनी अस्मिता के सम्यक् बोध के लिए पारंपरिक धार्मिक स्रोतों का सहारा लिया,
- पाश्चात्य प्रभावों ने किस प्रकार भारतीय जनमानस को सुनिश्चित नई दिशाएँ दीं।
- पाश्चात्य प्रभावों के अधीन चिंतन की विविध प्रवृत्तियाँ किस प्रकार परिवर्तित हुईं।

22.9 शब्दावली

समाजशास्त्रीय अध्ययन: समस्या विशेष को सामाजिक संदर्भ से जोड़ने वाला अध्ययन-प्रयास।

दिव्यज्ञान: किसी दैवी प्रेरणा से व्यक्ति को प्राप्त होने वाला ज्ञान।

22.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) देखें भाग 22.2 2) देखें भाग 22.4

बोध प्रश्न 2

देखें भाग 22.5

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

NOTES

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

इकाई 23 सांविधानिक विकास, 1757-1857

इकाई की रूपरेखा

23.0 उद्देश्य
23.1 प्रस्तावना
23.2 पृष्ठभूमि
23.3 नियामक अधिनियम, 1773
23.4 पिट का भारत अधिनियम, 1784
23.5 1793 का चार्टर अधिनियम
23.6 1813 का चार्टर अधिनियम
23.7 1833 का चार्टर अधिनियम
23.8 1853 का चार्टर अधिनियम
23.9 भारत सरकार अधिनियम, 1858
23.10 सारांश
23.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

23.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन से आप:

- अंग्रेज़ी शासन की पहली शताब्दी के अंतर्गत महत्वपूर्ण सांविधानिक विकासों से परिचित हो सकेंगे,
- कंपनी शासन से ब्रिटिश सम्राट शासन की ओर संतरण को समझ पाएंगे,
- सरकारी ढांचे के विकास की मंजिलों से परिचय प्राप्त कर सकेंगे, और
- सांविधानिक परिवर्तनों और उनको प्रेरित करने वाले आर्थिक-राजनीतिक हितों के अंत:संबंध बता सकेंगे।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

23.1 प्रस्तावना

अंग्रेज ईस्ट इंडिया कंपनी मूलत: एक वाणिज्यिक निकाय था। वाणिज्यवाद के सिद्धांतों का अनुसरण करते हुए और इजारेदारी मुनाफे सुनिश्चित बनाने के लिए कंपनी को राजनीतिक सत्ता और राजनीतिक सक्रियता की दिशा में बढ़ना पड़ा, जिसका परिणाम था राजस्व दे सकने वाले क्षेत्रों का अधिग्रहण। 1757 के बाद वह भारत की अधिसंख्यक आबादी पर राजनीतिक वर्चस्व स्थापित करने की विशेष स्थिति में आ गई।

कंपनी को नियंत्रित करने वाली सत्ता भारत से बहुत दूर ब्रिटेन में स्थित थी। इन स्थितियों और अंत:संबंधों के कारण ब्रिटिश सरकार को अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ा। व्यापारी और अधिशासक की संयुक्त भूमिकाओं में कंपनी ने एक विशाल साम्राज्य का स्वरूप ग्रहण कर लिया। अब तक यह स्पष्ट हो चुका था कि भारतीय शासन की सत्ता एवं संप्रभुता कंपनी के स्वार्थ में निहित थी। ब्रिटिश सरकार इस निर्णय पर पहुंची कि वह राजसत्ता के दायरे के बाहर नहीं रह सकती थी। क्लाइव तथा हेस्टिंग्स के मतानुसार भी ब्रिटिश राजतंत्र के साथ सांविधानिक संबंध वांछनीय थे।

23.2 पृष्ठभूमि

कंपनी के स्थान पर राजतंत्र की संप्रभुता की स्थापना जैसा साहसिक कदम अभी नहीं उठाया जा सकता था। इससे सरकार के हाथों में प्रत्यक्षतः बहुत व्यापक संरक्षण दायित्व आ जाता। और फिर इससे भारतवासियों तथा यूरोपीय राष्ट्रों के बीच बहुत कटुता आ सकती थी। बुद्धिमानी की बात यही होती कि सांविधानिक कानून के प्रचलित सिद्धांतों के आधार पर कंपनी को नियंत्रण के अधीन रखा जाए।

अप्रैल, 1772 में भारत संबंधी मामलों की छानबीन के लिए एक मनोनीत समिति नियुक्त की गई। अगस्त में कंपनी ने सरकार से 1,00,000 के ऋण की मांग की। यह आश्चर्य की बात है कि कंपनी कर्मचारियों द्वारा धन जुटाए जाने के बावजूद कंपनी को गंभीर वित्तीय संकट का सामना करना पड़ा।

ब्रिटिश सरकार के सामने समस्या थी ईस्ट इंडिया कंपनी और उसकी संपत्ति के ब्रिटिश सरकार के साथ संबंधों की परिभाषा की। एक अन्य समस्या थी यह निर्धारित करने की कि ब्रिटेन स्थित कंपनी अधिकारी दूरस्थ भारत में कार्यरत बहुसंख्यक अधिकारियों और सैनिकों पर नियंत्रण कैसे रखें। बंगाल, मद्रास और बंबई में व्यापक ब्रिटिश अधिकार क्षेत्रों को एकल नियंत्रण केंद्र के अधीन रखने का प्रश्न भी चिंता का विषय बना हुआ था।

ईस्ट इंडिया कंपनी और इसकी संपत्तियों और ब्रिटिश सरकार के बीच संबंधों का स्वरूप भी सर्वाधिक महत्वपूर्ण था, क्योंकि इसका घनिष्ठ संबंध था ब्रिटेन में दलगत एवं संसदीय प्रतिद्वंद्विता से। अंग्रेज़ राजनेता राजनीतिक रूप से महत्वाकांक्षी थे और अंग्रेज़ व्यापारी वाणिज्यिक लाभ के उतावले। बंगाल से कंपनी को प्रचुर संसाधन प्राप्त हुए थे। अधिकारियों द्वारा घर लाई गई प्रभूत संपदा ने ब्रिटेन में ईर्ष्या भाव को बनाया। व्यापारी, उत्पादकों के बढ़ते हुए तबके और नए उभरे "स्वतंत्र उद्यमी" भारतीय व्यापार से होने वाले लाभ और भारत से आने वाली संपदा में अपने हिस्से के लिए उतावले थे। यह सारा लाभ ईस्ट इंडिया कंपनी को ही क्यों मिले? कंपनी की व्यापारिक इजारेदारी को खत्म करने के लिए वे आतुर हुए। इसी उद्देश्य से उन्होंने कंपनी की बंगाल प्रशासन रीतियों की आलोचना की।

MAADHYAM IAS

ब्रिटेन के अनेक राजनीतिक चिंतक और राजनेता आशंकित थे कि कंपनी तथा इसके प्रभुत्वशाली संपन्न अधिकारी अंग्रेज़ी राष्ट्र का नैतिक स्तर गिरा देंगे और ब्रिटिश राजनीति में भ्रष्टाचार को बढ़ावा देंगे। कंपनी ने अपने प्रतिनिधियों के लिए हाउस ऑफ कॉमंस में पद खरीद लिए। इस बात का डर सामने आया कि भारत से लाए गए धन से कंपनी ब्रिटिश सरकारी तंत्र में खतरनाक सीमा तक वर्चस्व प्राप्त कर लेगी।

स्वतंत्र व्यापार के पक्षधर अर्थशास्त्रियों के एक नए समुदाय ने विशिष्टता प्राप्त कंपनियों की भर्त्सना की। अपनी पुस्तक "राष्ट्रों की संपदा" में लिखा था कि विशिष्टता प्राप्त कंपनियां जो देश उनकी स्थापना करते हैं और जो जिनपर वे शासन करती हैं, दोनों ही को क्षति पहुंचाते हैं।

अपने देश में ईस्ट इंडिया कंपनी को अद्वितीय स्थान प्राप्त था। उसे किंग जार्ज III का संरक्षण प्राप्त था। संसद के अंतर्गत अपने शुभचिंतकों की सहायता से उसने संघर्ष चलाया। संसद ने किसी समझौते पर आने का निर्णय किया। एक संतुलन की स्थिति बनाई गई। ब्रिटेन के समूचे प्रभावशाली अभिजात वर्ग के हित में अंग्रेज़ों ने कम्पनी के भारतीय प्रशासन को नियंत्रण में लेने का निर्णय किया। कंपनी को पूर्व के क्षेत्रों में व्यापार की अपनी इज़ारेदारी बनाए रखने की अनुमति मिल गई। कंपनी निदेशकों को भारतीय प्रशासन का नियंत्रण सौंप दिया गया।

23.3 नियामक अधिनियम, 1773

इन परिस्थितियों में कंपनी ने कंपनी प्रशासन के नियंत्रण के लिए नियामक अधिनियम, 1773 में पारित किया। इस अधिनियम ने अपने देश में कंपनी के संविधान में परिवर्तन

किए, भारत के सभी भूभाग एक सीमा तक नियंत्रण के अधीन ला दिए गए।

सरकार द्वारा कंपनी कार्यों की देख-रेख के लिए दक्षतापूर्वक प्रावधान बनाए गए। कंपनी निदेशकों के न्यायालय के संविधान में भी परिवर्तन किए गए। यह आवश्यक बना दिया गया कि वह बंगाल से प्राप्त नागरिक एवं सैनिक मामलों के बारे में सभी सूचनाएं और भारत से प्राप्त राजस्व सरकार को भेजेगी।

कार्यपालिका प्रशासन के क्षेत्र में, बंगाल के गवर्नर का पद बढ़ाकर गवर्नर जनरल कर दिया गया। इसकी कौंसिल में चार सदस्य रखे जाते थे। कौंसिल ने गवर्नर जनरल को युद्ध और शांति के मसलों में मद्रास तथा बंबई की प्रेसिडेंसियों के नियंत्रण एवं देख-रेख का अधिकार दिया। प्रेसिडेंसी के नागरिक एवं सैनिक प्रशासन का कार्य इसी निकाय के अधीन था, बंगाल, बिहार और उड़ीसा राज्यों के क्षेत्रीय अधिग्रहण एवं राजस्व के परिचालन के साथ-साथ।

मद्रास और बंबई के गवर्नरों को सरकारी कामकाज, राजस्व अथवा कंपनी हितों से जुड़ी सूचनाएं नियमित रूप से गवर्नर जनरल को भेजनी होती थीं। गवर्नर जनरल स्वयं निदेशक मंडल के अधीन होता था और कंपनी हितों से सरोकार रखने वाले सभी मामलों की पूरी सूचना उसे देता था।

अधिनियम के अंतर्गत यूरोपवासियों, कर्मचारियों तथा कलकत्ता के नागरिकों को न्याय सुलभ कराने के लिए कलकत्ता में एक उच्च न्यायालय की स्थापना का भी प्रावधान था।

गवर्नर जनरल तथा कौंसिल को फोर्ट विलियम एवं अधीनस्थ कारखानों के सामान्य परिचालन के लिए नियम, अध्यादेश और निर्देश बनाने की विधायक सत्ता भी दी गई।

निर्देशक अधिनियम व्यवहारतः सुचारु रूप से नहीं चल पाया। व्यावहारिक रूप देने के प्रयासों के साथ ही इसकी त्रुटियां सामने आ गईं। ब्रिटिश शासन द्वारा देख-रेख का कार्य अप्रभावी बना रहा। गवर्नर जनरल को अपने विरुद्ध एकजुट हो जाने वाली कौंसिल के विरोध का सामना करना पड़ा। उनका उल्लंघन करने का अधिकार उसे नहीं था, यद्यपि समान विभाजन की स्थिति में उसे निर्णायक मत प्राप्त था। कौंसिल की फूट ने गंभीर किस्म की बाह्य एवं आंतरिक समस्याओं के समाधान से उसे रोक दिया। उन्हें अक्सर गतिरोध का सामना करना पड़ता। जिससे प्रशासन कार्य के सुचारु रूप से संचालन में बाधा आई। मद्रास और बंबई के अध्यक्ष गवर्नर जनरल के सामान्य नियंत्रण के अधीन थे और वास्तविक व्यवहार में कंपनी निष्प्रभावी सिद्ध हुई।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

23.4 पिट का भारत अधिनियम, 1784

पिट का भारत अधिनियम अगस्त 1784 में पारित हुआ। निदेशक अधिनियम की त्रुटियों को दूर करना इसका उद्देश्य था। कंपनी के सार्वजनिक मामलों तथा भारत के प्रशासन कार्य को ब्रिटिश सरकार के सर्वोच्च नियंत्रण के अधीन लाया जाना था। इस अधिनियम ने छः कमिश्नरों वाला एक बोर्ड ऑफ कंट्रोल बनाया, जिसमें दो कैबिनेट मिनिस्टर भी आते थे। बोर्ड ऑफ कंट्रोल को निदेशक मंडल तथा भारत सरकार के कार्यों का संचालन एवं नियंत्रण करना होता था। भारत के ब्रिटिश अधिकार के अंतर्गत क्षेत्रों के नागरिक एवं सैन्य प्रशासन सभी मामलों पर उन्हें नियंत्रण रखना होता था। तीन निदेशकों वाली एक मनोनीत समिति की नियुक्ति राजनीतिक एवं सैनिक मामलों में निदेशक मंडल के स्थान पर काम करने के लिए की गई।

भारत में कंपनी प्रशासन के संविधान में संशोधन किया गया। अधिनियम ने इस सिद्धांत को प्रतिष्ठा दी कि भारत सरकार को गवर्नर जनरल तथा एक त्रि-सदस्यीय कौंसिल के अधीन लाया जाए, ताकि कौंसिल के एक सदस्य का भी समर्थन प्राप्त होने पर वह अपनी इच्छानुसार कार्य कर सके। गवर्नर जनरल को निर्णायक मत दिया गया था। अधिनियम में स्पष्ट उल्लेख था कि युद्ध, कूटनीतिक संबंधों तथा राजस्व संबंधी सभी मामलों में मद्रास तथा बंबई की प्रेसिडेंसियां बंगाल प्रेसिडेंसी के अधीन होंगी।

गवर्नर जनरल तथा कौंसिल को ब्रिटिश शासन के अधीन बनाया गया था। निदेशकों अथवा मनोनीत समिति के अनुमोदन के बिना वे किसी युद्ध की घोषणा अथवा संधि का प्रस्ताव नहीं कर सकते थे।

पिट का भारत अधिनियम कई दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। प्रेसिडेंसी और बोर्ड द्वारा भविष्य में भारत का राज्य सचिव और उसकी कौंसिल का रूप लेना निश्चित था। यह तथ्य प्रेसिडेंसियों के गवर्नरों के सापेक्ष गवर्नर जनरल को सर्वोच्च अधिकार देते हुए भारत के एकीकरण में सहायक सिद्ध हुआ। गवर्नर जनरल की एक्ज़ीक्यूटिव कौंसिल/कार्यकारिणी परिषद में एक सदस्य कम करके उसकी स्थिति सुदृढ़ बना दी गई। गवर्नर जनरल और गवर्नरों को अपनी कौंसिलों के प्रतिकूल जाने का अधिकार दिया गया। कंपनी की भारत स्थित संपत्ति को ब्रिटिश संसद के वर्चस्व के अधीन ला दिया गया।

इस अधिनियम ने एक संकेंद्रित प्रशासन की आधारशिला रखी—यह प्रक्रिया उन्नीसवीं सदी के अंत में उत्कर्ष पर पहुंच गई। ईस्ट इंडिया कंपनी पर संसद का नियंत्रण और कड़ा हो गया। यह प्रवृत्ति 1858 में ब्रिटिश साम्राज्य द्वारा भारत का प्रशासन संभालने तक अस्पष्ट बनी रही।

अधिनियम में अनेक त्रुटियां थीं। इसमें अधिकार और कर्तव्य का विभाजन कर दिया गया था। गवर्नर जनरल को निदेशकों तथा बोर्ड ऑफ कंट्रोल, दोनों के स्वामित्व के अधीन काम करना था। प्राधिकार संबंधी इस संघर्ष से कार्यस्थल पर उपस्थित व्यक्ति की प्रमुखता का विचार सामने आया। इसके अनुरूप कार्नवालिस ने अपने प्राधिकार का विस्तार अधिकाधिक सीमा तक किया। ब्रिटिश सरकार को वास्तविक क्रियाकलापों का पता न था। इससे गवर्नर जनरल को महत्वपूर्ण मसलों पर अपनी इच्छानुसार कार्य करने का अवसर मिला।

पिट के भारत अधिनियम में दिए गए ढांचे के अनुसार ही 1857 तक भारत का प्रशासन कार्य चलाया गया। गवर्नर जनरल नियुक्त होने के साथ ही कार्नवालिस ने भारत में सुरक्षा, शांति और ब्रिटिश साम्राज्य के हितों से जुड़े महत्वपूर्ण मामलों में कौंसिल का उल्लंघन करने का अधिकार पाने पर बल दिया। 1786 के अधिनियम से उसे वांछित अधिकार मिल गया। गवर्नर जनरल तथा कमांडर-इन-चीफ के पदों को संयुक्त कर दिया गया।

1788 के विज्ञप्ति अधिनियम ने बोर्ड ऑफ कंट्रोल को पूर्ण अधिकार एवं वर्चस्व दे दिया। वह कंपनी से ब्रिटिश साम्राज्य की ओर सत्तांतरण की दिशा में कदम था।

MADHYAM IAS
"way to achieve your dream"

बोध प्रश्न 1

1) ब्रिटिश सरकार ने यह फैसला क्यों किया कि ईस्ट इंडिया कंपनी के मामले उसके नियंत्रण के बाहर नहीं बने रह सकते थे?

....

....

....

2) पिट के भारत अधिनियम ने नियामक अधिनियम की किन त्रुटियों को दूर किया? पांच पंक्तियों में उत्तर दीजिए।

....

....

....

....

....

23.5 1793 का चार्टर अधिनियम

1793 में चार्टर का नवीकरण किया गया। बोर्ड ऑफ कंट्रोल का प्रेसिडेंट हेनरी डंडस चार्टर को नया रूप देने तथा कंपनी को अपने राजनीतिक विशेषाधिकार एवं दायित्व बनाए रखने की अनुमति देने के पक्ष में था। कार्नवालिस ने भी इस मत का समर्थन किया। कंपनी चार्टर का बीस वर्षों के लिए नवीकरण किया गया और यह घोषित किया गया कि कंपनी को अगले बीस वर्षों तक अपनी संपत्ति बनाए रखने की अनुमति प्राप्त है।

कौंसिल का उल्लंघन करने संबंधी गवर्नर जनरल तथा गवर्नरों के अधिकार पर बल दिया गया और उनको स्पष्ट किया गया। यह अधिकार विशेष रूप से कार्नवालिस को 1786 में दिया गया। प्रेसिडेंसियों पर गवर्नर जनरल का नियंत्रण और मज़बूत कर दिया गया। उसे कौंसिल के पूर्व-परामर्श के बिना ही बंगाल में अपनी अनुपस्थिति की अवधि में आदेश-निर्देश जारी करने की अनुमति प्राप्त थी। केंद्रीय सरकार को प्राप्त सभी कार्यकारी अधिकारों का प्रयोग वह कर सकता था।

बंगाल के ब्रिटिश क्षेत्रों के आंतरिक प्रशासन के लिए लागू किए जाने वाले सभी नियमों का एक ढांचा तैयार किया गया। नियामक अधिनियम भारतवासियों के अधिकारों, व्यक्तित्व एवं संपत्ति पर लागू होता था। इसमें उल्लिखित नियमों से अपने निर्णयों के नियमन के लिए न्यायालय प्रतिबद्ध हुए। इसमें यह अपेक्षा भी की गई थी कि "व्यक्ति एवं संपत्ति संबंधी अधिकारों से जुड़े सभी कानून भारतीय भाषाओं में अनुवाद के रूप में प्रकाशित होंगे और उनके पूर्ण क्रियान्वयन के आधारों संबंधित वक्तव्य दिया जाएगा ताकि जनसमुदाय अपने अधिकारों, विशेषाधिकारों एवं प्रतिरक्षा से परिचित हो सकें।"

इस प्रकार 1793 अधिनियम ने विगत शासकों के व्यक्तिगत नियमों के स्थान पर ब्रिटिश भारत में लिखित विधि-विधानों द्वारा प्रशासन की आधारशिला रखी। नियमों तथा लिखित विधियों की व्याख्या न्यायालय द्वारा की जानी थी। सेक्यूलर मानवीय संस्थाओं के माध्यम से क्रियान्वित और सार्वभौम रूप से लागू किए जाने वाले नागरिक कानून की अवधारणा ने एक महत्वपूर्ण परिवर्तन की सूचना दी। भारतीयों को ऐसे पद नहीं दिये जाते थे जिसमें वे प्रमुख या अधिकार का प्रयोग करते थे। ऐसा इसलिये किया जाता था ताकि अंग्रेज़ों को अधिक से अधिक लाभदायक पद मिल सकें।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

23.6 1813 का चार्टर अधिनियम

1813 में संभाव्य एक और नवीकरण के पहले कंपनी के मामलों की जांच-पड़ताल का आदेश दिया गया। 1808 में हाउस ऑफ कामंस ने एक अन्वेषण समिति नियुक्त की। न्यायिक एवं पुलिस व्यवस्था संबंधी इसकी रिपोर्ट 1812 में प्रस्तुत की गई थी। सरकार ने ब्रिटिश नागरिकों को अपने जहाज़ों के साथ भारत आगमन की अनुमति देने का फैसला किया।

ब्रिटिश सरकार ने भारत सरकार को विजयाभियान नीति का अनुसरण न करने का विशेष निर्देश दिया था। लेकिन भारत के अंतर्गत आक्रामक नीतियों का प्रतिफल क्षेत्रीय अधिग्रहण में हुआ। लार्ड वेलेज़ली तथा मारक्वी ऑफ हेस्टिंग्स ने एक साम्राज्यवादी नीति का अनुसरण किया। कंपनी की सत्ता का प्रसार पंजाब, नेपाल और सिंध के अतिरिक्त समूचे भारत में हो गया था। युद्धों में हुए अतिशय व्यय तथा व्यापारिक क्षति के कारण कंपनी ने सरकार से वित्तीय सहायता की मांग की। ईस्ट इंडिया कंपनी द्वारा वाणिज्यिक इजारेदारी बनाए रखने के विरुद्ध व्यापक विक्षोभ भी था। स्वतंत्र सौदागरों ने भी उसके समापन की मांग की। वे भारत के साथ होने वाले व्यापारिक लाभ में अपना हिस्सा चाहते थे। उस समय तक ऐडम स्मिथ तथा उसके अनुगामियों के सिद्धांत ब्रिटेन की राजनीति में प्रभाव ले चुके थे। बैंथमवादी-सुधार, एवांगेलिक तथा परंपरावादी ब्रिटिश राजनीति एवं ब्रिटिश अधीन भारत की ओर नीतियों को प्रभावित करने का प्रयास कर रहे थे। उनका सर्वोपरि लक्ष्य था साम्राज्य की सुस्थिरता को बनाए रखना।

1813 के अधिनियम ने कंपनी चार्टर का बीस वर्षों के लिए नवीकरण कर दिया, लेकिन इसने कंपनी के अधीन भारतीय क्षेत्रों पर ब्रिटिश सम्राट की संप्रभुता पर भी बल दिया। कंपनी को अगले बीस वर्षों तक अपने क्षेत्रीय अधिकार में रखने की अनुमति मिल गई।

कंपनी भारत के साथ व्यापार की अपने इजारेदारी से वंचित कर दी गई। चीन के साथ व्यापार की अपनी इजारेदारी बीस वर्षों तक बनाए रखने की उसे अनुमति मिल गई। भारतीय व्यापार का रास्ता सभी ब्रिटिश सौदागरों के लिए खोल दिया गया।

23.7 1833 का चार्टर अधिनियम

औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप ब्रिटेन सूती कपड़ों तथा अन्य कारखाना सामग्रियों के उत्पादक के रूप में उभरा था। भारत जैसा विशाल देश अनेकानेक तैयार मालों के उपभोग एवं कच्चा माल जुटाने में समर्थ था। ईस्ट इंडिया कंपनी ब्रिटिश साम्राज्यवाद के लक्ष्यों के अधीन थी। उसकी प्रतिबंध नीतियां स्वदेशी उद्योगों के विनाश की ओर प्रवृत्त हुईं। ब्रिटेन की नई औद्योगिक नीति का आधारभूत दर्शन "मुक्त व्यापार" बन चुका था। प्रतिबंधों तथा एकाधिकार से व्यापार को मुक्त करने की व्यापक जनाकांक्षा सामने आई।

1833 में चार्टर के नवीकरण के समय कंपनी के उन्मूलन के लिए और सम्राट द्वारा प्रशासन संभालने के लिए व्यापक आंदोलन हुए। एक संसदीय जांच-पड़ताल भी चलाई गई।

ब्रिटेन का राजनीतिक वातावरण सुधारों के लिए उत्साह से ओत-प्रोत था। सुपरिचित सुधार अधिनियम, 1832 में पारित किया गया। औद्योगिक क्रांति से प्राप्त वैभव का उपभोग समूचा देश कर रहा था। वह मुक्त व्यापार की नीति से जुड़ा रहने में समर्थ था। समूचे ब्रिटिश साम्राज्य में दास प्रथा का उन्मूलन कर दिया गया।

भारत के सांविधानिक इतिहास में 1833 का अधिनियम एक बड़ा प्रतीक चिह्न बन गया।

चीन के साथ चाय व्यापार की इजारेदारी खत्म कर दी गई। कंपनी की अब केवल राजनीतिक भूमिका रह गई थी। भारत को कंपनी के ऋण चुकाने थे। इसके साझेदारों के लिए 10.5 प्रतिशत प्रति वर्ष अंशदेय सुनिश्चित कर दिया गया। व्यापारियों तथा संप्रभुओं की एकता अंततः समाप्त कर दी गई। कंपनी को भारत स्थित संपत्ति को ब्रिटिश सम्राट के न्यास (ट्रस्ट) में रखा जाता था। बोर्ड ऑफ कंट्रोल के प्रेसिडेंट को भारतीय मामलों के सचिव का पद मिला। निदेशकों को बोर्ड ऑफ कंट्रोल के विशेषज्ञ सलाहकारों के रूप में काम करना था। बोर्ड ऑफ कंट्रोल को भारतीय क्षेत्र के प्रशासन एवं राजस्व से संबंधित कंपनी के मामलों की देखरेख, निर्देशन एवं नियंत्रण का अधिकार प्राप्त था।

बंगाल के गवर्नर जनरल को समूचे भारत का गवर्नर जनरल बनाया गया। कौंसिल के अंतर्गत गवर्नर जनरल को कंपनी के नागरिक एवं सैनिक मामलों का नियंत्रण, देखरेख एवं निर्देशन करना था। बंबई, बंगाल, मद्रास और अन्य क्षेत्रों को कौंसिल गवर्नर जनरल के पूर्ण नियंत्रण के अधीन ला दिया गया। राजस्व की वसूली तथा व्यय पर केंद्रीय सरकार पूर्ण नियंत्रण रखता था। प्रांतीय सरकारों के व्यय, नये पदों का गठन और बंबई, मद्रास सरकार के सभी सदस्यों का अनुशासन केंद्रीय सरकार के पूर्ण नियंत्रण के अधीन थे।

1833 के अधिनियम के माध्यम से कौंसिल गवर्नर जनरल को भारत के सभी ब्रिटेन अधिकृत क्षेत्रों के लिए विधान बनाने का अधिकार दे दिया गया। ये कानून अंग्रेज़ अथवा भारतीय विदेशी अथवा अन्य, सभी व्यक्तियों तथा कंपनी कर्मचारियों पर लागू होते थे। भारत के सभी न्यायालयों में उन पर अमल किया जाना था।

अधिनियम से गवर्नर जनरल की कार्यकारी कौंसिल में कानून बनाने वाले सदस्यों की संख्या एक और बढ़ा दी गई, जिसका कार्य पूर्णतः वैधानिक था। उसे कौंसिल में कोई मताधिकार नहीं दिया गया था और बुलाए जाने पर ही उसे मीटिंगों में उपस्थित होना पड़ता था। लेकिन व्यवहारतः वह कौंसिल का नियमित सदस्य ही बन गया। विधि-विधान की भूमिका रखने वाले इस सदस्य, लार्ड मैकाले ने अनेक वर्षों तक सरकार की शिक्षा नीति को प्रभावित किया।

MAADHYAM IAS

प्रेसिडेंसी कौंसिलों में सदस्यों की संख्या बढ़कर दो हो गई। बंबई और मद्रास को कमांडर-इन-चीफ के अधीन अलग सेवाएं रखनी थीं। उन्हें केंद्र सरकार के नियंत्रण के अधीन रहना था।

अधिनियम में भारत की एक विधि-संहिता की रचना का प्रावधान था। 1833 के पहले अनेक प्रकार के कानून होते थे। जैसे अंग्रेज़ी कानून, प्रेसिडेंसी (रेगुलेशंस) अधिनियम, हिन्दू कानून, मुस्लिम कानून, रीति-रिवाज़ों संबंधी कानून इत्यादि। इस अधिनियम के माध्यम से गवर्नर जनरल को भारत में प्रचलित विविध नियमों, निर्देशों के अध्ययन, संचयन एवं संहिता निर्माण के लिए विधि आयोग की नियुक्ति का अधिकार दिया गया। भारतीय विधि आयोग के प्रयासों से भारतीय दंड संहिता, नागरिक एवं अपराध विधियों संबंधी संहिताओं को लागू किया गया।

अधिनियम के उपभाग 87 में घोषणा की गई थी कि कोई भी स्वदेशी अथवा भारत में निवास कर रहा ब्रिटिश साम्राज्य का अधीनस्थ व्यक्ति अपने ही धर्म, जन्म-स्थान, वंशमूल अथवा रंग से संबंधित नहीं माना जाएगा अथवा उनमें से किसी को भी कंपनी की सेवा के लिए अयोग्य नहीं माना जाएगा। यह एक बहुत बड़ी घोषणा थी। परवर्ती काल में लार्ड मोर्ले ने इसे ब्रिटिश संसद द्वारा 1909 तक पारित किए भारत संबंधी अधिनियमों से सर्वाधिक महत्वपूर्ण माना था। लेकिन इसका कोई विशेष व्यावहारिक महत्व नहीं था, क्योंकि कुछ भी उसके अनुसार नहीं किया जा सका और भारतवासियों को नागरिक एवं सैन्य सेवाओं में उच्च पदों से अलग ही रखा गया था।

1833 के चार्टर अधिनियम में कंपनी की प्रतिष्ठित सेवाओं के लिए भारतवासियों को मनोनीत करने के लिए कोई प्रावधान नहीं बनाया गया था। फिर भी, किसी प्रकार की विभेद न रखने की घोषणा संबंधी अनुच्छेद अत्यंत महत्वपूर्ण था क्योंकि सदी के अंतिम वर्षों में यह भारत में राजनीतिक आंदोलन का आधार-बिंदु बन गया।

MAADHYAM IAS

बोध प्रश्न 2

1) 1833 में ईस्ट इंडिया कंपनी ने अपने लाभ का कौन-सा महत्वपूर्ण स्रोत खो दिया। पांच पंक्तियों में लिखिए।

....

....

....

....

....

2) 1793 के चार्टर अधिनियम के मुख्य अनुच्छेद क्या थे? दस पंक्तियों में लिखिए।

....

....

....

....

....

....

....

....

....

....

23.8 1853 का चार्टर अधिनियम

राजनीतिक रूप से सचेत भारतीयों ने ईस्ट इंडिया कंपनी की प्रतिक्रियावादी सरकार खत्म करने का प्रयास किया। राजा राममोहन राय ने ब्रिटेन जाकर संसदीय विशिष्ट समिति के समक्ष भारत का प्रतिनिधित्व किया। बंबई एसोसिएशन तथा मद्रास नेटिव एसोसिएशन ने भी इसी प्रकार की याचिकाएं भेजीं। लेकिन इसका विभिन्न दलों, मंत्रियों, बोर्ड ऑफ कंट्रोल के प्रेसिडेंट और कंपनी निदेशकों ने कड़ा विरोध किया। वे चार्टर-नवीकरण के पक्ष में थे। 1853 के अधिनियम द्वारा विधान संबंधी उद्देश्यों से अतिरिक्त कौंसिल सदस्यों का प्रावधान करके वैधानिक कार्यों को कुछ और आगे बढ़ाया गया।

विधि सदस्य को गवर्नर जनरल की कार्यकारी कौंसिल का पूर्ण सदस्य बनाया गया। सभी वैधानिक प्रस्तावों के लिए गवर्नर जनरल की सहमति आवश्यक बना दी गई। इस ढांचे के अंतर्गत केंद्रीय विधानसभा की रचना पूरी हुई। केंद्रीय विधान परिषद के अंतर्गत प्रत्येक प्रांत से एक सदस्य होता था। प्रांत विशेष से संबंधित कार्यों पर उस प्रांत के प्रतिनिधियों की उपस्थिति में विचार किया जाता था। कलकत्ता उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश को कौंसिल का अतिरिक्त सदस्य बनाया गया। दो अन्य सामान्य नागरिक सदस्यों का मनोनयन गवर्नर जनरल कर सकता था, लेकिन इस प्राधिकार का प्रयोग कभी हुआ नहीं।

वैधानिक सामर्थ्य वाली इस कौंसिल के अंतर्गत 12 सदस्य होते थे। इनमें से गवर्नर जनरल, कमांडर-इन-चीफ उसकी कौंसिल के चार सदस्य, तथा छः विधायक सदस्य।

भारत की सभी सेवाओं में नियुक्तियां, प्रतियोगी परीक्षाओं द्वारा की जानी थीं। लार्ड मैकाले को संबंधित समिति का अध्यक्ष नियुक्त किया गया।

निदेशक संख्या 24 से घटाकर 18 कर दी गई। इनमें छह का मनोनयन ब्रिटिश सम्राट द्वारा किया जाना था।

कंपनी भारतीय क्षेत्रों की अपनी संपत्ति बनाए रख सकती थी, ''सम्राज्ञी, उसके उत्तराधिकारियों और परवर्ती शासकों के हितों के अनुरूप, जब तक कि संसद कोई अन्य प्रावधान सामने न रखे।''

MAADHYAM IAS

''विधायक पार्षदों'' और ''कार्यकारी पार्षदों'' के बीच स्पष्ट विभेद किया गया था और इस प्रकार पहली बार विधान-रचना को सरकारी तंत्र का विशेष कार्य माना गया, जिसके लिए विशेष तंत्र एवं प्रणाली की आवश्यकता थी। कौंसिल के कार्य-व्यापार सार्वजनिक रूप से चलाए जाते थे। अपने कार्य-निष्पादन के लिए इसने जो प्रणाली अपनाई, वह बहुत कुछ ब्रिटिश संसद की तरह ही थी। सवाल सामने रखे जाते थे, संबंधित प्रपत्रों एवं सूचनाओं की मांग की जाती थी और सरकार की आलोचना उसकी त्रुटियों तथा ज्यादतियों के लिए की जाती थी।

गृह विभाग के अधिकारियों के मन में कुछ आशंकाएं उभरीं, कि प्रतिनिधिक व्यवस्था कहीं उनके निरंकुश तंत्र में पैठ न कर ले। ब्रिटेन स्थित अधिकारी विचलित हो गए जब केवल अंग्रेज़ कार्मिकों से बनी परिषद/कौंसिल ने साहसिकता और सूझबूझ का परिचय देते हुए ''कार्यकारिणी'' के क्षेत्र में दखल दिया। शिकायतों को सुलझाने संबंधी इसकी याचिकाओं को गृह देश की सरकार के प्राधिकार का उल्लंघन बताया गया और किन्हीं विधेयकों की सार्वजनिक अस्वीकृति से ब्रिटेन स्थित अधिकारियों को ठेस पहुंची। विधान परिषदों से किसी भी भारतीय को संबंधित नहीं किया गया।

व्यवहारतः विधान परिषद ने भारत सरकार के समूचे ढांचे में परिवर्तन का खतरा सामने रखा। वह ''एंग्लो-इंडियन हाउस ऑफ कॉमंस'' का रूप ले चुकी थी।

23.9 भारत सरकार अधिनियम, 1858

1853 चार्टर अधिनियम से ईस्ट इंडिया कंपनी को अगले बीस वर्षों तक भारत का प्रशासनिक अधिकार न दिए जाने पर ब्रिटिश सरकार को दखल देने और भारत में ईस्ट

इंडिया कंपनी का स्थान लेने का सुअवसर प्राप्त हुआ। 1857 की घटनाओं, तथाकथित ''विद्रोह'' से यह प्रक्रिया और भी तेज हुई।

बिना किसी देरी के ब्रिटिश साम्राज्य का पूर्ण विस्तार भारत तक करने के लिए व्हिग और टोरी एकजुट हो गए। ब्रिटिश प्रधानमंत्री लार्ड पामर्सटन ने ब्रिटिश सम्राट द्वारा भारत का प्रशासन कार्य सीधे संभालने के सरकार के निर्णय की घोषणा की। जान स्टुअर्ट मिल ने एक गौरवशाली एवं सशक्त याचिका तैयार की, जिसे कंपनी द्वारा संसद के दोनों सदनों में सरकार के विरुद्ध पेश किया गया। लेकिन कोई भी याचिका अब कंपनी प्रशासन के विरुद्ध बढ़ती आलोचना की लहर को रोक नहीं सकती थी। बोर्ड ऑफ कंट्रोल के अध्यक्ष लार्ड स्टैनले ने भारत के ''बेहतर प्रशासन'' के लिए एक विधेयक प्रस्तुत किया, जिसे 1858 में संसदीय अधिनियम का स्वरूप मिल गया।

भारत का प्रशासनिक कार्य अंग्रेज़ी ईस्ट इंडिया कंपनी के हाथों से सम्राट के हाथों में आ गया। कंपनी की सशस्त्र सेनाएं सम्राट के अधीन आ गईं।

बोर्ड ऑफ कंट्रोल और निदेशक मंडल का उन्मूलन कर दिया गया। उनका स्थान भारत के राज्य सचिव और उसकी इंडिया कौंसिल ने लिया। उन्हें सम्राज्ञी के नाम से भारत का शासन कार्य चलाना था। राज्य सचिव को संसद में बैठना होता था। वह इंग्लैंड का एक कैबिनेट स्तर का सचिव था और संसद के प्रति उत्तरदायी था। भारत पर परम नियंत्रण का अधिकार संसद के पास ही बना रहा। अधिनियम द्वारा एक पंद्रह सदस्यीय इंडिया कौंसिल का गठन किया गया। उसे राज्य सचिव को परामर्श देना होता था, जो इसके फैसलों का उल्लंघन भी कर सकता था। इंडिया कौंसिल के अधिकांश सदस्य भारतीय सेवाओं से निवृत्त व्यक्ति थे।

राज्य सचिव को गवर्नर जनरल के साथ गुप्त संदेशों और प्रेषित सामग्रियों के आदान-प्रदान का अधिकार प्राप्त था। उनकी सूचना इंडिया कौंसिल को देना उसके लिए आवश्यक नहीं था। राज्य सचिव को नियमित अवधि पर भारत की नैतिक एवं भौतिक प्रगति के बारे में रिपोर्ट हाउस ऑफ कॉमंस को देनी होती थी।

इंग्लैंड के साथ अपने संबंधों में भारत सरकार कौंसिल में राज्य सचिव द्वारा सुनिश्चित निर्देशों का अनुसरण करती थी। विधि-विधान, भू-राजस्व, सार्वजनिक कार्य, रेलवे, नौकरियों, नए खर्चों और नीतियों से सभी मसलों का राज्य सचिव द्वारा कड़ा परीक्षण एवं नियंत्रण किया जाता था। राज्य सचिव द्वारा भारत में बनाए गए नियमों-निर्देशों को हाउस ऑफ कॉमंस के सामने रखा जाता था।

MAADHYAMIAS

गवर्नर जनरल इस समय से वायसराय अथवा सम्राट के प्रतिनिधि के रूप में जाना जाने लगा। नीति-निर्धारण एवं क्रियान्वयन के मामले में वायसराय की स्थिति अधिकाधिक क्षीण होकर ब्रिटिश शासन के अधीनस्थ हो गई। अंततः भारत का समूचा प्रशासनिक कार्य सीधा लंदन से नियंत्रित होने लगा।

बोध प्रश्न 3

1) 1857 का विद्रोह भारत के प्रशासनिक कार्य के ब्रिटिश साम्राज्य द्वारा अधिग्रहण के लिए किस सीमा तक जिम्मेदार था?

....

....

....

2) 1858 के भारत सरकार अधिनियम के अंतर्गत राज्य सचिव तथा वायसराय को कौन से अधिकार प्राप्त थे?

....

23.10 सारांश

सांविधानिक परिवर्तनों की आवश्यकता 1757 में ईस्ट इंडिया कंपनी द्वारा राजनीतिक सत्ता ग्रहण करने के बाद सामने आई। ब्रिटिश सरकार कंपनी के मामलों को अब बिना किसी निगरानी के नहीं छोड़ना चाहती थी। कंपनी का एकाधिकार खत्म करने के लिए सौदागरों और उत्पादकों का दबाव बढ़ने लगा। जनमत बंगाल सरकार में व्याप्त भ्रष्टाचार के विरुद्ध था। मुक्त व्यापार एक लोकप्रिय मांग के सामने आया।

इसी के अनुरूप, 1773 के नियामक अधिनियम ने कंपनी के अधिकारों पर कुछ रोक लगाई। इसका प्रशासन ब्रिटिश सरकार की निगरानी के अधीन आ गया। कलकत्ता में उच्च न्यायालय की स्थापना एक नए सरकारी तंत्र के निर्माण की दिशा में पहला कदम था।

पिट के भारत अधिनियम ने कंपनी के सापेक्ष सरकार के अधिकारों को और पुष्ट किया। भारत में प्राधिकार-केंद्र गवर्नर जनरल था, जो बोर्ड ऑफ कंट्रोल के माध्यम से ब्रिटिश सरकार के प्रति उत्तरदायी था।

1813 के चार्टर अधिनियम ने भारत के साथ व्यापार का कंपनी का एकाधिकार खत्म कर दिया। इसके साथ ही, 1600 से शुरू हुए एक युग का समापन हुआ। राजस्व, प्रशासन एवं नियुक्तियों पर कंपनी के नियंत्रण को यथावत रहने दिया गया। चीन के साथ व्यापार का उसका एकाधिकार बना रहा।

1833 के चार्टर अधिनियम ने चीन के साथ व्यापार का कंपनी का एकाधिकार समाप्त कर दिया। इस अधिनियम में यह घोषणा भी की गई थी कि भारतीय नागरिकों को आस्था, वंशमूल अथवा रंग पर आधारित किसी विभेद का सामना नहीं करना पड़ेगा।

1853 का चार्टर अधिनियम एक नियंत्रक कदम था। 1858 के भारत सरकार अधिनियम ने राज्य सचिव तथा वायसराय को प्राधिकार-केंद्र बनाया। वे ही दोहरे स्तंभ थे, जिनपर सरकारी ढांचा आधारित था। अंततः कंपनी शासन के स्थान पर ब्रिटिश साम्राज्य का शासन स्थापित हुआ।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

23.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) देखें भाग 23.2
2) उत्तर लिखने से पहले भाग 23.3 और 23.4 पढ़िए।

बोध प्रश्न 2

1) देखें भाग 23.7
2) देखें भाग 23.5

बोध प्रश्न 3

1) देखें भाग 23.9
2) देखें भाग 23.9

इकाई 24 प्रशासन और विधि

इकाई की रूपरेखा

24.0 उद्देश्य
24.1 प्रस्तावना
24.2 पृष्ठभूमि
  24.2.1 प्रशासन संबंधी ब्रिटिश विचार
  24.2.2 अंग्रेज़ों के स्वार्थ
24.3 संस्थागत संरचना
  24.3.1 न्यायिक व्यवस्था
  24.3.2 प्रशासनिक व्यवस्था
  24.3.3 भारतीय भागीदारी
24.4 सारांश
24.5 बोध प्रश्नों के उत्तर

24.0 उद्देश्य

पिछली इकाई (इकाई संख्या 23) में आपने 1757 से लेकर कंपनी शासन के अंत तक भारत में अंग्रेज़ी शासकों द्वारा लागू किए गए संवैधानिक प्रावधानों का परिचय प्राप्त किया था। इस इकाई में इसी बहस को आगे बढ़ाते हुए हम इस बात पर विचार करेंगे कि किस प्रकार अंग्रेज़ों ने न्यायिक और प्रशासनिक ढांचे का निर्माण किया। इसमें एक तरफ शासकों की खास ज़रूरतों और वैचारिक प्रतिबद्धता का अवलोकन किया जाएगा और दूसरी तरफ प्रशासन के क्षेत्र में हुए विभिन्न बदलावों और प्रयोगों की सूचना दी जाएगी। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- अंग्रेज़ों की प्रशासनिक नीति निर्धारण के पीछे निहित विचारों और दृष्टिकोणों पर प्रकाश डाल सकेंगे,
- इस नीति के तहत संस्थागत संरचना के विकास को रेखांकित कर सकेंगे, और
- भारत में अंग्रेज़ों द्वारा लागू किए गए प्रशासनिक और न्यायिक व्यवस्था का मूल्यांकन कर सकेंगे।

24.1 प्रस्तावना

पिछली इकाइयों में आपने अध्ययन किया कि किस प्रकार अंग्रेज़ों ने अपनी लगातार विजयों से शनैः शनैः पूरे देश पर नियंत्रण स्थापित कर लिया। ईस्ट इंडिया कंपनी मात्र एक व्यापारिक संस्था न रहकर राजनीतिक शक्ति के रूप में उभरकर सामने आई। केवल विजयों से साम्राज्य पर ज्यादा समय नियंत्रण स्थापित कर पाना संभव न था। इसे कायम रखने के लिए एक बृहद् प्रशासनिक व्यवस्था की आवश्यकता थी। अतः इस इकाई में खास कर विचारों और संस्थाओं पर विचार किया जा रहा है। पहले हम इस बात पर विचार करेंगे कि अंग्रेज़ों ने भारत पर शासन करने की क्या योजना बनाई थी। इसके बाद हम उन प्रशासनिक संस्थाओं पर प्रकाश डालेंगे, जिसका निर्माण भारत पर नियंत्रण और शासन स्थापित करने के लिए किया गया था।

24.2 पृष्ठभूमि

भारत के विशाल भू-क्षेत्र पर व्यापक प्रशासनिक संरचना की सहायता से नियंत्रण स्थापित किया गया और इसके लिए विभिन्न प्रकार के क़ानून बनाए गए। इस संरचना पर विस्तारपूर्वक विचार करने के पहले हम इन प्रशासनिक प्रयोगों की पृष्ठभूमि की जानकारी प्राप्त करेंगे। प्रशासन और कानून के क्षेत्र में आए ये परिवर्तन कुछ खास विचारों के प्रतिफलन थे, जिनका विकास उन्नीसवीं शताब्दी में ब्रिटेन में हुआ। ये प्रशासनिक परिवर्तन भारत में अंग्रेज़ों के हितों को ध्यान में रखकर लागू किए गए थे। आइए, इन दोनों पहलुओं पर विचार करें।

24.2.1 प्रशासन संबंधी ब्रिटिश विचार

अंग्रेज़ों ने एकाएक और शून्य में नई प्रशासनिक और न्यायिक व्यवस्था लागू नहीं की थी। यह व्यवस्था लगभग आठ दशकों के प्रयत्न का परिणाम थी। इस दौरान कई कदम उठाए गए, कई अधिनियम बनाए गए। इन्हें ब्रिटिश प्रशासकों और चिंतकों ने काफी समझ-बूझ के बाद बनाया था। इनमें से कई प्रावधान और नीतियां अभी तक लागू हैं। यह शून्य में पैदा नहीं हुआ था, बल्कि इसके पीछे 18वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में ब्रिटेन में हुए बौद्धिक आंदोलन का हाथ था। इसमें भारत के ब्रिटिश शासन पर विशेष ध्यान दिया गया।

अंग्रेज़ों ने आरंभ में जिस विकास की नीति की शुरुआत की, उस पर इसका प्रभाव देखा जा सकता है। कार्नवालिस द्वारा भारत के विकास के लिए ब्रिटेन में लागू भू-व्यवस्था को ग्रामीण अर्थव्यवस्था पर आरोपित करना इसी तथ्य को प्रमाणित करता है। कार्नवालिस ने ब्रिटेन में स्थापित कुलीन तंत्र की खोज भारत में की और ज़मीदारों को इसका पर्याय मान लिया। इन ज़मीदारों को एक ट्रस्टी के रूप में कार्य करना था, जिनके नेतृत्व में व्यापार और उत्पादन को बढ़ावा दिया जाना था। इसके साथ-साथ ब्रिटेन में लागू कानून और प्रशासन व्यवस्था यहां थोपी गई। इसके अनुसार भूमिपति कुलीनतंत्र के नेतृत्व में भारत का विकास संभव था और इसके लिए प्रशासन के राजस्व और न्यायिक कार्यों को अलग-अलग खाकों में बांटा गया। (देखिए खंड IV और आगे आने वाला भाग 24.3)

MAADHYAM IAS

उपयोगितावादी विचारधारा और दृष्टिकोण के विकसित होने के पूर्व कार्नवालिस ने अपनी नीतियां निर्धारित कीं। मैकाले उदारवादी था। उसके विचार धर्म प्रचार संबंधी प्रयत्नों और 1830 और 1840 में पनप रहे व्यवहारवादी दृष्टिकोण से प्रभावित थे। अतः उसने कानून निर्माण (देखिए भाग 24.3) के लिए उत्साह से कार्य किया। हालांकि संस्थानीकरण के इस पक्ष को वह स्वीकार करता था, परंतु वह इस बात में विश्वास नहीं रखता था कि इससे भारत का सुधार संभव था।

कार्नवालिस और मैकाले के बीच की एक बौद्धिक धारा "उपयोगितावाद" थी। (खंड 3 की इकाई 13 में आप इसके बारे में पहले ही पढ़ चुके हैं।) जेम्स मिल, जेरेमी बेंथम, डेविड रिकार्डो, और जॉन स्टुअर्ट मिल इसके प्रमुख व्याख्याता थे। इन्होंने भारतीय मामले में गहरी रुचि दिखाई और भारत में लागू की गई प्रशासनिक और न्यायिक व्यवस्था पर इनका विशेष प्रभाव था। उपयोगितावादियों ने भारत पर नियंत्रण स्थापित करने और शासन करने के तरीके सुझाए। उनके विचार धीरे-धीरे ब्रिटेन में स्वीकृत होते गए, क्योंकि ये व्यापारियों, उत्पादकों और मिशनरियों के हितों के पोषक थे। उनके विचार क्या थे और भारत की समस्या का क्या समाधान उनके पास था?

- उनके अनुसार भारतीय समाज में बुद्धिवाद और व्यक्तिवाद जैसे मूल्य बिल्कुल नहीं थे, जो किसी भी आधुनिक समाज के निर्माण के लिए ज़रूरी होते हैं।
- भारत जैसे परंपरागत और पतनोन्मुख समाज को उपयुक्त कानून बनाकर ही सुधारा जा सकता है। परंपरागत समाजों में प्रचलित "दैनिक न्याय" के स्थान पर "मानवीय न्याय" को लागू करना होगा। तात्पर्य यह कि ब्रिटिश प्रशासन न्याय और एकरूपता की अपनी नीति का सहारा लेकर भारत को एक प्रगतिशील और जागरूक समाज में बदल सकता है।

- पर मिल ने शिक्षा को सुधार का अस्त्र मानने से इंकार कर दिया। उसने सरकारी संरचना के भारतीयकरण का भी विरोध किया। उसके अनुसार, भारतीय अपना आधुनिकीकरण करने में सक्षम नहीं हैं। अतः मिल ने भारतीयों को प्रशासन में हिस्सेदारी देने की अवधारणा को नामंजूर कर दिया। उपयोगितावादियों ने एक ऐसी सरकार की स्थापना की सलाह दी, जिसके कर्ता-धर्ता अंग्रेज़ हों।

दूसरे शब्दों में, उन्नीसवीं शताब्दी के बाद जैसे-जैसे यूरोपीय समाज को भारत की जानकारी मिलने लगी, वैसे-वैसे भारतीय समस्या और समाधान के मसले पर विचारकों, विद्वानों और प्रशासकों के बीच बहस चलने लगी। अपने बने-बनाए विचारों और समर्थकों, भारत में उनकी रुचि और भारत की समस्या के समाधान के लिए बने बनाए फार्मूले (कराधान, सरकार और न्यायिक प्रशासन के स्वरूप संबंधी) के कारण उनका स्वर प्रभावी ढंग से उभर कर सामने आया। 1819 ई. में जेम्स मिल को ईस्ट इंडिया कंपनी के कार्यकारी परिषद में शामिल किया गया। इससे उपयोगितावादियों के लिए भारत में अपनी नीतियों को लागू कराने में आसानी हो गई। उनके विचारों को समस्या और समस्या के समाधान के ढांचे में रखकर देखा जा सकता है।

- भारतीय समाज पिछड़ा, पतनोन्मुख, अधोगामी और निरंकुश था। कुछ लोग ज्यादा लोगों का शोषण करते थे और व्यक्तिगत सुरक्षा की कोई व्यवस्था नहीं थी।
- इसके कारण गरीबी थी और गरीबी के परिणामस्वरूप अपराध का बोलबाला था।
- गुलामी और अंधविश्वास भारतीय जनता की विशेषता थी।

समाधान

- अच्छी सरकार की स्थापना और उपयुक्त कानून और कड़े प्रशासन की व्यवस्था। इसी प्रकार, समाज का विकास संभव था।
- इससे व्यक्ति को निरंकुश तंत्र, रीति-रिवाजों और सामूहिक स्वामित्व (इसे मिल आदिम समाज का लक्षण और आधुनिक समाज के निर्माण में बाधक मानता था) से मुक्ति मिलेगी।
- इससे व्यक्तिगत पूंजी और श्रम को पूरा मौका मिलेगा और व्यक्तिगत अधिकार और स्वामित्व पर बल दिया जा सकेगा (भारतीय समाज की विशेषता सामूहिक स्वामित्व के विपरीत)।
- इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए भूमि पर व्यक्तिगत अधिकार को कानूनी तौर पर व्याख्यायित और संरक्षित करना जरूरी था।

संक्षेप में कहा जाए तो उपयोगितावादी सोच "विधि द्वारा शासन" की वकालत करती थी। कानूनों को वैज्ञानिक तरीके से परिभाषित कर उन्हें नियमबद्ध रूप में लिखकर प्रस्तुत करना था। इन कानूनों को लागू करने के लिए स्थानीय तौर पर न्यायालय स्थापित किए जाने चाहिए ताकि कानून तक साधारण आदमी पहुंच सके। इसी प्रकार, एक व्यक्तिगतवादी प्रतियोगिता पर आधारित समाज निर्मित हो सकता था।

24.2.2 अंग्रेज़ों के स्वार्थ

अब तक आप अंग्रेज़ों के कानून संबंधी विचार और समाज से अच्छे संबंध को समझ गए होंगे। परंतु इसके साथ-साथ भारत में स्थापित ब्रिटिश कानून और प्रशासन के पीछे छिपे ब्रिटिश स्वार्थों को नज़रअंदाज कर देना भी गलत होगा। भारत में प्रशासन की एकरूपता अंग्रेज़ों के स्वार्थों के अनुकूल थी। अपने स्वार्थ सिद्धि के लिए अंग्रेज़ों ने नए-नए कानून बनाए और प्रशासन व्यवस्था लागू की। उनके हितों में जैसे-जैसे परिवर्तन होता गया, उसी के अनुसार प्रशासनिक ढांचा भी बदलता गया।

जैसा कि आप जानते हैं, पूरे शासन काल में अंग्रेज़ों के स्वार्थ एक जैसे नहीं रहे। ब्रिटिश शासन के विभिन्न चरणों में उनमें परिवर्तन आता रहा। विभिन्न चरणों में वे ब्रिटेन स्थित सामाजिक समुदाय के स्वार्थों से भी प्रेरित हुए। अपने प्रथम चरण में 1813 तक भारत में अंग्रेज़ों के हित निम्नलिखित मुद्दों तक केंद्रित थे:

MAADHYAM IAS
way to achieve your dream

- भारत के साथ व्यापार में ईस्ट इंडिया कंपनी का एकाधिकार और अन्य यूरोपीय देशों का निष्कासन।
- कराधान द्वारा वित्तीय स्रोतों पर नियंत्रण।

इन दोनों उद्देश्यों की पूर्ति स्थापित संस्थाओं और प्रशासनिक ढांचे को बिना बदले ही हो सकती थी। इस समय, ब्रिटिश शासक परंपरागत शासकों से बहुत भिन्न नहीं थे, जिनका एकमात्र उद्देश्य कृषि उत्पादन का अधिशेष प्राप्त करना होता था। अतः इस समय एकरूप प्रशासनिक संरचना स्थापित करने की कोशिश नहीं की गई, न ही पुरानी व्यवस्था को सुधारने का प्रयास किया गया। न्यायिक व्यवस्था और प्रशासन में किसी प्रकार का आधारभूत परिवर्तन नहीं किया गया। प्रशासन के क्षेत्र में केवल राजस्व वसूली से संबंधित परिवर्तन किए गए ताकि आसानी से राजस्व की वसूली की जा सके। इस चरण में भारत के लिए आधुनिक न्यायिक व्यवस्था या एकरूप प्रशासनिक संरचना की आवश्यकता नहीं समझी गई, क्योंकि अभी यह ब्रिटिश हितों के लिए आवश्यक नहीं था।

1813 के बाद इस परिदृश्य में परिवर्तन आया। आप जानते हैं कि औद्योगिक क्रांति के कारण ब्रिटिश अर्थव्यवस्था और समाज परिवर्तन के दौर से गुज़र रहा था। व्यापारिक निगमों का स्थान औद्योगिक बुर्जुआ वर्ग ले रहा था और ब्रिटिश समाज में इसका ज़ोर बढ़ गया था। भारतीय व्यापार से ईस्ट इंडिया कंपनी का एकाधिकार धीरे-धीरे समाप्त हो रहा था। अब भारत में ब्रिटिश हित कम्पनी के हितों से निर्देशित नहीं होते थे, बल्कि औद्योगिक पूंजीपति वर्ग का हित अब सर्वोपरि हो गया था। ब्रिटिश पूंजीपति भारत को एक बाज़ार के रूप में विकसित करना चाहते थे जहाँ उनके माल की खपत हो सके। इसके अतिरिक्त, वे भारत से अपने उद्योगों के लिए कच्चा माल (जैसे जूट; कपास आदि) और खाद्यान्न तथा अफीम उपलब्ध करना चाहते थे।

इसके लिए यह जरूरी था कि भारतीय अर्थव्यवस्था और समाज के अंदर प्रवेश किया जाए और ब्रिटेन के अतिरिक्त अन्य देशों के साथ भारत के व्यापार पर नियंत्रण स्थापित किया जाए। अभी भारत से एक नई भूमिका अदा करने की अपेक्षा की गई। परंपरागत प्रशासनिक संस्थाओं के रहते भारत यह भूमिका अदा नहीं कर सकता था। नई ज़रूरतों के अनुरूप उन्हें बदलना जरूरी हो गया। इसके बाद, भारतीय प्रशासन का बदलाव शुरू हुआ। इसपर हम अगले भाग में विचार करेंगे। आधुनिक व्यापार को बढ़ाने, बाज़ार अर्थव्यवस्था कायम करने के लिए, मुक्त वाणिज्यिक संबंध कायम करने के लिए और आर्थिक गतिविधियों को सुचारु रूप से चलाने के लिए समूची विधि व्यवस्था में परिवर्तन करना और नए कानून बनाना जरूरी हो गया। और इस प्रकार, भारतीय प्रशासन और न्यायिक व्यवस्था का बदलाव शुरू हुआ। इसके बारे में अगले भाग में विस्तार से अध्ययन करेंगे।

MAADHYAM IAS

बोध प्रश्न 1

1) उपयोगितावादियों के अनुसार भारतीय समाज की समस्याएं क्या थीं और इनका समाधान कैसे किया जा सकता था? दस पंक्तियों में उत्तर दीजिए।

....

....

....

....

....

....

....

....

....

....

2) उन्नीसवीं शताब्दी में अंग्रेज़ों को प्रशासनिक सुधार की आवश्यकता क्यों पड़ी? दस पंक्तियों में उत्तर दीजिए।

....
....
....
....
....
....
....
....
....
....

24.3 संस्थागत संरचना

कानून और प्रशासन संबंधी प्रश्नों पर विचार करने के बाद, आइए हम उन्नीसवीं शताब्दी के दौरान उभरने वाले प्रशासनिक संस्थाओं के ढांचे पर विचार-विमर्श करें और यह भी मालूम करें कि ऊपर जिन विचारों का उल्लेख हमने किया है, उसे किस हद तक ग्रहण किया गया।

24.3.1 न्यायिक व्यवस्था

1793 ई. में कार्नवालिस के समय से ही प्रशासनिक ढांचे के निर्माण का काम शुरू हो गया और यह कार्य उन्नीसवीं शताब्दी के अंत तक चलता रहा। कार्नवालिस के शासन काल में न्यायिक व्यवस्था सहित प्रशासन की सभी शाखाओं में महत्वपूर्ण परिवर्तन किए गए। इसमें सबसे महत्वपूर्ण परिवर्तन था राजस्व और नागरिक प्रशासनिक विभागों को अलग-अलग करना, कहने का तात्पर्य यह कि न्यायिक और कार्यकारी विभाग को अलग-अलग कर दिया गया और कई न्यायालयों का निर्माण हुआ।

नागरिक और राजस्व प्रशासन को अलग-अलग करने का मतलब यह हुआ कि कलक्टर अभी तक न्याय और राजस्व, दोनों क्षेत्रों को देखता था, अब उसके न्यायिक अधिकार समाप्त कर दिए गए और उसका मुख्य काम राजस्व तक सीमित हो गया। अब राजस्व की वसूली और न्याय प्रशासन की देखभाल इस उद्देश्य से नियुक्त अलग-अलग पदाधिकारियों के जरिए होनी थी। अब कलक्टर के जिम्मे केवल राजस्व की वसूली करना रह गया और नागरिक और अपराधिक मामलों से निपटने के लिए जज मैजिस्ट्रेट की नियुक्ति की गई। नई न्याय व्यवस्था का ढांचा कुछ इस प्रकार था:

नागरिक अदालतें

सदर दीवानी अदालत
प्रांतीय अदालत I-IV

सिविल सर्विस से नियुक्त ज़िला मैजिस्ट्रेट के अधीन ज़िला अदालतें

रजिस्ट्रार की अदालत

अधीनस्थ अदालतें (इसका प्रधान भारतीय न्यायाधीश होता था, जिसे मुन्सिफ या अमीन कहते थे)

फौजदारी अदालतें

सदर निजामत अदालत (मद्रास, बम्बई में सदर फौजदारी अदालत)

सर्किट अदालत (सिविल सर्विस के अधिकारियों की अध्यक्षता में) स्थानीय अदालतें (भारतीय मैजिस्ट्रेटों की अध्यक्षता में, इन्हें मद्रास में प्रधान सदर अमीर कहा जाता था)।

अदालतों की इस श्रृंखला का प्रयोग सबसे पहले बंगाल में किया गया। वस्तुतः बंगाल ब्रिटिश शासन की प्रयोगशाला थी, जहां वे अपनी प्रशासन व्यवस्था को लागू कर जांच सकते थे और फिर देश के अन्य भागों में इसे लागू कर सकते थे। इस विचार-विमर्श को आगे बढ़ाने के पूर्व, आइए हम ऊपर दिए गए चार्ट को समझ लें। नई न्यायिक व्यवस्था में सदर दीवानी अदालत और सदर निजामत अदालत शीर्षस्थ संस्थाएं थीं और इनका मुख्यालय कलकत्ता था। इनके नीचे प्रोविंशियल कोर्ट ऑफ अपील (नागरिक अदालत के मामले में) और कोर्ट ऑफ सर्किट (फौज़दारी अदालत के मामले में) थे। इनकी स्थापना कलकत्ता, ढाका, मुर्शिदाबाद और पटना में की गई। इनके नीचे रजिस्ट्रार अदालतें थीं, इन सभी अदालतों के प्रमुख अंग्रेज़ अधिकारी थे। भारतीयों को मुंसिफ, अमीन जैसे छोटे पद मिला करते थे, काजी और पंडित मुस्लिम और हिन्दू कानून संबंधी परामर्श न्यायाधीश को दे सकते थे।

इस प्रकार, भारत में नई न्यायिक संरचना की स्थापना हुई। आने वाले समय में यह संरचना और विकसित हुई। इसमें कई परिवर्तन किए गए और भारत के कई भागों में इसकी स्थापना हुई। आइए, उन्नीसवीं शताब्दी के दौरान भारत में विकसित न्यायिक संरचना की प्रमुख विशेषताओं का अवलोकन करें।

इसकी एक महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि जो नई कानून-व्यवस्था बनाई गई, वह परंपरागत और धार्मिक कानूनों के प्रति काफी सहिष्णु थी। फौजदारी अदालतों ने मुस्लिम फौजदारी कानून को बिल्कुल समाप्त नहीं कर दिया, बल्कि इसमें थोड़ा-सा सुधार करके इसकी कठोरता कुछ कम कर दी। इसी तरह, नागरिक अदालतों में स्थानीय लोगों द्वारा अपनाई जाने वाली रीति-रिवाजों को बिल्कुल नज़रअंदाज नहीं कर दिया। वस्तुतः अभी ईस्ट इंडिया कंपनी व्यवस्था को पूरी तरह बदलना नहीं चाहती थी। केवल आंशिक परिवर्तन किए गए। न्याय की स्थापित संस्थाओं और राजस्व वसूली की संस्थाओं को समाप्त नहीं किया गया।

न्यायिक व्यवस्था की दूसरी विशेषता थी कानूनों की बनावट। अधिनियम बनाकर और पुराने कानूनों को नियमबद्ध करके कानून को व्यवस्थित कर लिया गया। यह उन्नीसवीं शताब्दी के दौरान अंग्रेज़ों की कानून को नियमबद्ध करने की इच्छा के अनुरूप ही था। परंपरागत व्यवस्था के तीन आधार थे :

1) परंपरागत और सामाजिक प्रथाओं पर आधारित कानून,
2) शास्त्र और शरीयत जैसे धर्म आधारित कानून; और
3) शासकों की इच्छा और शक्ति पर आधारित कानून।

इसके विपरीत, अंग्रेज़ों ने कानून की नई व्यवस्था कायम की। उन्होंने स्थापित कानून को नियमबद्ध किया, उसे व्यवस्थित किया। अब कानून की न्यायिक व्याख्या की जा सकती थी और उसमें बदलाव भी लाया जा सकता था। 1833 के चार्टर अधिनियम के द्वारा कानून बनाने का अधिकार गवर्नर जनरल काउंसिल को दे दिया गया। इसी साल एक विधि आयोग की स्थापना भी हुई। इसकी अध्यक्षता लार्ड मैकाले ने की। इसने भारतीय दंड संहिता का निर्माण किया, जिसे संपूर्ण भारत देश में लागू होना था। अतः, पहली बार एक ऐसी विधि व्यवस्था सामने आई, जो प्रत्येक भारतीय पर समान रूप से लागू हो सकती थी।

इस पूरी न्याय व्यवस्था के पीछे दो सिद्धांत (कानून का शासन और कानूनी समानता) काम कर रहे थे।

भारत में कानून के शासन की स्थापना का विचार उपयोगितावादियों के विचारों का प्रतिफलन था। उन्होंने तीन प्रमुख समस्याओं के समाधान के लिए कानून के शासन को आवश्यक समझा था :

1) व्यक्ति के हाथ में मनमाने असीमित अधिकार होते थे, जिसका वह दुरुपयोग कर सकता था।

MAADHYAM IAS

2) व्यक्तिगत अधिकारों की कोई परिभाषा नहीं दी गई थी।

3) कानून अलिखित थे और इनके पालन का कोई स्पष्ट निर्देश भी नहीं था।

कानून के शासन का तात्पर्य यह था कि अब प्रशासन कुछ बने-बनाए कानून पर आधारित होगा, जिसमें लोगों के अधिकार, विशेषाधिकार और कर्तव्यों का उल्लेख होगा, अब यह शासक की मर्जी के अनुसार नहीं चलेगा। सैद्धांतिक तौर पर ही सही, परंतु इसमें कोई कानून से बड़ा नहीं था। सैद्धांतिक तौर पर कानून के रखवाले भी अगर कानून तोड़ेंगे तो उनके लिए भी वही कानून लागू होगा और उन्हें भी न्यायालय में उपस्थित होना होगा। एक बार कानून बन जाने पर शासक के हाथ भी बंध जाते थे। परंतु कानून को इस ढंग से बनाया और व्याख्यायित किया जाता था कि उसके जरिए जनता के शोषण की काफी गुंजाइश रहती थी। जैसाकि अक्सर होता था, प्रशासनिक पदाधिकारी मनमानियां किया करते थे और उसे कानून का जामा पहना दिया करते थे, उन्हें इसके लिए कानून का उल्लंघन नहीं करना पड़ता था। "कानून के शासन" का सैद्धांतिक आधार पुलिस या सेना के मामले में निरर्थक मालूम होता था, जो हमेशा इसका उल्लंघन करते थे। पुलिस और प्रशासनिक अधिकारी अभी भी गैर-कानूनी कार्य धड़ल्ले से करते थे। वस्तुतः कानून का शासन अपने आप में शोषण और शक्ति का कानूनी अधिकार बन गया।

कानून के समक्ष समानता का अर्थ यह था कि बिना किसी जातिगत, सामाजिक आदि भेदभाव के सभी कानून की नज़र में समान हैं। परंतु कानून के समक्ष समानता का यह सिद्धांत यूरोपवासियों पर लागू नहीं होता था। उनके लिए अलग अदालत और कानून की व्यवस्था थी। फौजदारी के मामले में केवल यूरोपीय न्यायाधीश ही उनकी सुनवाई कर सकता था। वस्तुतः व्यावहारिक तौर पर कानून के समक्ष समानता लागू करना संभव ही नहीं हो सकता था। परंतु इसके द्वारा भारतीयों के बीच राष्ट्रीय समानता आई।

कानून का शासन और कानून के समक्ष समानता की प्राप्ति के लिए भारतीयों को भारी कीमत चुकानी पड़ी। न्याय बहुत मंहगा हो गया और साधारण व्यक्ति की पहुंच से बाहर हो गया। अब अदालती शुल्क अदा करना पड़ता था, जो काफी ज्यादा था। 50,000 रुपए की सम्पत्ति के मामले में अदालत में कार्रवाई शुरू करवाने के लिए 1000 रुपए अदालती शुल्क जमा करवाना पड़ता था। इसके अलावा, नए कानून काफी पेचीदे थे और इन्हें साधारण व्यक्ति समझ नहीं सकता था। अतएव वकील रखने पड़ते थे, जिससे खर्च और बढ़ जाता था। न्याय प्राप्त करने के लिए अब लोगों को ज़िला केंद्रों (शहरों) अथवा प्रांतीय केंद्रों में जाना पड़ता था। इसके अलावा, अब न्याय प्रक्रिया काफी लंबी खिंचती थी और कभी-कभी तो यह वर्षों लटकी रहती थी। उदाहरण के तौर पर मद्रास की ज़मींदारी के मामले को ही लिया जा सकता है। इसका उत्तराधिकार संबंधी मामला और ऋण अदायगी से संबंधित मसला 1832 में न्यायालय के समक्ष रखा गया। इसका फैसला 64 वर्ष बाद यानी 1896 में हुआ।

इस न्याय व्यवस्था की एक विशेषता यह थी कि इससे पूरे भारत वर्ष में एक न्याय व्यवस्था कायम हुई और इससे देश के एकीकरण का मार्ग भी प्रशस्त हुआ। अब भारत को एक इकाई (न्यायिक तौर पर ही सही) के रूप में देखा जा सकता था। भारत पर नियंत्रण स्थापित करने के लिए अंग्रेज़ों ने विधि तंत्र का सहारा लिया। कालांतर (20वीं शताब्दी) में इसी विधि तंत्र का उपयोग राष्ट्रीय आंदोलन के दौरान राष्ट्रवादी नेताओं ने नागरिक स्वतंत्रता और अधिकार की रक्षा के लिए किया और कानून का सहारा लेकर उन्होंने सरकारी तंत्र को चुनौती भी दी।

24.3.2 प्रशासनिक व्यवस्था

भारत में ब्रिटिश प्रशासन का एक प्रमुख उद्देश्य कानून और व्यवस्था लागू करना तथा ब्रिटिश शासन को मज़बूत बनाना था। प्रशासन को सुचारु रूप से चलाने के लिए लिखित कानून पहले ही बना लिए गए थे। ब्रिटिश प्रशासन के तीन स्तम्भ थे।

- सिविल सर्विस
- सेना
- पुलिस

आइए, इनमें से प्रत्येक की संरचना और कार्यविधि पर संक्षेप में विचार किया जाए।

सिविल सर्विस

सिविल सर्विस का मुख्य कार्य कानून लागू करना और राजस्व की वसूली करना था। अपने सैनिक और धार्मिक कार्यों में रत सहायकों से नागरिक अधिकारियों को अलग करने के लिए ईस्ट इंडिया कंपनी ने पहली बार (सिविल सर्विस) शब्द का इस्तेमाल किया। पहले यह ''सेवा'' केवल व्यापार तक ही सीमित थी, परंतु धीरे-धीरे यह सिविल सर्विस में परिणत हो गई।

शुरू से ही इस सेवा में पदानुक्रम की व्यवस्था थी–प्रशिक्षार्थी, लेखक, कारिंदा, कनिष्ठ व्यापारी और उसके ऊपर वरिष्ठ व्यापारी। वरिष्ठ व्यापारियों के बीच से गवर्नर जैसे उच्च पदों के लिए लोगों को चुना जाता था। यह पदानुक्रम 1839 तक चला।

इन पदों पर नियुक्ति करने का विशेषाधिकार ईस्ट इंडिया कंपनी के कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स को प्राप्त था। इनके द्वारा नियुक्त अधिकारी भ्रष्टाचार, घूसखोरी और अवैध निजी व्यापार में व्यस्त रहते थे। कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स के संरक्षण की नीति के कारण पनप रहे इस भ्रष्टाचार को कार्नवालिस ने रोकने की कोशिश की। उसने उनपर कुछ प्रतिबंध लगाए (जैसे निजी व्यापार पर रोक लगा दी गई) परंतु मुआवज़े के तौर पर उनका वेतन बढ़ा दिया। उदाहरण के तौर पर एक कलक्टर को प्रति महीना 1500 रुपया वेतन मिलता था। इसके अतिरिक्त, ज़िले से वसूले गए राजस्व का एक प्रतिशत भी उसे दिया जाता है। कम्पनी की सिविल सर्विस के अधिकारियों को जितना वेतन मिलता था, शायद उस समय विश्व की किसी भी सेवा में इतने वेतन का प्रावधान नहीं था।

इसके बावजूद, प्रशासन में भ्रष्टाचार और अक्षमता की समस्या मौजूद रही। लार्ड वेलेस्ली 1798 में भारत आया। उसने इस दिशा में कुछ महत्वपूर्ण कदम उठाए। उसने भारत के सिविल सर्विस के पदाधिकारियों के प्रशिक्षण का विचार सामने रखा। उसने महसूस किया कि आधारभूत प्रशिक्षण ब्रिटेन में दिया जाए और फिर भारत में उन्हें प्रशिक्षण दिया जाए। सिविल सर्विस के पदाधिकारियों को भारत के साहित्य, विज्ञान और भाषाओं की जानकारी देने के लिए 24 नवंबर, 1800 को कलकत्ता में फोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना की गई। इसके पांच साल बाद सिविल सर्विस के युवा अधिकारियों को दो साल का प्रशिक्षण देने के लिए हेलीबरी में ईस्ट इंडिया कॉलेज की स्थापना की गई। अगले पचास वर्षों तक इसी हेलीबरी कॉलेज में सिविल सर्विस के अधिकारी प्रशिक्षण प्राप्त करते रहे।

MAADHYAM IAS

अभी भी नियुक्ति का विशेषाधिकार कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स के पास ही था। वे अपने बेटों और भतीजों को इस सेवा के लिए नियुक्त करते थे।

1833 के चार्टर अधिनियम के तहत पहली बार नियुक्ति के लिए ''प्रतियोगिता'' का विचार सामने आया। पहले इस पद पर अधिकारी मनोनीत किए जाते थे। परंतु यह प्रतियोगिता काफी सीमित दायरे में होती थी और इसे मनोनयन और प्रतियोगिता का मिला-जुला रूप ही कहा जा सकता है। पहले कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स को ज़रूरत से चार गुना ज्यादा प्रत्याशियों का मनोनयन करना होता था। इन मनोनीत प्रत्याशियों को प्रतियोगिता परीक्षा में बैठना होता था। इनमें से एक-चौथाई प्रत्याशियों को प्रतिष्ठित सिविल सर्विस के लिए अंतिम रूप से नियुक्त किया जाता था।

परंतु धीरे-धीरे खुली प्रतियोगिता की मांग बढ़ने लगी। अंततः 1853 के चार्टर ऐक्ट के ज़रिए कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स का मनोनयन अधिकार समाप्त कर दिया गया और अब खुली प्रतियोगिता का प्रावधान हो गया। प्रतियोगिता परीक्षा के नियमों, योग्यता और विषयों के निर्धारण के लिए मैकाले की अध्यक्षता में एक समिति बनाई गई, जिसे अपना सुझाव बोर्ड ऑफ कंट्रोल के सामने रखना था। 1858 में हेलीबरी स्थित कॉलेज को समाप्त कर दिया गया और अब सिविल सर्विस आयोग को प्रतियोगिता परीक्षाओं की जिम्मेदारी सौंप दी गई। प्रतियोगिता परीक्षा का आयोजन साल में एक बार इंग्लैंड में होना था, अतः भारतीयों के लिए इस परीक्षा में बैठना नामुमकिन था। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में भारत में ही परीक्षा लिए जाने की मांग की जाने लगी।

सिविल सर्विस के पदाधिकारियों की नियुक्ति नियंत्रण कक्ष और ज़िले में हुआ करती थी। ज़िले का प्रमुख अधिकारी कलक्टर हुआ करता था, जिसकी मुख्य जिम्मेदारी राजस्व वसूल करना था। हदबंदी और राजस्व संबंधी सभी विवादों का निपटारा करने का अधिकार उसे प्राप्त था। उसकी सहायता के लिए एक तहसीलदार होता था, वह भारतीय होता था।

1831 के सुधार के बाद मैजिस्ट्रेट और स्थानीय पुलिस अधीक्षक का कार्यालय भी उसके अधीन आ गया। इससे ज़िले में उसे पूर्ण अधिकार प्राप्त हो गया। 1831 के बाद बड़े ज़िलों में कलक्टर और तहसीलदार के बीच डिप्टी कलक्टर की भी नियुक्ति होने लगी। धीरे-धीरे यह पद अनौपचारिक हो गया और अनुभवी भारतवासियों को डिप्टी कलक्टर बनाया जाने लगा।

आने वाले वर्षों में भारतीय सिविल सर्विस विश्व के सबसे चुस्त और शक्तिशाली नागरिक सेवा के रूप में उभर कर सामने आई। भारत में ब्रिटिश नीति निर्धारण में इसके सदस्यों ने प्रमुख भूमिका निभाई और भारत में शक्तिशाली ब्रिटिश साम्राज्य को सुचारु रूप से चलाने में योगदान दिया। 1947 में स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारत ने सिविल सेवा की व्यवस्था को आत्मसात कर लिया और यह व्यवस्था आज तक कायम है।

सेना और पुलिस

ब्रिटिश प्रशासन के अन्य दो स्तम्भों के बारे में ज्यादा बताने की ज़रूरत नहीं है। कम्पनी की सेना में भारतीय सैनिक बहुसंख्यक में थे। 1857 में कम्पनी की सेना में 86 प्रतिशत भारतीय थे। अंग्रेज़ों ने कम खर्च को देखते हुए भारतीय सैनिकों की नियुक्ति की थी। विस्तारवादी नीति को अंजाम देने के लिए कम्पनी को एक बड़ी सेना की आवश्यकता थी इसलिए कम्पनी को मुख्यतः भारतीय सैनिकों पर ही भरोसा करना पड़ा। परंतु प्रशासन की अन्य शाखाओं के समान, सेना के पदाधिकारी अंग्रेज़ ही हुआ करते थे। एक भारतीय ज्यादा से ज्यादा सूबेदार का पद प्राप्त कर सकता था।

भारतीय शासकों को परास्त करने और ब्रिटिश साम्राज्य को फैलाने में सेना ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। भारत पर पूर्ण नियंत्रण स्थापित करने और अन्य विदेशी शक्तियों को निकाल बाहर करने के बाद भारत पर पकड़ मज़बूत बनाए रखना सेना का मुख्य उद्देश्य हो गया। इसके अतिरिक्त भारतीय सेना ने अंग्रेज़ों के लिए रूस, फ्रांस और भारत के पड़ोसी राज्यों से युद्ध किया।

ब्रिटिश प्रशासन के तीसरे स्तंभ पुलिस का निर्माण कार्नवालिस ने किया था। अभी तक ज़मींदार के लठैत पुलिस की भूमिका निभाते आ रहे थे। अब उनके अधिकार छीन लिए गए, उन्हें निरस्त्र कर दिया गया और पुलिस बल की स्थापना की गई। इस बल पर ईस्ट इंडिया कम्पनी की सरकार का पूर्ण नियंत्रण था। पुलिस थानों में रहती थी, थाने का प्रधान दरोगा होता था। दरोगा की नियुक्ति भारतीयों के बीच से होती थी। ये थाने ज़िला न्यायाधीश के निरीक्षण में कार्य करते थे। बाद में, ज़िला के पुलिस संगठन की देखभाल करने के लिए पुलिस अधीक्षक का पद बनाया गया। अंततः पुलिस बल का संगठन सिविल सेवा के अधीन आ गया। ज़िले में कलक्टर भी पुलिस पर नियंत्रण रखता था। पुलिस का मुख्य कार्य अपराधों को रोकना और ब्रिटिश शासन के खिलाफ हो रहे षड्यंत्रों को नाकाम करना था। बाद में, बीसवीं शताब्दी में इस पुलिस बल का उपयोग बड़े पैमाने पर राष्ट्रीय आंदोलन को दबाने के लिए किया गया।

MAADHYAM IAS

24.3.3 भारतीय भागीदारी

अंग्रेज़ों ने जो न्यायिक और प्रशासनिक व्यवस्था लागू की, उसमें गौर करने की बात यह है कि किसी भी भारतीय को जिम्मेदारी का पद नहीं सौंपा गया। यह मिल के दृष्टिकोण का प्रतिफल था। इसके अलावा कार्नवालिस, जिसने इन सुधारों की शुरुआत की, को भारतीयों की कार्य-कुशलता और जिम्मेदारी पर जरा भी विश्वास नहीं था। अतः उन्हें ज्यादा से ज्यादा दरोगा या अमीन का पद दिया गया। सेना, पुलिस, सिविल सर्विस, न्यायिक और इंजीनियरिंग—सभी क्षेत्रों में भारतीयों को दूर रखने की नीति अपनाई गई। वस्तुतः 1793 में सरकारी तौर पर यह घोषित किया गया था कि 500 प्रति वर्ष से अधिक वेतन वाले पद पर अंग्रेज़ों की ही नियुक्ति होगी। अंग्रेज़ों का यह मानना था कि ब्रिटिश विचारों, संस्थाओं और प्रथाओं पर आधारित प्रशासन को अंग्रेज़ ही सुचारु रूप से संभाल सकते हैं। उस समय के अंग्रेज़ विचारकों का भी यही सोचना था कि अंग्रेज़ ही भारत को एक अच्छा प्रशासन दे सकते हैं।

1813 ई. के बाद हेस्टिंग्स के नेतृत्व में न्यायिक प्रशासन के निचले पदों के भारतीयकरण की दिशा में धीरे-धीरे कदम उठाए गए। न्यायिक व्यवस्था के प्रसार के साथ-साथ इसमें

भारतीयों की नियुक्ति की जाने लगी। इसके लिए यह तर्क दिया गया कि स्थानीय स्तर पर न्यायिक व्यवस्था को लागू करने के लिए स्थानीय लोगों की आवश्यकता है। बैंटिक ने स्थानीय आवश्यकताओं के अनुकूल प्रशासन को ढालने के लिए भारतीयों की नियुक्ति की वकालत की। उसके अनुसार, भारतीय स्थानीय समस्याओं को बेहतर समझ सकते हैं।

प्रशासन में होने वाले खर्च के कारण भी भारतीयकरण की बात सामने आई। हेस्टिंग्स के शासन काल में जो युद्ध लड़े गए, खासकर आंग्ल-बर्मा युद्ध, उससे वित्तीय संकट पैदा हो गया। प्रशासन के प्रसार के कारण यह संकट और भी गहरा हो गया। अब प्रशासन के पदों पर अंग्रेज़ों की नियुक्ति लगभग असंभव हो गई। एक तरफ तो प्रशासन का विस्तार करना था और दूसरी तरफ ब्रिटिश पैमाने पर खर्च का वहन करना मुश्किल हो गया। अतः निचले पदों पर भारतीयों की नियुक्ति आवश्यक हो गई। वे अंग्रेज़ों की अपेक्षा सहज रूप में और सस्ते दामों पर उपलब्ध थे। इससे ऊंचे पदों पर अंग्रेज़ों की नियुक्ति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। अंग्रेज़ भारत में निचले पदों पर काम करने के लिए उत्सुक नहीं थे।

भारतीयों को प्रशासन में भागीदारी देने का मुख्य कारण यही था। अंग्रेज़ों ने प्रशासन में भारतीय लोगों की भागीदारी को सार्वजनिक तौर पर स्वीकार किया और इसे न्याय, नैतिकता और स्थानीय आवश्यकता आदि का जामा पहना दिया। 1831 के एक अधिनियम के तहत बड़े पैमाने पर भारतीयों को न्यायिक प्रशासन में शामिल करने की बात की गई। आकलैंड बैंटिक का उत्तराधिकारी बनकर भारत आया। उसने भारतीय न्यायाधीशों के वेतन और शक्ति में बढ़ोत्तरी की।

परंतु यह याद रखना चाहिए कि उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक प्रशासन के ऊंचे पद अंग्रेज़ों के लिए सुरक्षित रहे। बीसवीं शताब्दी में भारतीय भी सुरक्षित सिविल सेवा में प्रवेश पाने लगे।

बोध प्रश्न 2

1) निम्नलिखित में से प्रत्येक पर पांच पंक्तियां लिखिए:

i) कानून का शासन

....
....
....
....
....

ii) कानून के समक्ष समानता

....
....
....
....
....

iii) पुलिस

....
....
....
....
....

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

iv) सेना

....

....

....

....

....

2) निम्नलिखित वक्तव्यों को पढ़िए और सही (✓) और गलत (✗) का निशान लगाइए :

i) नई न्यायिक व्यवस्था के अंतर्गत नागरिक और राजस्व प्रशासन को अलग कर दिया गया।

ii) इस नई व्यवस्था के आरंभ में ही स्थापित परंपरागत और धार्मिक कानूनों को निरस्त कर दिया गया।

iii) भारतीय दंड संहिता केवल बंगाल में लागू की गई।

iv) ब्रिटिश प्रशासन के निचले पदों पर ही भारतीयों की नियुक्ति की जाती थी।

24.4 सारांश

उन्नीसवीं शताब्दी के दौरान भारत में एक प्रक्रिया शुरू हुई, जिसके तहत नई न्यायिक और प्रशासनिक संस्थाओं का जन्म हुआ और इन्होंने एक निश्चित स्वरूप ग्रहण किया। उन्नीसवीं शताब्दी के दौरान अंग्रेज़ चिंतकों ने भारतीय समस्याओं पर विचार-विमर्श किया। भारत में अंग्रेज़ों के कुछ स्वार्थ निहित थे। इन्हीं कारणों से प्रशासनिक परिवर्तन किए गए। इसके परिणामस्वरूप कानूनों की एक शृंखला सामने आई और इस कानून को लागू करने के लिए समूचे देश में एक व्यापक प्रशासनिक ढांचा निर्मित किया गया। इस ढांचे का स्वरूप आधुनिक था और यह संपूर्ण भारत में फैला हुआ था। इसका प्रभाव बीसवीं शताब्दी में उभर कर सामने आया। इसकी सहायता से अंग्रेज़ों ने भारत पर अपनी पकड़ मज़बूत की और भारत के अंदर प्रवेश करने में उन्हें मदद मिली। दूसरी तरफ, भारतीयों को एक ऐसा आधार मिला, जिसपर खड़े होकर वे ब्रिटिश सत्ता को चुनौती दे सकते थे।

MAADHYAM IAS
way to achieve your dream

24.5 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) देखें उपभाग 24.2.1

2) इस उत्तर में आप ब्रिटिश हितों का उल्लेख करते हुए तदनुरूप उन्नीसवीं शताब्दी में प्रशासनिक ढांचे में हुए परिवर्तन का उल्लेख करें। देखें उपभाग 24.2.2

बोध प्रश्न 2

1) i) और ii) देखें उपभाग 24.3.1
iii) और iv) देखें उपभाग 24.3.2

2) i) ✓ ii) ✗ iii) ✗
iv) ✓

इकाई 25 सामाजिक नीति और भारतीय प्रतिक्रिया

इकाई की रूपरेखा

25.0 उद्देश्य
25.1 प्रस्तावना
25.2 औपनिवेशिक नीति निर्माण का इतिहास लेखन
25.3 अंग्रेज़ों की आरंभिक सामाजिक नीति
25.4 औपनिवेशिक सामाजिक हस्तक्षेप में बदलाव
    25.4.1 बाल हत्या
    25.4.2 सती प्रथा
    25.4.3 दास प्रथा
25.5 अंग्रेज़ों की नीति और भारतीय प्रतिक्रिया : एक मूल्यांकन
25.6 सारांश
25.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

25.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़कर आप औपनिवेशिक सामाजिक नीति को प्रभावित करने वाले कारकों की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे। इसे पढ़ने के बाद आप :

- भारत में अंग्रेज़ों की आरंभिक सामाजिक नीतियों का उल्लेख कर सकेंगे,
- भारतीय सामाजिक प्रथाओं में अंग्रेज़ों द्वारा लगातार किए गए हस्तक्षेप पर प्रकाश डाल सकेंगे,
- अंग्रेज़ों की सामाजिक नीतियों के प्रभाव और भारतीय प्रतिक्रिया का विश्लेषण कर सकेंगे।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

25.1 प्रस्तावना

18वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में प्लासी और बक्सर के युद्ध में विजयी होने के बाद इंग्लिश ईस्ट इंडिया कंपनी बंगाल में एक विजयी व्यापारिक सैन्य शक्ति के रूप में उभर कर सामने आई। 18वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और 19वीं शताब्दी में ब्रिटिश कंपनी शनैः शनैः व्यापारिक-आक्रमणकारी से आगे बढ़कर शासक के रूप में परिणत हो गई। शासक बनने के बाद अंग्रेज़ों ने संस्थागत संरचना में परिवर्तन को आवश्यक समझा। इसके अलावा, शासित जनता पर शासन करने के लिए उन्होंने नीति संबंधी एक निश्चित दृष्टिकोण भी विकसित किया। इस क्रम में आरंभ में उन्होंने उपनिवेश-पूर्व संस्थाओं और शासन व्यवस्था को अपनाया। बाद में उन्होंने उसमें कुछ अस्थाई परिवर्तन किए। इसके बाद उन्होंने सरकारी संस्थाओं के स्वरूप को पुनर्व्यवस्थित करना शुरू किया।

ब्रिटेन में हो रहे आर्थिक और बौद्धिक बदलाव और भारत में स्थापित नई औपनिवेशिक व्यवस्था की जरूरतों और सीमाओं ने नीति निर्धारण में पृष्ठभूमि के रूप में कार्य किया।

25.2 औपनिवेशिक नीति निर्माण का इतिहास लेखन

सामाजिक कार्यकलापों में राज्य के हस्तक्षेप को समझने के लिए औपनिवेशिक नीति का अध्ययन आवश्यक है। आरंभिक अंग्रेज़ प्रशासकों और आर.सी. दत्त जैसे भारतीय

राष्ट्रवादियों (जिन्होंने भारत में अंग्रेज़ों की नीतियों पर टिप्पणी की) के विचार एक-दूसरे के विरोधी थे, पर उनके कुछ विचार आपस में मेल भी खाते थे। दोनों प्रकार के दृष्टिकोणों में औपनिवेशिक राज्य को एक अखंड सत्ता के रूप में स्वीकार किया गया और यह भी स्वीकार किया गया कि अगर यह चाहे तो भारतीय समाज में बदलाव आ सकता है। इस तर्क को ध्यान में रखते हुए राज्य नीति की दिशा और स्वरूप को समझने के लिए सरकारी तंत्र के उच्च तबके पर प्रकाश डालना तर्कसंगत होगा।

बाद में, रजनी पाम दत्त जैसे मार्क्सवादी लेखकों ने ब्रिटिश नीति निर्धारण के अध्ययन के क्रम में महानगरीय अर्थव्यवस्था की जरूरतों पर प्रकाश डाला। इतिहास लेखन की एक उल्लेखनीय प्रवृत्ति में औपनिवेशिक नीति निर्धारक के वैचारिक प्रभाव पर प्रमुख रूप से विचार किया गया। इसके अनुसार इस वैचारिक दृष्टिकोण ने नीति निर्धारण को प्रभावित किया। क्षेत्रीय और ज़िला स्तर पर हुए हाल के अध्ययनों में इस मान्यता का खंडन किया गया कि नीति निर्धारण में अखंडित औपनिवेशिक राज्य प्रमुख तत्व होता है। इन अध्ययनों में नीति निर्धारण के लिए क्षेत्रीय शक्तियों की संरचना को विशेष महत्वपूर्ण माना गया है।

25.3 अंग्रेज़ों की आरंभिक सामाजिक नीति

"सामाजिक नीति" के तहत कानून, शिक्षा, परिवार, अपराधिक वृत्ति, सामाजिक स्तर, सामाजिक सूचनाओं को इकट्ठा करना और ऐसे ही कई प्रकार के तत्व शामिल होते हैं, जिनके माध्यम से शासित जनता के सामूहिक जीवन में हस्तक्षेप किया जा सकता है और उन्हें नियंत्रित किया जा सकता है। आपने महसूस किया होगा कि ऊपर हमने "सामाजिक नीति" का प्रयोग बृहत अर्थों में किया है और इनमें से बहुत सी बातों की जानकारी हम पिछली इकाइयों में प्राप्त कर चुके हैं। हम लोग इस इकाई में उन भारतीय सामाजिक संस्थाओं के प्रति ब्रिटिश दृष्टिकोण पर ध्यान केंद्रित करेंगे, जिनकी ओर औपनिवेशिक काल के आरंभ में ही अंग्रेज़ों और भारतीयों का ध्यान आकृष्ट हुआ था और इस संबंध में कुछ कार्यवाही भी की गई थी। मुख्य रूप से इस विचार-विमर्श के केंद्र में बंगाल का जिक्र हुआ है। बंगाल भारत में कंपनी का मुख्यालय था। इसपर सबसे पहले अंग्रेज़ों ने कब्जा जमाया और यहां पर प्रशासन और राज्य नीति संबंधी अनेक उपायों का प्रयोग किया। बंगाल में शिक्षित मध्यम वर्ग की संख्या अपेक्षाकृत अधिक थी। इन्होंने सामाजिक नीति के पनपने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। कलकत्ता में अंग्रेज़ों की आर्थिक गतिविधियों और उच्च वर्ग के बीच पाश्चात्य शिक्षा के प्रसार से उस शहर के सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन में एक हलचल सी मच गई। पढ़े-लिखे बंगाली विशिष्ट जन अंग्रेज़ों की नीतियों पर सक्रिय रूप में बहस करने लगे और अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करने लगे। इसके अतिरिक्त, उन्होंने इन नीतियों को एक आकार देने में भी मदद की।

MAADHYAM IAS

भारत का पहले गवर्नर जनरल वारेन हेस्टिंग्स एक अंग्रेज़ी "सरकारी अफसर तंत्र" कायम करना चाहता था, जिनकी भारतीय भाषाओं पर अच्छी पकड़ हो और जो भारतीय परंपराओं को समझते हों। 1784 में हेस्टिंग्स ने महसूस किया कि "जिनपर हमें शासन करना है, उनके बारे में छोटी से छोटी जानकारी प्राप्त करना और सामाजिक संपर्क के माध्यम से सूचनाएं इकट्ठी करना, साम्राज्य की विजय को मज़बूत करने की ओर एक आगे बढ़ा हुआ कदम होता है, यह राज्य के लिए लाभदायक होता है, यह मानवता की उपलब्धि है……" हेस्टिंग्स चाहता था कि परंपरागत भारतीय भाषाओं को ठीक से सीखा जाए, क्योंकि इससे भारत को समझने और अधीनस्थ जनता से संपर्क स्थापित करने में मदद मिलेगी। इस उद्देश्य से उसने ऑक्सफोर्ड में फारसी भाषा के प्रोफेसर का एक पद निर्मित करने का प्रस्ताव तैयार किया। भारत आने के पहले सिविल सर्विस के अधिकारियों को फारसी और हिंदुस्तानी सीखने की प्रेरणा दी जाती थी। भाषा संबंधी प्रशिक्षण देने का फैसला 1790 में लिया गया। पर तात्कालिक समाधान के रूप में वारेन हेस्टिंग्स ने उन पदाधिकारियों को बढ़ावा और प्रोत्साहन दिया, जो भारतीय कानून और विधिशास्त्र संबंधी ग्रंथों के अध्ययन और अनुवाद में रूचि रखते थे। इस गतिविधि को प्रोत्साहित करने के लिए अनुवाद करने के एवज में अच्छी रकम का प्रावधान रखा गया। अंग्रेज़ों ने बंगला भाषा के सुव्यवस्थित अध्ययन को एक दिशा दी। हेस्टिंग्स के अंतरंग नैथनियेल हैथेड ने

हिंदू रीति-रिवाजों और धार्मिक कानूनों को अनूदित और संकलित किया। 1788 ई. में उसने बंगला भाषा का व्याकरण प्रकाशित करवाया।

हेस्टिंग्स ने भारतीय भाषाओं में कम्पनी के दस्तावेज़ों को प्रस्तुत करने का प्रयास किया और इस प्रयास के फलस्वरूप कलकत्ता में मुद्रण और प्रकाशन की शुरुआत हुई। भारत के अतीत और आरंभिक परंपराओं की खोज निकालने के लिए एशियाटिक सोसाइटी की स्थापना हुई, इसकी स्थापना में वारेन हेस्टिंग्स का प्रमुख हाथ था। कलकत्ता मदरसा की स्थापना इस दिशा में लिया गया दूसरा कदम था।

हेस्टिंग्स के शासन काल में अपनाई गई सांस्कृतिक और सामाजिक नीति में पूर्वी संस्कृति की ओर झुकाव की स्पष्ट झलक मिलती है। इसे ''ब्रिटिश ओरियेंटलिज्म'' की विचारधारा भी कह सकते हैं। यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि यह विचारधारा भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की जरूरतों को पूरा करने के लिए लागू की गई थी। किसी देश पर लंबे समय तक शासन करने के लिए और वहां स्थाई संस्थाओं के निर्माण के लिए शासित देश की जनता की प्रवृत्ति, उनके सामाजिक रीति-रिवाज, आदतों और मान्यताओं के बारे में जानना बहुत जरूरी था। हेस्टिंग्स चाहता था कि शासितों पर उनके तरीकों से ही शासन किया जाए, न कि उनका अंग्रेज़ीकरण किया जाए। ये सारी बातें प्राच्यवादी अवधारणाओं और लिए गए राजनीतिक निर्णयों से पूरी तरह स्पष्ट होती हैं। पश्चिमी मालाबार तट की स्थिति से संबंधित आरंभिक ब्रिटिश सरकारी दस्तावेजों को देखने से यह बात और भी खुलासा हो जाती है। उसमें स्थानीय सामाजिक प्रथाओं के प्रति सहानुभूतिपूर्ण रूप अपनाया गया है, हालांकि वे पश्चिमी रीति-रिवाजों से बिल्कुल भिन्न थे। उदाहरण के लिए नायर की मातृसत्तात्मक और बहुपतित्व जैसी प्रथाओं पर एक रिपोर्ट 18वीं शताब्दी में तैयार की गई, पर इसमें उनकी निंदा नहीं की गई और इसे नायर पुरुषों के वैवाहिक संबंध के परिणाम के रूप में व्याख्यायित किया गया है। बाद में उन्नीसवीं शताब्दी में इस विवाह पद्धति को अप्राकृतिक और नायर महिलाओं के बहुपतित्व को ''वेश्यावृत्ति'' और ''अनैतिक'' कहा गया।

बोध प्रश्न 1

1) औपनिवेशिक नीति निर्धारण से संबद्ध इतिहास लेखन की कौन-कौन सी विभिन्न प्रवृत्तियां थीं? पचास शब्दों में उत्तर दीजिए।

MAADHYAM IAS

....

....

....

....

....

2) वारेन हेस्टिंग्स के शासन काल में अंग्रेज़ों की सांस्कृतिक और सामाजिक नीति क्या थी? दस पंक्तियों में उत्तर दीजिए।

....

....

....

....

....

....

....

....

....

....

25.4 औपनिवेशिक सामाजिक हस्तक्षेप में बदलाव

हेस्टिंग्स का शासन काल समाप्त होने के बाद भारत सरकार की नीतियों और दृष्टिकोण में परिवर्तन आए। सरकार हिचकिचाते हुए ही सही, पर धीरे-धीरे भारतीय सामाजिक संस्थाओं में हस्तक्षेप करने लगी। हेस्टिंग्स की प्राच्यवादी नीति की आलोचना की गई और यह कहा गया कि तत्काल भारतीय समाज के आधुनिकीकरण और पश्चिमीकरण की आवश्यकता है। विलियम बिल्वरफोर्स और चार्ल्स ग्रांट (जो बाद में कंपनी के बोर्ड ऑफ कंट्रोल का अध्यक्ष बना) ने धर्म परिवर्तन को भारत के आधुनिकीकरण और पश्चिमीकरण का हथियार माना। उन्होंने इस बात पर बल दिया कि हिंदू धर्म में अंधविश्वास, मूर्ति-पूजा और पंडितों की मनमानी जैसी कई बीमारियां थीं। अतः उनका मानना था कि ईसाई मिशनरियों के माध्यम से धर्म प्रचार कर भारत का आधुनिकीकरण किया जा सकता था। जेरेमी बेंथम, जेम्स मिल और जॉन स्टुअर्ट मिल जैसे उग्रवादियों के नेतृत्व में एक विचारधारा सामने आई, जिसके अनुसार बेहतर शासन वह होता है जो ज्यादा से ज्यादा लोगों को खुशियां बांट सके। एक अच्छी सरकार में स्वतंत्रता की अपेक्षा यह गुण सर्वोपरि होता है। व्यक्तिगत जीवन और सम्पत्ति की सुरक्षा प्रदान कर इस उद्देश्य की प्राप्ति की जा सकती है। ये विचार उपयोगितावादी विचारधारा पर आधारित थे।

इन विचारधाराओं ने नीति निर्धारण को एक वैचारिक आधार प्रदान किया। पर भारत में पश्चिमी आदर्शों को पूर्ण रूप से एक बारगी नहीं थोपा गया, क्योंकि इससे व्यापक विरोध, प्रतिरोध और विद्रोह फैल सकता था और अंग्रेज़ों के सामने राजनीतिक संकट उत्पन्न हो सकता था। अब हम उन प्रयत्नों की चर्चा करेंगे, जिनके माध्यम से अंग्रेज़ सरकार ने भारतीय रीति-रिवाजों में हस्तक्षेप करने की कोशिश की।

25.4.1 बाल हत्या

ब्रिटिश भारतीय सरकार ने सबसे पहले बाल हत्या जैसी प्रथा को समाप्त किया। भारत के कई हिस्सों में बालिकाओं का वध आम बात थी। राजपूतों, जाटों, मेवातियों और बनारस के राजपूत राजकुमारों को अपनी बेटी ब्याहने में काफी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था और उन्हें काफी राशि भी खर्च करनी पड़ती थी। इससे लोग अपनी बेटियों को जन्म लेते ही मारने लगे, कभी भूखा रखकर, कभी जहर देकर। सबसे पहले बनारस के रेजिडेंट जानथन डनकन ने इस प्रथा को समाप्त करने की कोशिश की। उसने कोई एकतरफा अधिनियम नहीं पारित किया, बल्कि स्थानीय राजकुमारों को जाकर समझाया कि बालिकाओं की हत्या हिंदू धर्म-ग्रंथों में कही बातों के खिलाफ है। डनकन यह बात समझता था कि बालिकाओं की हत्या जैसी सामाजिक प्रथा का मूल कारण आर्थिक था, अतः उसने राजकुमारों से आग्रह किया कि अगर वे इस बुरी प्रथा को छोड़ देंगे तो उन्हें इसके बदले में मुआवजा दिया जाएगा।

रिवरेन्ड वार्ड ने अपनी पुस्तक "ए व्यू ऑफ द हिस्ट्री, लिट्रेचर एंड रेलिजन ऑफ द हिंदूज़" में बंगाल में बाल हत्या की प्रथा का विस्तार से वर्णन किया है। फ़ोर्ट विलियम कॉलेज में कार्यरत एक धर्मप्रचारक विलियम कैरे ने इस प्रथा की समाप्ति का ज़ोरदार समर्थन किया। सेरामपुर मिशनरी के प्रति सहानुभूति रखने वाले गवर्नर जनरल काउंसिल के एक सदस्य ने वेलेस्ली का ध्यान इन सामूहिक बुराइयों की ओर खींचा। कैरे ने पहले हिंदू पंडितों से राय-मशविरा किया और फिर सरकार के सामने इन सामाजिक बुराइयों को तुरंत समाप्त करने की याचिका दायर की। इसी समय काउंसिल के उपाध्यक्ष को कलकत्ता के मैजिस्ट्रेटों ने एक सामूहिक पत्र लिखकर सूचित किया कि मुगल या ब्रिटिश सरकार ने कभी भी बाल हत्या को मान्यता नहीं दी थी। उन्होंने यह भी कहा कि जब पुलिस इन हत्याओं को रोकने का प्रयास करती है, तो कोई जन प्रतिरोध नहीं होता है।

अंततः 1802 के अधिनियम IV के रूप में एक कानून बना और बाल हत्या पर पाबंदी लगा दी गई।

बाल हत्या पर पाबंदी लगने से बंगाल पर इसका काफी असर हुआ और जनता के बीच कोई खास प्रतिरोध भी नहीं हुआ। अंग्रेज़ों को इस प्रथा को आसानी से समाप्त करने में शायद इसलिए किसी दिक्कत का सामना नहीं करना पड़ा क्योंकि एक तो यह बंगाल पर

MAADHYAM IAS
way to achieve your dream

सीमित थी और दूसरे इसे धार्मिक अनुमति नहीं प्राप्त थी। पर भारत के दूसरे हिस्सों में भी इस पाबंदी का कोई खास प्रभाव नहीं पड़ा और यह प्रथा पाबंदी के बावजूद जारी रही।

बाल हत्या रोकने की शुरुआत स्थानीय अधिकारियों और मिशनरियों ने की। पंडितों की राय जान लेने के बाद ही गवर्नर जनरल ने अपनी स्वीकृति दी और यह भी ठोक बजाकर देख लिया कि इससे कोई गड़बड़ी तो नहीं फैलेगी।

25.4.2 सती प्रथा

इसके बाद विधवा को जलाने की प्रथा या सती प्रथा को रोकने के लिए कदम उठाए गए। भारतीय सामाजिक जीवन में यह दूसरा महत्वपूर्ण हस्तक्षेप था। 19वीं शताब्दी के आरंभ में सभी तीन प्रेसिडेंसियों में यह प्रथा फैली हुई थी, पर बंगाल के निचले ज़िलों में यह प्रथा अधिक मज़बूत थी और वहां से इस ''दुर्घटना'' की ज्यादा खबर मिलती थी।

निचले प्रांतों में सती प्रथा संबंधी सरकारी आंकड़े

डिवीजन	वारदातों की संख्या
कलकत्ता	3379
ढाका	408
मुर्शिदाबाद	198
पटना	425
बनारस	875
बरेली	140
कुल	5425

विधवाओं को जलाने की प्रथा केवल ब्राह्मणों तक ही सीमित नहीं थी, बल्कि यह अन्य जातियों के बीच भी प्रचलित थी। इसके बावजूद कुल जनसंख्या को मद्दे-नज़र रखते हुए सती प्रथा की वारदात का प्रतिशत कम था। उदाहरणस्वरूप 1825 में हैजा से 25,000 से ज्यादा लोग मर गए। उस वर्ष बंगाल के ज़िले में 63 विधवाओं को जलाने की सूचना मिली।

MAADHYAM IAS

1795 में ही कॉलेब्रुक ने यह साबित करने की कोशिश की थी, कि सती प्रथा प्रामाणिक वैदिक परम्परा के अनुरूप नहीं है। हालांकि काफी पहले से ही सती प्रथा की छुटपुट घटनाएं होती थीं, पर अकबर, जहांगीर, गुरु अमरदास, मराठा सरदार अहल्याबाई, पेशवा, तंजौर के राजा और गोआ के पुर्तगाली शासकों ने इस प्रथा को हतोत्साहित किया और इसे रोकने की कोशिश की।

19वीं शताब्दी तक इस अमानवीय प्रथा को रोकने का कोई सार्थक और सही प्रयास नहीं किया गया। बंगाल में स्थापित अन्य यूरोपीय कंपनियों ने अपने अधिकार-क्षेत्रों में सती प्रथा पर प्रतिबंध लगा दिया, जबकि कलकत्ता सुप्रीम कोर्ट ने इसे केवल शहर के एक हिस्से में प्रतिबंधित किया।

इस प्रथा के प्रति सरकार के दृष्टिकोण का पता ब्रूक की कार्यवाई से लगता है। शाहाबाद के कलक्टर ब्रूक ने 1789 में सती प्रथा पर प्रतिबंध लगा दिया। इस प्रथा का गवर्नर जनरल कार्नवालिस से उल्लेख करते हुए उसने टिप्पणी की "हिंदू धर्म की मान्यताओं और प्रथाओं के प्रति थोड़ी-बहुत सहिष्णु दृष्टि अपनाई जा सकती है, पर एक अमानवीय प्रथा पर कुछ न कुछ नियंत्रण स्थापित करना जरूरी लगता है।" कार्नवालिस ने ब्रूक को दमनात्मक तरीका अपनाने से मना किया और कहा कि लोगों से इस प्रथा को छोड़ने का अनुरोध भर किया जाए। 1797 में मिदनापुर के ज़िलाधिकारी ने एक बाल विधवा को जलाए जाने से रोका। उसे भी गवर्नर जनरल से निर्देश प्राप्त हुआ कि दमन को छोड़ आग्रह की नीति अपनाई जाए।

विलियम कैरे के नेतृत्व में सेरामपुर मिशनरी ने कलकत्ता के आसपास के इलाके में विधवा दहन का सर्वेक्षण किया। कैरे ने फोर्ट विलियम कॉलेज में कार्यरत पंडितों की सहायता ली, उन्होंने हिंदू शास्त्रों में सती से सम्बद्ध सूचनाएं इकट्ठी कीं। इन सामग्रियों का अध्ययन करने के बाद कैरे इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि हिंदू धर्म में न तो इसका निषेध किया गया है,

न ही इसे जरूरी करार दिया है। इसके बाद कैरे ने सती प्रथा को समाप्त करने के लिए वेलेस्ली के पास एक ज्ञापन भेजा। 1805 में वेलस्ली ने निजामत अदालत के न्यायाधीशों को यह पता लगाने का काम सुपुर्द किया कि कहां तक सती प्रथा हिंदू धर्म पर आधारित थी। न्यायालय के पंडितों ने यह ऐलान किया कि जबरदस्ती सती होने के लिए किसी विधवा को मजबूर किए जाने की अनुमति नहीं दी जा सकती। न्यायालय ने इस बात पर भी गौर फरमाया कि सती प्रथा हिंदुओं के बीच लोकप्रिय है, और इसे समाप्त करने का कोई भी प्रयत्न असंतोष को जन्म दे सकता है।

थोड़ी-सी हिचकिचाहट के बाद 1813 में सरकार ने यह तय किया कि 16 वर्ष से कम उम्र की विधवा को सती नहीं होने दिया जाएगा। इसके अतिरिक्त जिस विधवा का बच्चा तीन साल से छोटा हो, उसे भी सती होने की अनुमनि नहीं दी जाएगी। पर अगर कोई उस बच्चे की जिम्मेदारी ले लेता है, तो वह इस नियंत्रण से मुक्त हो जाएगी।

1819 और 1821 में दो सुप्रीम कोर्ट जजों ने सती प्रथा को समाप्त करने का अनुरोध किया। उन्होंने तर्क दिया कि इस प्रकार की अमानवीय प्रथा को समाप्त करने से किसी भी प्रकार का जन-प्रतिरोध नहीं होगा। सरकार ने इस तर्क को ठुकरा दिया। 1821 में लार्ड हेस्टिंग्स ने सती प्रथा की पूण समाप्ति के अनुरोध को जन असंतोष और धार्मिक उन्माद फैलने के भय से अस्वीकार कर दिया। हेस्टिंग्स का उत्तराधिकारी लार्ड एमहर्स्ट सती प्रथा पर प्रतिबंध लगाए जाने के खिलाफ था क्योंकि उसे भय था कि इससे सेना के भारतीय सिपाहियों पर तत्काल उल्टा असर पड़ेगा। बम्बई सरकार और दिल्ली में चार्ल्स मेटकॉफ भी इस प्रथा को तत्काल दबाने के पक्ष में नहीं थे।

एक तरफ सरकार इस मुद्दे पर कुछ भी फैसला लेने में हिचकिचाती रही, डरती रही, दूसरी तरफ राममोहन राय के नेतृत्व में पाश्चात्य प्रभाव से युक्त बंगाली बुद्धिजीवी वर्ग ने सती प्रथा के उन्मूलन के लिए आंदोलन खड़ा कर दिया। उन्होंने 1818 में इस प्रथा को समाप्त करने के लिए सरकार के पास एक ज्ञापन भेजा और कट्टरपंथी सती प्रथा समर्थक हिंदुओं के तर्कों का खंडन किया। सती प्रथा में उम्र पर लगे प्रतिबंध को कड़ाई से लागू किए जाने के लिए एक निरीक्षण समिति की स्थापना की। राममोहन राय ने काशीनाथ तर्कावागीश (1819) जैसे सती प्रथा समर्थकों से बहस की, इस प्रथा के खिलाफ जनमत तैयार करने के लिए पर्चे निकाले, अखबारों में लेख लिखे। इस मुहिम को जारी रखने के लिए उन्होंने अपनी पत्रिका संवाद कौमुदी का इस्तेमाल किया। उनके इस मुहिम को समाचार दर्पण और बंगदूत जैसे अखबारों का भी समर्थन प्राप्त हुआ। कट्टर हिंदू सती विरोधी समर्थकों ने समाचार चंद्रिका को अपनी वाणी का माध्यम बनाया।

MAADHYAM IAS

इसी समय ईसाई मिशनरियों ने ब्रिटेन की अंग्रेज़ जनता का ध्यान सती प्रथा जैसी कुप्रथा की ओर आकृष्ट किया और सरकार द्वारा इस पर अतिशीघ्र रोक लगाने की आवश्यकता पर बल दिया। संसद ने भारत सरकार को सती प्रथा से संबद्ध सारी सूचनाएं प्रकाशित करने का निर्देश दिया।

भारत और ब्रिटेन में इस प्रथा की समाप्ति के लिए उठती आवाज़ों के बावजूद इंग्लैंड की संसद और कंपनी के कर्ता-धर्ता खुद-बखुद कोई निर्णय नहीं लेना चाहते थे, उन्हें भारत में होने वाली संभावित प्रतिक्रिया की कोई जानकारी नहीं थी। अंततः निर्णय बैंटिक पर छोड़ा गया, जिसने दिसम्बर 1829 में विधवाओं के जलाने के खिलाफ अधिनियम पारित किया।

सरकार द्वारा सती प्रथा के उन्मूलन से जनता में कोई उल्लेखनीय प्रतिरोध या असंतोष पैदा नहीं हुआ। बाल हत्या के समान सती प्रथा को रोकने में पाश्चात्य विचारों से प्रभावित भारतीय बुद्धिजीवियों, ईसाई मिशनरियों और कुछ खास प्रशासकों ने पहल की। कंपनी सरकार ने केवल जन असंतोष के भय से इतनी देर तक टाल-मटोल का रवैया अपनाया।

25.4.3 दास प्रथा

ब्रिटिश शासन के दौरान भारत में प्रचलित दास प्रथा पर भी प्रहार किया गया। भारत में दास प्रथा मज़दूरों के शोषण के रूप में उपस्थित थी। 1843 में इसका उन्मूलन हुआ। अर्थशास्त्र की शब्दावली में दास मज़दूर का आर्थिक महत्व और प्रसार विभिन्न प्रदेशों में अलग-अलग था। बम्बई और कलकत्ता में दास व्यापार की एक वस्तु थे, अरब व्यापारी अरब और अफ्रीका से बेचने के लिए दास ले आते थे। अकाल से बचने के लिए (मसलन 1803 ई. में) गरीब काफी संख्या में अपने को दास के रूप में बेच देते थे।

अन्य दो प्रेसिडेंसियों से अलग मद्रास में भूमि-संबंधी दास प्रथा महत्वपूर्ण थी। इस प्रदेश के कृषीय उत्पादन में इस प्रकार की दास प्रथा पाई जाती थी। मालाबार, कूर्ग और कनारा में भूमि संबंधी दास प्रथा व्यापक रूप में फैली हुई थी।

दास प्रथा के उन्मूलन में भी भारत सरकार टालमटोल की नीति अपनाती रही। 1774 ई. में ही सरकार का ध्यान इस ओर आकृष्ट करा दिया गया था। विल्बरफोर्स के नेतृत्व में धर्म-प्रचार संबंधी सिद्धांत के प्रचार के क्रम में ब्रिटेन की जनता का ध्यान भारत में प्रचलित दास प्रथा की ओर आकृष्ट कराया गया। हालांकि अपने राज्य में 1820 में ही ब्रिटेन दास प्रथा को समाप्त कर चुका था, पर कंपनी ने भारत में प्रचलित दास प्रथा का इस आधार पर समर्थन किया कि वह एक परंपरागत प्रथा थी, जिसे धार्मिक अनुशंसा प्राप्त थी।

1832 के चार्टर अधिनियम में भारत सरकार को दासों की दशा सुधारने के निर्देश दिए गए "जैसे ही यह लगे कि उन्मूलन व्यावहारिक और खतरे से मुक्त है और इस उद्देश्य से कानून और नियम का ड्राफ्ट तैयार किया जाना चाहिए।"

इस उद्देश्य से 1835 ई. में भारतीय विधि आयोग की स्थापना की गई। हालांकि इसका मूल कार्य दंड संहिता तैयार करना था, पर इस आयोग ने 1841 में दास प्रथा विरोधी रिपोर्ट तैयार कर ली। विधि आयोग ने सरकार से अनुरोध किया कि इसके कुछ सदस्यों को स्थानीय स्तर पर इस प्रथा की जांच करने की अनुमति दी जाए। सरकार ने इस अनुमति को ठुकरा दिया।

1839 में विधि आयोग ने एक ड्राफ्ट अधिनियम पेश किया, जिसके मुताबिक दासों को शारीरिक तौर पर दंडित करना कानूनन अपराध माना गया। इस ड्राफ्ट अधिनियम पर कोई कार्यवाई करने के पूर्व आयुक्तों ने जन असंतोष की किसी भी संभावना पर विचार-विमर्श किया। 1811 का नियम X (भूमि के रास्ते दासों के आयात पर प्रतिबंध), 1832 का नियम IV (दासों के अंतरप्रांतीय हस्तांतरण पर प्रतिबंध) और दिल्ली में दास प्रथा की समाप्ति की समीक्षा की गई और यह पाया गया कि इस कार्यवाई का कोई हिंसात्मक परिणाम सामने नहीं आया। आयोग के कई सदस्य इस अधिनियम को तुरंत लागू करने के खिलाफ थे। अतः बंबई और मद्रास सरकार के पास इस संबंध में सलाह लेने के लिए पत्र भेजे गए। बंबई सरकार ने इस प्रकार के किसी विशेष कानून बनाने की आवश्यकता महसूस नहीं की और मद्रास सरकार ने इस प्रकार के कानून की उपयुक्तता का सवाल उठाया।

MAADHYAM IAS
way to achieve your dream

संसद के दबाव में आकर विधि आयोग को पुनः एक नया कानून बनाने का आदेश दिया गया। भारतीय सरकार ने इसे पारित करने में काफी समय लगाया। अंततः 1845 के अधिनियम V द्वारा भारत में दास प्रथा की समाप्ति की गई।

दास प्रथा के उन्मूलन से सम्बद्ध बने कानून का असर काफी सीमित था। यह कानून केवल इतना ही कहता था कि ब्रिटिश न्यायालय में अब दासों से कराए गए श्रम को मंजूरी नहीं दी जाएगी और कोई भी सरकारी पदाधिकारी अब अपने मालिक के पास लौटने के लिए किसी दास पर दबाव नहीं डाल सकेंगे।

25.5 अंग्रेज़ों की नीति और भारतीय प्रतिक्रिया : एक मूल्यांकन

ऊपर किए गए विचार-विमर्श से यह बात स्पष्ट होकर सामने आती है कि भारतीय परम्पराओं और संस्कृति के प्रति ब्रिटिश दृष्टिकोण में लगातार परिवर्तन होता रहा। भारतीय उपनिवेश के अनुचर या सहायक की भूमिका में बदलाव और भारत सरकार की राज्य संबंधी राजनीतिक दृष्टिकोण से भारत की राजनीति प्रभावित हुई।

भारत की सामाजिक प्रथा और रीति-रिवाजों में राज्य के हस्तक्षेप का मामूली असर पड़ा। जबकि, औपनिवेशिक सरकार द्वारा पूर्व औपनिवेशिक राजनीतिक ढांचे को बदल देने से महत्वपूर्ण सामाजिक बदलावों की शुरुआत हुई। अंग्रेज़ों ने जान-बूझकर पूर्व औपनिवेशिक भारत शासक समुदाय को राजनीतिक शक्ति और विशेषाधिकार नहीं दिए, जबकि अंग्रेज

उनकी सामाजिक और जातिगत हैसियत से वाकिफ थे।

शिक्षा सामाजिक परिवर्तन का सबसे महत्वपूर्ण अस्त्र था। इसका प्रभाव बनाए गए अधिनियम में कहीं ज्यादा था। (देखें इकाई 21)

पाश्चात्य शिक्षा प्राप्त अल्पसंख्यक बंगाली बुद्धिजीवी वर्ग सरकार से राज्य की नीतियों पर बहस करता था, नीतिगत बदलावों पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करता था और अपने स्तर पर सामाजिक परिवर्तन की भी कोशिश करता था। राममोहन राय और केशवचन्द्र सेन जैसे बुद्धिजीवी ब्रिटेन में हुए विकास से प्रभावित थे और उनका दृढ़ विश्वास था कि भारतीय समाज को बदलना जरूरी था। इसी के साथ-साथ उन्होंने धर्म प्रचार और ईसाई मिशनरियों द्वारा भारतीयों के धर्म परिवर्तन के प्रयत्नों का विरोध किया।

राममोहन राय जैसे बुद्धिजीवियों ने वेदांतवाद जैसे सुधारवादी भारतीय धर्म से लोगों को परिचित कराया, जो अंधविश्वास और पंडित पुजारियों के शिकंजे से दूर था। ब्रहमो समाज उनका संगठन था, जिसमें हिंदू धर्म के बदले हुए रूप और प्रगतिशील पश्चिमी मूल्यों को स्थान दिया गया। दुर्भाग्य से ब्रहमदेव और बंगाल सुधारवादी समुदाय अपनी बात पाश्चात्य शिक्षा प्राप्त सीमित बंगाली जन-समुदाय से बाहर नहीं पहुंचा सके। पर सामाजिक सुधार का यह संदेश धीरे-धीरे भारत के कई भागों में फैलने लगा और इससे कई भारतीय सुधार की ओर उन्मुख हुए। बिना सरकारी सहायता के उनके नेतृत्व में समाज सुधार आंदोलन हुए। (देखें इकाई 26 और 27)

यह बात याद रखनी चाहिए कि भारतीय ब्रिटिश सरकार ने सुधारों को लागू करने में काफी टालमटोल की और उनके सियासत संबंधी मसलों के कारण सामाजिक सुधारों को लागू करने में देर हुई। सामाजिक और धार्मिक मामलों में सरकार बहुत सावधानी से दखल देना चाहती थी। 1857 के विद्रोह के बाद तो सरकार ने सामाजिक मामलों में दखल देना ही छोड़ दिया। इसके बाद यहां के लोगों ने ही सामाजिक सुधार के प्रयत्न किए।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

बोध प्रश्न 2

1) वारेन हेस्टिंग्स के शासन काल के बाद औपनिवेशिक सामाजिक नीति में आने वाले परिवर्तनों के कारणों का उल्लेख करें।

....
....
....
....
....
....
....
....
....
....

2) सती प्रथा, बाल हत्या और दास प्रथा के संदर्भ में ब्रिटिश नीतियों के विकास और प्रभाव पर प्रकाश डालें।

....
....
....
....
....
....

25.6 सारांश

हम आशा करते हैं कि इस इकाई को पढ़कर आपने भारत में अंग्रेज़ों की सामाजिक नीति को प्रभावित करने वाले वैचारिक और भौतिक कारणों की जानकारी प्राप्त कर ली होगी। कुछ प्रशासकों, मिशनरियों और भारत के समाज सुधारकों के दबाव में आकर भारत सरकार ने बड़ी सावधानीपूर्वक भारत की सामाजिक प्रथाओं में हस्तक्षेप किया। पर इन नीतियों का कोई खास प्रभाव नहीं पड़ा और भारतीयों की ओर से कोई प्रखर प्रतिक्रिया नहीं व्यक्त की गई। 1857 के बाद तो जान-बूझकर औपनिवेशिक सरकार ने यह रहा-सहा प्रयत्न भी छोड़ दिया।

25.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) देखें भाग 25.2
2) देखें भाग 25.3

बोध प्रश्न 2

1) आप भाग 25.3 और 25.4 से सूचना इकट्ठी कर सकते हैं और फिर उनकी आपस में तुलना कर सकते हैं।
2) देखें भाग 25.4

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

इकाई 26 सुधार आंदोलन-I

इकाई की रूपरेखा

26.0 उद्देश्य
26.1 प्रस्तावना
26.2 पूर्वी भारत
 26.2.1 राममोहन राय के विचार
 26.2.2 यंग बंगाल
 26.2.3 देवेन्द्रनाथ और केशवचन्द्र
 26.2.4 विद्यासागर और विवेकानन्द
26.3 पश्चिमी भारत
 26.3.1 उन्नीसवीं शताब्दी का प्रारम्भिक समय
 26.3.2 उन्नीसवीं शताब्दी का बाद का समय
26.4 उत्तरी भारत
26.5 दक्षिणी भारत
26.6 सारांश
26.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

26.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन से आप

- समाज के बहुआयामी परिवर्तन को लक्षित करते हुए नये विचारों के विकास की प्रक्रिया।
- 19वीं सदी के भारतीय चिंतकों और सामाजिक सांस्कृतिक जीवन के विविध पहलुओं पर उनके विचारों, तथा
- भारत में विद्यमान सामाजिक-सांस्कृतिक-धार्मिक आस्थाओं पर इन नये विचारों के समग्र प्रभावों के बारे में जानकारी कर पाएंगे।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

26.1 प्रस्तावना

आधुनिक भारत के इतिहास में उन्नीसवीं सदी का कालखंड अत्यंत महत्वपूर्ण है। इस अवधि में ही विविध पहलुओं से राष्ट्रीय पुनर्रचना के लिए अनेक बौद्धिक धाराओं का आविर्भाव देश में हम पाते हैं : धार्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक और राजनीतिक। यद्यपि बौद्धिक प्रयास सर्वांगीण सुधारों को लक्षित थे, मुख्य जोर सामाजिक एवं धार्मिक पहलुओं पर ही था। आंदोलन का दृष्टिबोध बहुआयामी होते हुए भी चिंतन में आर्थिक एवं राजनीतिक समस्याओं के सापेक्ष सामाजिक एवं सांस्कृतिक समस्याओं को प्रधानता प्राप्त थी। संक्षेप में, सामाजिक-सांस्कृतिक सुधार ही उन्नीसवीं सदी के भारत में बौद्धिक अभियानों के मुख्य प्रतीक बने।

सदी के आरंभिक दशकों में यह आंदोलन कुछ थोड़े से व्यक्तियों का सीमित प्रयास भर था। सामाजिक अंधविश्वासों के विरुद्ध संघर्ष की उत्कर्ष आकांक्षा रूढ़िवादियों के लिए कोई बड़ी चुनौती न बन सकी। फिर भी आंदोलन ने अपना संवेग बनाये रखा और उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में अपने उत्कर्ष पर पहुंच गया। इस इकाई में हम उपरोक्त प्रक्रिया का कालक्रमगत सीमाओं से परे जाकर उन्नीसवीं सदी के परवर्ती दशकों में हुए विकास पर भी विचार करेंगे। ताकि एक समग्र स्वरूप सामने रखा जा सके।

यहां हम उन्नीसवीं सदी में सुधारों को लक्षित बौद्धिक, सामाजिक और धार्मिक आंदोलनों की आधारभूत विशेषताओं का अध्ययन करेंगे। पहले हम संक्षेप में प्रबुद्ध व्यक्तियों के विचारों और क्रियाकलापों (इकाई 26) की चर्चा करेंगे और फिर समूचे देश के संदर्भ में आंदोलन के बारे में सामान्य निष्कर्ष रखेंगे (इकाई 27)। बहरहाल, चिंतकों एवं सुधारकों के जीवन प्रसंगों के चित्रण पर नहीं, बल्कि आंदोलन के विचारधारात्मक आधार की रचना करने वाले विचारों पर बल दिया गया है।

26.2 पूर्वी भारत

पूर्वी भारत में राममोहन राय द्वारा समाज की बुराइयों के उन्मूलन का पहला कदम उठाया गया था। जो प्रक्रिया राममोहन राय ने शुरू की उसको देवेन्द्रनाथ टैगोर, विद्यासागर, केशवचन्द्र सेन और अन्य और लोगों ने उन्नीसवीं शताब्दी तक जारी रखा। यहां पर हम उनकी सामाजिक और धार्मिक धारणाओं की अलग-अलग विवेचना करेंगे।

26.2.1 राममोहन राय के विचार

राजा राममोहन राय को समुचित ही आधुनिक भारत का जनक कहा गया है। एक बहुआयामी व्यक्तित्व के धनी उन्होंने राष्ट्रीय जीवन के लगभग सारे पहलुओं को उठाया और भारतीय राष्ट्र की पुनर्रचना के लिए संघर्ष किया। उन्होंने कई भाषाओं का ज्ञान प्राप्त किया और अपने समय के एक प्रकांड पंडित के रूप में प्रसिद्ध हुए।

उनकी पहली दार्शनिक कृति **तुहाफत-उल-मुवहिदीन** 1905 में प्रकाशित हुई जिसमें उन्होंने 'विवेक' तथा 'सामाजिक सुखलाभ' संबंधित विचारों की रोशनी में विश्व के मुख्य धर्मों का विश्लेषण किया। उन्होंने धर्म को विवेक से परे मात्र आस्था का विषय मानने से इंकार किया और जुड़े-चामत्कारिक मिथकों के पर्दाफाश का प्रयास किया।

1814 में कलकत्ता में बस जाने के बाद राममोहन राय की सुधार-सक्रियता और तेज हुई। उन्होंने **आत्मीय सभा** का गठन किया और धार्मिक एवं सामाजिक कुरीतियों के विरुद्ध सतत संघर्ष चलाया। उन्होंने मूर्ति पूजा की भर्त्सना की और एकांतवाद का पक्ष लिया। स्वदेशी ग्रंथों की वास्तविक शिक्षाओं के बारे में जनसमुदाय को अनभिज्ञ रखकर धार्मिक बुराइयों को बनाये रखने के लिए उन्होंने ब्राह्मण पुरोहितों को दोषी ठहराया। जनशिक्षा के उद्देश्य से उन्होंने कुछेक ग्रंथों का बंगाली अनुवाद प्रकाशित किया और एकेश्वरवाद के पक्ष में धुआंधार लेखन किया। स्थानीय भाषा में उनके अनुवाद और लेखन में बंगला भाषा के विकास को प्रोत्साहन मिला।

राममोहन राय अपने समूचे सक्रियता-काल में 'हेतुवादी' बने रहे। ''तुहाफत'' में उनके ''हेतुवाद'' का पूर्ण परिपाक देखा जा सकता है। उनकी परिवर्ती रचनाओं में भी यथार्थ की कसौटी के रूप में विवेक को उसका समुचित स्थान मिलता है। यद्यपि बाद में चलकर उन्होंने धर्मग्रंथों का आश्रय लिया, लेकिन ऐसा हिंदू समाज में सुधारों को बढ़ावा देने के लिए ही उन्होंने किया।

MADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

1828 में उन्होंने एक नये समाज **ब्रह्म सभा** की स्थापना की जो बाद में ब्रह्म समाज के नाम से प्रसिद्ध हुआ। उनका प्राथमिक उद्देश्य था हिंदुत्व को उसकी बुराइयों से अलग करना और एकांतवाद का प्रचार-प्रसार। इसमें अन्य धर्मों की श्रेष्ठ शिक्षाएं भी समाहित की गई। यह मानवतावाद, एकांतवाद और सामाजिक पुनर्सृजन के पोषण के लिए शक्तिशाली मंच बना।

वर्तमान सामाजिक पतनशीलता को लेकर राममोहन अत्यंत दुखी थे। समाज में महिलाओं की दारूण दशा विशेष रूप से उनके सरोकार का विषय बनी। उन्होंने सती-प्रथा के विरूद्ध व्यापक अभियान चलाया। उनके आंदोलनकारी प्रयासों के फलस्वरूप अंततः 1829 में भारत के गवर्नर जनरल **लार्ड विलियम बैंटिंक** ने इस प्रथा के विरूद्ध एक कानून लागू किया। लेकिन विधवा जीवन के लिए जो समाधान उन्होंने सुझाया, वह पुनर्विवाह नहीं बल्कि तपश्चर्या ही था।

उन्होंने बहुविवाह एवं बालविवाह की भर्त्सना की और समाज में महिलाओं के उत्पीड़न एवं निम्नस्तर का विरोध किया। उन्होंने उनकी समस्याओं का मूलकारण सम्पत्ति अधिकारों का अभाव बताया। उनके विचार से, भारतीय समाज को सामाजिक जड़ता से मुक्त करने के लिए महिला शिक्षण एक अन्य प्रभारी माध्यम था।

उन्होंने आधुनिक शिक्षा के प्रवर्तन एवं प्रसार के लिए काम किया, जो देश में आधुनिक विचारों के प्रमुख साधन की भूमिका निभा सकती थी। इसके संवर्धन के लिए उन्होंने डेविड हेयर को सोत्साहन समर्थन दिया, जिसने कलकत्ता के अनेक गणमान्य व्यक्तियों के साथ मिलकर प्रसिद्ध हिंदू कालेज की स्थापना 1817 में की। उन्होंने अपने ही खर्चे से कलकत्ता में एक अंग्रेजी स्कूल भी चलाया। 1825 में उन्होंने वेदांत कालेज की स्थापना की जिसमें भारतीय तथा पाश्चात्य दोनों ही प्रकार के अध्ययनों की सुविधा थी।

राममोहन ने भारत में पाश्चात्य वैचारिक ज्ञान, गणित, प्राकृतिक दर्शन, रसायन, शरीरक्रिया विज्ञान और अन्य उपयोगी विज्ञानों के शिक्षण की आवश्यकता पर बल दिया। पाश्चात्य बौद्धिक विकास के सन्निहित संप्रेरणों को वे समझते थे और चाहते थे कि भारत के लोग भी यूरोप की प्रगति के परिणामों से परिचित हों। उनका लक्ष्य था पूर्व और पश्चिम की सर्वोत्तम विशेषताओं का समन्वय।

राममोहन ने अपने समय की सामाजिक एवं धार्मिक ही नहीं, बल्कि राजनीतिक एवं आर्थिक समस्याओं को भी उठाया। उन्होंने सरकारी सेवाओं के भारतीयकरण, न्यायिक कार्रवाई, कार्यपालिका तथा न्यायपालिका के अधिकार क्षेत्र अलग करने और भारतवासियों तथा यूरोपवासियों के बीच न्यायिक समानता का पक्ष लिया। उन्होंने जमींदारी व्यवस्था के अंतर्गत उत्पीड़क कार्रवाइयों की तीखी आलोचना की।

राममोहन भारत में राष्ट्रवादी चेतना एवं विचारधारा के जनक थे। सामाजिक एवं धार्मिक सुधारों को लक्षित उनका प्रत्येक प्रयास राष्ट्रनिर्माण को लक्षित था। अपने सुधार प्रस्तावों के माध्यम से वे विविध समुच्चयों में विभाजित भारतीय समाज की एकता स्थापित करना चाहते थे। उन्होंने विशेष रूप से जाति-व्यवस्था की कठोरता पर प्रहार किया जो उनके विचार से भारतवासियों में फूट का कारण बनी थी। उन्होंने इस तथ्य पर जोर दिया कि अमानुषिक जाति-व्यवस्था ने एक ओर जनसमुदाय में असमानता एवं विभाजन को जन्म दिया है, दूसरी ओर उन्हें देशभक्ति की भावनाओं से वंचित किया है।

अपने रुझानों में राममोहन अंतर्राष्ट्रवादी, इच्छा स्वातंत्र्यवादी एवं जनतांत्रिक विचारों के पक्षधर थे। अंतर्राष्ट्रीय मामलों में वे सक्रिय रुचि लेते थे और राष्ट्रों के बीच मैत्री संबंध चाहते थे। स्वतंत्रता, जनवाद एवं राष्ट्रवाद संबंधी अपने सरोकार के चलते ही उन्होंने 1821 में नेपल्स में क्रांति की विफलता का समाचार सुनने पर अपने प्रतिदिन होने वाले कार्यक्रम खत्म कर दिए थे। 1823 में स्पैनिश अमेरिका में क्रांति की सफलता का समारोह उन्होंने प्रीतिभोज देकर किया।

अपनी सीमाओं के बावजूद राममोहन निश्चय ही उन्नीसवीं सदी के भारतीय बौद्धिक क्षितिज पर पहले प्रकाशवान नक्षत्र थे। 1833 में इस महान भारतीय ने दूसरों के अनुसरण के लिए अपने विचारों की विरासत तथा आधुनिकता का संदेश छोड़ते हुए महाप्रयाण किया।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

1: राममोहन राय

26.2.2 यंग बंगाल

इसी समय के आस पास यंग बंगाल नाम से विख्यात नव युवक बंगाली बौद्धिकों की टोली द्वारा नये एवं मूलगामी विषयों का प्रचार-प्रसार होने लगा। इस आंदोलन की पहल मुख्य रूप से हिंदू कालेज के आंग्लो-इंडियन शिक्षक हेनरी विवियन देरोजियो (1809-1831) ने की थी। एक मुक्तचिंतक एवं हेतुवादी के रूप में उसने अपने विद्यार्थियों में मूलगामी एवं आलोचनात्मक दृष्टिकोण को प्रोत्साहित किया और सभी अधिकारवादी प्रवृत्तियों को प्रश्नाधीन बनाया। वह स्वातंत्र्य प्रेमी तथा सत्य का उपासक था। "देरोजियोवादी" कहे जाने वाले उसके अनुगामियों ने पुरानी, पतनशील रीतियों एवं परंपराओं पर प्रहार किया और हिंदू समाज एवं धर्म के समूचे ढांचे के सामने प्रश्नचिन्ह लगाया। देरोजियो के अनुगामी पक्के हेतुवादी थे और प्रत्येक चीज की परीक्षा विवेक की कसौटी पर करते थे। अपने मूलगामी विचारों के कारण देरोजियो 1831 में हिंदू कालेज से निकाल दिया गया और इसके कुछ समय बाद ही कालरा से 22 वर्ष की अल्पायु में ही उसका देहावसान हो गया।

2. हेनरी विवियन डेरोज़ियो

MAADHYAM IAS

26.2.3 देवेन्द्रनाथ और केशवचन्द्र

इस बीच सुधार प्रयासों को राममोहन से मिलने वाले उत्प्रेरण का संवेग बहुत कुछ खत्म हो गया था। रवीन्द्रनाथ टैगोर के पिता देवेन्द्रनाथ टैगोर ने पुन: इसमें जीवन का संचार किया। समाज से स्वतंत्र रूप में राममोहन के आदर्शों को आगे बढ़ाने के लिए उन्होंने 1839 में तत्वबोधिनी सभा की स्थापना की। भारत में ईसाई धर्म की तेज प्रगति का प्रतिरोध और वेदांत का विकारत उनका लक्ष्य था।

तत्वबोधिनी सभा के अधीन स्थानीय भाषा एवं संस्कृति के विकास पर अधिकाधिक बल दिया जाने लगा। सभी विषयों से संबंधित पुस्तकें बंगला में प्रकाशित की गई। **तत्वबोधिनी प्रेस** की स्थापना के बाद 1843 में विचारों के प्रचार-प्रसार के लिए संगठन के पत्र, तत्वबोधिनी पत्रिका की शुरुआत की गई। 1843 में देवेन्द्रनाथ टैगोर ने ब्राह्मण विचारों को अपनाया और उसी वर्ष उन्होंने **ब्रह्म समाज** का पुनर्गठन किया।

ब्रह्म समाज से जुड़े एक अन्य प्रमुख बौद्धिक व्यक्तित्व थे केशवचन्द्र सेन। केशव ने नारी-मुक्ति प्रयासों पर बल दिया। देवेन्द्रनाथ द्वारा राष्ट्रीय हिंदू अस्मिता के विपरीत उन्होंने सार्वभौमिक विचारों को पुष्ट किया। अपने बीच सिद्धांतगत विभेदों के बावजूद ब्राह्मण स्वामियों ने राममोहन के विचारों के प्रचार तथा बंगाल के समाज को बदलने में सामूहिक योगदान किया। उन्होंने धार्मिक मामलों में मठाधीशों की मध्यस्थता की भर्त्सना की और एक ईश्वर की अराधना का पक्ष लिया। उन्होंने विधवा विवाह, एक-विवाह और महिला शिक्षा का समर्थन किया।

26.2.4 विद्यासागर और विवेकानन्द

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में पंडित ईश्वर चंद्र विद्यासागर सामाजिक परिदृश्य पर उभरे। प्रकांड संस्कृत विद्वान के रूप में वे 1851 में संस्कृत कालेज के प्राचार्य बने। उन्होंने संस्कृत

कालेज में पाश्चात्य शिक्षा का प्रवर्तन किया और गैर ब्राह्मण विद्यार्थियों को भी प्रवेश दिया। उन्होंने बंगला भाषा की प्राथमिक पुस्तिका लिखी और बंगला की विशिष्ट आधुनिक गद्य शैली के विकास में योगदान किया। उनका महान योगदान महिला शिक्षा के क्षेत्र में ही था। विधवा विवाह के विशिष्ट सामाजिक मसले को उन्होंने अपना समूचा जीवन समर्पित कर दिया। विधवाओं के पुनर्विवाह को वैध बनाने हेतु उनके आंदोलन को देश के विभिन्न भागों के प्रबुद्ध समुदायों का समर्थन मिला और अंततः एक तत्संबंधित कानून लागू किया गया। विद्यासागर के संरक्षण में उच्च जातियों के बीच पहला विधवा विवाह 1856 में संपन्न किया गया। उनके प्रयासों द्वारा 1855 और 1860 के बीच 25 विधवा विवाहों को विधिवत मान्यता मिली। मूलगामी सामाजिक सुधारों के इतिहास में निश्चय ही यह पहली प्रमुख उपलब्धि थी और राममोहन द्वारा प्रस्तावित तापसिक विधवा जीवन की तुलना में एक प्रगतिशील कदम था। उन्होंने सामान्य उन्नति के उद्देश्य से महिलाओं की उच्च शिक्षा को प्रोत्साहन दिया। 1849 में कलकत्ता में स्थापित **बेथुन स्कूल** के सचिव के रूप में उन्होंने महिला शिक्षा आंदोलन के नेतृत्व में केन्द्रीय भूमिका निभाई। उन्होंने बाल विवाह तथा बहु विवाह के विरुद्ध भी प्रचार अभियान चलाया।

समूचे हिंदू समाज को आलोकित कर देने वाले नरेन्द्रनाथ दत्त, जो स्वामी विवेकानंद के रूप में विख्यात हैं, उन्नीसवीं सदी बंगाल के महानचिंतकों की शृंखला में कालक्रमानुसार अंत में आते हैं। उनके गुरु अथवा आध्यात्मिक अनुदेशक थे रामकृष्ण परमहंस (1834-1886)। रामकृष्ण ने सार्वभौम धार्मिकता पर बल दिया और धर्म विशेष की श्रेष्ठता के दावों की निंदा की। फिर भी, उनका प्राथमिक सरोकार धार्मिक मोक्षलाभ ही रहा, न कि सामाजिक मुक्ति।

उनके सुप्रसिद्ध शिष्य विवेकानंद (1863-1902) ने देश-विदेश में उनके संदेश को लोकप्रिय बनाया। विवेकानंद ने जाति-प्रथा और जनसमुदाय में व्याप्त रूढ़ रीतियों व अंधविश्वासों की भर्त्सना की। 1896 में उन्होंने मानवतावादी व समाज सेवा कार्य चलाने के लिए **रामकृष्ण मिशन** की स्थापना की। मिशन का मुख्य लक्ष्य था जनसमुदाय के लिए सामाजिक सुविधाएं जुटाना। देश के विभिन्न भागों में स्कूल, अस्पताल, अनाथालय, पुस्तकालय इत्यादि चलाकर इसने अपने लक्ष्यों को पूरा करने का प्रयास किया।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

3. ईश्वर चंद्र विद्यासागर

बोध प्रश्न 1

1) 100 शब्दों में धर्म तथा भारत में महिलाओं की दशा पर राममोहन राय के विचारों को स्पष्ट कीजिए।

....

....

....

2) निम्नांकित में से प्रत्येक पर तीन वाक्यों में टिप्पणी लिखिए।

यंग बंगाल आंदोलन

....

....

....

ब्रह्म समाज

....

....

....

तत्वबोधिनी सभा

....

....

....

26.3 पश्चिमी भारत

पश्चिमी भारत में सुधार की प्रक्रिया का प्रमुख केन्द्र बिन्दु धार्मिक और दार्शनिक की जगह सामाजिक था। पूरी 19वीं शताब्दी में विविध नीची जातियों में सामाजिक विभेदीकरण के बारे में जागरुकता बढ़ी। विचारक जैसे विष्णुबाबा ब्रह्मचारी, ज्योतिबा फूले, रानाडे और अन्य लोगों ने इस सामाजिक जागरुकता को बढ़ाने में काफी महत्वपूर्ण योगदान दिया।

26.3.1 उन्नीसवीं शताब्दी का प्रारम्भिक समय

महाराष्ट्र में बौद्धिक विद्रोह की पहली गूंज उन्नीसवीं सदी के प्रारंभिक दशकों में सुनी गई थी। आंदोलन की पहल तथा नेतृत्व करने वाले शुरुआत के बौद्धिकों में सर्वप्रमुख थे बाल शास्त्री जांबेकर (1812-1846), दादोबा पांडुरंग तारखडकर (1814-1882) और भास्कर पांडुरंग तारखडकर (1816-1847), ''लोकहितवादी'' नाम से सुपरिचित गोपाल हरि देशमुख (1823-1882), और आजीवन अविवाहित रहने वाले विष्णु बाबा ब्रह्मचारी नाम से लोकप्रिय विष्णु भीखाजी गोखले (1825-1873) महाराष्ट्र में बौद्धिक आंदोलन के प्रवर्तक थे जांबेकर। अठारहवीं सदी के चौथे दशक में अपनी अनेक रचनाओं के माध्यम से उन्होंने आंदोलन का आधार बनाया। दादोबा ने इसको संगठनिक स्वरूप दिया। 1840 में परमहंस सभा की स्थापना करके, जो उन्नीसवीं सदी महाराष्ट्र का पहला सामाजिक सुधार संगठन था।

भास्कर पांडुरंग ने भारत में औपनिवेशिक शासन के जुझारू राष्ट्रवादी आलोचक के रूप में विशिष्टता प्राप्त की। भारत में अंग्रेजी राज्य के शोषक चरित्र को उजागर करने वाले पहले व्यक्ति वही थे। 1841 में उन्होंने बंबई प्रेसिडेंसी के सबसे पुराने पत्र **बंबई गजट** में आठ खंडों की एक लेखमाला प्रकाशित कराई और औपनिवेशक प्रभुत्व के लगभग सभी पक्षों का पर्दाफाश किया।

''लोकहितवादी'' की मुख्य भूमिका आंदोलन के क्षेत्र को व्यापक बनाने की थी 1848-50 में उन्होंने मराठी साप्ताहिक पत्र **प्रभाकर** में अपने प्रसिद्ध **शतपत्रेण** (सौ पत्र) लिखे। यह महाराष्ट्र में आरंभिक बौद्धिक प्रयासों में एक महत्वपूर्ण कदम साबित हुआ। अपनी **समग्रता** में ये पत्र इतने आयामों को समेटते हैं कि सामाजिक जीवन का शायद ही कोई पहलू अछूता रहता हो।

ब्रह्मचारी जातिगत भेदभाव के **घोर** विरोधी थे और **मानवजाति** की एकता में आस्था रखते थे। स्वयं ब्राह्मण होते हुए भी उन्होंने अपने लिए एक मुसलमान रसोइया नियुक्त किया था और किसी के भी द्वारा परोसा गया खाना खा लेते थे। इस प्रकार उन्होंने जाति-प्रथा की कट्टरता को खुलेआम चुनौती दी और **समता मूलक** समाज व्यवस्था के लिए सक्रिय रहे।

जबकि बंगाल में आंदोलन की धारा धार्मिक तथा दार्शनिक थी, महाराष्ट्र के संदर्भ में सुधार-प्रयासों के अंतर्गत मुख्यत: सामाजिक मसलों को ही प्रधानता पाते हम देखते हैं। महाराष्ट्र में आरंभिक बौद्धिक आंदोलनकर्ता सूक्ष्म दार्शनिक प्रश्नों से सरोकार रखने वाले धार्मिक चिंतक प्रकृति के नहीं थे। उनका दृष्टिकोण अधिक व्यावहारिक था। उदाहरण के लिए, **परमहंस सभा** का मुख्य उद्देश्य सभी जातिगत भेदभावों का समापन था। **सभा** की

सदस्यता लेने वाले प्रत्येक नये व्यक्ति को ''दीक्षा संस्कार'' की प्रक्रिया से गुजरना होता था और किसी भी प्रकार के जातिगत भेदभाव से दूर रहने का संकल्प करना पड़ता था। उसे एक ईसाई द्वारा सेंकी गई रोटी खानी पड़ती थी और मुसलमान के हाथ से पानी पीना पड़ता था। **सभा** का चरित्र एक **गुप्त सोसाइटी** का था। रूढ़िवादियों के रोष से बचने के लिए इसकी गोष्ठियां अत्यंत गोपनीय स्थिति में की जाती थी। इस प्रकार जाति-प्रथा और अन्य सामाजिक कुरीतियों को चुनौती देने का प्रयास इस सभा के थोड़े से सदस्यों तक ही सीमित रहा।

26.3.2 उन्नीसवीं शताब्दी के बाद का समय

सुधार आंदोलन को अधिक बल मिल पाया सदी के उत्तरार्ध में ही। बौद्धिक परिदृश्य पर अनेक **मूर्धन्य** व्यक्तित्व उभरे। उनमें सबसे महत्वपूर्ण थे विष्णु परशुराम शास्त्री पंडित (1827-1876), ज्योतिबा फूले (1827-1890), रामकृष्ण गोपाल भंडारकर (1837-1925), नारायण महादेव परमानंद (1838-1893), महादेव गोविंद रानाडे (1842-1901), विष्णुशास्त्री चिपलंकर (1850-1882), के.टी. तैलंग (1850-1893), गणेश वासुदेव जोशी (1851-1911), नारायण गणेश चंदावरकर (1855-1923) और गोपाल गणेश आगरकर (1856-1895)।

विष्णु परशुराम शास्त्री पंडित ने अपने सार्वजनिक जीवन का आरंभ विधवा-विवाह के समर्थन से किया। महिला मुक्ति आंदोलन के क्षेत्र में उनकी अग्रणी भूमिका थी। 1865 में उन्होंने **विधवा विवाह उत्तेजक मंडल** की स्थापना की और उसका सचिव पद संभाला। एक विधवा से 1875 में विवाह करके स्वयं एक उदाहरण प्रस्तुत किया। माली जाति में पैदा हुए ज्योतिबा फूले स्वयं एक दलित समुदाय के प्रतिनिधि के रूप में उभरे। वे पहले भारतीय थे जिसने अछूतों के लिए एक विद्यालय की स्थापना 1854 में की। उन्होंने भारतीय महिलाओं की मुक्ति के लक्ष्य को भी **मुखर** किया। 1851 में उन्होंने अपनी पत्नी के साथ पूना में एक बालिका विद्यालय स्थापित किया।

अपनी गहन विद्वता से **भंडारकर** ने ''महर्षि'' की उपाधि प्राप्त की। रूढ़िवादियों के घनघोर विरोध के बावजूद उन्होंने 1891 में अपनी विधवा पुत्री का विवाह कराया। हिंदू-मुस्लिम एकता के प्रबल पक्षधार गिनेचुने लोगों में से एक वह थे। **''पोलिटिकल रेक्ल्यूस''** (Political recluse) उपनाम से लिखने वाले परमानंद एक महान समाजसुधारक होने के अलावा अंग्रेजी प्रशासन के रचनात्मक आलोचक थे।

उनके विचार से जातिगत भेदभाव भारतीय सामाजिक व्यवस्था का सबसे बड़ा कलंक था। उन्हें इस बात का पूरा बोध था कि धार्मिक सुधारचेतना को अपनाये बिना सामाजिक-सुधार आंदोलन जनसमुदाय को प्रभावित नहीं कर सकता। उनके निर्देशों के अधीन 1867 में **परमहंस सभा** का पुनर्गठन **प्रार्थना समाज** के रूप में किया गया। अपने जीवन के अंत तक उन्होंने बौद्धिक सामर्थ्य एवं व्यवहार कुशलता के साथ आंदोलन का संचालन किया। **प्रार्थना सभा** ने एकांतवाद की शिक्षा दी और धर्माध्यक्षों के प्रभुत्व तथा जातिगत भेदभाव की निंदा की। तेलुगू समाज सुधारक वीरेशलिंगम के प्रयासों के माध्यम से इस समाज के क्रियाकलापों का प्रसार दक्षिण भारत तक हुआ।

चिपलूंकर ने समाजसुधार को समर्पित मासिक मराठी पत्रिका **निबंधमाला** की शुरुआत 1874 में की। 32 वर्ष की अल्पायु में ही उनका देहावसान हो गया। बंबई में अनिवार्य प्रारंभ शिक्षा के प्रवर्तन में तैलंग की केंद्रीय भूमिका थी। उपकुलपति पद प्राप्त करने वाले वे प्रथम भारतीय थे। जोशी ने अपनी मुख्य पहचान बनाई राजनीति के क्षेत्र में। उन्होंने ब्रिटिश सरकार की आर्थिक नीति की बुद्धिमत्तापूर्ण समीक्षा सामने रखी। फिर भी, वे उन बौद्धिकों के साथ एकमत थे जो शिक्षा को सामाजिक परिवर्तन का सर्वाधिक प्रभावशाली साधन मानते थे।

मूलत: दार्शनिक रुझानों वाले **चंदावरकर** प्रार्थना समाज के अग्रणी कार्यकर्ता थे। **अगरकर** औघड़, रूढ़िभंजक प्रकृति के और समझौताविहीन हेतुवादी थे। परंपरा के अंधानुसरण और भारत के अतीत के मिथ्या महिमा मंडन की उन्होंने अत्यंत तीक्ष्ण भर्त्सना की।

बंबई के अन्य सुधार आंदोलनकर्ता थे नौरोजी फुर्दोजी, दादाभाई नौरोजी और एस.एस. बंगाली। 1851 में उन्होंने **रहनुमाई मज़दायसन सभा** नाम के धार्मिक संगठन की स्थापना की। इसका उद्देश्य था पारसी आस्थाओं तथा सामाजिक प्रथाओं का आधुनिकीकरण। महिलाओं की शिक्षा के प्रवर्तन एवं प्रचार-प्रसार करने, उनको वैधानिक अधिकार दिलवाने और समूचे पारसी समुदाय में उत्तराधिकार व विवाह के लिए एक जैसे कानून बनवाने के लिए इस सभा ने संघर्ष चलाये।

MAADHYAM IAS

26.4 उत्तरी भारत

उत्तरी भारत में सामाजिक तथा धार्मिक सुधार आंदोलन के संचालक थे स्वामी दयानंद सरस्वती (1824-1883), जिन्होंने 1875 में **आर्य समाज** की स्थापना की। स्वामी दयानंद ने मूर्तिपूजा, बहुदेववाद, ब्राह्मणों द्वारा पोषित धार्मिक कर्मकांडों और अंधविश्वासों पर प्रहार किया। उन्होंने अंतर्जातीय विवाह और महिला-शिक्षा का पक्ष लिया। लेकिन वेदग्रंथों की ओर उनके झुकाव ने उनकी शिक्षाओं को एक रूढ़िवादी प्रकृति प्रदान की।

आर्य समाजियों ने उत्तरी भारत में सामाजिक सुधार लक्ष्यों को बढ़ाने में प्रगतिशील भूमिका निभाई। उन्होंने महिलाओं की स्थिति में सुधार के लिए कार्य किया, सामाजिक समानता का समर्थन किया और अस्पृश्यता एवं जातिभेद की भर्त्सना की। यद्यपि वे वेदग्रंथों को प्रश्नातीत मानते थे, उनके द्वारा समर्थित सुधार आधुनिक विवेकसम्मत चिंतन की उपज थे।

भारतीय मुसलमानों में सुधार आंदोलन अपेक्षाकृत देर से, अठारहवीं सदी के सातवें दशक में ही उभरे। सैयद अहमद खान (1817-1898) ने पतनशील मध्ययुगीन विचारों को छोड़ने के लिए, तथा आधुनिक वैज्ञानिक ज्ञान तथा दृष्टिकोण अपनाने के लिए मुसलमानों से अपील की। उन्होंने बहु विवाह प्रथा की निंदा की और महिलाओं में पर्दा-प्रथा खत्म करने व शिक्षा के प्रसार का समर्थन किया। सहिष्णुता की शिक्षा देते हुए उन्होंने विवेकसम्मत विचार एवं स्वतंत्र चिंतन के विकास का आह्वान किया।

आधुनिक शिक्षा का संवर्धन उनका प्रमुख सरोकार था और इसके लिए उन्होंने आजीवन कार्य किया। पाश्चात्य शिक्षा के प्रसार के लिए उन्होंने 1875 में अलीगढ़ के मुहम्मद आंग्लो-ओरियंटल कालेज की स्थापना की। इस कालेज ने बाद में अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय का रूप लिया।

वे कुरान को मुसलमानों के लिए सर्वाधिक विश्वसनीय और विवेकासम्मत धार्मिक ग्रंथ मानते थे। सभी धर्मों के प्रति आदरभाव रखते हुए उन्होंने धर्मोन्माद के विरुद्ध आवाज उठाई। उनके कुछ अनुगामी उभर रहे राष्ट्रीय आंदोलन से अपने को अलग बनाये रखा, यह विश्वास करते हुए कि दोनों समुदाय अपने-अपने अलग रास्तों से विकास कर सकते हैं।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

26.5 दक्षिणी भारत

दक्षिण भारत में आरंभ के दौर में समाजसुधार आंदोलन के एक प्रमुख व्यक्तित्व थे कंडुकरि विरशेलिंगम (1848-1919)। कलकत्ता तथा बंबई सुधार आंदोलन में सक्रिय अनेक समकालीन व्यक्तियों से भिन्न वीरशेलिंगम एक निर्धन परिवार में जन्मे थे। अपने जीवन के अधिकांश समय में उन्होंने स्कूल-शिक्षक पद पर काम किया। निर्बाध लेखन सामर्थ्य से संपन्न उन्होंने तेलुगू भाषा में अनेकानेक प्रबंधों एवं प्रपत्रों की रचना की। इसीलिए उन्हें आधुनिक तेलुगू गद्यसाहित्य का जनक कहा जाता है। विधवा-पुनर्विवाह, नारी शिक्षा, महिला-मुक्ति एक सामाजिक बुराईयों के उन्मूलन जैसे विषयों के प्रति उनके उत्साह ने उन्हें आंध्र के समाजसुधारकों के आगामी पीढ़ी के लिए पितातुल्य बना दिया।

उस समय के मद्रास प्रेसिडेंसी क्षेत्र में समाज सुधार प्रयासों की अखिल भारतीय लहर को अनेक प्रकार के जाति संगठनों एवं जातीय आंदोलनों के अस्तित्व ने एक विशिष्ट स्वरूप दे दिया। सदी के ढलान तक आते-आते अनेक जातीय संगठन सुधार आंदोलनों में महत्वपूर्ण भूमिका निभाने लगे। वे बहुधा संबंधित जाति के सामाजिक उत्थान से असंबद्ध नहीं थे। उदाहरण के लिए, ऐसा देखा जा सकता है तमिलनाडु की गुंडर (Gunder) जाति के संगठन **कोंगु वेल्लला संगम**, मैसूर के वक्कलिका तथा लिंगायत संगठनों, केरल के इरावा जाति के एस.एन.डी.पी. योगम इत्यादि के रूप में। जातीय आंदोलनों के नेता, बहुधा अपारंपरिक ढंग से, अभिजनों के रूप में उभरे। उन्होंने जाति विशेष के सदस्यों की सामान्य विरासत पर बल दिया और सामाजिक एवं रीतिगत व्यवहारों में परिवर्तन का प्रयास किया। एक महत्वपूर्ण विशेषता यह थी कि मूलत: आंतरिक सुधारों को लक्षित जातीय संगठनों ने क्रमश: सशक्त राजनीतिक शक्तियों का रूप ले लिया। इस विकासक्रम, जिसने बीसवीं सदी में जाकर परिपक्व रूप ले लिया, की चर्चा हम यहां नहीं करेंगे।

बोध प्रश्न 2

1) उन्नीसवीं सदी महाराष्ट्र के सामाजिक-धार्मिक सुधार आंदालनों की प्रमुख धाराओं का विवेचन कीजिए। 100 शब्दों में उत्तर लिखिए।

....

....

....

....

2) निम्नांकित वाक्यों को पढ़ें और सही (✓) अथवा गलत (×) के चिन्ह लगाएं।
   i) आर्यसमाजियों ने अस्पृश्यता तथा जातिगत कट्टरता की भर्त्सना की।
   ii) आर्यसमाजियों ने अंतर्जातीय विवाह का समर्थन नहीं किया।
   iii) सर सैयद अहमद खान धार्मिक सहिष्णुता के पक्ष में थे तथा उन्होंने विचार स्वातंत्र्य का समर्थन किया।
   iv) आंध्र के समाज सुधार आंदोलनों के प्रमुख व्यक्तित्व वीरशेलिंगम महिला शिक्षा के पक्ष में नहीं थे।
   v) दक्षिण भारत के जाति संगठनों ने सामाजिक-धार्मिक सुधारों में कोई भूमिका नहीं निभाई।

26.6 सारांश

उन्नीसवीं सदी के सामाजिक पुनर्रचना प्रयासों के लिए सामाजिक-सांस्कृतिक बुराइयों का सम्यक बोध एक महत्वपूर्ण प्रस्थान-बिंदु था। महिलाओं की पतित स्थिति, बाल विवाह, सती प्रथा, बहु विवाह, विद्यायापन की बाध्यता, जातिप्रथा, अस्पृश्यता, मूर्तिपूजा, बहुदेववाद, कर्मकांड, धर्माध्यक्षों का प्रभुत्व तथा समाज में व्याप्त अंधविश्वास इत्यादि पर न्यूनाधिक मात्रा में तीक्ष्ण बौद्धिक प्रहार किए गये।

MAADHYAM IAS

वर्तमान बुराइयों के बोध के प्रयास से जुड़ा हुआ था, समाज व्यवस्था के पुनर्बिन का प्रयास। महिलाओं की स्थिति में सुधार, बाल विवाह का उन्मूलन, एक विवाह, विधवा विवाह, जातिगत भेदभाव की समाप्ति, एकांतवाद, आध्यात्मिक साधना, सामाजिक मतांधता एवं अंधविश्वासों का अंत सुधारकों के सामान्य उद्देश्य थे, यद्यपि उपरोक्त प्रत्येक व्यक्ति ने इनमें से प्रत्येक लक्ष्य को प्रोत्साहित नहीं किया। सन्निहित सरोकार था एक सुधरी हुई सामाजिक-सांस्कृतिक व्यवस्था के आधार पर भारतीय समाज की सर्वांगीण प्रगति।

26.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) आपको अपने उत्तर में मूर्ति पूजा की भर्त्सना, एकांतवाद का पक्ष, हेतुवाद पर जोर, सती प्रथा को समाप्त करने के प्रयास, नारी-शिक्षा, महिलाओं द्वारा संपत्ति पर अधिकार इत्यादि विषयों का उल्लेख करना चाहिए। देखें उपभाग 26.2.1
2) देखें उपभाग 26.2.2 और 26.2.3

बोध प्रश्न 2

1) आपको अपने उत्तर में सामाजिक-धार्मिक कुरीतियों पर विभिन्न विचारकों के विचार और उच्च जाति के प्रभुत्व तथा अस्पृश्यता के विरूद्ध महाराष्ट्र में नई चेतना का जिक्र करना चाहिए। देखें भाग **26.3**
2) i) ✓ ii) × iii) ✓ iv) × v) ×

इकाई 27 सुधार आंदोलन-II

इकाई की रूपरेखा

27.0 उद्देश्य
27.1 प्रस्तावना
27.2 भविष्य-दृष्टि
27.3 सुधार आंदोलनों की विधि
27.4 आंदोलन की प्रकृति
    27.4.1 सामाजिक प्रश्न
    27.4.2 धार्मिक विचार
    27.4.3 धर्मग्रन्थों का उपयोग
    27.4.4 अतीत से संबंध
27.5 सीमाएं
27.6 राष्ट्रवाद की ओर
27.7 सारांश
27.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

27.0 उद्देश्य

यह इकाई पिछली इकाई के ही निरंतरता में है। इसके अध्ययन से आप

- सुधार संबंधी विचारों को प्रतिष्ठित करने के लिए 19वीं सदी बौद्धिकों द्वारा अपनाई गई विधियों
- सुधार-आंदोलन की अवधि में उठाये गये मसलों और विचारों
- उस समय सामने आने वाले अवरोधों तथा
- इन बौद्धिकों के प्रयासों की सीमाओं व त्रुटियों के बारे में जानकारी प्राप्त करेंगे।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

27.1 प्रस्तावना

पिछली इकाई में आपका परिचय 19वीं सदी भारत के बौद्धिक सुधारकों द्वारा व्यक्त संस्कृति एवं समाज संबंधी कतिपय विचारों से कराया गया था। सुधार-आंदोलन के रूप में उल्लिखित इन विचारों तत्कालीन समाज पर प्रभाव की जानकारी भी आपको हो चुकी है। इस इकाई में उन्हीं सूत्रों को आगे बढ़ाते हुए आंदोलन के लक्ष्यों और विधियों की चर्चा की गई है, जिनके माध्यम से नई समाज-व्यवस्था की प्रतिष्ठा का प्रयास किया गया था। इन बौद्धिक प्रयासों की प्रकृति और सीमाओं तथा परवर्ती काल में राष्ट्रवादी चिंताधारी के विकास में इसके योगदान का समुचित सर्वेक्षण ही इस इकाई का मुख्य विषय बनेंगे।

27.2 भविष्य-दृष्टि

सुधार आंदोलनों का समग्र उद्देश्य सामाजिक सुख-लाभ, जनहित की सिद्धि तथा राष्ट्रीय प्रगति था। सामाजिक मुक्ति के लिए बौद्धिकों ने सत्य, समभाव और न्यायिकता पर बल दिया, भावी भारत के नियामक मूल्यों के रूप में। म. गो. रानाडे ने लिखा था:

> "जिस प्रकार के विकास के लिए हम लालायित/प्रयासशील हैं, वह एक परिवर्तन की प्रक्रिया है, बंधनों से मुक्ति की ओर, भोलेपन से आस्था की ओर, पद-प्रतिष्ठा से अनुबंध, आधिकारिक दंभ से विवेकचेतना, असंगठित जीवन, कट्टरता से सहिष्णुता की ओर तथा अंध नियतिवाद से मानवीयगरिमा के स्रोतों की दिशा में।"

27.3 सुधार-आंदोलनों की विधि

बौद्धिकों ने सम्यक्ज्ञान को विशेष महत्व दिया था। अनभिज्ञता को अभिशाप माना गया था और इसको भारतीय समाज में व्याप्त अंधविश्वासों तथा रूढ़िवादिता का मूल कारण बताया गया था। सामान्य सामाजिक, विशेषकर महिलाओं की अशिक्षा के राष्ट्रीय पतन एवं पिछड़ेपन के लिए जिम्मेदार ठहराया गया। इसलिए शिक्षा के प्रचार-प्रसार को सुधार-योजनाओं के अंतर्गत प्राथमिकता दी गई। लगभग सारे बौद्धिकों ने सारी समस्याओं का एकमात्र समाधान शिक्षा को माना था। सामाजिक रूपांतरण एवं राष्ट्रीय पुनर्रचना की प्रक्रिया में ज्ञान की केन्द्रीय भूमिका में आस्था उन्नीसवीं सदी चिंतन की महत्वपूर्ण विशेषता थी।

अंग्रेजी शिक्षानीति में सन्निहित सिद्धांत मुख्यत: अंग्रेजी उपनिवेशवाद की आवश्यकताओं से परिचालित था। अंग्रेजी शासन के अधीन 19वीं सदी में विकसित शैक्षिक संस्थाओं में विज्ञान एवं तकनीकी नहीं, क्लासिकीय एवं कला पाठ्यक्रमों पर बल दिया गया था। अंग्रेजी शिक्षानीति देश के भौतिक विकास को लक्षित नहीं थी। फलस्वरूप, विज्ञानशिक्षण को बहुत कम महत्व दिया गया। इसके विपरीत, उपरोक्त बौद्धिकों की शैक्षिक योजना का लक्ष्य बना देश का भौतिक विकास किया।

वे विद्यमान शैक्षिक ढांचे के अंतर्गत उच्चजातियों का विशेषाधिकार खत्म करने के पक्ष में थे। किसी विशेष उच्चजातीय व्यक्तियों की ज्ञान क्षेत्र में इजारेदारी का विरोध करते हुए उन्होंने समाज के सभी तबकों में ज्ञान के प्रसार का प्रस्ताव किया। व्यापक जनशिक्षा के उद्देश्य को व्यावहारिक रूप देना उनका सतत् सरोकार बना रहा। जनशिक्षा के लक्ष्य को साकार करने के लिए परमानंद ने प्राथमिक स्तर तक नि:शुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा का समर्थन किया।

लगभग सभी सुधारकों ने भारतीय भाषाओं के विकास पर बल दिया। जनशिक्षा के लक्ष्य को मूर्त रूप देना आवश्यक माना गया। उनके विचार से शिक्षा-माध्यम के रूप में अंग्रेजी-भाषा किसी भी प्रकार की सार्थक प्रगति के लिए प्रभावी साधन नहीं हो सकती थी। इसलिए अंग्रेजी शिक्षा का भूमिका को भारतीय भाषाओं के संपूरक, संवर्धक रूप में ही देखा जाना चाहिए। दूसरे शब्दों में, यह सामाजिक परिवर्तन में सहायक मात्र, मुख्य साधन नहीं बन सकती थी। रानाडे ने भारतीय भाषाओं की उपेक्षा के लिए औपनिवेशिक नीति की कटु आलोचना की।

MAADHYAM IAS

इन बौद्धिक सुधारकों का दूसरा महत्वपूर्ण सरोकार था महिला-शिक्षा इस पर "सभी प्रकार के सुधारों एवं विकास के मूल" के रूप में बल दिया गया। महिलाओं के बीच अशिक्षा को उनकी दयनीय स्थिति तथा सामान्य सामाजिक पिछड़ेपन का प्रमुख कारण माना गया। महिलाओं के लिए उन्होंने न केवल प्राथमिक शिक्षा, बल्कि उच्चशिक्षा का भी समर्थन किया। उन्नीसवीं सदी बौद्धिकों में आगरकर ही थे, जिन्होंने सबसे पहले नौकरियों तथा विभिन्न उद्यमों के लिए महिलाओं की शिक्षा का विचार रखा और घर की चारदीवारी के बाहर महिलाओं की भूमिका बढ़ाने पर बल दिया।

इस प्रकार बौद्धिक सुधारकों का शैक्षिक कार्यक्रम/अभियोजन अंग्रेजी शिक्षानीति के ठीक प्रतिकूल था। अंग्रेजी शिक्षानीति प्रशासनिक लक्ष्यों से जुड़ी थी, जबकि सुधारकों के शैक्षिक प्रस्ताव जनसमुदाय एवं समूचे समाज की ओर उन्मुख थे। औपनिवेशिक शासन के आधीन जनसमुदाय के बीच अधिकारिक बढ़ती निर्धनता ने व्यापक जनशिक्षा के विचार को मूर्तरूप देने की संभावना खत्म कर दी। व्यापक जनशिक्षा कार्यक्रम को नये भारतीय मध्यम वर्ग का बहुत कम समर्थन अथवा सक्रिय सहयोग मिला।

27.4 आंदोलन की प्रकृति

विद्यमान सामाजिक-सांस्कृतिक बुराइयों और कुरीतियों जैसे रूढ़िवादिता अंधविश्वास और अविवेक को अत्यंत तीखे बौद्धिक प्रहार का निशाना बनाया गया। बौद्धिकों ने समूची सामाजिक व्यवस्था पर ही प्रहार नहीं किया। उनका प्रहार समाज में व्याप्त विकृतियों और विद्रूपताओं पर केन्द्रित था। उन्होंने देश में विद्यमान सामाजिक ढांचे से आत्यंतिक विच्छेद का पक्ष नहीं लिया। वे पथागत रूपांतरण के पक्ष में नहीं थे, बल्कि विद्यमान ढांचे के ही

अंतर्गत परिवर्तन का प्रयास किया गया। संक्षेप में, वे सुधारों के पक्षधर थे, न कि क्रांति के प्रवक्ता।

महिलाओं की स्थिति में सुधार, अधिक आयु में विवाह, एक-विवाह, विधवा-विवाह, जातिगत भेदभाव का उन्मूलन, एकांतवाद (एकश्वरवाद) इत्यादि समाज में किसी क्रांतिकारी परिवर्तन के प्रतीक नहीं बने। ये बौद्धिक सुधारक स्वयं अपने विचारों व प्रयासों की सुधारवादी प्रकृति से अनभिज्ञ नहीं थे। उन्होंने सचेत रूप से ही परिवर्तन के लिए क्रांतिकारी रास्ते को छोड़कर विकासक्रमिक रास्ते को अपनाया। लगभग सभी क्रमिक रूपांतरण की प्रक्रिया में विश्वास करते थे। इस प्रकार, सामाजिक रूपांतरण संबंधी उनके अभियोजन में परिवर्तन तथा निरंतरता दोनों ही आधारभूत तत्व थे।

यह बौद्धिक आंदोलन मुख्यत: नगर-केंद्रित था, यह नगरों से ही उभरा और उन्हीं क्षेत्रों में मुख्यतया चलाया गया। विचारों के प्रसार तथा अनुकूल जनमत तैयार करने के लिए अपनाये गये मुख्य साधन थे शहरी संप्रेषण माध्यम जैसे प्रेस, व्याख्यान मालायें तथा सभाएं, प्रचार-मंडलियां।

स्थानविशेष से जुड़े होने के बावजूद अपनी प्रेरणाओं और आकांक्षाओं में यह क्षेत्रीय नहीं था। यद्यपि उनके क्रियाकलाप किन्हीं शहरी इलाकों तक सीमित रहे, बौद्धिकों के दृष्टिबोध के अंतर्गत विभिन्न क्षेत्रों तथा समूचे देश की समस्याएं आती थीं। और फिर उन्होंने सचेत रूप से आंचलिकतावादी विचारों तथा क्षेत्रीय विभेदों को खत्म करने का सचेत प्रयास किया।

27.4.1 सामाजिक प्रश्न

लगभग सारे बौद्धिकों का सामान्य निष्कर्ष था कि भारत में महिलाओं की स्थिति शोचनीय एवं दारूण थी। उनकी दयनीय दशा को उस समय की अत्यंत प्रमुख समस्या माना गया। बालविवाह, विधवा जीवन की बाधता, बहु-विवाह, महिलाओं का अलग-थलग रखा जाना, वेश्यावृत्ति महिलाओं के उत्पीड़न ही शोषण के मूल कारण थे। उनके विचारों में, बालविवाह अन्य सामाजिक बुराइयों एवं अन्याय की जड़ था। बालविवाह के ही कारण अल्पायु में स्त्रियां विधवा होती थीं और बहु-विवाह को बढ़ावा मिलता था। बहु-विवाह को "नैतिकभौतिक सभी बुराइयों का स्रोत, बर्बर आदिम आवश्यकताओं का अवशेष चिन्ह" माना गया। सती-प्रथा का समाधान 1829 में उसके वैधानिक उन्मूलन से किया गया, लेकिन अन्य अनेक समस्याएं बनी रहीं।

MAADHYAM IAS

4. सती का एक दृश्य

बुद्धिजीवियों ने विधवाजीवन बिताने की बाध्यता एवं बहुविवाह को मानवता के विरुद्ध अपराध की संज्ञा दी। उसे मानवीय पतनशीलता पर आधारित तथा बर्बरता एवं निम्न सामाजिक विकास का प्रतीक ठहराया। ''लोकहितवादी'' के शब्दों में:

> ''विधवापन की बाध्यता मानवीय जीवन की हत्या है। यह मानवीय इच्छाओं, अनुभूतियों और संवेदों का वध करने जैसा है। आप अपनी ही बेटियों की नृशंस हत्या करने में लगे हैं। क्या आप का खून क्रोध से खौल नहीं उठता?''

राममोहन, जांभेकर और लोकहितवादी महिलामुक्ति के प्रश्न पर अन्यों की अपेक्षा विशिष्ट रूझान रखते थे। राममोहन ने सम्पत्ति संबंधी अधिकारों के अभाव को ही समाज में महिलाओं की निम्न स्थिति का मूल कारण बताया और उन्हें ये अधिकार दिए जाने की मांग की। जांभेकर और लोकहितवादी ने भी महिलाओं की समस्या का स्थायी समाधान एक विवाह और विधवाविवाह में नहीं, पुरुषों के समान ही उनको अधिकार दिए जाने में देखा। समान अधिकारों की मांग उन्नीसवीं सदी चिंतन का एक सर्वाधिक महत्वपूर्ण पहलू था। लगभग सभी बुद्धिजीवियों ने महिलाओं के बीच शिक्षा-प्रसार को उनकी मुक्ति के लिए आवश्यक पूर्वशर्त माना। महिलाओं के प्रश्न पर मानवतावादी परिप्रेक्ष्य से विचार किया गया था। इस प्रकार, उनकी मुक्ति को केवल उन्हीं की मुक्ति नहीं, बल्कि समूची मानवता की मुक्ति माना गया। बहरहाल, यह मानवतावादी रूझान राष्ट्रीय एवं सामाजिक विकास के सरोकार से जुड़ा था। इन बौद्धिकों के अनुसार, महिलाओं की अधीनस्थ स्थिति सामाजिक पतनशीलता एवं राष्ट्रीय पिछड़ेपन का प्रतीक थी। उनकी स्थिति में सुधार को, समूचे समाज एवं देश की प्रगति के लिए आवश्यक माना गया।

जातिगत भेदभाव की समस्या पर भी प्रहार किया गया। इसे ''मानवीय संबंधों को क्षीण'' तथा भारत में राष्ट्रीय चेतना के विकास को अवरूद्ध करने वाले विभाजक तत्व के रूप में देखा गया। इसे सामाजिक जड़ता और मंद प्रगति का कारक तत्व माना गया। इसीलिए बौद्धिक सुधारकों ने जातिगत कट्टरता से मुक्त समाजव्यवस्था की रचना का प्रयास किया।

ब्राह्मणों की रूढ़िवादिता को, जनसमुदाय के बीच अज्ञान की स्थिति बनाये रखने के उनके प्रयास को ही प्रमुख रूप से सामाजिक पतन का कारण बताया गया। विशेष रूप से फुले तथा चन्दावरकर ने ब्राह्मण वर्चस्व की भर्त्सना करते हुए निचली जातियों तथा दलित वर्गों के उत्थान का पक्ष लिया। ब्राह्मण के विरुद्ध यह संघर्ष अपनी प्रकृति सीधी मुठभेड़ का नहीं था। उन्होंने सचेत रूप से जातिगत शत्रुताभाव से बचने का प्रयास किया।

MAADHYAM IAS

उन्नीसवीं सदी के सुधारकों को सामान्य रूप से यह बोध था कि समाजसुधारों के आधार के बिना समाज प्रगति नहीं कर सकता। सामाजिक सुधार को राजनीतक स्वतंत्रता, आर्थिक विकास एवं राष्ट्रीय शक्ति-संवर्धन की दिशा में आवश्यक कदम माना गया। इसका एक व्यापकतर उद्देश्य था ''सभी क्षेत्रों में विकास के लिए सभी बाधाओं का उन्मूलन।''

27.4.2 धार्मिक विचार

जैसा हम इकाई 26 में देख चुके हैं, 19वीं सदी के कई विचारकों ने मूर्तिपूजा, बहुदेववाद और जनसमुदाय के धार्मिक मामलों में धर्माध्यक्षों के मध्यस्थता की भर्त्सना की।

लेकिन विद्यमान हिंदू आस्थाओं पर इन बौद्धिकों का प्रहार हिंदू आस्थाओं पर मिशनरियों के प्रहार से बिल्कुल भिन्न था। इन बौद्धिकों ने सुधारों के उद्देश्य से धार्मिक भ्रष्टाचार की भर्त्सना की जबकि मिशनरियों ने धर्मपरिवर्तन के उद्देश्य से हिंदूमत की भर्त्सना की।

राममोहन राय ने ईसाई धर्म अपनाने के बौद्धिक औचित्य को चुनौती दी। उनका तर्क था कि यदि हिंदू धर्म में भ्रष्टाचार का बोलबाला अथवा विवेकशीलता का अभाव है तो ऐसी स्थिति ईसाई धर्म के अंतर्गत भी है। उन्होंने ईसाई आस्थाओं के अंतर्गत मूर्तिपूजा, क्रूसारोपण, चमत्कारों में विश्वास तथा देवमयी की अवधारणा का उल्लेख किया। उनका निष्कर्ष था कि तुलनात्मक दृष्टि में वेदांत का एकेश्वरवाद ईसाई धर्म की देवमयी से बेहतर है। दादोबा ने भी ईसाई आस्थाओं के अंतर्विरोध को उजागर करने का प्रयास किया:

> ''पवित्र देवमयी संबंधी-ईसाई सिद्धांत ईश्वर की एकता के विचार से मेल नहीं खाता, जिसकी घोषणा ईसाई मिशनरी इतनी तत्परता से गैर-ईसाइयों के सामने करते हैं। मेरे लिए एकता में देवमयी के रहस्य में विश्वास करना उतना ही असंभव है, जितना कि एक सेब में तीन सेबों के होने की बात स्वीकार करना, क्योंकि इस प्रकार की अवधारणा ही अपने आप में विरोधाभासपूर्ण है।''

विष्णु बाबा ब्रह्मचारी बंबई में चौपाटी में भाषण करते थे, उनके विचार से ईसाई धर्म की तुलना में हिंदू धर्म को श्रेयस्कर विशेषताओं पर, उन्होंने ईसाई मिशनरियों द्वारा धर्मांताथ के प्रयासों का विरोध किया।

यहां हमारा सरोकार इन सिद्धांतों के सही अथवा गलत होने से नहीं है, फिर भी हम एक बात का ध्यान दिलाना चाहेंगे: धर्मांतरण तथा ईसाई धर्म के प्रभावों के विरुद्ध इन बौद्धिकों का प्रहार अपनी प्रकृति में साम्प्रदायिक नहीं, धर्म-विज्ञान-प्रेरित था। इसका निशाना ईसाई समुदाय नहीं था और न ही इसका मंतव्य था सांप्रदायिक तनाव अथवा वैमनस्य की सृष्टि करना।

दरअसल, उन्नीसवीं सदी के चिंतन में धर्म का एक महत्वपूर्ण स्थान था। बुद्धिजीवियों में धर्म एवं समाज के बीच संबंध और समाज के समुचित विकास के लिए धर्म के महत्व पर ही बल दिया था। इस प्रकार, धार्मिक सुधारों का प्रगति एवं स्थायी सामाजिक परिवर्तन के लिए पूर्णशर्त माना गया था। चंदावरकर के अनुसार, भौतिक जीवन तथा धार्मिक जीवन एक ही अस्तित्व के दो अंत: संबंधित पहलू थे, और सावयव सामाजिक प्रगति संभव नहीं है यदि एकप्रबद्ध धार्मिक आस्था से उसे प्रति संतुलित न किया जाए।

लेकिन इसका आशय यह नहीं कि उन्नीसवीं सदी में सामाजिक सुधारों को तत्कालीन चिंतकों को धार्मिक सुधारों की अपेक्षा गौण स्थान मिला था।

इन बौद्धिकों का धर्म एवं सामाजिक जीवन के बीच जीवन सावयव संबंध में विश्वास था और उन्होंने समूचे समाज के पुनर्नवन का समर्थन किया। रानाडे ने लिखा था:

> "विकास की प्रकृति संरचनात्मक एवं सावयविक है और इसे क्रमश: जैविक संरचना के सभी अंशों में प्रभावी होना चाहिए। ...समूचे अस्तित्व को पुनर्नवन की आवश्यकता है। जिन मुक्ति की आकांक्षा की जानी चाहिए वह जीवन के क्षेत्र विशेष में ही नहीं, समग्र कृति में होनी चाहिए। आप एक उत्तम सामाजिक व्यवस्था नहीं पा सकते यदि आप राजनीतिक अधिकारों के श्रेणीक्रम में नीचे हैं और न आप अपने राजनीतिक अधिकारों का समुचित प्रयोग कर सकते हैं, जब तक कि समाज व्यवस्था विवेक एवं न्यायिकता पर आधारित नहीं है। यदि आप के धार्मिक विचार निम्न कोटि के और पतनशील हैं, आप सामाजिक, आर्थिक अथवा राजनीतिक क्षेत्रों में सफल नहीं हो सकते। यह अंतरनिर्भरता मात्र आकस्मिक नहीं है बल्कि प्रकृति का नियम है।"

बोध प्रश्न 1

MAADHYAM IAS

1) निम्न वाक्यों को पढ़ें और सही (✓) अथवा (×) के चिन्ह लगाएं।

   i) उन्नीसवीं सदी बौद्धिकों द्वारा सूत्रबद्ध शैक्षिक अभियोजन अंग्रेजी शिक्षानीति से पूर्ण समरूपता में था।

   ii) सुधारक संरचनात्मक परिवर्तनों के पक्ष में नहीं थे, उन्होंने समाज के ढांचे के अंतर्गत ही परिवर्तनों का प्रयास किया।

   iii) सुधारकों द्वारा अपने विचारों के प्रचार-प्रसार के लिए अपनाए गए साधन मुख्यत: शहरी-संप्रेषण माध्यम थे।

   iv) विद्यमान हिंदू आस्थाओं पर सुधारकों का प्रहार उसी प्रकार का था जैसा कि ईसाई मिशनरियों का।

2) उन्नीसवीं सदी के बौद्धिकों द्वारा समर्थित सुधार आंदोलन की विधियों के बारे में दस पंक्तियां लिखिए।

....

....

....

....

....

....

....

....

27.4.3 धर्मग्रंथों का उपयोग

बिशेषकर उन्नसीवीं सदी के उत्तरार्ध में बौद्धिकों ने सुधारों का धर्मग्रंथों के आधार पर करने का प्रयास किया। उन्होंने हिंदू धर्मग्रंथों के लेखों की पुनरुक्ति एवं पुनर्व्याख्या की सुधारप्रयासों को समुचित सिद्ध करने के लिए। इस सामान्य प्रवृत्ति के एकमात्र अपवाद थे **आगरकर**।

के.टी. तेलंग ने लिखा था :

''शास्त्रों को अपने ही नियमन के विपरीत समाज में घटित हो रहे परिवर्तनों की प्रक्रिया को मूक सहमति देनी पड़ी है। जाति प्रथा के प्रसंग में हम अपने ही प्राचीन धर्मग्रंथों के नियमों से अलग रास्ता चुना है। (उन) धर्मग्रंथों ने प्रारम्भ में केवल चार वर्णों (जातियों) को मान्यता दी थी। हमारी अपनी वर्तमान स्थिति में चार से चार हजार अधिक जातियां हैं जिनमें हिंदू समुदाय विभाजित हैं।''

इस प्रकार हम पाते हैं कि एक ओर बौद्धिकों ने सुधारों के लिए जहां कहीं वांछनीय था, धर्मग्रंथों का समर्थन किया और दूसरी ओर, उनके विसामान्यता को समुचित सिद्ध करने के लिए उनकी उक्तियों की पुनर्मेमांसा की। दरअसल, सुधार आंदोलन के लक्ष्य को आगे बढ़ाने के लिए उन्होंने आवश्यकता एवं वांछनीयता के अनुसार धर्मग्रंथों का दूरदर्शिता से उपयोग किया।

27.4.4 अतीत से संबंध

बौद्धिक चितन की एक विशेष प्रवृत्ति थी विद्यमान सामाजिक बुराइयों और व्यवहारविधियों को परवर्तीकाल में आये विसामान्यता एवं विरूपण के रूप में देखने की। भारतीय इतिहास के बौद्धिक युग को उन्नीसवीं सदी के अनेक चिंतक वर्तमान समय की सामाजिक-सांस्कृतिक विचित्रताओं से परे/मुक्त एक आदर्श समाज के रूप में देखते थे। [illegible] ने तो यह भी लिखा कि विधवा-विवाह तथा एक विवाह बौद्धिक सामाजिक जीवन [illegible] थे।

फिर भी अतीत से उनका संबंध पुनरुत्थानवादी नहीं था। रानाडे ने स्पष्ट लिखा था :

''राजनीति के क्षेत्र में आज कोई भी पूर्ववर्ती युग के निरंकुशतंत्र और एक व्यक्ति की तानाशाही का समर्थन नहीं करेगा। और न औद्योगिक क्षेत्र में आदिम विधियों/युक्तियों से चिपका रहेगा, पुराने को सुधारने अथवा नये उद्योगों की शुरुआत करने के लिए। इसी प्रकार, सामाजिक क्षेत्र में भी मात्र पुनरुत्थान हमारी आवश्यकताओं को पूरा कर पायेगा।''

दूसरे शब्दों में, वे अतीत की तत्काल पुनरावृत्ति के पक्ष में नहीं, बल्कि वर्तमान की आवश्यकताओं के अनुसार उसमें संशोधन के पक्ष में थे। चंदावरकर ने लिखा था:

''मैं भी अतीत का सम्मान करता हूं, क्योंकि उसके बिना हमारी वर्तमान उपलब्धियां संभव न होती।''

लेकिन यह अतीत का जीवंत पक्ष है जिसको हमें सहेजना है और जिससे हमें अलग नहीं होना है। अतीत से संबंधित कोई चीज जीवन में बने रहने का अधिकार नहीं रखती यदि वह हमारे विकास को अवरुद्ध करती है और हमारी क्षमता को कुंद बनाती है। अतीत से विच्छेद हम नहीं कर सकते, जहां तक कि वह जीवंत, आवश्यक है। लेकिन आज जिस बात की आवश्यकता है वह अतीत का मौखिक समर्थन मात्र नहीं है बल्कि वर्तमान के पक्ष में बोलने की आवश्यकता है। प्राचीनयुग का आदर्श हमारे सामाजिक आदर्शों में से है जिसका संशोधन किया जाना है, पुनरुत्थान नहीं।''

27.5 सीमाएं

इसमें वर्णित 19वीं सदी के उपरोक्त बौद्धिक प्रयास, प्रभाव, व्यापकता एवं उपलब्धियों की दृष्टि से महत्वपूर्ण सफलता नहीं पा सके। जातिगत विभेद सुदृढ़ बने रहे, और धार्मिक एवं सामाजिक प्रथाओं का अवसान नहीं हुआ। बाल-विवाह तथा विधवाजीवन की बाध्यता उसी प्रकार दुर्दत समस्या बनी रही जैसी कि पहले थी।

बहरहाल, सुधार आंदोलन ने व्यवहारतः एक अल्पसंख्यक समुदाय को ही प्रमाणित किया। बौद्धिकों के विचारों से जनसमुदाय लगभग अछूते बने रहे। निश्चय ही भारतीय/स्थानीय

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

भाषाओं में उनके लेखन में एक प्रकार का सामूहिक दृष्टिकोण सामने आता है। लेकिन जनसमुदाय को संबोधत करने के अपने श्रेष्ठ प्रयासों के बावजूद भी व्यावहारिक दृष्टियों से उनकी अपील शहरी मध्यम वर्गों, विशेषकर शिक्षाप्राप्त तबकों तक सीमित रहीं।

ग्रामीण क्षेत्रों में व्यापक अशिक्षा के होते हुए और आधुनिक एवं बहुविध संप्रेषण तंत्र/संचार-प्रणाली के अभाव में यह निश्चितप्राय था कि उन्हें थोड़े से मुख्यत: नगरवासी पाठक/श्रोता मिलें। इस प्रकार व्यावहारिक अपील की दृष्टि से भी आंदोलन, अन्य सीमाओं के अलावा, नगर केंद्रित ही रहा। और फिर, उन्होंने अपने समकालीन सामुदायिक जीवन का सर्वाधिक कठिन कार्य, सामाजिक-सांस्कृतिक सुधार की समस्याओं का दायित्व उठाया था। सांस्कृतिक मसलों में एक बड़ी सीमा तक भावनाओं तथा परंपराबोध का हस्तक्षेप होता है। परंपराएं एक सुदीर्घ क्रम में ही अपना स्वरूप बदलती हैं। मानवीय चेतना से जातिगत एवं रीतिगत प्रभावों का खत्म करना बहुत दुष्कर सिद्ध होता है। राजनीतिक एवं आर्थिक मामलों में तर्कना ''सत्ता का अभिकरण'' होती है, हो सकती है। लेकिन जहां अनुभूतियों एवं परंपराओं की बात आती है तर्कना लगभग पूर्ण नि:शक्त हो जाती है। सुदीर्घ क्रम में स्थापित रीतियों एवं परंपराओं तथा गहरे पैठे पूर्वग्रहों में परिवर्तन का प्रयास सचमुच बहुत कठिन होता है।

औपनिवेशिक प्रभुत्व की अवधि में जनजागरण प्रयासों ने आंदोलन की सफलता पर कुछ अंतर्निहित सीमाएं आरोपित कीं। अंग्रेजी शासन ने अपने विचारों की आधारभूत आधुनिकता के समुचित बोध में समर्थ व्यापक सामाजिक समुच्चय की रचना नहीं की। व्यापक अशिक्षा का तथ्य उनके लक्ष्यों को साकार करने के सामने एक बड़ी बाधा बना रहा। इसीलिए उनके बौद्धिक विचार एवं क्रियाकलाप सामान्य जनमानस को प्रभावित नहीं कर पाये।

भंडारकर ने लिखा : अंधेरे परिवेश में ''दिया जलाने का प्रयास तो किया गया है, लेकिन इसकी लो अभी टिमटिमा रही है।'' उनका योगदान यह दिया जलाने में ही है, इसकी मद्धिम रोशनी का कारण उनके नियंत्रण से परे था। स्वयं अपनी भूमिका का मूल्यांकन करते हुए चंदावरकर ने 1886 में कहा था:

> ''हमारी दृष्टि में इतना ही पर्याप्त है, हमारे लिए इतना ही पर्याप्त होना चाहिए, यदि हम आश्वस्ति के साथ यह कह सकें कि हम आलसी अथवा अकर्मण्य नहीं बन रहे हैं, बल्कि सचमुच कुछ किया है। भले ही यह समाज सुधार कार्य को हमारी उपलब्धियों से और आगे बढ़ाने की दृष्टि से बहुत कम हो, हम अपने उत्तराधिकारियों द्वारा इसे आगे बढ़ाये जाने में सहायक हुए हैं।''

MAADHYAM IAS

इन बुद्धिजीवियों को निश्चय ही किन्हीं ठोस उपलब्धियों का श्रेय मिलना चाहिए। उनके सतत् प्रयासों का ही परिणाम था कि उन्नीसवीं सदी में सतीप्रथा का उन्मूलन और विधवा-विवाह का वैधीकरण किया जा सका। **कांसेंट बिल** संबंधी विवाद के दौरान बहुत अधिक बौद्धिक जोशखरोश, सुदीर्घ विरोध-प्रदर्शन और तीखे विचार-विमर्श देखने को मिले। तत्काल कोई ठोस परिवर्तन लाने में असफल रहने के बावजूद इन विवादों में सामान्य चेतना का स्तर आया। समाज में अंधविश्वासों एवं रूढ़िवादिता/कट्टरता का प्रभाव समाप्त करने की प्रक्रिया उनके प्रयासों से अस्तित्व में आई, यह प्रक्रिया कितनी भी धीमी क्यों न रही हो।

बौद्धिकों का अन्य महत्वपूर्ण योगदान महिलाशिक्षा के क्षेत्र में था। स्कूलों में छात्राओं की संख्या में बढ़ोतरी की गति महिलाओं द्वारा अपने ऊपर आरोपित सामाजिक अलगाव की बाध्यता से मुक्ति की शुरुआत की सूचक थी। अधिकाधिक व्यक्ति अब महिलाशिक्षा को किसी भी दृष्टि से अहितकर नहीं मानते थे। इस विकासक्रम के महत्व की पुष्टि इस तथ्य से होती है कि परवर्ती काल में महिलाएं सार्वजनिक एवं राष्ट्रीय जीवन में सक्रिय भाग लेने लगीं। दरअसल, बीसवीं सदी में महात्मा गांधी को राष्ट्रीय आंदोलन की धारा में ला सके, इसके लिए आधारभूत तैयारी उन्नीसवीं सदी के बौद्धिकों ने ही कर दी थी।

27.6 राष्ट्रवाद की ओर

इन बौद्धिकों के विचार एवं क्रियाकलाप प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में राष्ट्रनिर्माण और राष्ट्रीय पुनर्रचना के कार्यभार से जुड़े थे। वस्तुत: समाजसुधार आंदोलन अलग-थलग प्रक्रिया नहीं थी, व्यापक राष्ट्रीय-राजनीतिक एवं आर्थिक मान्यताएं उसमें संपृक्त थीं।

सांस्कृतिक स्तर पर बौद्धिकों ने एक "राष्ट्रीय संस्कृति" की समुचित परिभाषा के उद्देश्य से संस्कृति में सारभूत और गौण, सकारात्मक एवं नकारात्मक प्रगतिशील तथा प्रतिगामी तत्वों के बीच विभेद का प्रयास किया। सामान्य रूप से संस्कृति के ही क्षेत्र में हम उस विरोधिता के मूलमंत्र पाते हैं जो अंततः मुक्ति आंदोलन को सुसंघटित एवं विकसित रूप देते हैं। बंकिमचंद्र चटर्जी तथा भास्कर बौद्धिकों की पहली पंक्ति में आते हैं जिसने औपनिवेशिक शासन की समीक्षा की। "लोकहितवादी" ने पहली बार स्वराज की परिकल्पना सामने रखी। अठारहवीं सदी के पांचवें दशक में ही उन्होंने रेखांकित किया था:

> "भारत में अंग्रेजी राज्य शाश्वत नहीं है, पाश्चात्य विज्ञान एवं तकनीकी के अध्ययन से हमें स्वयं को प्रबुद्ध बनाना है। और अंग्रेजों को उन्हीं की तर्कनाओं की जमीन पर परास्त करना है। तभी हम क्रमशः सत्ताधिकार का दावा कर पाएंगे। हमारे असंतोष को कम करने के लिए अंग्रेज कुछ सत्ता हमें भी दे सकती हैं। जैसे-जैसे वे हमें सत्ता सौंपते जाएंगे, यह बात हमारी सत्ताकांक्षा को कम करती जाएगी और फिर अंग्रेज हमारी मांगों के पूरी तरह विरुद्ध हो सकते हैं। अंग्रेजों द्वारा ऐसा किये जाने पर शायद हमें भी वही कुछ करना पड़े जो अमरीकियों ने अंग्रेजों को अपनी भूमि से खदेड़ने के लिए किया।"

लोकहितवादी की राजनीतिक दूरदर्शिता इस बात में देखी जा सकती है कि भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के उदय से पहले ही उन्होंने इसके वास्तविक विकासक्रम की रूपरेखा सामने रख दी थी।

बोध प्रश्न 2

1) उन्नीसवीं सदी के भारतीय बुद्धिजीवियों द्वारा चलाये गये सुधार आंदोलन की सीमाओं पर दस पंक्तियां लिखिए।

....

....

....

2) सुधार आंदोलन ने राष्ट्रीय आंदोलन के लिए आधार किन अर्थों में तैयार किया? लगभग 150 शब्दों में उत्तर दीजिए।

....

....

....

MAADHYAM IAS
way to achieve your dream

27.7 सारांश

इकाई 26 और 27 में आप देख चुके हैं कि उन्नीसवीं सदी में विचार के क्षेत्र में कैसे महत्वपूर्ण विकासक्रम सामने उभर रहे थे। इन विचारों में भारतीय समाज की पुनर्रचना की संभावनाएं सन्निहित थीं। उन्होंने विविध सामाजिक, सांस्कृतिक और धार्मिक प्रश्नों एवं व्यवहार विधियों को सुलझाया। इन विचारों के प्रचार-प्रसार में शिक्षा को एक प्रमुख भूमिका दी गई थी। महिलाओं को उच्च सामाजिक स्थिति दिलाने, धर्म एवं समाज के बीच संबंधों की पुनर्परिभाषा तथा अतीत से विशेषसंबंध बनाये रखने का प्रयास सुधार आंदोलन की प्रमुख विशेषताएं थीं। फिर भी व्यापक और गहराई की दृष्टि से यह आंदोलन अधिसंख्यक ग्रामीण जनसमुदाय तक पहुंचने में असफल रहा और शिक्षित शहरी मध्यम वर्ग तक ही सीमित रहा। सामाजिक एवं राजनीतिक क्षेत्र में कुछ ऐसे अवरोध भी बने हुए थे। जिन्होंने इन विचारों को अप्रतिरोध्य सामाजिक शक्ति नहीं बनने दिया।

उपरोक्त सीमाओं के बावजूद, सुधार आंदोलन की महत्वपूर्ण उपलब्धि राष्ट्रवादी चिंताधारा की दिशा में इसके योगदान के रूप में थी। यद्यपि सुधार आंदोलन प्रत्यक्ष रूप से राजनीतिक मसलों पर केंद्रित नहीं था, इसने राजनीतिक चिंतन एवं परवर्ती भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के लिए समुचित परिदृश्य तैयार किया।

27.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) i) × ii) √ iii) √ (iv) ×
2) अपने उत्तर में आपको सुधारकों द्वारा शिक्षा को दी गई प्रमुखता की चर्चा करनी है। देखिए भाग 27.3

बोध प्रश्न 2

1) अपने उत्तर में आपको इन बातों पर जोर देना है:
   अ) शहरी शिक्षितों से इतर जनसमुदाय को प्रभावित करने में असमर्थता।
   ब) सुधारकों द्वारा प्रहार के बावजूद किन्हीं सामाजिक एवं धार्मिक प्रथाओं का जारी रहना। और,
   स) अतिव्याप्त अशिक्षा संबंधी अवरोध तथा व्यापक सामाजिक आधार का अभाव। देखिए भाग 27.5
2) देखिए भाग 27.6

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

इकाई 28 सामाजिक भेदभाव और प्रवंचित समूह

इकाई की रूपरेखा

28.0 उद्देश्य
28.1 प्रस्तावना
28.2 उपनिवेश-पूर्व सामाजिक भेदभाव और औपनिवेशिक प्रभाव
28.3 क्षेत्रीय विभिन्नताएं : दक्षिणी भारत
28.4 पश्चिमी भारत
28.5 उत्तरी तथा पूर्वी भारत
28.6 औपनिवेशकालीन भारत में निरंतरता एवं परिवर्तन
28.7 नव संचेतना : क्षेत्रीय उदाहरण
28.8 सारांश
28.9 शब्दावली
28.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

28.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप:

- भारत के विभिन्न भागों में सामाजिक भेदभाव के विविध रूपों की जानकारी कर पाएंगे;
- विद्यमान समाज व्यवस्था पर औपनिवेशिक शासन के प्रभाव और इसमें आए परिवर्तनों की प्रक्रिया को समझा सकेंगे;
- प्रवंचित समूहों के बीच नवीन चेतना के विकास और विद्यमान समाज व्यवस्था को बदलने के लिए उनके प्रयास को स्पष्ट कर सकेंगे।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

28.1 प्रस्तावना

जाति व्यवस्था पर आधारित होने के कारण भारतीय समाज ने विभिन्न प्रकार के सामाजिक भेदभावों को जन्म दिया और विशेषाधिकार प्राप्त एवं प्रवंचित, दो बड़ी सामाजिक श्रेणियों की रचना की। इस इकाई में हमने भारत के विभिन्न भागों में सामाजिक भेदभाव के विविध रूपों और प्रवंचित जनसमूहों से आपका परिचय कराने का प्रयास किया है। औपनिवेशिक शासन के बहुत पहले से ही भारत में सामाजिक भेदभाव का अस्तित्व था। लेकिन औपनिवेशिक शासन की स्थापना ने आर्थिक एवं प्रशासनिक ढांचे में परिवर्तन किए जिसने बड़ी सीमा तक भारत में विद्यमान समाज व्यवस्था को प्रभावित किया। किस प्रकार और किस सीमा तक भारतीय समाजव्यवस्था में परिवर्तन हुए, इस इकाई में इसका विवेचन किया गया है। यहां हमने निचली तथा मझोली जातियों के बीच सामाजिक संतरण की प्रक्रिया और समाज में युगों पुराने ब्राह्मण वर्चस्व को किन्हीं प्रवंचित समूहों से मिलने वाली चुनौतियों पर भी विचार किया है।

28.2 उपनिवेश-पूर्व सामाजिक भेदभाव तथा औपनिवेशिक प्रभाव

इसमें संदेह नहीं कि सामाजिक भेदभाव से उपजे सामाजिक पिछड़ेपन और प्रवंचन का इतिहास उपनिवेशवाद से भी पहले का है। वर्ण व्यवस्था के अंतर्गत निश्चित पदानुक्रम, प्रकार्यों और विभेदों के साथ समाज का श्रेणी क्रमबद्ध विभाजन ऐसा ढांचा बनाता था, जिससे

आर्थिक एवं रीतिगत संबंधों का नियमन होता था। आर्थिक दृष्टिकोण से विचार करने पर जातियां वंशानुगत, अवरुद्ध आजीविका समूहों के रूप में सामने आती हैं और इसका संबंध होड़ खत्म करने और सेवायोजन एवं आय को सुनिश्चित बनाने के प्रयासों से देखा जा सकता है। इस श्रेणी क्रमबद्ध ढांचे के अंतर्गत ऊपर उठना असंभव नहीं तो दुर्लभ अवश्य था। इस श्रेणी क्रमबद्ध व्यवस्था के अंतर्गत दो निश्चित बिंदु आत्यंतिक स्थितियां इंगित करते थे: एक छोर पर ब्राह्मण थे और दूसरे पर अछूत। अधिकांश उपेक्षित जनसमूहों का संबंध निचली पंक्ति से था और वे जटिल स्थितियों में जीने के लिए बाध्य थे।

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में उपनिवेशवादी शासन का प्रभाव प्रत्यक्ष होने तक सामाजिक स्थिति बहुत कुछ शिथिल हो चुकी थी, लेकिन सामाजिक भेदभाव के विलोपन की सीमा तक नहीं। लेकिन जैसे-जैसे भारत पूंजीवादी विश्व-अर्थतंत्र का औपनिवेशिक उपांग बनता गया, नए आर्थिक संबंध उभर कर आने लगे। अनौद्योगीकरण की नीति ने देहाती दस्तकारों को उनके खानदानी पेशों से वंचित कर दिया और कालक्रम में ग्रामीण स्तर पर आर्थिक संगठन की अ-प्रतिस्पर्धी एवं वंशानुगत व्यवस्था का आधार कमज़ोर बना दिया। नौकरी-पेशा जातियों के लिए जजमानी व्यवस्था की तरह ही अपना भुगतान पाना कठिन हो गया। राजस्व-संग्रह बढ़ाने के प्रयास में कंपनी ने निःशुल्क भू-व्यवस्थाओं के विभिन्न रूप अपनाए जिनके फलस्वरूप उन पर निर्भर नौकरीपेशा समूह निर्धन बनते गए। कानून और अदालतों द्वारा लागू होने वाले अनुबंधों पर ज़ोर दिए जाने का परिणाम था कि नई व्यवस्था तक पहुंच रखने वाले व्यक्ति ही समाज में अपनी स्थिति सुदृढ़ बना सकते थे। इस प्रकार, औपनिवेशिक शासन ने अनेक अधीनस्थ सामाजिक समूहों को जीविका-साधनों से वंचित कर दिया और कालक्रम में उनमें से कुछ को "अपराधी जातियों" के स्तर तक गिरा दिया। लेकिन इसके साथ ही सामाजिक संगठन के पुराने आर्थिक आधार को कमज़ोर करते हुए औपनिवेशिक शासन ने अधिक गतिशीलता की दिशा में पहले से बढ़ रही प्रवृत्ति को और प्रबल बनाया। इसने परोक्ष रूप से भविष्य में निचली जातियों द्वारा विरोध-आंदोलन का विकास भी संभव बनाया। एक ओर तो ग्रामीण अभिजात समुदाय के अनुकूल तत्वों का सफलता के साथ अंग्रेज़ी राजस्व व्यवस्था के अंतर्गत समायोजन कर लिया गया था, दूसरी ओर किलों को ध्वस्त करके तथा स्थानीय सैन्य टुकड़ियों को भंग करके दुराग्रही तत्वों को निःशक्त कर दिया गया था। कालांतर में भारत के विभिन्न भागों के प्रभुत्वशाली समूहों ने औपनिवेशिक शासन के सांस्थानिक ढांचे के छल-प्रयोग से अपनी स्थिति सुदृढ़ बना ली।

MAADHYAM IAS

28.3 क्षेत्रीय विभिन्नताएं : दक्षिणी भारत

तो फिर सामाजिक भेदभाव के शिकार अधीनस्थ समूहों की स्थिति क्या थी? उन्नीसवीं सदी के आरंभ में भेदभाव की प्रकृति एक से दूसरे क्षेत्र में भिन्न मिलती थी। मद्रास प्रेसिडेंसी के अधिकांश भागों में निचली जातियों के समूहों से आए खेतिहर मज़दूर लगभग गुलामी की स्थिति में ढेल दिए गए थे। मद्रास बोर्ड ऑफ रेवेन्यू (1818) द्वारा किए गए खेतिहर मज़दूरों की दशा से संबंधित पहले प्रमुख सर्वेक्षण से यह बात स्पष्ट होती है। मद्रास प्रेसिडेंसी तीन बड़े इलाकों में विभाजित थी। इनमें से तेलुगु क्षेत्र बंधुआ प्रथा से अपेक्षाकृत मुक्त था। लेकिन तमिल क्षेत्र, विशेषकर नम इलाकों में, और मालाबार एवं कनारा क्षेत्रों में अधिसंख्य मज़दूरों को बंधुआ स्थिति में जीना पड़ता था। चिंगलपेट और तंजौर जैसे ज़िलों के अंतर्गत पल्लन अथवा परैयन कही जाने वाली अछूत जातियों की दशा सचमुच शोचनीय थी। इन स्थानों पर अंग्रेज़ी कानून व्यवस्था ने पुरानी हिंदू संस्थाओं को और मज़बूत ही बनाया था, किन्हीं उच्च जातियों की सत्ता एवं प्रभाव को नई जीवन शक्ति देते हुए। ब्राह्मण भूस्वामियों का एक समूह, अपने जातिगत नियमों के अनुसार किसी भी प्रकार के भौतिक श्रम में नहीं लगता था। लेकिन वह अपनी भूमि काश्तकारों को देता था या जो कार्य को स्वयं नहीं कर सकते थे, उनके लिए उजरती श्रमिक नियुक्त करता था। इस समूची व्यवस्था में दिलचस्प बात यह थी कि इतिहासकारों द्वारा कृषि-दासता के रूप में, विश्लेषित तथ्य को जाति व्यवस्था का समर्थन प्राप्त था। इसी प्रकार, तमिलनाडु के परैयन के समान सामाजिक स्थिति वाले मालाबार क्षेत्र के चेरूमन के साथ विशेष रूप से दासों जैसा बर्ताव किया जाता था। उन्नीसवीं सदी के आरंभिक वर्षों में अपनी यात्राओं के दौरान बुकानन ने पाया कि खेती संबंधित अधिकांश कार्य चेरूमन दास ही करते थे। वे बेचे, बंधक रखे और भाड़े पर दिए जा सकते थे। मालाबार से कनारा की ओर बढ़ने पर बुकानन को वैसी ही बदहाली मिली।

निचली जातियों के लोग अक्सर अपने जवान रिश्तेदारों को कर्जों के बदले गुलामों के रूप में बेच देते थे। संक्षेप, में दक्षिणी भारत से संबंधित उपलब्ध साक्ष्य यही पुष्टि करते हैं कि उन्नीसवीं सदी के आरंभिक वर्षों में कृषि दासता काफी दूर तक फैली हुई थी।

कृषि क्षेत्र से बाहर के कुछ अर्धनिम्न समूहों से संबंधित विशेष अध्ययन सामाजिक भेदभाव की वैसी ही प्रक्रिया का प्रभाव दर्शाते हैं। तमिलनाडु के नाडार से संबंधित हाल के सर्वेक्षण से पता चलता है कि 19वीं सदी के आरंभ में वे सर्वाधिक उत्पीड़ित जातियों में गिने जाते थे। आर्थिक दृष्टि से स्वयं उनके बीच उच्च स्थानीय नाडार और निम्न स्थानीय शानार के रूप में अंतर किया जाता था। शानार को अनेक प्रकार की विवशताओं का शिकार बनना पड़ता था। मंदिरों में तो उनका प्रवेश वर्जित ही था। कुएं से वे पानी नहीं भर सकते थे। छाता लेकर चलने, जूता और सोने के गहने पहनने का उन्हें अधिकार नहीं था। गायों का दूध वे नहीं निकाल सकते थे। किन्हीं सड़कों पर उनके चलने की मनाही थी। उनकी औरतों को अपनी छाती ढकने की अनुमति नहीं थी। दरअसल, नाडार जाति के व्यक्ति किसी ब्राह्मण के चौबीस कदम पास तक भी नहीं जा सकते थे।'' तिरुनावेल्ली के उत्तर स्थित क्षेत्रों में बस जाने वाले कुछ शानार परिवारों को और भी अपमानजनक दशाएं झेलनी पड़ीं। गांव के उच्च जातीय हिंदुओं द्वारा प्रयुक्त नाई और धोबी की सेवाओं से भी उन्हें वंचित कर दिया गया था। क्रमशः मुख्य शानार समुदाय के बीचसे व्यापारियों का एक सचल समूह उभरा जो देहाती शराब और गुड़चीनी का व्यापार करता था। 1801 में पोलीगर युद्ध खत्म होने के साथ व्यापारी तथा ताड़ी निकालने वाले दोनों ही उत्तर में मारवाड़ क्षेत्र की ओर बढ़े और ''छे रामनाड नगरों'' में बस गए। लेकिन स्थानीय प्रभुत्वशाली जातियों, मारवाड़ी, तेवर और कल्लार ने उनको निचले, मैले-कुचैले, ताड़ी निकालने वाले शानार के साथ ही जोड़ा। यह आश्चर्य की बात नहीं कि ईसाई धर्म अपनाने की प्रक्रिया को नाडार जाति का उर्वर आधार मिला। इस क्षेत्र में परवर्ती काल में उभरे ब्राह्मण-विरोधी आंदोलन में स्वभावतः वे सबसे आगे रहे।

28.4 पश्चिमी भारत

भारत के पश्चिमी तटवर्ती इलाकों के ऊपरी भाग, दक्षिण गुजरात में संस्थाबद्ध सामाजिक भेदभाव का एक और विचक्षण उदाहरण मिलता है। आरंभिक उन्नीसवीं सदी के ब्रिटिश अभिलेखों/दस्तावेज़ों से हाली प्रथा के रूप में इसकी जानकारी हमें मिलती है। इस सुगठित व्यवस्था के अंतर्गत निचली दुबला जाति के लोग, सबसे अच्छे और बड़े भूमि-खंडों के मालिक अनाविल ब्राह्मणों के अधीन आजीवन बंधुआ बने रहते थे। किन्हीं क्षेत्रों में ऐसे खेती से जुड़े नौकरों के अंतर्गत कोली, गुलाम कोली, जाति के लोग भी आते थे। इसकी शुरुआत आम तौर पर तब होती थी, जब कोई खेतिहर श्रमिक विवाह करना चाहता था और उसे इसका खर्च उठाने के लिए तैयार कोई मालिक मिल जाता था। इस प्रकार लिया गया ऋण नौकर को जीवन-भर के लिए मालिक के अधीन कर देता था। यह ऋण साल-दर-साल बढ़ता रहता था और इस प्रकार इसकी अदायगी लगभग असंभव हो जाती थी। हाली बेचे नहीं जाते थे, यद्यपि उनको किसी अन्य मालिक की सेवा में लगाया जा सकता था। निचली दुबला जाति पर उच्च जातीय ब्राह्मणों के पारंपरिक प्रभुत्व एक सर्वग्राही शोषण-संबंधों के अधीन और सुदृढ़ हो गया। मालिक का अधिकार न केवल नौकर के श्रम पर, बल्कि घरेलू नौकरी के रूप में उसकी बीवी पर भी हो गया था।

महाराष्ट्र में भी वर्चस्व एवं भेदभाव की भाषा कुछ कम प्रखर नहीं थी। अठारहवीं सदी के मराठा राज्यों के अंतर्गत ब्राह्मण वर्चस्व को पेशवा राजसत्ता से और बल मिला। अधिकारियों द्वारा दस्तकारों एवं घिनौना समझे जाने वाले कार्यों में लगी जातियों के लोगों से जबरिया श्रम कराए जाने की मांग ने मराठा राजनीतिक समुदाय और जाति-व्यवस्था के बीच सुदृढ़ संबंध बना दिया। अठारहवीं सदी के मराठा राज्य के प्रत्यक्ष प्रशासित क्षेत्रों (स्वराज्य) में राज्य ने जाति-आधारित समाज के रीतिगत एवं आर्थिक पहलुओं के बनाए रखने, लागू करने में सक्रिय भूमिका निभाई। 1784 में सरकार ने पंढरपुर के पवित्र स्थानों पर पूजा से संबंधित नियम बनाए जिनमें स्पष्ट कहा गया था कि अछूतों को मुख्य मंदिर के पास बने उनके ही धर्मस्थल तक जाने की अनुमति नहीं है। ''यह स्थान इतना संकरा और भीड़-भाड़ वाला है कि दर्शनार्थी एक दूसरे से रगड़ खाते हैं और ब्राह्मण इस बात के विरुद्ध हैं। इसलिए अछूतों को चोखमेला प्रतिमा के सामने बने पत्थर के दीपक के पास से अथवा निकटस्थ किसी

अछूत झोपड़ी से ही पूजा कार्य करना चाहिए''''।'' एक अन्य विवरण के अनुसार कोंकण क्षेत्र के महरों ने अपरा विवाह-समारोह संपन्न कराने का आग्रह स्थानीय पुरोहितों से किया। स्थानीय अधिकारियों के समर्थन के बावजूद यह मांग कठोरता के साथ ठुकरा दी गई। राज्य का आदेश था कि अछूतों को अपने विवाह अपने ही पुरोहितों से करवाने चाहिए और यह चेतावनी भी दी कि ''भविष्य में ब्राह्मण पुरोहितों को कष्ट देने का कोई अच्छा परिणाम नहीं निकलेगा।'' दूसरे शब्दों में, मराठा राजसत्ता ने जाति-संबंधों में हस्तक्षेप करते हुए समाज में ब्राह्मण-प्रभुत्व को ही सुनिश्चित बनाया। स्वयं चितपावन ब्राह्मण जाति के बाजीराव द्वितीय ने पूजा में ब्राह्मण विद्वानों को बड़ी धनराशि अर्पित की ताकि वे अपना समय धार्मिक अध्ययन में लगा सकें।

मराठा राज्य के पतन के बाद जब कंपनी ने प्रशासन कार्य संभाला, हिंदू धार्मिक मूल्यों को राज्य के सक्रिय समर्थन से वंचित कर दिया गया। यह तथ्य तत्काल किसी बड़े परिवर्तन का सूचक नहीं बना। जैसे-जैसे कंपनी प्रशासन ने भारतीय समाज में अपनी जड़ें जमाईं, उसे भारत के निचले स्तरों के अधीनस्थ समुदायों पर निर्भर करना पड़ा। अपनी पूर्वकाल की शैक्षिक सुविधाओं के कारण उच्च जातियों को कंपनी सरकार तथा पश्चिम भारत समाज के व्यापक तबकों में मध्यस्थ भूमिका मिल गई। इससे समाज में पहले से ही उनकी प्रभुत्वशाली स्थिति को बल मिला। लेकिन अपनी सापेक्षिक जड़ता की स्थिति के कारण निचली जातियां और अछूत मिशनरी प्रचार के लिए समुचित आधार बन गए। उन्नीसवीं सदी के पश्चिम भारतीय क्षेत्रों में मिशनरियों ने जनता को यह समझाने का भरपूर प्रयास किया कि शूद्रों की स्थिति में रखते हुए हिंदू धर्म ने उनको शिक्षा एवं धर्म संबंधी वास्तविक अधिकारों से वंचित कर दिया है। समूची आबादी में अनुपात को देखते हुए प्रशासन में सामान्य रूप से उच्च जातियों, विशेषकर ब्राह्मणों की अधिकता कई गुनी थी। ''पश्चिम भारत समाज में असमानता खत्म करने की बात तो दूर रही, ऐसा लगता था जैसे अंग्रेज़ी राज्य उनको और सुदृढ़ ही बनाएगी, ब्राह्मणों के पारंपरिक धार्मिक प्राधिकार के साथ, प्रशासनिक एवं राजनीतक अधिकारों की समूची शृंखला जोड़ते हुए।'' आलोचक दृष्टि वाले ज्योतिबा फुले और उनके अनुयायियों ने यह सहज बोध सामने रखा कि ब्राह्मणों के धार्मिक प्राधिकार एवं उसका आधार बनने वाली ऊंच-नीच की मान्यता का खात्मा ही अछूतों की दशा में किसी वास्तविक परिवर्तन की पूर्वशर्त है।

28.5 उत्तरी तथा पूर्वी भारत

MAADHYAM IAS

किन्हीं विशेष क्षेत्रों में सामाजिक भेदभाव के उपरोक्त सर्वेक्षण का आशय यह सुझाना नहीं है कि भारत में अन्यत्र समाज के निचले तबकों की दशा भी बेहतर थी। हमारा उद्देश्य प्रभुत्व के कुछ तीखे उदाहरणों को प्रकाश में लाना ही था। बंगाल की चांडाल, बिहार की डोम, दक्षिण बिहार की भुइयां और उत्तर भारत के अनेक क्षेत्रों की चमार जातियों से संबंधित हाल के सर्वेक्षण यह दिखाते हैं कि इन समूहों को किस प्रकार के कठोर भेदभाव का सामना करना पड़ा। पहले चांडाल के रूप में सुपरिचित बंगाल के नामशूद्र उपेक्षित जन-समूहों के अंतर्गत आते थे, जिनको अन्त्यज का निम्न स्तर दिया गया था। नाई, धोबी और कभी-कभी मेहतर भी उनका काम करने से इनकार कर देते थे। सामाजिक प्रीतिभोजों में उनको बाकी लोगों से विशेष दूरी पर बैठना और अपना बर्तन स्वयं साफ करना पड़ता था। इस बात के साक्ष्य मिलते हैं कि शुद्धता-अशुद्धता की कोटि में उनका सबसे निचली स्थिति उच्च जातियों के सापेक्ष उनके निम्न आर्थिक स्तर से संगति में होती थी। दक्षिण-पश्चिमी बंगाल की लोढ़ा जाति के लोगों की भांति मघैया डोमों की भी इस सीमा तक उपेक्षा की गई थी कि अंततः उन्हें ''अपराधी जाति'' घोषित कर दिया गया। भुइयां जाति की वाच्य परंपरा में मुख्यतः ब्राह्मण मालिकों द्वारा उनके उत्पीड़न की स्मृति मिलती है। उनको हिंदू जाति श्रेणी क्रम में अपवित्र जाति के ही रूप में ही शामिल किया गया था। उनके साथ आरंभ में उच्च जातीय मलिकों की सेवा-टहल करने वाले कमिया के रूप में बर्ताव किया गया और अंततः वे बंधुआ मज़दूर की स्थिति में पहुंच गए। चमार, जिनके अंतर्गत मोची भी आते हैं, भारत के प्रत्येक भाग में पाए जाते हैं, यद्यपि उनकी संख्या उत्तर प्रदेश में और पूर्वी बिहार तथा उत्तर-पश्चिमी पंजाब के सीमावर्ती क्षेत्रों में सबसे अधिक है। ग्रामीण जीवन में उनको अत्यंत पतित स्थान प्राप्त था। अपने पारंपरिक उद्यम के अलावा, उनको अक्सर ज़मींदारों के लिए बेगार सेवा करनी पड़ती थी। निष्कर्ष रूप में हम इस खंड के कुछ मुख्य विचार-बिंदुओं को दुहराएंगे। पहली बात यह कि जाति-व्यवस्था और पारंपरिक संपत्ति अधिकार के बीच घनिष्ठ संबंध था। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि निम्न पारंपरिक स्तर और कठिन जीवन

स्थितियां जुड़ी प्रक्रियाएं थीं। और फिर इस प्रकार के अस्तित्व पर सामाजिक निकृष्टता के कई आवरण थे। दूसरी बात यह कि इनमें से अधिकांश प्रथाओं का इतिहास औपनिवेशिक शासन से पहले का है और उपनिवेशी शासन ने भारत के विभिन्न भागों में अधीनस्थ सामाजिक समूहों की स्थिति में निश्चित परिवर्तनों को जन्म दिया। भारतीय समाज के अपेक्षाकृत अप्रतिस्पर्धी ढांचे का विध्वंस इनमें महत्वपूर्ण था।

बोध प्रश्न 1

1) दक्षिण भारत में मिलने वाले सामाजिक भेदभाव के विविध रूपों के बारे में संक्षेप में लिखिए। 100 शब्दों में उत्तर दीजिए।

....

....

....

....

....

....

....

....

2) "जातिगत भेदभाव को बनाए रखने में राजनीति की सकारात्मक भूमिका है।" पश्चिम भारत में पाई जाने वाली जाति व्यवस्था को ध्यान में रखते हुए 100 शब्दों में इस वक्तव्य की व्याख्या कीजिए।

....

....

....

....

3) निम्न वाक्यों को पढ़कर सही (✓) अथवा गलत (×) के निशान लगाइए :

i) जाति-व्यवस्था के अंतर्गत गतिशीलता संभव नहीं है।

ii) सामाजिक संगठन का पुराना आधार खत्म करके औपनिवेशिक शासन ने सामाजिक गतिशीलता को बढ़ावा दिया।

iii) जाति श्रेणीक्रम में निम्न स्तर के कारण निम्न जातियों को उच्च जातियों के साथ पारंपरिक समारोहों में भाग लेने से वंचित नहीं किया गया।

iv) उन्नीसवीं सदी के आरंभिक वर्षों में दक्षिण भारत में कृषि दासता बहुत व्यापक थी।

MAADHYAM IAS
way to achieve your dream

28.6 औपनिवेशकालीन भारत में निरंतरता एवं परिवर्तन

सिंहावलोक में, अंग्रेजी शासन की प्रथम शताब्दी के प्रजनन काल की संज्ञा दी जा सकती है। इस अवधि में दो प्रत्यक्षत अंतर्विरोधपूर्ण विकास-क्रम सामने आ रहे थे। भारत के विभिन्न भागों में अनेकानेक रूपों में विद्यमान सामाजिक भेदभाव को पुनर्जीवन मिला था। उच्च जातीय अभिजात जनों ने अनेक प्रकार से अपनी स्थिति सुदृढ़ कर ली। किन्हीं इलाकों में आरंभिक पराजय के बाद उन्होंने नई राजस्व प्रणाली के साथ समायोजन कर लिया। अपनी व्यवहार कुशलता से उन्होंने प्रशासनिक एवं राजनीतिक सत्ता के लिए नये अवसरों का बेधड़क प्रयोग किया। उच्च शिक्षा स्तर ने उन्हें नए शासन के लिए अत्यंत उपयोगी बना दिया था। आंग्लो-इंडियन कानूनों तथा अदालतों से उनके अधिकाधिक परिचय ने अधीनस्थ निचली जातियों की तुलना में उनको लाभकारी स्थिति में ला दिया। अदालतों की भाषा में दक्षता प्राप्त करने वालों के लिए नए अवसर हमेशा खुले थे। अंततः भारतवासियों के संभावित मामलों में हस्तक्षेप न करने के अंग्रेज़ों के सतर्क रूझान ने इस संभावना को क्षीण कर दिया कि राज्य सत्ता द्वारा समर्थित कानूनी अथवा किसी अन्य साधना से समाज में कोई व्यापक परिवर्तन हो सके।

लेकिन इसी काल में एक भिन्न प्रकार का विकासक्रम भी सामने आ रहा था जिसने समयांतर में उच्च जाति के अभिजातों के पारंपरिक एवं सामाजिक प्रभुत्व को क्षीण करना शुरू किया। जाति-व्यवस्था के बीच के स्तरों पर गतिशीलता तो बनी रही, लेकिन शीर्ष एवं सबसे नीचे के स्तर अप्रभावित रहे। उच्च स्तरों की ओर गतिशीलता की संभावना बिल्कुल खत्म नहीं हुई। इस तथ्य ने समूची व्यवस्था को एक विशेष शक्ति एवं स्फूर्ति प्रदान की।

बहरहाल, यह दिलचस्प बात है कि अंग्रेज़ी शासन के प्रथम सदीकाल में निचले तबके भी गतिशील होने लगे। सामाजिक एवं पारंपरिक प्रभुत्व के जिन कुछ मुहावरों का आभ्यंतरीकरण परंपरा के प्रभावों के अधीन तबकों ने कर लिया था, उनके सामने प्रश्नचिह्न लगाए जाने लगे। आरंभ में निश्चय ही प्रभुत्वशाली उच्च जातियों का विरोधभाव सामने आया। लेकिन भेदभाव की जातिगत व्यवस्था का भौतिक आधार बदलने लगा। ग्रामीण स्तरों पर बाज़ार शक्तियों के प्रभावी होने से किन्हीं क्षेत्रों में कुछ नए अवसर बने जो उद्यम-आधारित जाति-व्यवस्था के विपरीत थे। कुछ क्षेत्रों में तो पराधीन जातियों के लिए ज़मींदार, तालुक्कार अथवा काश्तकारों के रूप में उभरना संभव था। उनमें से अधिकांश की प्रवृत्ति अपने आचार-विचार के ''संस्कृतीकरण'' की थी। यह संकेत किया जा चुका है कि संस्कृतीकरण के प्रतीक अपनाने को उच्च जातियों की भोंडी नकल ही नहीं माना जाना चाहिए। इसका अर्थ उच्च जातियों की बपौती समझे जाने वाले किन्हीं प्रतीकों व आचार-संहिताओं का अभिग्रहण भी था। कुछ समुदायों के बीच मिशनरी क्रियाकलापों ने शिक्षा और फलस्वरूप भौतिक प्रगति की नई संभावनाएं भी रखीं। बदलते परिप्रेक्ष्य में श्रेणीक्रम-विभाजित समाज की विचारधारा, विश्वसनीय नहीं हो सकती थी, विशेषकर समाजिक भेदभाव के शिकार जनसमुदाय में। एक नई चेतना के विकास के संकेत भी मिलने लगे थे, जिसके फलस्वरूप पहले जिस चीज को ''कर्तव्य'' माना जाता था, अब उसे ''प्रवंचन'' के रूप में देखा जाने लगा।

28.7 नव संचेतना : क्षेत्रीय उदाहरण

इस नई चेतना की अभिव्यक्ति एक जटिल प्रक्रिया है और इसलिए इसे किन्हीं सरलीकृत सूत्रों में समेटना संभव नहीं है। किन्हीं जाति-समूहों के बीच संस्कृतीकरण की प्रवृत्ति के विकास का उल्लेख पहले ही किया जा चुका है। कुछ अन्य समूह ऐसे थे, जिनको ईसाई धर्म अपने अस्थिर अस्तित्व की वास्तविकताओं से उबरने का साधन प्रतीत होता था। त्रावणकोर में शिक्षा एवं ईसाई धर्म के प्रचार ने नाडार जाति के लोगों को नायर ज़मींदारों के प्रभुत्व की पीड़ाओं से मुक्ति की आशा दी थी। ईसाई नाडार और मिशनरियों के दबावों के जवाब में सरकार ने 1829 में एक घोषणा की जिसके अनुसार देशी ईसाई महिलाओं को सीरियाई ईसाई तथा मोपला मुस्लिम महिलाओं की तरह ही अपना वक्ष ढंकने की अनुमति दी गई थी। इसके फलस्वरूप प्रसिद्ध ''ब्रेस्ट क्लाथ कंट्रोवर्सी'' उठ खड़ी हुई, जिसकी अंतिम परिणति 1869 की राजकीय घोषणा में हुई।

दलित वर्गों के बीच गुलामी का तमगा उतार फेंकने के लिए किया गया पहला प्रमुख आंदोलन इसे माना गया है। लेकिन उन क्षेत्रों में और सामाजिक समूहों में, जिनके बीच धर्म-परिवर्तन का प्रयास बहुत सफल नहीं रहा था, हिंदू सामाजिक प्रथाओं के विरुद्ध मिशनरियों का तर्क अनेकानेक स्वदेशी सुधारकों के विचारों में भी विद्यमान था। और फिर, कुछ भारतीय सुधारकों द्वारा हिंदू समाज की समीक्षा की मानवतावादी अंतर्वस्तु ने सामान्य सामाजिक चेतना का स्तर भी उठाया। लेकिन ऐतिहासिक रूप से महत्वपूर्ण बात थी कुछ निचले जाति समूहों द्वारा स्वयं अपनी दशा सुधारने के लिए सचेतन प्रयास। यद्यपि वैसे अधिकांश प्रयास इस इकाई की सीमा के परे हैं, तो भी कुछ आरंभिक संकेतों को अंकित किया जा सकता है। अभिव्यक्ति रूप और लामबंदी की दृष्टि से क्षेत्रीय विभिन्नताओं के बावजूद कुछ सामान्य विशेषताएं उनकी थीं। किन्हीं पराधीन जातियों के अपेक्षाकृत संपन्न समूह अपनी बिरादरी के सामाजिक व्यवहार को निश्चित करने में आगे आए। ऐसा करने के बाद उन्होंने उच्चतर कर्मकांडीय स्तर का दावा करना शुरू किया, जिसका ऊंची जातियों ने विरोध किया। इस मंज़िल पर ही संभावित जातीय संघर्ष का आधार तैयार हो सका। अक्सर किन्हीं संप्रदायों को जातीय एकजुटता को बढ़ावा देने और इस प्रकार संगठन की प्रक्रिया में सहायक होते पाया जा सकता है। चुनावी राजनीति के क्रमिक प्रवर्तन और उन्नीसवीं सदी के अंतिम चतुर्थांश से जनगणना की शुरुआत ने निचली जातियों के आंदोलन को विशेष राजनीतिक रंग दे दिया।

बंगाल के नामशूद्रों के एक संपन्न तबके ने, जिसके अंतर्गत मुख्यत: भूस्वामी एवं धनी किसान आते थे, अपनी जाति के व्यवहारों का संस्कृतीकरण शुरू किया गया और अपने उच्चतर स्तर पर बल दिया। इसको उच्च जातियों ने स्वभावत: कुंठित करने का प्रयास किया। इस प्रतिघात से विचलित न होते हुए नामशूद्र नेताओं ने ऊंची जातियों के सामाजिक प्राधिकार को चुनौती दी, मटआ संप्रदायक के अंतर्गत सजातीयों का संगठन किया और विरोध प्रदर्शन की नीति अपनाई। दिलचस्प बात है कि ऊंची जातियों के प्राधिकार को चुनौती देते समय नामशूद्र अंग्रेज़ी राज के प्रति निष्ठा की अभिव्यक्ति बड़े उल्लास के साथ करते थे। शीघ्र ही नामशूद्रों का विद्रोह विशिष्ट रूप से "अलगाववादी" रूझान अपनाने लगा। तमिलनाडु में रामनाड के नाडारों के ऊपरी बनिया तबके ने "सद्भाव कोष" का गठन किया जिसका प्रयोग इस समुदाय के कल्याण हेतु किया जाता था। उन्होंने अपनी जीवन विधिक का संस्कृतीकरण भी शुरू किया और अपने आपको उच्च क्षत्रिय स्तर का मानने लगे। उन्नीसवीं सदी के अंत तक वे इतने शक्तिशाली हो गए थे कि उन्होंने मंदिर प्रवेश संबंधी पाबंदी को चुनौती दी और 1895 में जबरन शिवकाशी मंदिर में घुस गए। इसके कारण उन पर बदले की कारवाइयां हुई और मामला अंतत: अदालत में पहुंचा। यद्यपि फैसला नाडारों के विरुद्ध हुआ, उनको पर्याप्त सामाजिक सहानुभूति मिली। इसके अलावा, मुकदमेबाज़ी और निरंतर दंगों के चलते सांप्रदायिक एकजुटता की भावना भी उभरी। वर्तमान सदी में इस एकजुटता के अच्छे परिणाम निकले। त्रावणकोर में निचली इरावा जाति को ऊंची जातियों के प्रभुत्व के अधीन बहुत लंबे समय तक रहना पड़ा था। उन्नीसवीं सदी के अंत तक ऐसे शिक्षित युवकों की एक बड़ी संख्या उभर कर आई, जो अपने साथ होने वाले बर्ताव से गहरे असंतुष्ट थे। नारायण गुरु और एस.एन.डी.पी. योगम से प्रभावित इरावा जाति के लोगों ने मंदिर-प्रवेश के मसले को समूचे समुदाय के संगठित करने का आधार बना दिया। महाराष्ट्र के महरों ने अन्य कई जातियों की भांति अपने क्षत्रिय पद का दावा किया और सरकार से अपने साथ विशेष अनुकूल बर्ताव की मांग की। उन्नीसवीं सदी के अंतिम वर्षों में वे स्वयं को गोपाल बाबा वालंगकर के अधीन संगठित करने लगे और अंतत: अंबेदकर द्वारा चलाए गए आंदोलन में केंद्रीय समूह की भूमिका निभाई।

MAADHYAM IAS

बोध प्रश्न 2

1) भारतीय समाज व्यवस्था पर औपनिवेशिक शासन ने क्या प्रभाव छोड़ा? 100 शब्दों में उत्तर दीजिए।

....

....

....

....

2) विभिन्न प्रवंचित समूहों ने जाति श्रेणीक्रम में ऊपर आने के लिए कैसे प्रयास किए? 100 शब्दों में उत्तर दीजिए।

....

....

....

....

....

....

....

....

28.8 सारांश

बीसवीं सदी के आरंभ में जाति-आधारित समाज व्यवस्था अनिश्चित भविष्य की दहलीज पर थी। यद्यपि सामाजिक भेदभाव का अंत अभी इतनी जल्दी नहीं देखा जा सकता था, पुराने अंतर्जातिक समीकरणों की पुर्नस्थापना के प्रयासों में बहुत देर हो चुकी थी। भारत के विभिन्न

भागों में पराधीन जातियां बहुविधा विवशताओं से मुक्ति के लिए छटपटा रही थीं। लेकिन अन्य क्षेत्रों में कुछ ऐसे लोग थे, जिन्होंने व्यवस्था के अंतर्गत अपनी स्थिति की मूलभूत पुनर्परिभाषा के आधार पर अपनी स्वतंत्र पहचान बनानी शुरू कर दी थी। इस प्रक्रिया में, निचली जाति के आंदोलनों में जातीय अस्मिता सर्वाधिक प्रभावी संगठनिक बिंदु बन गई। आर्थिक एवं राजनीतिक अधिकारों की प्राप्ति के लिए।

28.9 शब्दावली

श्रेणीक्रमबद्ध विभाजन : शुद्धता-सदोषता के आधार पर उच्च, मध्यम, निम्न इत्यादि विभिन्न पदानुक्रमों पर रखे जाने वाले विविध सामाजिक समूहों में भारतीय समाज के विभाजन को स्पष्ट करने के लिए इसका प्रयोग किया गया है।

जजमानी प्रथा : यह गांव के विभिन्न जाति समूहों के बीच आर्थिक, सामाजिक एवं कर्मकांडीय संबंधों की व्यवस्था है। इस व्यवस्था के अंतर्गत कुछ जातियों को संरक्षक तथा कुछ को सेवक का स्तर मिला है।

संस्कृतीकरण : जाति श्रेणीक्रम में ऊपर आने के लिए निचली जातियों द्वारा ऊंची जातियों के सामाजिक एवं धार्मिक व्यवहारों का अपनाया जाना।

सामाजिक संचरण : सामाजिक श्रेणी क्रम के अंतर्गत किसी भी सामाजिक समूह द्वारा अपनी स्थिति में परिवर्तन।

28.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

MAADHYAM IAS

बोध प्रश्न 1

1) आपका उत्तर खेतिहर श्रमिकों की शोचनीय स्थिति, निचली जातियों पर आरोपित विविध सामाजिक विवशताओं इत्यादि पर केंद्रित होना चाहिए। देखिए भाग 28.3

2) आपको यह बताना है कि उच्च जातियों के प्रभुत्व को राज्यसत्ता का समर्थन कैसे प्राप्त था; समाज में ब्राह्मण वर्चस्व को मराठा राजनीतिक समुदाय ने कैसे सुनिश्चित किया, इत्यादि। देखिए भाग 28.4

3) i) × ii) ✓ iii) × iv) ✓

बोध प्रश्न 2

1) आपके उत्तर में इस बात पर बल दिया जाना चाहिए कि औपनिवेशिक शासन किस प्रकार एक ओर तो जाति व्यवस्था की निरंतरता में सहायक हुआ और दूसरी ओर उसने ऊपर की ओर सामाजिक संचरण के अवसर प्रदान किए। देखिए भाग 28.6

2) आपको जातीय आधारों पर प्रवंचित समूहों द्वारा लामबंदी की प्रक्रिया के बारे में लिखना है और यह बताना है कि सामाजिक-कर्मकांडीय सुधारों के माध्यम से किस प्रकार उन्होंने जाति श्रेणीक्रम में ऊपर आने का प्रयास किया। देखिए भाग 28.7

इस खंड के लिए कुछ उपयोगी पुस्तकें

Kenneth W. Jones: *The New Cambridge History of India. III, I, Socio-Religious Reform Movements in British India.*

S.G. Malik (ed.): *Dissent, Protest, and Reforms in Indian Civilization.*

David Kopf: *British Orientalism and the Bengal Renaissance, the Dynamics of Indian Moaernization, 1773-1835.*

Robert L. Hardgrave: *The Nadars of Tamilnadu* : *The Political Culture of a Community in Change.*

Sekhar Bandyopadhyay : *Bengal: 1872-1937 Caste, Politics and Raj.*

इकाई 29 किसान और आदिवासी विद्रोह

इकाई की रूपरेखा

29.0 उद्देश्य
29.1 प्रस्तावना
29.2 किसान और आदिवासी विद्रोह का उद्भव
29.3 कुछ महत्वपूर्ण विद्रोह
- 29.3.1 संन्यासी विद्रोह, 1763-1800
- 29.3.2 रंगपुर (बंगाल) का किसान विद्रोह, 1783
- 29.3.3 भील विद्रोह, 1818-31
- 29.3.4 मैसूर का विद्रोह, 1830-31
- 29.3.5 कोल विद्रोह, 1831-32
- 29.3.6 फराइजी विद्रोह, 1838-51
- 29.3.7 मोपला विद्रोह, 1836-54
- 29.3.8 संथाल विद्रोह, 1855-56

29.4 1857 के पूर्व के लोकप्रिय विद्रोहों का स्वरूप
- 29.4.1 नेतृत्व
- 29.4.2 भागीदारी और संगठन

29.5 सारांश
29.6 बोध प्रश्नों के उत्तर

29.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- 1857 के पहले होने वाले किसान और आदिवासी आंदोलन की पृष्ठभूमि का उल्लेख कर सकेंगे,
- इन विद्रोहों के मुख्य मुद्दों का वर्णन कर सकेंगे,
- इन विद्रोहों में भागीदार और संगठन के स्वरूप को रेखांकित कर सकेंगे।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

29.1 प्रस्तावना

इस पाठ्यक्रम में भारत में औपनिवेशिक शासन की स्थापना की प्रक्रिया और इसके फलस्वरूप अर्थव्यवस्था, कानून, प्रशासन और जीवन के अन्य क्षेत्रों में आने वाले बदलावों का अध्ययन हम पहले कर चुके हैं। इस नए शासन और इसके द्वारा लाए गए परिवर्तनों की लोगों पर क्या प्रतिक्रिया हुई? क्या 1857 की क्रांति एक अलग-थलग घटना थी या इसके पहले भी इसी प्रकार के छिटपुट विद्रोह हो रहे थे? इस इकाई में 1857 के पूर्व अठारहवीं शताब्दी के अंत और उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ में विदेशी शासन के प्रति किसानों और आदिवासियों के रवैये पर प्रकाश डाला जाएगा। तदनुरूप इस इकाई में प्रमुख किसान और आदिवासी विद्रोहों, उनके उद्भव और स्वरूप की चर्चा की गई है।

29.2 किसान और आदिवासी विद्रोह का उद्भव

अंग्रेजों के आने के पूर्व भारत में मुगल शासकों और उनके अधिकारियों के खिलाफ भी विद्रोह हुआ करते थे। सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी के दौरान शासक वर्ग के खिलाफ अनेक किसान विद्रोह हुए। राज्य द्वारा अधिक भू-राजस्व का निर्धारण, राजस्व वसूल करने वाले अधिकारियों का भ्रष्ट आचरण और कड़ा व्यवहार आदि कुछ कारणों के फलस्वरूप किसान विद्रोह हुआ करते थे। इसके बावजूद भारत में औपनिवेशिक शासन कायम होने के बाद जो नीतियां अपनाई गई उनका भारतीय किसानों और आदिवासियों पर काफी विनाशकारी असर पड़ा।

खंड 4 में हमने इस तथ्य का उल्लेख किया है कि किस प्रकार ईस्ट इंडिया कंपनी और उनके मुलाजिमों के फायदे के लिए अंग्रेजों ने भारतीय अर्थव्यवस्था को नष्ट किया। इस काल में भारतीय अर्थव्यवस्था में निम्नलिखित परिवर्तन लाए गए :

- भारतीय बाज़ारों में ब्रिटेन के बने-बनाए माल के आ जाने से भारतीय हथकरघा और हस्तशिल्प उद्योग का विनाश,
- भारत से इंग्लैंड की ओर धन की निकासी (ड्रेन ऑफ वेल्थ),
- अंग्रेजी भू-राजस्व बंदोबस्त, नए करों का भारी बोझ, किसानों का अपनी जमीन से निकाला जाना, आदिवासी भूमि पर कब्जा,
- राजस्व वसूल करने वाले बिचौलिए, बिचौलिए काश्तकार और महाजनों के उदय से ग्रामीण समाज का शोषण तेजी से बढ़ना और मजबूत होना,
- आदिवासी क्षेत्रों में ब्रिटिश राजस्व प्रशासन का वर्चस्व; फलस्वरूप खेतों और जंगलों पर परंपरागत आदिवासी अधिकार का दमन।

इन बदलावों का किसान और आदिवासी समाज पर विनाशकारी प्रभाव पड़ा। कंपनी और उसके एजेंट किसानों के अधिशेष उत्पादन को हड़प लेते थे, करों का बोझ काफी बढ़ गया था। इन सबने मिला-जुलाकर किसानों को पूरी तरह से राजस्व वसूल करने वाले बिचौलिए अधिकारियों, व्यापारियों और महाजनों को चंगुल में फंसा दिया। इसके अलावा, उद्योग के नष्ट होने के कारण इस क्षेत्र में लगे मजदूर भी खेती की ओर उन्मुख हुए। भूमि पर दबाव बढ़ा, पर सरकार ने ऐसी भू-राजस्व और कृषि नीति अपनाई थी कि इससे कभी भी भारतीय कृषि का विकास संभव ही नहीं था।

एक तरफ ब्रिटिश आर्थिक नीतियों के कारण खेती पर दबाव बढ़ा और भारतीय कृषि विनाश के कगार पर खड़ी हो गई, वहीं दूसरी ओर अंग्रेज सरकार ने किसान असंतोष को नजरअंदाज कर दिया। अंग्रेजों के कानून और न्यायालय भी किसानों के हक में नहीं थे, ये सरकार और उनके सहयोगियों, मसलन भूमिधर, व्यापारियों और महाजनों, का पक्ष लेते थे। औपनिवेशिक शासक के शोषण से तंग आकर और न्याय से निराश होकर अपनी रक्षा करने के लिए किसानों ने विद्रोह का झंडा खड़ा किया। आदिवासी लोगों के असंतोष के कारण भी किसानों के असंतोष से बहुत अलग नहीं थे। पर उनके अधिक उग्र होने का एक कारण यह था कि उनकी स्वतंत्र राजनीतिक सत्ता को एक बाहरी शक्ति ने छिन्न-भिन्न कर दिया था।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

29.3 कुछ महत्वपूर्ण विद्रोह

अंग्रेजी शासन के सौ वर्ष पूरा होने के पहले ही किसानों और आदिवासियों का इकट्ठा होता असंतोष जन-विद्रोह के रूप में फूट पड़ा। यह भारत के विभिन्न हिस्सों में अलग-अलग समय में पनपा। इन विद्रोहों के तात्कालीन कारण अलग-अलग थे, पर कुल मिलाकर यह औपनिवेशिक शोषण के खिलाफ विद्रोह था। हम संक्षेप में इस काल के कुछ विद्रोहों पर विचार-विमर्श करेंगे।

29.3.1 संन्यासी विद्रोह, 1763-1800

अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में ईस्ट इंडिया कंपनी के सरकारी पत्र-व्यवहार में कई बार फकीरों और संन्यासियों के छापे का जिक्र हुआ है। ये छापे उत्तरी बंगाल में पड़ते थे। 1770 में पड़े बंगाल के भीषण अकाल के पहले भी हिन्दू और मुस्लिम साधुओं के दल एक जगह से दूसरी जगह घूमा करते थे और धनाढ्य लोगों तथा सरकारी अधिकारियों के घरों को तथा खाद्यान्न भंडार पर अचानक आक्रमण कर लूट लिया करते थे। ये संन्यासी और फकीर धार्मिक भिक्षुक थे, पर मूलतः ये किसान थे, जिनकी जमीनें छिन गई थीं। किसानों की बढ़ती दिक्कतों, बढ़ते भू-राजस्व और 1770 के बंगाल के अकाल के कारण कई पदच्युत छोटे ज़मींदार, सेवानिवृत्त सैनिक और गांव के गरीब लोग इन संन्यासियों और फकीरों के दल में शामिल हो गए। ये बिहार और बंगाल में पाँच से सात हजार लोगों का दल बनाकर घूमते थे और आक्रमण की गुरिल्ला तकनीक अपनाते थे। आरंभ में, ये धनाढ्य व्यक्तियों के खाद्यान्न भंडार पर धावा बोला करते थे, बाद में सरकारी पदाधिकारियों पर भी आक्रमण करने लगे। वे सरकारी खजाने को लूटा करते थे। कभी-कभी लूटा गया धन गरीबों में वितरित कर दिया जाता था। बोगरा और मैमनसिंह में उन्होंने अपनी स्वतंत्र सरकार बनाई थी। समकालीन सरकारी रिकार्डों में इन विद्रोहों का अपने ढंग से इस प्रकार उल्लेख किया गया है :

"संन्यासी और फकीर के नाम से जाने जाने वाले डकैतों का एक दल है, जो इन इलाकों में अव्यवस्था फैलाए हुए है और तीर्थ-यात्रियों के रूप में ये बंगाल के प्रमुख हिस्सों में भिक्षा और लूटखसोट का काम करते हैं क्योंकि यह उनके लिए सबसे अधिक आसान काम है। अकाल के बाद के वर्षों में इनकी संख्या में अपार वृद्धि हुई और भूखे किसान इनके दल में शामिल हो गए, जिनके पास खेती की शुरुआत करने के लिए न बीज था न कोई साधन। 1772 की ठंड में बंगाल के निचले हिस्से के खेतों में इन्होंने खूब लूट मचाई, पचास से लेकर एक हजार का दल बनाकर ये लूटने, खसोटने और जलाने का काम किया करते थे।"

इन विद्रोहों की एक खासियत यह है कि इसमें हिन्दू और मुसलमानों ने कंधे से कंधा मिलाकर संघर्ष किया। इन आंदोलनों के प्रमुख नेताओं में मंजर शाह, मूसा शाह, भवानी पाठक और देवी चौधरानी उल्लेखनीय हैं। 1800 ई. तक बंगाल और बिहार में अंग्रेजों के साथ संन्यासियों-फकीरों का संघर्ष होता रहा। अंग्रेजों ने इन विद्रोहों को दबाने के लिए अपनी पूरी शक्ति लगा दी।

I. सन्यासी विद्रोही

29.3.2 रंगपुर (बंगाल) का किसान विद्रोह, 1783

1957 के बाद बंगाल पर अंग्रेजों का प्रभुत्व कायम हो गया और उन्होंने ऐसी राजस्व नीतियाँ बनाईं, जिनके माध्यम से किसानों से अधिक से अधिक धन निचोड़ा जा सके। इससे आम आदमी भीषण संकट में पड़ गया। रंगपुर और दिनाजपुर बंगाल के ऐसे ही दो जिले थे, जहां ईस्ट इंडिया कंपनी और उसके राजस्व ठेकेदार सभी प्रकार की अवैध मांग करते जा रहे थे। राजस्व वसूली अधिकारी का कड़ा रुख और जबरदस्ती वसूली किसानों की जिंदगी का आम हिस्सा बन गई थी। रंगपुर और दिनाजपुर के ठेकेदार देबी सिह और उसके एजेंटों ने उत्तर बंगाल के इन दो जिलों में आतंक फैला रखा था। ज़मींदारों पर कर बढ़ा दिया गया, जिसका भुगतान किसानों अथवा रैयतों को करना पड़ता था। किसान देबी सिंह और उसके आदमियों की मांगों को पूरा करने में अपने को असमर्थ पा रहे थे। देबी सिह और उसके आदमी किसानों को पीटा करते थे और कोड़े से उनकी चमड़ी उधेड़ दिया करते थे, उनके घर जला दिया करते थे, उनकी फसल नष्ट कर देते थे, यहां तक कि उनके घर की औरतों को भी नहीं छोड़ा जाता था।

किसानों ने कंपनी के अधिकारियों के सामने फरियाद की। पर उनकी फरियाद अनसुनी कर दी गई। न्याय न मिलने की स्थिति में किसानों ने कानून अपने हाथों में ले लिया। नगाड़ा बजाकर विद्रोही किसान, किसानों के विशाल समुदाय को इकट्ठा करते थे, किसान तलवार, भाला, तीर और कमान से लैस होते थे। उन्होंने धीरज नारायण को अपना नेता चुना और स्थानीय कचहरियों, ठेकेदारों के स्थानीय एजेंटों के खाद्यान्न भंडारों और सरकारी

पदाधिकारियों पर आक्रमण किया। कई बार उन्होंने सरकारी कैद से बंदियों को भी छुड़ा लिया। विद्रोहियों ने अपनी सरकार बनाई, सरकार को राजस्व देना बंद कर दिया और विद्रोह का खर्च चलाने के लिए किसानों से चंदा वसूल किया।

29.3.3 भील विद्रोह, 1818-31

भील मुख्य रूप से खानदेश के पहाड़ी क्षेत्रों में बसे हुए थे। 1818 में खानदेश पर अंग्रेजों के आधिपत्य से भील आहत हुए और उन्हें यह लगने लगा कि उनके क्षेत्र पर बाहरी लोगों की घुसपैठ हो जाएगी। इसके अलावा, यह भी माना जाता है कि बाजीराव द्वितीय के विद्रोही मंत्री त्रिंबकाजी ने अंग्रेजों द्वारा खानदेश पर अधिपत्य जमाने के विरोध में भीलों को उकसाया था। 1819 में चारों तरफ विद्रोह की आग फैल गई और भीलों ने कई छोटे-छोटे दलों में मैदानी इलाकों को लूटा-खसोटा। अंग्रेजों के खिलाफ भील सरदार इस प्रकार का आक्रमण करते रहते थे। अंग्रेज सरकार एक तरफ अपनी शक्ति से उन्हें दबाने की कोशिश करती थी, दूसरी तरफ कल्याणकारी कार्यों द्वारा उनका हृदय जीतने की कोशिश करती थी। इसके बावजूद अंग्रेज भीलों को अपने पक्ष में न कर सके।

29.3.4 मैसूर का विद्रोह, 1830-31

टीपू सुल्तान की अंतिम हार के बाद अंग्रेजों ने मैसूर का शासन वोडियार शासकों को सौंप दिया और उन पर सहायक संधि थोप दी। मैसूर पर कंपनी का वित्तीय दबाव पड़ा, इस वित्तीय दबाव को पूरा करने के क्रम में शासकों ने मजबूर होकर जमींदारों से अधिक राजस्व की मांग की। अंत में इस राजस्व के बोझ का भार किसान के कंधे पर पड़ा। स्थानीय पदाधिकारियों के भ्रष्टाचार और लूट-खसोट ने किसानों की हालत और भी दयनीय बना दी।

किसानों का यह बढ़ता असंतोष अंततः मैसूर के नागर प्रांत में विद्रोह के रूप में फूट पड़ा। नागर के विद्रोही किसानों को आसपास के अन्य किसानों का समर्थन भी प्राप्त हुआ और उन्होंने क्रेम्सी के एक साधारण रैयत के पुत्र सरदार मल्ला को अपना नेता बनाया। किसानों ने मैसूर शासन की आज्ञा की अवहेलना की। कड़े प्रतिरोध के बाद अंग्रेजी सेना ने नागर पर पुनः कब्जा कर लिया और इसके बाद देश का प्रशासन अंग्रेजों के हाथ में आ गया।

29.3.5 कोल विद्रोह, 1831-32

सिंहभूम के कोल शताब्दियों से अपने सरदारों के नेतृत्व में स्वतंत्र रूप से शासन करते आ रहे थे। उन्हें छोटा नागपुर और मयूरगंज के राजाओं ने कई बार अधीनस्थ करने की कोशिश की, पर उन्होंने इन राजाओं के प्रयत्नों को नाकाम कर दिया।

इस इलाके में अंग्रेजों के प्रवेश और कोल सरदारों की सत्ता के ऊपर अंग्रेजी कानून और व्यवस्था स्थापित करने के प्रयत्न ने आदिवासी जनता को उत्तेजित कर दिया है।

सिंहभूम और उसके आसपास के इलाकों पर अंग्रेजी हुकूमत कायम होने के बाद बाहर के लोग इस इलाके में बसने लगे, जिसके कारण काफी जमीन आदिवासी लोगों से बाहरी लोगों को हस्तांतरित होने लगी। आदिवासी भूमि का हस्तांतरण, व्यापारियों, महाजनों के आगमन और आदिवासी इलाके में अंग्रेजी कानून लागू होने से आदिवासी सरदारों की स्वतंत्र सत्ता का अस्तित्व संकट में पड़ गया। इन कारणों से आदिवासी जनता का असंतोष चरम सीमा पर पहुंच गया और यह असंतोष बाहरी लोगों के खिलाफ विद्रोह के रूप में सामने आया। यह विद्रोह रांची, हजारीबाग, पलामू और मानभूम तक फैल गया। बाहर से आकर बसे लोगों पर आक्रमण किया गया, उनके घर जला दिए गए, उनकी सम्पत्ति लूट ली गई। इस विद्रोह को अंग्रेज फौज ने कठोरता से दबा दिया।

29.3.6 फराइजी विद्रोह, 1838-51

फराइजी सम्प्रदाय की स्थापना फरीदपुर के हाजी शरियातुल्ला ने की थी। आरंभ में फराइजी आंदोलन अधिक राजस्व निर्धारण और बेदखल किए गए किसानों के असंतोष के कारण आरंभ हुआ, यह असंतोष जमींदारों और अंग्रेज शासकों के खिलाफ थे। इस सम्प्रदाय के संस्थापक के पुत्र दूदू मियां के नेतृत्व में यह सम्प्रदाय एक एकीकृत धार्मिक सम्प्रदाय हो गया और इसने एक समतावादी सिद्धांत अपनाया। उसका मानना था कि सभी लोग बराबर हैं और जमीन पर केवल ईश्वर का अधिकार है; और किसी को आम किसान पर कर आरोपित करने का कोई अधिकार नहीं है। फराजियों ने पूर्वी बंगाल के कुछ हिस्सों में समानांतर सरकार की स्थापना की और किसानों के झगड़ों को निपटाने के लिए ग्रामीण अदालत स्थापित की। उन्होंने जमींदारों की ज्यादतियों से किसानों की रक्षा की और किसानों से कहा कि वे जमींदार

की कर अदायगी न करें। उन्होंने जमींदार के घरों और कचहरियों को लूटा और पंच-चार में नील के कारखाने को जलाया। सरकार और जमींदार ने मिलकर इस आंदोलन को दबाया और दूदू मियां को कैद कर लिया गया।

29.3.7 मोपला विद्रोह, 1836-54

औपनिवेशिक शासन को चुनौती देने वाले किसान विद्रोहों में मालाबार के मोपलाओं का विद्रोह उल्लेखनीय है। मोपला अरब से आकर बसने वाले लोगों के वंशज थे, जिन्होंने हिंदू धर्म अपना लिया था। इनमें से अधिकांश खेतिहर किसान, भूमिहीन मजदूर, छोटे व्यापारी और मछुआरे थे। अठारहवीं शताब्दी के अंतिम दशक में मालाबार पर अंग्रेजों के अधिपत्य होने और इस इलाके में नई राजस्व व्यवस्था लागू करने से उनकी ज़िंदगी कष्टमय हो गई। सबसे महत्वपूर्ण बदलाव था ''जनामी'' के स्वरूप में परिवर्तन। पहले यह परंपरागत साझेदारी पर आधारित था, अब जमीन का मालिक एक व्यक्ति हो सकता था और मोपला काश्तकारों को जमीन से बेदखल किया जा सकता था, पहले इस प्रकार का कोई प्रावधान नहीं था। जरूरत से ज्यादा कर-निर्धारण, अवैध कर, जमीन से बेदखली, सरकारी कर्मचारियों का खराब रवैया आदि कुछ ऐसे कारण थे, जिनके कारण सरकार और भूमिधरों के खिलाफ मोपलाओं ने विद्रोह कर दिया।

धार्मिक नेताओं ने सामाजिक-धार्मिक सुधारों के माध्यम से मोपलाओं को अंग्रेजों और जमींदारों के खिलाफ-संगठित होने और उनमें चेतना जगाने का महत्वपूर्ण कार्य किया। मोपलाओं का बढ़ता असंतोष सरकार और जमींदारों के खिलाफ विद्रोह के रूप में फूट पड़ा। 1836 और 1854 के बीच मालाबार में छोटे-मोटे बाईस विद्रोह हुए। इन विद्रोहों में विशेष रूप से गरीब तबके के लोगों ने हिस्सा लिया। विद्रोहियों ने मुख्य रूप से ब्रिटिश अधिकारियों जनमियों और उनके दलालों पर हमला किया। अंग्रेजी फौज ने उन्हें दबाने में तत्परता से काम किया, पर कई वर्षों तक वे उसे दबा न सके।

29.3.8 संथाल विद्रोह, 1855-56

संथाल बीरभूम, बांकुरा, मुर्शिदाबाद, पाकुर, दुमका, भागलपुर और पूर्णिया ज़िले के रहने वाले थे। जहां संथाल सबसे ज्यादा संख्या में रहते थे, उसे दमन-ए-कोह या संथाल परगना के रूप में जाना जाता था। जब इस इलाके में संथालों ने जंगल साफ करके खेती करनी शुरू की तो पड़ोस के महेशपुर और पाकुर के राजाओं ने संथाल गांवों को जमींदारों और महाजनों के हवाले कर दिया। इस इलाके में बाहरी लोगों (संथाल इन्हें ''दीकू'' कहते थे) के आने से सीधे-सादे संथालों की जिंदगी में एक तूफान आ गया, उनका शोषण किया जाने लगा, उनकी जिंदगी कष्टमय हो गई।

1956 में प्रकाशित ''कैलकटा रिव्यू'' में एक समकालीन लेखक ने संथालों की स्थिति का इन शब्दों में वर्णन किया है :

> ''जमींदार, पुलिस, राजस्व और न्यायालय सब मिलकर एक साथ सीधे-सादे और विनम्र संथालों का शोषण कर रहे हैं, उनकी जमीन और संपत्ति छीन रहे हैं, उन्हें अपमानित कर रहे हैं, पीट रहे हैं और तरह-तरह से सता रहे हैं। कर्ज के लिए उनसे 50 से 500 प्रतिशत तक सूद लिया जा रहा है, हाट और बाजार में उनका सामान कम तौला जा रहा है, उन गरीब लोगों के खेत में धनाढ्य लोग अपने जानवरों, टट्टूओं, खच्चरों और यहां तक कि हाथी को चरने के लिए छोड़ देते थे, और इस प्रकार की अनेक ज्यादतियां वे लोग अक्सर किया करते थे।''

महाजनों, व्यापारियों, जमींदारों और सरकारी अधिकारियों के शोषण से तंग आकर संथालों ने बगावत कर दी। आरंभ में संथालों ने जमींदारों और महाजनों के घरों में डकैती की और उन्हें लूटा। उनकी इन गतिविधियों को पुलिस और स्थानीय अधिकारियों ने दबाना शुरू किया, पुलिस की मार ने उन्हें और उग्र बना दिया। सिद्धू और कानू विद्रोही संथालों के नेता के रूप में उभर कर सामने आए। संथालों का मानना था कि ये दोनों भाई ईश्वर के भेजे हुए दूत हैं और इन्हें ''पुराने सुनहरे दिनों'' को लौटाने के लिए भेजा गया है। अपने परंपरागत अस्त्रों तीर-कमान, भाला, कुल्हाड़ी आदि से लैस होकर संथाल इकट्ठा हुए और उन्होंने जमींदारों और सरकारी अधिकारियों को शोषण बंद करने की धमकी देने का निर्णय लिया। उन्होंने अपनी ज़मीन वापस लेने और अपनी सरकार स्थापित करने का भी निर्णय लिया। इस चेतावनी को सरकारी महकमे में हल्के तौर पर लिया गया। परिणामस्वरूप संथालों ने जमींदारों, महाजनों और सरकारी अधिकारियों के खिलाफ सशस्त्र विद्रोह कर दिया। समूचे संथाल परगना में यह विद्रोह आग की तरह फैल गया। निम्न वर्ग के गैर-संथालियों ने भी इस

MAADHYAM IAS

विद्रोह में संथालों का साथ दिया। सरकार और जमींदारों ने विद्रोहियों पर आक्रमण करना शुरू किया। संथालों ने वीरतापूर्वक संघर्ष किया, पर अंग्रेजों के पास श्रेष्ठ अस्त्र थे, अतः उनकी जीत हुई।

2. तिलका माझी (सन्थाल विद्रोही)

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

बोध प्रश्न 1

1) क्या आप इस काल में होने वाले किसान विद्रोहों के कुछ सामान्य कारणों की ओर इशारा कर सकते हैं? 100 शब्दों में उत्तर दीजिए।

....

....

....

....

....

2) दूदू मियां ने बंगाल के किसानों को क्या संदेश दिए? पांच पंक्तियों में उत्तर दीजिए।

....

....

....

....

29.4 1857 के पूर्व के लोकप्रिय विद्रोहों का स्वरूप

विभिन्न इतिहासकारों ने अलग-अलग तरीकों से किसान और आदिवासी आंदोलनों को व्याख्यायित किया है। अंग्रेजों के प्रति सहानुभूति रखने वाले और स्थापित व्यवस्था के

समर्थक इतिहासकार अक्सर इन विद्रोहों को कानून और व्यवस्था भंग करने वाला मानते हैं। ये इतिहासकार प्रायः इन विद्रोहों के मूल कारणों, मसलन इन किसानों और आदिवासियों की परेशानियों (अंग्रेजों के आने के पहले और बाद) को नजरअंदाज कर देते हैं। इन विद्रोहों को ''सभ्यता'' के खिलाफ ''असभ्यता'' के विरोध के रूप में व्याख्यायित किया जाता है। राष्ट्रवादी इतिहासकार औपनिवेशिक विरोधी संघर्ष से किसान और आदिवासी इतिहास को अलग रखना चाहते हैं और इस प्रकार शोषित जनता के संघर्ष को नजरअंदाज करते हैं।

आदिवासियों और किसानों के विद्रोह से सहानुभूति रखने वाले इतिहासकार भी यह बात नहीं समझ पाते कि यह जनता के अपने अनुभवों का प्रस्फुटन था। किसानों और आदिवासियों के विद्रोहों को उनके खुद के परिप्रेक्ष्य में समझना बहुत जरूरी है, अभी इस प्रकार की शुरुआत लगभग न के बराबर हुई है।

29.4.1 नेतृत्व

हमने ऊपर आंदोलनों में नेतृत्व के सवाल पर विचार-विमर्श किया है, अर्थात् इन आंदोलनों को किन लोगों ने दिशा प्रदान की। इस दृष्टि से इस पहलू का अध्ययन आवश्यक है। इतिहास के इस कालखंड में आंदोलन के साथ कई नेता उभरे और इतिहास के पन्नों में समा गए। इन आंदोलनों का जन्म जिन परिस्थितियों में हुआ, उनमें बाहर के लोगों के नेतृत्व की कम गुंजाइश थी। विद्रोह शुरू होता था और जनता के बीच से ही एक नेता उभर कर सामने आता था। राष्ट्रीय आंदोलन के दौरान ठीक उसके विपरीत हुआ। इसमें समाज के ऊपरी तबके के लोगों ने नेतृत्व की बागडोर संभाली, एक खास विचारधारा अपनाई और आदिवासी और किसान आंदोलनों में हस्तक्षेप किया।

इन आंदोलनों का नेतृत्व उन पुरुषों और महिलाओं के हाथ में गया जो किसानों के सांस्कृतिक अगवा भी थे। उन्होंने शोषितों के विद्रोह को आवाज दी। फराइजी आंदोलन इस बात का प्रमाण है कि किस प्रकार धार्मिक पुरुष नेता के रूप में उभरकर सामने आए। एक ओर उन्होंने धर्म की पुरातन शुद्धता को स्थापित करने की कोशिश की और दूसरी ओर किसानों की समस्याओं को भी सुलझाने की कोशिश की। इस प्रकार, उन्होंने अपने सिद्धांतों द्वारा किसानों को संगठित किया। उन्होंने कहा कि सारी भूमि पर ईश्वर का अधिकार है और सभी का इस पर समान अधिकार है। इस प्रकार के सिद्धांत द्वारा उन्होंने धर्म की ''शुद्धता'' भी स्थापित की।

MAADHYAM IAS
way to achieve your dream

29.4.2 भागीदारी और संगठन

किसानों और आदिवासियों के आंदोलनों की कुछ विशेषताएं ऐसी हैं, जिन्हें देखने पर पता चलता है कि उनमें एक हद तक राजनीतिक और सामाजिक जागृति थी। उदाहरणस्वरूप, 1783 में देवी सिंह के खिलाफ विद्रोह हुआ और कचहरियों पर आक्रमण किया गया। ये कचहरियां किसानों के शोषण के राजनीतिक केंद्र का प्रतिनिधित्व करती थीं। इसी प्रकार 1832 में कोलों ने अपने दोस्तों को पहचानते हुए आदिवासी जनता पर आक्रमण नहीं किया। कई बार इन आंदोलनों का दायरा तात्कालिक असंतोष की सीमा का अतिक्रमण कर गया और कालांतर में उन मुद्दों को भी शामिल कर लिया गया जिनका आंदोलन की शुरुआत में नामो-निशान तक नहीं था। उदाहरण के लिए, मोपलाओं का आंदोलन आरंभ में जमींदारों के खिलाफ विद्रोह के रूप में हुआ था, पर अंत होते-होते यह आंदोलन अंग्रेजी शासन के खिलाफ विद्रोह में बदल गया। शोषित वर्ग प्रभावशाली वर्ग के खिलाफ विद्रोह करता है, यह विद्रोह प्रभावशाली वर्ग की भाषा, संस्कृति और धर्म के खिलाफ भी होता है। इस कारण आंदोलन के दौरान उनके भाषण में परंपरागत व्यवस्था के प्रति सम्मान और समर्पण का भाव नहीं होता और वे उनके धार्मिक स्थलों और शोषण के प्रतीकों को नहीं बख्शा करते। अतः विरोध अनेक रूपों में प्रकट हुआ, यह दैनिक जीवन के कार्यकलापों में भी प्रकट हुआ और संगठित विद्रोह के रूप में भी।

ये किसान और आदिवासी आंदोलन जन-विरोध और सामूहिक विरोध के रूप में सामने आए और इन आंदोलनों की इस दृष्टि से कुछ खास विशेषताएं हैं। इन आंदोलनों की अभिव्यक्ति जन-विरोध के रूप में खुलेआम होती थी। अतः आपराधिक वृत्ति से यह बिल्कुल भिन्न था। हालांकि अंग्रेज अधिकारी उन्हें अपराधी के रूप में चित्रित करते हैं, पर विद्रोहियों की कार्य-पद्धति से अलग तस्वीर सामने आती है। उदाहरण के लिए, गांवों पर आक्रमण करने के पहले संथाल कई बार चेतावनी दे देते थे। इस प्रकार की चेतावनी या उद्घोषणा को वैध बनाने के लिए किसी ''असीम सत्ता'' का सहारा ले लिया जाता था। उदाहरणस्वरूप, संथाल नेता सिद्धू और कानू ने दावा किया कि गोरी फौज के खिलाफ स्वयं ''ठाकुर'' (स्थानीय देवता)

युद्ध करेंगे। इसी वैधता के आधार पर रंगपुर के विद्रोही नेताओं ने किसानों पर डिंग-खर्चा (विद्रोह के लिए राशि) लगाया। जन-वैधता प्राप्त होने के बाद आम सभाएं होने लगीं, योजनाएं बनाई जाने लगीं, परिषद का गठन होने लगा और आक्रमण किया जाने लगा। सिद्धू संथाल कहता है, ''सभी पेरगन्नैतों और मांजियों ने मुझसे संपर्क किया और मुझे लड़ने की सलाह दी।'' इसी प्रकार, बड़े-बड़े जुलूस निकालकर संघर्ष को एक वैध रूप प्रदान किया गया। उदाहरणस्वरूप, आंदोलन के नेताओं की सवारी पालकी में निकाली जाती थी और उनके अनुयायी उत्सव में पहना जाने वाला लाल रंग का कपड़ा पहनते थे। इसके अतिरिक्त सामूहिक श्रम द्वारा भी इस प्रकार के आंदोलनों को जन-स्वरूप प्रदान किया जाता था। उदाहरणस्वरूप, संथालों का भोजन मुख्य रूप से शिकार पर ही निर्भर था और वे विद्रोह को भी शिकार कहकर पुकारने लगे थे। पर अब ''शिकार पकड़ने'' का उपयोग बृहत् राजनीतिक उद्देश्य के अर्थ में होने लगा। हम देखते हैं कि इन आंदोलनों में आक्रमण के केंद्रों को एक खास दृष्टि से चुना गया और फिर उन पर आक्रमण किया गया, उन्हें जलाया और नष्ट किया गया।

एक शत्रु के खिलाफ विद्रोहियों को एकजुट करने में कौन-सा तत्व सक्रिय था? ये तत्व विभिन्न मात्रा में प्राय: वर्ग, जाति अथवा धार्मिक समुदायों के तनाव में निहित होता था। उदाहरणस्वरूप मोपला विद्रोह में धार्मिक आधार पर गरीब और अपेक्षाकृत समृद्ध किसानों के बीच एकता कायम हुई और वे जमींदारों के विरुद्ध संगठित हुए। इसी प्रकार, जातिगत आधार पर भी लोगों को संगठित किया गया। उदाहरण के लिए 1852 में सोनपुर के धांगर कोलों ने पहली बार इस क्षेत्र में विद्रोह किया। इनका समर्थन सिंहभूम के कोलों ने किया, जबकि अभी तक वहां किसी प्रकार की गड़बड़ी शुरू नहीं हुई थी। सामुदायिक गठबंधन से भी विरोध को एक बल मिलता था, हिचकने वाले लोगों पर दबाव डाला जाता था और विश्वासघातियों के साथ कड़ा व्यवहार किया जाता था।

शोषित किसानों और आदिवासियों का आंदोलन एक संपूर्ण शक्ल नहीं अख्तियार कर सका। आरंभिक अवस्था में यह सामाजिक गतिविधियों के रूप में उभरा, जिसे राज्य ने सीधे तौर पर अपराध की संज्ञा दे दी। ब्रिटिश रिकार्डों में अधिकांशत: इन क्रिया-कलापों के अपराध पक्ष पर ही जोर दिया गया है और आंदोलन के रूप में इनकी परिणति को पूर्णत: नजरअंदाज किया गया है। एक कटु सत्य यह भी है कि चोरी से लेकर हत्या तक के सभी अपराध गांव में पल रही भुखमरी और गरीबी के परिणाम थे। अक्सर विद्रोह होने के पहले गांवों में अपराधों की संख्या बढ़ जाती थी। उदाहरण के लिए, संथाल विद्रोह के एक साल पूर्व 1854 में स्थानीय महाजनों के यहां कई डकैतियां हुईं। बाद में संथाल नेताओं ने इन कार्यों को यह कहते हुए सही बताया कि महाजनों के खिलाफ उनकी शिकायत को अधिकारी कभी नहीं सुनते हैं।

MAADHYAM IAS

किसान और आदिवासी विद्रोहों का विभिन्न प्रदेशों में प्रसार हुआ और ये विद्रोह क्षेत्रीय सोच और भौगोलिक सीमा से निर्देशित नहीं तो कम से कम प्रभावित अवश्य थे। यहां आंदोलन जातीय बंधनों से भी सम्पृक्त था। मसलन, संथालियों के लिए यह पितृभूमि की वापसी की लड़ाई थी, जिसे बाहरी व्यक्तियों ने हड़प लिया था। कभी-कभी जातीय सूत्र भौगोलिक सीमा को भी पार कर जाते थे, मसलन लारमा और धांगर कोलों ने विद्रोह में एक साथ हिस्सा लिया।

इसी प्रकार, परंपरा के प्रति मोह ने भी इन आंदोलनों को शक्ति प्रदान की। हम देख चुके हैं कि बगावत करने वाले हमेशा अपने अतीत की ओर लौटने की ओर बात करते थे, उस सुखद अतीत की ओर जहां वे सुख-चैन से रहते थे, उस अतीत की ओर जहां उनका शोषण नहीं होता था। फराइजी और संथाल विद्रोह इस तथ्य के सटीक उदाहरण हैं। इसका मतलब यह नहीं है कि ये विरोधी आंदोलन पश्चगामी थे, बल्कि इसके माध्यम से इन्होंने संघर्ष के लिए एक आदर्श का निर्माण किया।

बोध प्रश्न 2

1) क्या हम कह सकते हैं कि किसान और आदिवासी विद्रोह के नेताओं में नेतृत्व की क्षमता थी? 50 शब्दों में उत्तर दें।

....

....

....

....

2) क्या विवेच्य काल के किसान और आदिवासी आंदोलन में किसी प्रकार की चेतना थी? कैसे?

....

....

....

....

....

29.5 सारांश

ऊपर हमने जिन किसान और आदिवासी आंदोलनों की चर्चा की, उनके बारे में यह कहा जाता है कि ये आंदोलन स्थानीय प्रकृति के थे और एक-दूसरे से बिल्कुल असम्बद्ध थे। पर यह तथ्य पूर्णत: सही नहीं है, क्योंकि इन आंदोलनों में जातीय और धार्मिक तत्व भी काफी हद तक सक्रिय थे। निश्चित रूप से उस समय इन आंदोलनों को जोड़ने वाली एक अंतर्भूत चेतना का विकास नहीं हो सका था। अत: ये अलग-थलग पड़ गए थे। इस कारण से इस आंदोलनों का राष्ट्रीय आंदोलनों पर प्रभाव अक्षुण्ण रहा। एक तो ये आंदोलन एक-दूसरे से अलग-थलग विकसित हो रहे थे, दूसरे अंग्रेजों के पास एक संगठित शक्ति थी, अपेक्षाकृत अच्छे अस्त्र-शस्त्र थे। अत: अंग्रेजों की सफलता अवश्यंभावी थी। फिर भी असंतोष की प्रथम अभिव्यक्ति के रूप में इन आंदोलनों का अपना महत्व है। विवेच्य कालखंड के अंत में 1857 का विद्रोह हुआ, जो इन आंदोलनों का चरमोत्कर्ष था। इस आंदोलन में अंग्रेजों के खिलाफ किसानों के असंतोष के साथ-साथ जनता के अन्य तबकों का आक्रोश भी अभिव्यक्त हुआ। इस विद्रोह में जातीय, धार्मिक और जातिगत बंधन काफी पीछे छूट गए। इसने देश के कई हिस्सों में एक साथ अंग्रेजी शासन को चुनौती दी। अगली दो इकाइयों में हम 1857 के विद्रोह का अध्ययन करेंगे।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

29.6 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) देखें भाग 29.2
2) देखें भाग 29 3.6

बोध प्रश्न 2

1) देखें उपभाग 29.4.1
2) देखें उपभाग 29.4.2

इकाई 30 1857 का विद्रोह—कारण और स्वरूप

इकाई की रूपरेखा

30.0 उद्देश्य
30.1 प्रस्तावना
30.2 विद्रोह की पृष्ठभूमि
    30.2.1 सेना
    30.2.2 औपनिवेशिक परिदृश्य
    30.2.3 भू-राजस्व बंदोबस्त
30.3 अधिग्रहण
30.4 धर्म और संस्कृति
30.5 विद्रोह का स्वरूप : एक बहस
    30.5.1 सिपाही बगावत
    30.5.2 राष्ट्रीय संघर्ष या सामंती प्रतिक्रिया
30.6 निहित स्वार्थ
30.7 सामान्यीकरण सही दृष्टिकोण नहीं
30.8 समृद्धों का आंदोलन या जन विरोध?
30.9 सारांश
30.10 शब्दावली
30.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

MAADHYAM IAS

30.0 उद्देश्य

इस इकाई में 1857 के विद्रोह की पृष्ठभूमि पर संक्षेप में विचार-विमर्श किया जा रहा है। इसके अतिरिक्त इस विद्रोह के स्वरूप के संबंध में प्रकट की गयी परस्पर विरोधी व्याख्यायों पर भी दृष्टिपात किया जायेगा। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- सिपाहियों के असंतोष को रेखांकित कर सकेंगे;
- औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था के परिप्रेक्ष्य में विद्रोह को आंक सकेंगे;
- विद्रोह के भू-क्षेत्र में भू-राजस्व बंदोबस्त के प्रभाव की परीक्षा कर सकेंगे;
- अधिग्रहण के खिलाफ उपजे आक्रोश को समझ सकेंगे;
- विद्रोह में धार्मिक भावनाओं की भूमिका का मूल्यांकन कर सकेंगे; और
- विद्रोह के स्वरूप को समझ सकेंगे और इस पर हुए विवाद से परिचित हो सकेंगे।

30.1 प्रस्तावना

इकाई 29 में हमने आदिवासी और किसान विद्रोहों पर विचार-विमर्श किया। इस विचार-विमर्श के क्रम में एक बात उभर कर सामने आयी कि 18वीं शताब्दी के मध्य से 19वीं शताब्दी के मध्य तक भारतीय समाज और अर्थव्यवस्था के औपनिवेशीकरण के प्रयत्न का हर चरण पर विरोध किया गया। 1857 में उत्तरी और मध्य भारत में जन असंतोष को सिपाही विद्रोह का सहारा मिल गया, जो औपनिवेशिक शासन के लिए घातक सिद्ध हुआ। विद्रोह के कारण पर विचार करते समय—सेना और ग्रामीण समाज की जड़ों में विद्रोह का बीज ढूंढ़ना होगा। विद्रोह के कारणों को ढूंढ़ने के क्रम में सेना और ग्रामीण समाज के संबंधों तथा प्रतिरोध के स्वरूप और प्रक्रिया को भी समझने में मदद मिलेगी।

इस इकाई के भाग 30.2 और 30.4 में विद्रोह की पृष्ठभूमि पर विचार-विमर्श किया गया है। इससे हमें इकाई के अगले हिस्सों (30.5 से 30.8) को समझने में मदद मिलेगी, जिसमें विद्रोह के स्वरूप के संबंध में विभिन्न इतिहासकारों के मतों को सामने रखा गया है। विद्रोह के स्वरूप पर यह बहस विद्रोह के सौ साल पूरे होने पर शुरू हुई थी, जो 1980 के दशक तक जारी रही।

30.2 विद्रोह की पृष्ठभूमि

मई और जून 1857 के बीच यह विद्रोह तेजी से फैला। हम इस इकाई में इसी बात पर विचार करने जा रहे हैं। ब्रिटिश सेना के सिपाहियों ने इस जन विद्रोह को शक्ति प्रदान की। 1857 के विद्रोह के विभिन्न पहलुओं को समझने के लिए हम यहां बंगाल सेना के सिपाहियों के असंतोष औपनिवेशिक शासन के प्रभाव और भू-राजस्व बंदोबस्त के परिणाम पर विस्तार से विचार करेंगे।

30.2.1 सेना

29 मार्च 1857 को कलकत्ता के निकट बैरकपुर में मंगल पांडे नामक एक सिपाही ने एक यूरोपीय अधिकारी की हत्या कर दी। विद्रोह की शुरुआत यहीं से हुई। हालांकि इस विद्रोह को दबा दिया गया, पर अगले कुछ सप्ताहों में सिपाहियों का असंतोष तेजी से प्रस्फुटित हुआ। 10 मई 1857 को मेरठ के सिपाहियों ने अपने अफसर का कत्ल कर दिया और 11 मई को दिल्ली की ओर कूच किया। उन्होंने मुगल बादशाह बहादुरशाह द्वितीय से 1857 की क्रांति का नेता बनने का अनुरोध किया। बहादुरशाह द्वितीय इस समय अंग्रेजों का पेंशनर मात्र १..। ईस्ट इंडिया कंपनी के लगभग आधे सिपाहियों ने विद्रोह कर दिया। इन सिपाहियों में ज्यादातर उत्तर पश्चिमी प्रदेश और अवध सूबे की उच्च जाति का प्रतिनिधित्व करते थे। इनमें से एक तिहाई सिपाही अवध प्रांत के थे, इस प्रकार उनका एक संगठित समूह था। उच्च जाति के ये सिपाही पिछले कई वर्षों से यह महसूस कर रहे थे कि उनकी सेवाशर्तों के कारण उनकी धार्मिक भावनाओं के लिये खतरा है।

- 1806 में पगड़ी के स्थान पर चमड़े की कलगी के प्रचलन से वेल्लोर में बलवा हुआ।
- 1824 में बैरकपुर के सिपाहियों ने बर्मा जाने से इंकार कर दिया, क्योंकि विदेश जाने से धर्म-नाश का खतरा था।
- सिंध भेजे जाने के विरोध में 1844 में बंगाल सेना में बलवा हुआ। सिंध को पार करना जाति का विनाश करना माना जाता था।

1857 की क्रांति के आसपास यह अफवाह भी उड़ी कि आटे में हड्डी का चूर्ण मिला होता है। एनफील्ड राइफल (जनवरी 1857 से इसे प्रयोग में लाया गया) में भरी जाने वाली कारतूस को भरने से पहले उसका पिछला हिस्सा दांत से निकालना पड़ता था। इसके बारे में यह बात तेजी से फैली कि कारतूस के इस हिस्से में सूअर और गाय की चर्बी का इस्तेमाल किया जाता था। इससे सिपाहियों के भीतर यह भय समा गया कि उनका धर्म खतरे में है।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

इसके अतिरिक्त सिपाहियों में सेवा संबंधी शर्तों के कारण भी असंतोष था।

- पैदल सिपाही को केवल 7 रुपया महीना वेतन मिलता था।
- घुड़सवार को 27 रुपये मिलते थे, जिसमें उसे अपनी वर्दी, भोजन और जानवर की देखभाल करनी पड़ती थी।
- पदोन्नति, पेंशन और सेवाशर्तों में प्रजातीय भेदभाव अपनाया जाता था।
- अधिग्रहण से सिपाहियों की विदेश सेवा के लिए भत्ता (अतिरिक्त भुगतान) की सुविधा समाप्त हो गयी।
- सिपाहियों में यह भय भी समाया हुआ था कि पंजाब से जवानों की नियुक्ति से उनका असर कम हो जाएगा।

3. मंगलपांडेय

4. बहादुरशाह II

30.2.2 औपनिवेशिक परिदृश्य

1857 की क्रांति का विश्लेषण करने के लिए औपनिवेशिक शासन के स्वरूप को समझना जरूरी है, क्योंकि इसने समाज के हर तबके के हितों को चोट पहुंचाई।

- उच्च प्रशासनिक पदों से भारतीयों को वंचित कर दिया गया। कई क्रांति दस्तावेजों में इस प्रजातीय भेदभाव की चर्चा की गयी है।
- ब्रिटेन से तैयार माल के आयात और भारतीय राज्यों के अधिग्रहण के कारण संरक्षण के अभाव के कारण शिल्पियों और हस्तकलाकारों को काफी धक्का पहुंचा।
- भू-राजस्व बंदोबस्त के कारण भू-स्वामियों को भूमि से हाथ धोना पड़ा और ग्रामीण समाज पर भू-निर्धारण का भारी असर पड़ा।
- प्रत्येक वर्ष राजस्व की बकाया राशि वसूल करने के लिए भू-स्वामियों और किसानों के स्वामित्व अधिकारों को बेचा जाता था।
- कई स्थानों पर बनिये (व्यापारी) इस अधिकार को खरीद लेते थे, जिनका सीधा जमीन से कुछ लेना-देना नहीं होता था और वे अक्सर बाहरी व्यक्ति होते थे।

इन कारणों से औपनिवेशिक सरकार की राजस्व और न्यायिक व्यवस्था के खिलाफ लोगों में असंतोष का भाव गहराने लगा। 1857 के विद्रोह के स्वरूप पर विचार करते समय हम इस तथ्य पर विचार करेंगे।

बोध प्रश्न 1

1) सही वक्तव्य के सामने (✓) और गलत के सामने (×) का चिह्न लगाएँ।
   (क) एनफिल्ड एक स्थान का नाम था।
   (ख) सिपाहियों की नियुक्ति ज्यादातर पंजाब से होती थी।
   (ग) 1857 के पहले भी सिपाही बगावतें हुई थीं।
   (घ) अधिग्रहण से केवल रजवाड़े प्रभावित हुए।
   (ङ) बनियों द्वारा ग्रामीण संपत्ति खरीदे जाने का विरोध नहीं किया गया।

2) सिपाहियों के असंतोष पर 5 पंक्तियों में प्रकाश डालें।

....

....

....

....

....

MAADHYAM IAS
way to achieve your dream

3) औपनिवेशिक शासन के तीन पहलुओं का उल्लेख करें।

....

....

....

30.2.3 भू-राजस्व बंदोबस्त

भू-राजस्व बंदोबस्त 1857 की क्रांति का एक बड़ा कारण था। उत्तरी पश्चिमी प्रांतों और अवध में भू-राजस्व बंदोबस्त लागू किया गया, इससे ताल्लुकदारों और किसानों पर बुरा प्रभाव पड़ा। इस प्रभाव का कितना असर 1857 की क्रांति पर पड़ा या नहीं पड़ा? इन्हीं सवालों के इर्द-गिर्द क्रांति के स्वरूप का सवाल भी घूमता है और इन्हीं सवालों का जवाब देने के क्रम में विभिन्न विद्वान विभिन्न मत सामने रखते हैं। आइए एक-एक कर इनका परीक्षण करें।

उत्तरी पश्चिमी प्रांत

इस क्षेत्र में बंदोबस्त करने के पीछे टेरिटोरियल विभाग के सचिव हौल्ट मैकेन्ज़िया का प्रमुख हाथ था। 1822 के अधिनियम VII में प्रस्तावित उसके सुझाव ताल्लुकदारों के खिलाफ थे और उसने ग्रामीण समुदायों को संरक्षित करने के लिए जमींदारों और पट्टेदारों से सीधा बंदोबस्त किया। 1840 में राजस्व बोर्ड के अध्यक्ष आर.एम. बर्ड और उत्तरी पश्चिमी प्रांत के गवर्नर जेम्स थामसन ने उसके सुझावों को कार्यान्वित किया। "थाम्सोनियन बंदोबस्त" (जैसा इसे कहा जाता था) में ताल्लुकदारों के खिलाफ पूर्वाग्रह बना रहा। 1840 के आसपास संपत्तिगत अधिकारों की सटीक परिभाषा निर्धारित करने से बाहर के लोगों ने भूमि में काफी पैसा निवेशित किया, इससे काफी भूमि का स्थानांतरण हुआ और संयुक्त जोत टुकड़ों में बंट गयी।

उत्तरी पश्चिमी प्रांतों में राजस्व बंदोबस्त का परिणाम इस प्रकार रहा :
- ताल्लुकदारों के प्रति सही रवैया न अपनाये जाने के कारण एक दशक के भीतर उनकी काफी सम्पदा छिन गयी। कई ताल्लुकदारों का विभाजन हो गया या वे नष्ट हो गये।
- जमींदारों (व्यक्तिगत/संयुक्त) की स्थिति भी बड़ी नाजुक थी, उन पर कर्ज का बोझ इतना ज्यादा था कि वे दिवालियेपन की कगार पर खड़े थे। वे अभी बटाईदार (भाड़े के किसान) तो नहीं बन पाये थे, पर कर्जदाताओं के दया पर जीवित थे। केवल एक साल में (1852-53) उत्तर पश्चिमी प्रांतों में 104, 730 एकड़ जमीन बकाया राशि के भुगतान के लिए बेच दी गयी।

अवध

फरवरी 1856 में अवध का अधिग्रहण कर लिया गया और 1856-57 में थौम्सोनियन पद्धति पर बंदोबस्त किया गया। इसके निम्नलिखित परिणाम सामने आये :
- समग्र रूप से राजस्व निर्धारण में कमी आयी (कई जगहों में 37 प्रतिशत तक), कई स्थानों पर राजस्व निर्धारण जरूरत से ज्यादा किया गया जो 28 प्रतिशत से 63 प्रतिशत तक था।
- कुछ ताल्लुकदारी राज्यों को घटाकर 44-55 प्रतिशत तक सीमित कर दिया गया।
- ब्रिटिश अधिग्रहण के पहले ताल्लुकदार किसानों से अपनी जरूरत के मुताबिक खेत से अपना हिस्सा लेता था, अंग्रेजों ने स्थाई नगद राजस्व का निर्धारण किया, जो अक्सर जरूरत से ज्यादा होता था। फसल कम होने या फसल का कम दाम मिलने की स्थिति में, किसानों को घाटा होता था।

इस बात पर गौर किया जाना चाहिए कि अवध के सिपाहियों की तरफ से 14,000 अर्जियां दी गयीं थीं, जिसमें राजस्व व्यवस्था से उत्पन्न कठिनाइयों का जिक्र था।

MAADHYAM IAS
way to achieve your dream

30.3 अधिग्रहण

1818 में, मराठों की हार और ईस्ट इंडिया कंपनी के साथ सहायक संधि स्थापित करने के बाद अंग्रेज सर्वोच्च शक्ति के रूप में उभरे। डलहौजी ने अपनी अधिग्रहण की नीति के तहत नए राज्यों को ब्रिटिश राज में मिला लिया : सतारा (1848), नागपुर, सम्बलपुर और बघात (1850), उदयपुर (1852) और झांसी (1853)। झांसी की रानी भी अंग्रेजों को संतुष्ट रखने में असफल रहीं और झांसी को हाथ से निकलते देख उन्होंने 1857 में विद्रोह का झंडा उठा लिया। फरवरी 1856 में जब वाजिद अली शाह ने अवध का प्रशासन ईस्ट इंडिया कंपनी के हाथ में देने से इंकार कर दिया, कुप्रशासन के बहाने अवध को ब्रिटिश राज में मिला लिया गया। हालांकि 1765 से ही अंग्रेजों की उपस्थिति के कारण अवध अर्थव्यवस्था अव्यस्थित और खोखली होने लगी थी। कंपनी और यूरोपीय व्यापारियों ने इसके आर्थिक स्रोतों पर अधिकार जमा रखा था, इस तरीके से अवध की प्रशासनिक हैसियत समाप्त की जा चुकी थी।

अंग्रेजों ने केवल अतिरिक्त राजस्व की प्राप्ति के लिए अवध का उपयोग नहीं किया बल्कि वहां पूंजी निवेश भी किया, नील और कपास की खेती को बढ़ावा दिया और इसे बाजार के रूप में भी विकसित किया।

निम्नलिखित कारणों से अवध के अधिग्रहण का जोरदार विरोध हुआ :
- बादशाह को कलकत्ता निर्वासित कर दिया गया था,
- ताल्लुकदारों को निशस्त्र कर दिया गया और उनके किले तोड़ दिये गये,
- दरबारों के भंग हो जाने से कई लोग बेरोजगार हो गये, इनमें सेना में भर्ती लोग और कारीगर भी शामिल थे,
- भू-राजस्व बंदोबस्त ने आग में घी का काम किया।

उत्तर और मध्य भारत में अंग्रेजों के खिलाफ बगावत के लिए खूब प्रचार किया गया और इसकी कामयाबी के लिए जोरदार प्रयास किये गये।

30.4 धर्म और संस्कृति

1857 के विद्रोह के काफी पहले से कट्टरपंथी हिंदुओं और मुसलमानों के मन में यह धारणा

घर जमा रही थी कि नये कानूनों द्वारा अंग्रेज उनके धर्म और संस्कृति को नष्ट करने की कोशिश कर रहे हैं। मसलन, सती प्रथा की समाप्ति, विधवा विवाह, 1850 के कानून के तहत इसाई धर्म ग्रहण करने के बावजूद पैतृक संपत्ति पर अधिकार आदि।

विद्रोह की कई उद्घोषणाओं में इस प्रकार की चिंता व्यक्त की गयी थी। दिल्ली में जारी एक घोषणा पत्र में यह कहा गया था कि अंग्रेज सिपाहियों का धर्म नष्ट करना चाहते हैं और इसके बाद लोगों को इसाई धर्म कबूल करने को बाध्य करेंगे। इस प्रकार धर्म इस विद्रोह की लड़ाई की प्रमुख प्रेरणा शक्ति बन गया, सिपाही और देहातों में रहने वाले लोग इसी धर्म-भावना से लड़ रहे थे।

इसका तात्पर्य यह नहीं है कि 1857 में केवल धर्म की ही भूमिका थी, पर यह बात निश्चित है कि इसके माध्यम से लोगों का असंतोष व्यक्त हुआ। धर्म की रक्षा और अंग्रेजों के खिलाफ संघर्ष एक-दूसरे से जुड़े हुए थे और इस युद्ध में हिंदू और मुसलमान दोनों संघर्षरत थे। बहादुरशाह की उद्घोषणा में मोहम्मद और महावीर की महत्ता पर जोर दिया गया था।

बोध प्रश्न 2

1) पाँच पंक्तियों में 'थाम्सोनियम बंदोबस्त' को संक्षेप में लिखें।

....
....
....
....
....

2) विद्रोह के पूर्व उत्तरी पश्चिमी प्रांतों और अवध के ग्रामीण समाज में हुए परिवर्तनों पर संक्षेप में टिप्पणी करें।

....
....
....
....
....

3) विद्रोह में धर्म का स्वर इतना मुखर क्यों था?

....
....
....
....
....

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

30.5 विद्रोह का स्वरूप : एक बहस

बीसवीं शताब्दी के छठे और सातवें दशक में इतिहासकारों के बीच यह बहस का मुद्दा रहा कि यह विद्रोह एक सिपाही बगावत थी, राष्ट्रीय आंदोलन था या सामंती प्रतिक्रिया का प्रस्फुटन था। आइए, इस बहस के प्रमुख तर्कों पर गौर करें।

30.5.1 सिपाही बगावत

भारतीय असंतोष को कम करके आंकने के लिए, अंग्रेज इतिहासकारों ने यह मत सामने रखा कि यह विद्रोह सिपाहियों की बगावत से ज्यादा कुछ नहीं था। अतः उन्होंने इस विद्रोह को सिपाही बगावत का नाम दिया। इन इतिहासकारों ने निम्नलिखित मुद्दों पर विस्तार से प्रकाश डाला :

- ग्रीस लगे कारतूस का ब्यौरा

- विद्रोही सिपाहियों की गतिविधियां
- 1857-58 के बीच अंग्रेजों द्वारा विद्रोह को दबाने के प्रयास।

इसमें न केवल जनता की बगावत के तथ्य को छिपा दिया गया, बल्कि जन विद्रोह को कुछ सामंतों और राजाओं की स्वार्थपूर्ति का एक प्रयास बताया गया। समग्र रूप में, इस दृष्टिकोण में उस औपनिवेशिक परिदृश्य की अवहेलना की गयी, जिसके कारण विद्रोह का जन्म हुआ।

30.5.2 राष्ट्रीय संघर्ष या सामंती प्रतिक्रिया

औपनिवेशिक सरकार के खिलाफ राष्ट्रीय आंदोलन की शुरुआत के बाद 1857 के विद्रोह को इन संघर्ष की एक कड़ी के रूप में देखा जाने लगा और अब चर्बी लगे कारतूसों की अपेक्षा ब्रिटिश दमन को विद्रोह का प्रमुख कारण माना जाने लगा। 1902 में वी.डी. सावरकर की पुस्तक 'भारत के 1857 का स्वतंत्रता आंदोलन छद्य' नाम से प्रकाशित हुई ब्रिटिश शासन के दौरान भारत में इस पर प्रतिबंध लगा रहा।

इस विद्रोह के सौ वर्ष पूरे होने पर तत्संबंधी कई पुस्तकों में निम्नलिखित तर्क पेश किये गये :

- इस विद्रोह में सुनिश्चित नीति का अभाव था, अतः यह व्याख्या कमजोर लगती है।
- इस विद्रोह के नेता राष्ट्रीय भावना से ओतप्रोत नहीं थे, अतः इस विद्रोह को राष्ट्रीय आंदोलन से जोड़ना तथ्य को जरूरत से ज्यादा खींचना प्रतीत होता है।
- 1857 का विद्रोह स्वतंत्रता आंदोलन का उद्घोष नहीं था बल्कि क्षीण हो रहे कुलीनतंत्र का अंतिम असफल प्रयास था।

दूसरी तरफ, ''राष्ट्रीय'' शब्द के सीमित अर्थ में प्रयोग पर प्रश्नचिह्न लगाया गया और यह कहा गया कि यह विद्रोह के साम्राज्य विरोधी रुख को तथा 1857-58 की हिंदू-मुस्लिम एकता को कम करके आंकने का प्रयास है।

हाल में एक मत सामने आया है कि यह विद्रोह अपने आप में राष्ट्रीय नहीं था, पर उसका राजनीतिक दृष्टिकोण केवल अपने इलाके तक ही सीमित नहीं था। यह मान्यता भी सामने आयी कि विद्रोहियों का उद्देश्य नयी सामाजिक व्यवस्था की स्थापना था बल्कि परंपरागत व्यवस्था, मसलन पदानुक्रम, संरक्षण और असमानता की स्थापना करना था।

30.6 निहित स्वार्थ

MAADHYAM IAS

बीसवीं शताब्दी के आठवें दशक में बहस का मुद्दा ''सिपाही बगावत'' या ''राष्ट्रीय विद्रोह'' आदि तक, सीमित नहीं रह गया, बल्कि अब उत्तरी पश्चिम प्रांतों और अवध में हुए 1857 के विद्रोह के सामाजिक कारणों की खोज की जाने लगी। इस क्षेत्र में कई लोगों ने अध्ययन किए, जिसमें भू-राजस्व बंदोबस्त और विद्रोह के प्रत्यक्ष संबंध को निम्नलिखित तर्कों के आधार पर नकारा गया :

- विद्रोह में ताल्लुकदारों की हिस्सेदारी का एकमात्र कारण 'थाम्सोनियन बंदोबस्त' नहीं था, क्योंकि कुछ उद्यमी ताल्लुकदारों ने व्यापारिक फसल (कपास और नील) से खूब मुनाफा कमाया और उन्होंने विद्रोह में हिस्सा नहीं लिया।
- बनियों (जिन्होंने गांव की जमीन खरीदी थी) के खिलाफ रोष भी ग्रामीण विद्रोह का एकमात्र और आधारभूत कारण नहीं था। वस्तुतः सहारनपुर और मेरठ के उन इलाकों में विद्रोह की लपट सबसे तेज थी, जहां महाजनों का प्रभाव कम था और भू-राजस्व का भार अधिक था।

अतः 1857 में ताल्लुकदारों की हिस्सेदारी को दूसरे ढंग से व्याख्यायित किया गया। विद्रोह द्वारा एक अव्यवस्था का माहौल बन गया, जिसमें कई जातियों, जैसे राजपूत और जाट, अहीर और चौहान आदि, ने अपनी पुरानी दुश्मनी की कसर निकाली और पारिवारिक दुश्मनी ने भी इस माहौल का जमकर लाभ उठाया। अतः यह कहा जा सकता है कि 'थाम्सोनियन बंदोबस्त' असंतोष की भीड़ का एक छोटा सा हिस्सा था, जिसके कारण कुछ ताल्लुकदारों ने विद्रोह में हिस्सा लिया और कुछ ने नहीं।

30.7 सामान्यीकरण सही दृष्टिकोण नहीं

यह मत भी सामने रखा गया कि विद्रोह के सृजन में खास-खास क्षेत्रों की निर्धनता का भी

योगदान है। (अ) पर्यावरण संबंधी कारणों से जहां की जमीन कम उपजाऊ थी वहां गरीबी भी ज्यादा थी। (ब) भू-राजस्व बंदोबस्त लागू करते समय भूमि की उर्वरता का ध्यान नहीं रखा गया और यह मान लिया गया कि सभी भूमि एक प्रकार की उपज देती है। इस मान्यता के आधार पर सभी क्षेत्रों में भारी करारोपण किया गया। इस बंदोबस्त से उत्तरी पश्चिमी प्रांतों के गूजर और राजपूत बुरी तरह प्रभावित हुए और उन्होंने विद्रोह में खुलकर हिस्सा लिया। सहारनपुर के गूजरों और इटावा तथा इलाहाबाद के राजपूतों ने भी विद्रोह में हिस्सा लिया, जो सामाजिक साहचर्य कायम करना चाहते थे। जिन ग्रामीण इकाइयों में कई जातियां शामिल थीं, वे निष्क्रिय रहीं।

कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि विभिन्न भौगोलिक क्षेत्रों में इस विद्रोह की राजनीतिक प्रतिक्रिया अलग-अलग थी। अत: यह माना जा सकता है कि 1857 का विद्रोह कोई एक विद्रोह नहीं था, बल्कि कई विद्रोहों का समुच्चय था और इसे सामान्यीकृत करना असंभव है।

30.8 समृद्धों का आंदोलन या जन विरोध?

इकाई के इस अंश में हम इस तथ्य पर विचार करेंगे कि विद्रोह का स्वरूप कैसा था? क्या यह समृद्धों द्वारा नियंत्रित आंदोलन था या यह जन विरोध था। कुछ इतिहासकारों का मत है कि इस विद्रोह में निर्णय की बागडोर ताल्लुकदारों के हाथ में थी और विद्रोह का रुख समृद्ध लोगों की उपस्थिति और अनुपस्थिति से निर्धारित हुआ। उदाहरण के लिए कर से पीड़ित अलीगढ़ के जाटों और राजपूतों के आक्रोश को स्थानीय समृद्ध लोगों ने दबा दिया। कानपुर के नीचे दोआब क्षेत्र में अंकुश लगाने वाली ऐसी कोई शक्ति नहीं थी। इसी प्रकार ताल्लुकदारों ने बगावत की, और किसानों को अपने साथ ले लिया।

इस दृश्य को देखकर ऐसा लगता है कि इस विद्रोह में ताल्लुकदारों की ही प्रमुख भूमिका थी, जनता की सहभागिता नगण्य थी। पर यह बात ऐसी नहीं है। यह ध्यान रखा जाना चाहिए कि भूमिधर कुलीन लोगों के अतिरिक्त अन्य कई क्षेत्रों से भी विद्रोह का उद्घोष हुआ। खैराती खान, शाह मल और मौलवी अहमदुल्ला शाह जैसे जन नेताओं का उदय इस बात का प्रमाण है कि जनता के बीच से भी नेतृत्व पैदा हुआ। निश्चित रूप से ग्रामीण समाज पर अभी और काम करने की जरूरत है और यह खोजबीन करने की आवश्यकता है कि समृद्ध लोगों के अतिरिक्त साधारण ग्रामवासियों की विद्रोह में क्या भूमिका थी। यह तथ्य गौर तलब है कि किसानों और काश्तकारों ने कई स्थानों पर खुद विद्रोह की शुरुआत की और ताल्लुकदारों के साथ अंग्रेजों की सुलह होने के काफी बाद तक वे लड़ते रहे।

अवध में ताल्लुकदारों और किसानों के बीच पूरा तालमेल था, जिसके कारण वहां एक जन आंदोलन का स्वरूप सामने आया। इसका एकमात्र कारण था अवध का अधिग्रहण। छोटे-बड़े सभी ताल्लुकदारों ने इस विद्रोह में हिस्सा लिया। इनमें 74 प्रतिशत ताल्लुकदारों ने दक्षिण अवध में अंग्रेजों से लड़ाई की। लड़ने वाली फौज में आम जनता की संख्या लगभग 60 प्रतिशत थी। अनुमान है कि अवध की वयस्क पुरुष जनसंख्या में से 3/4 लोगों ने विद्रोह में हिस्सा लिया। इस विद्रोह के दौरान घर-घर से भाले, तलवार और बंदूकें जब्त की गयीं।

बोध प्रश्न 3

1) 1857 के विद्रोह के स्वरूप संबंधी विभिन्न दृष्टिकोण पर दस पंक्तियों में प्रकाश डालें।

....

....

....

....

....

....

....

....

....

....

2) ताल्लुकदारों की हिस्सेदारी के पीछे निहित स्वार्थ पर टिप्पणी करें।

....

....

....

....

....

....

3) 1857 के विद्रोह का स्वरूप क्या था? 100 शब्दों में उत्तर दें।

....

....

....

....

....

....

....

....

....

....

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

30.9 सारांश

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप औपनिवेशिक नीतियों के खिलाफ सिपाहियों और जनता के असंतोष को पहचानने में सफल हो सकेंगे।

- आप सिपाही विद्रोह और जनता के असंतोष को एक साथ जोड़ कर देख सकेंगे,
- विद्रोह के स्वरूप से संबद्ध विभिन्न मतों की जानकारी प्राप्त कर लेने के बाद आपको 1857 के विद्रोह का इतिहास लिखने में मदद मिलेगी। इसके साथ-साथ आपने विद्रोह में जनता की सक्रिय भागीदारी की भी जानकारी प्राप्त की।

30.10 शब्दावली

बनिया : महाजन

इलाका : भू-क्षेत्र

पट्टीदार : गांव की सामूहिक मिल्कियत

ताल्लुकदार : ताल्लुक का मालिक (एक ताल्लुक में कई गांव होते थे, जिसके राजस्व की वसूली का भार ताल्लुकदार पर होता था)।

30.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) (क) × (ख) × (ग) ✓ (घ) × (ङ) ×
2) देखें उपभाग 30.2.1
3) देखें उपभाग 30.2.2

बोध प्रश्न 2

1) देखें उपभाग 30.2.3
2) देखें उपभाग 30.2.3
3) देखें भाग 30.4

बोध प्रश्न 3

1) देखें उपभाग 30.5
2) देखें भाग 30.6
3) देखें भाग 30.5 से 30.8 तक

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

इकाई 31 1857 के विद्रोह की घटनाएं और बाद के हालात

इकाई की रूपरेखा

31.0 उद्देश्य
31.1 प्रस्तावना
31.2 विद्रोह की प्रमुख घटनाएं
31.3 सैन्य विद्रोह
31.4 जन विद्रोह
31.5 बगावती संस्थाएं
31.6 दमन
31.7 बाद के हालात
    31.7.1 भूमिपति
    31.7.2 राजे-महाराजे
    31.7.3 सेना
31.8 ब्रिटिश नीति
31.9 सारांश
31.10 शब्दावली
30.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

31.0 उद्देश्य

1857 के विद्रोह के कारण और स्वरूप पर विचार करने के बाद, आइए हम इस विद्रोह के दौरान घटी घटनाओं और बाद के हालात पर गौर करें। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- मई और जून, 57 और उसके बाद के महीनों में विद्रोह की प्रगति पर प्रकाश डाल सकेंगे,
- सितम्बर 1857 में दिल्ली के आत्मसमर्पण के बावजूद विद्रोह के प्रगाढ़ता को रेखांकित कर सकेंगे,
- विद्रोह के दौरान बनी संस्थाओं का उल्लेख कर सकेंगे,
- इन्हें दबाने के प्रयत्नों का वर्णन कर सकेंगे,
- 57 के बाद के वर्षों में कृषीय संबंधों के पुनर्गठन पर विचार कर सकेंगे, और
- राजाओं और मुसलमानों के प्रति औपनिवेशिक नीति का हाल बता सकेंगे।

31.1 प्रस्तावना

मई और जून 1857 के बीच उत्तर भारत के प्रमुख ब्रिटिश केंद्रों आगरा, लखनऊ, इलाहाबाद और बनारस की घेराबंदी कर दी गई थी। इस समय तक यह विद्रोह अवध, रोहिलखंड, बुंदेलखंड, बिहार और मध्य भारत के कई क्षेत्रों में फैल गया था।

इस इकाई में विद्रोह की प्रक्रिया, उस दौरान घटने वाली घटनाओं, औपनिवेशिक शक्ति के प्रतीकों पर होने वाले प्रहार और नए विद्रोही संस्थाओं के उदय का जिक्र किया गया है।

हालांकि 1858 के आरंभ में ही यह आभास होने लगा था कि अंग्रेजों की जीत निश्चित है, पर इस विद्रोह को पूर्ण रूप से इस वर्ष के अंत तक ही दबाया जा सका। इसके लिए अंग्रेजों को नयी युद्ध नीति अपनानी पड़ी, इंग्लैंड से नयी कुमक मंगानी पड़ी। इसके अतिरिक्त इस इकाई को पढ़ने से आने वाले दशक में विभिन्न सामाजिक वर्गों, भारतीय राज्य और मुसलमानों के प्रति अंग्रेजों की नीति को समझने का आधार भी प्राप्त हो सकेगा।

31.2 विद्रोह की प्रमुख घटनाएं

1857 में भारत की नियमित सेना में लगभग 45,000 यूरोपीय और 232,000 भारतीय थे।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

इस समय अधिकांश यूरोपीय इकाइयां कब्जे में लिए गए नए क्षेत्र फैलाव में केंद्रित थी। अतः इस समय कलकत्ता और दिल्ली के बीच मात्र पाँच यूरोपीय रैजिमेंट ही उपस्थित थे।

मेरठ की विद्रोही सेना 11 मई को दिल्ली पहुंच गई। और पेंशन पर जी रहे मुगल बादशाह बहादुर शाह-II को विद्रोह का नेतृत्व संभालने को कहा तथा उन्हें शहंशाह–हिंदुस्तान के ओहदे से अलंकृत किया।

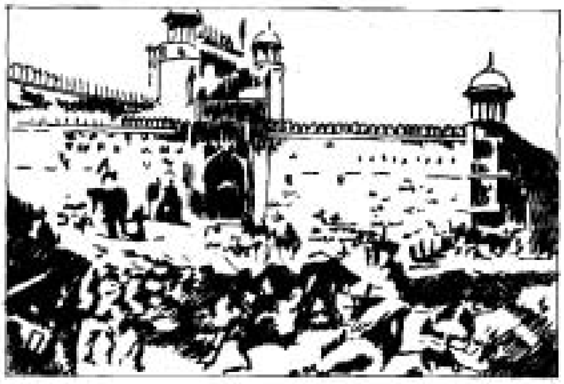

5. 1857 (विद्रोही सेना दिल्ली में एकत्रित होते हुये)

जून के प्रथम सप्ताह तक विद्रोह की आग अलीगढ़, मैनपुरी, बुलंदशहर, इटावा, मथुरा, लखनऊ, बरेली, कानपुर, झांसी, निमच, मुरादाबाद, सहारनपुर आदि तक फैल गई थी।

मध्य जून और सितम्बर, 1857 के बीच यह आग ग्वालियर, भोहो और स्यालकोट तथा बिहार में दानापुर, हजारीबाग, रांची और भागलपुर तथा मध्य भारत में नागोडे और जबलपुर में फैल गई थी।

सितम्बर-अक्तूबर, तक यह स्पष्ट हो चुका था कि विद्रोह की आग नर्मदा को नहीं पार करेगी। नर्मदा के उत्तर में विद्रोह दिल्ली और पटना के बीच गंगा नदी से ग्रैंड ट्रंक रोड तक फैला हुआ था।

MAADHYAM IAS
way to achieve your dream

31.3 सैन्य विद्रोह

विद्रोह की घटनाओं के क्रम को देखने से ही उसके फैलने की प्रवृत्ति और तरीके का पता लग जाता है।

विद्रोह की आग मेरठ और दिल्ली से गंगा तट पर नीचे की ओर फैली, जैसे-जैसे विद्रोह की खबर फैली, वैसे-वैसे उतने ही अंतराल से, विद्रोह भी फैला।

एक अफवाह यह भी थी कि 30 मई 1857 का दिन उत्तर भारत से अंग्रेजों को पूर्ण रूप से निष्कासित करने के लिए मुकर्रर किया गया था।

जिस प्रकार दिल्ली पर कब्जा होने की खबर से सेना और जनता ने विद्रोह कर दिया, उसी प्रकार मई के अंत में लखनऊ, का पतन होने पर अवध के आसपास के इलाके में विद्रोह भड़क उठा।

इस बात के कुछ प्रमाण मिलते हैं कि विद्रोह कर रहे रेजिमेंटों के बीच थोड़ा-बहुत तालमेल और संचार कायम था और उनके कार्यकलापों में एक प्रकार की समानता थी। पर जिन्होंने यह तालमेल बैठाने की कोशिश की उन्होंने अपने नाम को गुप्त रखा।

सेना में एक ही क्षेत्र अवध से ज्यादातर सिपाही भर्ती किए गए थे, अतः विद्रोह और ब्रिटिश कार्यवाई की खबर तेजी से फैली। धर्म से संबंद्ध अफवाहों ने विद्रोह की आग को फैलाने में घी का काम किया।

इस विद्रोह में ब्रिटिश अधिकारियों के घर नष्ट किए गए और सरकारी खजानों और जेलों को तोड़ा गया।

अवध के सिपाहियों ने घोषणा की कि तेलिंग राज (सिपाही राज शब्दावली देखें) का आगमन हो गया है।

31.4 जन विद्रोह

1856-57 के जाड़े में एक गांव से दूसरे गांव चपातियां वितरित होती रहीं, विभिन्न व्यक्तियों के लिए इसका अलग-अलग अर्थ था। वस्तुत: यह विद्रोह का बिगुल था और जहां-जहां ये चपातियां पहुंचीं वहां-वहां विद्रोह की आग फैली।

चर्बी लगे कारतूस, आटे में हड्डी चूर्ण की मिलावट और जबरदस्ती ईसाई धर्म में परिवर्तित करने की अफवाहों ने अंग्रेजों के खिलाफ जनता के असंतोष को विद्रोह में परिवर्तित कर दिया।

कई स्थानों पर लोग इकट्ठे होते थे, बात-विचार करते थे, योजनाएं बनाते थे और सरकारी तथा बनिया समुदाय की संपत्ति पर आक्रमण कर देते थे। पड़ोसी गांव के एक जाति से जुड़े लोग इकट्ठा होते थे और एक साथ मिलकर आक्रमण करते थे। अमूमन 30 से 60 गांवों के लोग एक साथ मिलकर सदा मुख्यालय पर आक्रमण करते थे।

सभी जगह आक्रमण का तरीका एक जैसा था। कर वसूलने वाले अधिकारियों, न्यायालय में काम करने वाले पदाधिकारियों, पुलिस और बनिया पर आक्रमण किया जाता था। कोष लूटे जाते थे, कैदियों को रिहा कराया जाता था और मकानों में आग लगाई जाती थी।

निश्चित रूप से विद्रोही राजनीतिक उद्देश्य से प्रेरित होकर काम करते थे और आर्थिक स्रोतों को नष्ट करने में बिल्कुल नहीं हिचकते थे। मसलन, कोटा की कोयले की खान नष्ट की गई, नहरों को तोड़ा गया ताकि नाव द्वारा ब्रिटिश सेना बुलंदशहर न पहुंच सके। इसी प्रकार रेलवे पर आक्रमण किया गया। संयुक्त प्रांत में उन कारखानों पर भी आक्रमण किया गया जो गरीब मजदूरों के जीने के साधन थे।

विद्रोह को दबाने के क्रम में अंग्रेजों को विद्रोहियों के बीच की एकता और बंधन को देखकर हैरानी हुई। बड़ा से बड़ा प्रलोभन भी उन्हें न डिगा सका, इस विद्रोह में अंग्रेज, हिंदू और मुसलमानों को भी एक दूसरे के खिलाफ लड़ा नहीं सके।

MAADHYAM IAS
"way to achieve your dream"

बोध प्रश्न 1

1) 1857 के विद्रोह के भौगोलिक विस्तार पर संक्षेप में टिप्पणी करें। उत्तर पाँच पंक्तियों में दें।

....

....

....

....

....

2) भारत के मानचित्र पर मुख्य विद्रोह केंद्रों को चिन्हित करें।

....

....

....

....

....

....

....

....

31.5 बगावती संस्थाएं

1857 के विद्रोह में केवल अंग्रेजों को उखाड़ फेंका ही नहीं गया, बल्कि नये प्रशासन के लिए

विद्रोहियों द्वारा संगठनात्मक प्रयास भी किए गए–

- दिल्ली पर कब्जा करने के तुरंत बाद पड़ोसी राज्यों (आधुनिक राजस्थान) से सहयोग मांगा गया,
- दिल्ली में प्रशासकों की एक निकाय स्थापित की गई। इसके 10 में से 6 सदस्य सेना से लिए गये थे और चार अन्य दूसरे विभागों से। निर्णय बहुमत से किया जाता था।

अन्य केंद्रों में भी इस प्रकार के संगठनात्मक प्रयास किये गए। अवध में विरजिस कादर (अल्प वयस्क) को सर्वसम्मति से बादशाह घोषित किया गया। यह घोषणा 30 जून 1857 को चिनहट के युद्ध में अंग्रेजों को हार के तुरंत बाद की गई। विद्रोहियों ने निम्नलिखित शर्तों का पालन करने का आदेश दिया–

- दिल्ली के आदेश का पालन किया जाएगा।
- वजीर का चुनाव सेना करेगी।
- सेना की सम्मति के बाद ही सेना के अधिकारियों की नियुक्ति की जाएगी।
- अवध को विद्रोही कार्यकारी परिषद में दो निर्णय लेने वाली इकाइयां थीं।
- संगठन और भुगतान को देखने के लिए प्रशासकों और दरबार के अधिकारियों से मिल कर बनी इकाई।
- विद्रोही सिपाहियों और कुछ दरबारी अधिकारियों से मिलकर बनी 'मिलीट्री सेल'।

यह ध्यान देने योग्य तथ्य है कि जुलाई 57 के आसपास जब विद्रोह की शुरुआत ही हुई थी, किसी भी निर्णायक संस्था में ताल्लुकदार शामिल नहीं थे। वस्तुत: ताल्लुकदारों और जमींदारों को विद्रोह में शामिल होने और अंग्रेजों के खिलाफ बगावत करने के लिए आदेश जारी किए गए थे और उनके भूमि और भू-राजस्व का अधिकार सही सलामत रहने देने का आश्वासन दिया गया था।

कभी-कभी विद्रोहियों के बीच मतभेद भी हुआ करते थे, मसलन अवध में बिरजिस कादर और मौलवी अमादुल्लाह के अनुयायियों का मतभेद। पर यह गौर करने की बात है कि इस प्रकार के मतभेदों को आपसी सुलह से निपटा लिया गया।

सिपाहियों और कमांडरों की कार्यवाइयों के लिए दिशा-निर्देश जारी किए गए। विद्रोही सेना के नियमित भुगतान का भरपूर प्रयास किया गया। इसके लिए बाहनों को सिक्कों में ढाला गया था। ताल्लुकदारों को भू-राजस्व वसूलकर भुगतान करने का आदेश दिया गया।

MAADHYAM IAS

31.6 दमन

6. आत्म समर्पण करते हुये विद्रोही सिपाही

जिन-जिन स्थानों पर विद्रोह संगठित रूप में नहीं उभरा उन्हें आसानी से दबा दिया गया। पेशावर, सिंगापुर, कोल्हापुर, चिटा गांव और मद्रास जैसे दूर-दराज के इलाकों में विद्रोह एक-एक करके हुए और मुख्य धारा से न जुड़कर अलग-थलग पड़े रहे। इससे इन विद्रोहों को दबाने में आसानी हुई।

जुलाई के आरंभ तक विद्रोह अपनी शक्ल अख्तियार कर चुका था और अंग्रेज इसे दबाने की ओर प्रवृत्त होने लगे थे। भारत की अंग्रेजी सरकार के आग्रह पर इस विद्रोह को दबाने के लिए 39,000 ट्रूप लंदन से रवाना किया गया। नवंबर 57 तक यह सेना हुगली तट पर पहुंच गई।

अगस्त के मध्य तक विद्रोहियों को आरा गया और हजारीबाग (सभी बिहार में) से निकाल फेंका गया। भयंकर मारकाट के बाद 21 सितम्बर को दिल्ली भी अंग्रेजों के कब्जे में आ गया। इसके बाद विद्रोहियों ने लखनऊ को अपना केंद्र बना लिया।

अवध प्रांत में लखनऊ युद्ध का प्रमुख केंद्र था। सभी जिलों से यहां गोला-बारूद भेजा जाता था और फैजाबाद में भारी बंदूकों की मरम्मत करने का कारखाना खोला गया। कई ताल्लुकदार व्यक्तिगत तौर पर लड़े। एक आंकड़े के अनुसार अवध में डेढ़ लाख लोग मरे, इनमें गैर सैनिकों (नागरिकों) की संख्या एक लाख थी। मार्च 1858 में लखनऊ के हार के बाद विद्रोही देहातों में फैल गए और लखनऊ के दक्षिण और दक्षिण-पूर्व तथा पश्चिम और उत्तर-पश्चिम से विद्रोह को जीवित रखने का प्रयास करने लगे। सितम्बर-अक्तूबर 1858 तक विद्रोहियों को यह विश्वास था कि एक संगठित और योजनाबद्ध आक्रमण से अभी भी अंग्रेजों को अवध से भगाया जा सकता है और वे इस दिशा में प्रयत्न करने लगे।

इस विद्रोह के प्रमुख नेताओं में निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं :

- झांसी की रानी, जो जून 1858 में लड़ती हुई वीरगति को प्राप्त हुई।
- अंतिम पेशवा, बाजीराव-II के दत्तक पुत्र नाना साहब पेशवा ने कानपुर में विद्रोह का नेतृत्व किया और 1859 के आरंभ में नेपाल में जाकर छिप गये।
- आरा के कुंअरसिंह, जिन्होंने आजमगढ़ और गाजीपुर को अपना रण क्षेत्र बनाया, मई 1858 में अंग्रेजों से लड़ते हुए मारे गए।
- बेगम हजरत महल, जो बाद में नेपाल भाग गयीं।
- अवध की सीमाओं और रोहिलखंड में विद्रोह का नेतृत्व मौलवी अहमदुल्लाह ने किया और अंतिम दम तक उसने लड़ाई की। उसकी मृत्यु जून 1858 में हुई।
- तांत्याटोपे अपने मूल स्थान (जमुना तट पर बंस काल्पी) में हारकर जून 1858 में ग्वालियर पहुंचे और अक्तूबर में नर्मदा पार किया। 1859 में उन्हें बंदी बनाकर मृत्युदंड दे दिया गया।

सीमित हथियार और गोला बारूद तथा कमजोर संचार व्यवस्था के बावजूद विद्रोही एक साल से ज्यादा समय तक लड़ते रहे। कई सिपाही ब्रिटिश स्रोतों को देखते हुए हैरान थे और वे यह संभावना भी देख रहे थे कि कहीं उन्हें दबाने के लिए अंग्रेज फ्रांसिसियों की सहायता न लें। दूसरी तरफ अंग्रेजों ने अवध को घेर लिया, दिल्ली और जमुना के इलाके की गर्दन दबोच ली और फिर अवध की ओर अपना ध्यान केंद्रित किया।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

1957 विद्रोह के कुछ प्रमुख नेता

7. तात्या टोपे　　8. झांसी की रानी लक्ष्मीबाई　　9. नाना साहिब

बोध प्रश्न 2

1) विद्रोही संस्थाओं के दो उदाहरण का उल्लेख करते हुए संक्षेप में उनका वर्णन करें।

....

....

....

....

....

2) लखनऊ की प्रतिरक्षा विद्रोह की गहराई को किस हद तक प्रतिबिंबित करता है? 50 शब्दों में उत्तर दें।

....

....

....

....

....

....

31.7 बाद के हालात

नयी सैन्य रणनीति और ताल्लुकदारों के आत्मसमर्पण के कारण 1857 के विद्रोह को दबाने में मदद मिली। अंग्रेजों ने पुन: भारत पर अपना नियंत्रण जमाया और भारतीय राजाओं ने उन्हें इस आधार पर सहयोग दिया कि वे उत्तराधिकार के प्रश्न पर कोई हस्तक्षेप नहीं करेंगे।

31.7.1 भूमिपति

उत्तरी पश्चिमी प्रांतों में अंग्रेजों ने बहुतायत में भूमि जब्त की और उन्हें पुनर्वितरित किया। कुछ अधूरे आंकड़ों से पता चलता है कि 17 लाख मूल्य वाली भूमि को जब्त कर लिया गया और 9 लाख मूल्य वाली भूमि को पुरस्कार स्वरूप प्रदान किया गया। पुरस्कार देने में बड़े जोतदारों को ज्यादा चुना गया।

लखनऊ के पतन के बाद एक अधिघोषणा द्वारा छह खास इलाकों को छोड़कर पूरे अवध में संपत्ति का अधिकार जब्त कर लिया गया। ताल्लुकदारों को उनकी वफादारी और आत्मसमर्पण करने के एवज में इलाके प्रदान किए गए। 23,543 गांवों में से 22,658 गांवों का पुनर्वितरण किया गया।

MAADHYAM IAS

अवध में संपत्ति गत अधिकार "इच्छा आधारित काश्तकार" सिद्धांत पर आधारित किया गया। 1859-60 में अवध के कई जिलों में इस ताल्लुकदारी बंदोबस्त का जम कर विरोध हुआ। ग्रामीण असंतोष को देखते हुए सरकार ने ताल्लुकदारों की मांग पर अंकुश लगाया और कम उपज वाली जमीन की अधिकतम दर निर्धारित कर दी गयी (1866)। यह भी तय किया गया कि 12 साल तक इच्छा पर आधारित काश्तकार या अल्प संपत्तिगत अधिकार की रक्षा की जाएगी।

31.7.2 राजे-महाराजे

आपको याद होगा कि राज्यों को हस्तगत करने की ब्रिटिश नीति के कारण बहुत से भारतीय राजाओं ने विद्रोह का नेतृत्व किया, इनमें झांसी की रानी, नाना साहेब और बेगम हजरत महल उल्लेखनीय हैं।

विद्रोह के दौरान कैनिंग ने यह गौर किया कि ग्वालियर, हैदराबाद, पटियाला, रामपुर और रीवा जैसे राजाओं का साथ न मिला होता तो 1857 की आंधी में ब्रिटिश सत्ता का विनाश अवश्यंभावी था।

अत: 1858 की उद्घोषणा में रानी ने यह घोषणा की कि अपना राज्य फैलाने की अंग्रेजों की कोई मंशा नहीं है। राजवाड़ों को प्रसन्न करने के लिए कैनिंग ने "समाप्ति का सिद्धांत" (डाक्ट्रीन ऑफ लैप्स) समाप्त कर दिया और सभी शासकों को उत्तराधिकारी घोषित करने/गोद लेने का अधिकार दे दिया।

ग्वालियर, रामपुर, पटियाला और जिंद जैसे वफादार राजवाड़ों को भू-क्षेत्र और पैसे के रूप में इनाम दिया गया।

1861 में एक विशेष नाइटहुड सम्मान "भारत का सितारा" की घोषणा हुई। यह सम्मान बड़ौदा, भोपाल, ग्वालियर, पटियाला और रामपुर के राजाओं को प्राप्त हुआ।

हालांकि राजाओं को इस चिंता से मुक्त कर दिया गया कि अंग्रेज उनके राज्य पर दखल जमा लेंगे, पर यह बात उन्हें साफ तौर पर बता दी गई कि "कुप्रशासन" और "अल्पावस्था" की दशा में ब्रिटिश सरकार अस्थाई तौर पर राजवाड़ों की बागडोर अपने हाथ में ले लेगी।

31.7.3 सेना

1861 में भारत के मामलों का सेक्रेट्री ऑफ स्टेट चार्ल्स वुड ने कैनिंग को पत्र लिखा, जिसमें विद्रोह के बाद सेना के प्रति ब्रिटिश नीति का खुलासा मिलता है। "अगर किसी एक रेजिमेंट ने विद्रोह किया तो मैं चाहूंगा कि दूसरी रेजिमेंट उससे इतनी अलग-थलग हो कि उसे विद्रोही रेजिमेंट पर गोली चलाने में जरा भी हिचक न हो"।

अवध, बिहार और मध्य भारत के सैनिकों को सेना के लिए अयोग्य जाति के रूप में घोषित किया गया और उनकी भर्ती में तेजी से कटौती की गयी।

सिख, गोरखा और पठान युद्ध के लिए योग्य जाति के रूप में प्रतिष्ठित किए गये और सेना में उनकी खूब भर्ती की गयी। इन लोगों ने विद्रोह को दबाने में अंग्रेजों की सहायता की थी।

संक्षेप में, समुदाय, जाति, जनजाति और प्रांतीय वफादारी को बढ़ावा दिया गया ताकि वफादारी में कोई खोट न आने पाये।

31.8 ब्रिटिश नीति

1857 के विद्रोह के बाद 1858 में एक भारत सरकार अधिनियम द्वारा ईस्ट इंडिया कंपनी को समाप्त कर दिया गया। अब इंग्लैंड की रानी के नाम पर सीधा शासन होना था। 1858 की राजकीय उद्घोषणा इस प्रकार है—

- 2 जनवरी, 1859 तक जिन लोगों ने आत्मसमर्पण कर दिया है, उन्हें माफ कर दिया जाएगा, केवल उन लोगों को छोड़कर जिस पर किसी अंग्रेज की हत्या में सीधा शामिल होने का आरोप हो।
- सरकारी नौकरी सबके लिए उपलब्ध होगी।
- भारत की प्राचीन परंपराओं और रीति-रिवाजों को सम्मान दिया जाएगा।

अंग्रेजों के अनुसार बहादुरशाह-II को विद्रोह की बागडोर संभालने का आह्वान एक बार फिर से दिल्ली में मुगल सत्ता की स्थापना का प्रयत्न था। अधिकारियों के बीच इसी प्रकार की धारणा फैली हुई थी। जो विद्रोह के बाद के दिनों में उस समुदाय के प्रति उनके व्यवहार में भी प्रतिबिंबित हुई।

MAADHYAM IAS

मुसलमान विरोधी यह रवैया इतना मजबूत था कि सैयद अहमद खां ने 'कौन थे वफादार मुसलमान?' शीर्षक से एक पर्चा लिखना जरूरी समझा। इस पर्चे में उन्होंने अंग्रेजों के प्रति मुसलमानों की वफादारी के कई प्रमाण प्रस्तुत किए।

बोध प्रश्न 3

1) भूमिपतियों के विद्रोह को अंग्रेजों ने कैसे सम्भाला? पाँच पंक्तियों में उत्तर दें।

....

....

....

....

....

2) विद्रोह के बाद भारतीय राजाओं के प्रति ब्रिटिश नीति में आए परिवर्तन पर टिप्पणी लिखिए। उत्तर पचास शब्दों में दें।

....

....

....

....

....

3) विद्रोह के बाद मुसलमानों के प्रति ब्रिटिश रवैये का उल्लेख करें। पचास शब्दों में उत्तर दें।

....

....

....

....

....

....

31.9 सारांश

इस इकाई में निम्नलिखित मुद्दों पर विचार किया गया है :

- विद्रोह का मुख्य क्षेत्र नर्मदा के उत्तर में था,
- गंगा के किनारे-किनारे विद्रोह की आग नीचे तक फैली, इस फैलने की पद्धति एक-सी थी,
- सेना और जनता ने मिलकर विद्रोह किया
- जब विद्रोहियों ने कमाने अपने हाथ में ले ली तो सब कुछ अव्यवस्थित नहीं था,
- विद्रोह को दबाने में अंग्रेजों को एक साल लग गया।

1858 के बाद अंग्रेजों को एक प्रकार के स्थायित्व का आभास हुआ। विद्रोह पर विजय प्राप्त कर लेने के बाद उन्होंने आत्मविश्वास के साथ शासन का कार्य आरंभ किया।

31.10 शब्दावली

तेलिंग राज : सिपाहियों को तेलिंग कहने का रिवाज चल गया था, क्योंकि क्लाइव 1756-57 में अपने साथ मद्रास से तेलुगुभाषी सिपाही ले आया था।

MADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

31.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) देखें भाग 31.2
2) भारत के मानचित्र पर जगहों को चिन्हित करें।

बोध प्रश्न 2

1) देखें भाग 31.5
2) देखें भाग 31.6

बोध प्रश्न 3

1) देखें उपभाग 31.7.1
2) देखें उपभाग 31.7.2
3) देखें उपभाग 31.8.2